'श्रीसर्वेश्वर' मासिक-पत्र का-

श्रीगीता-विशेषाङ्क

श्रीमद्भगद्गीता तत्त्वप्रकाशिका सं० टीका

श्रीधाम-वृन्दावन

वर्ष २८

अङ्क ११,१२

शोधपूर्ण धार्मिक मासिक-पत्र 'श्रीसर्वेश्वर' का विशेषाङ्क

श्रीमद्भगवद्गीता-अंक

सम्पादक :

अधिकारी ब्रजवल्लभशरण

वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ

सञ्चालक :

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु

निम्बार्काचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ

श्रीनिम्बार्कतीर्थ

(सलेमाबाद) किशनगढ़ (राज०)

★

प्रकाशक :

अधि० व्रजवल्लभशरण

श्री श्रीजी मन्दिर, वृन्दावन

★

प्रकाशन तिथि :

मकर संक्रान्ति सं० २०३७

★

न्यौछावर :

२०) रु० पुस्तकालय संस्करण

★

मुद्रक :

व्रजमोहनलाल शर्मा

श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन।

विषयानुक्रमणिका

★

विषय	पृष्ठ संख्या
व्यवस्थापकीय, भूमिका, समर्पण आदि	
प्रथम अध्याय	
(उपोद्घात, आततायी, महारथी आदि के लक्षण)	२ से २१
द्वितीय अध्याय	
(सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)	२२ से ७१
तृतीय अध्याय	
(यः बुद्धे परतस्तु सः) आदि पदों का विचार	७२ से १००
चतुर्थ अध्याय	
(अवतार, मुक्ति, विविध यज्ञ, प्रभु प्रसाद महिमा आदि)	१०१ से १३१
पञ्चम अध्याय	
(सन्यास और कर्मयोग और समदर्शिता)	१३२ से १४८
षष्ठ अध्याय	
(अभ्यास योग, चित्तैकाग्रता, योग माहात्म्य)	१४९ से १७३
सप्तम अध्याय	
(ज्ञान-विज्ञान विभूति वर्णन चतुर्विध भक्त)	१७४ से १९७
अष्टम अध्याय	
(ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ अन्तकालीन धारणा)	१९८ से २१७
नवम अध्याय	
(राजविद्या, राजगुह्य, ज्ञानभक्ति)	२१८ से २४६

व्यवस्थापकीय

श्रीसर्वेश्वर के प्रेमी पाठक महानुभावो !

आपके कर कमलों में अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर सर्वशास्त्र-निष्णात दिग्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी महाराज कृत तत्त्वप्रकाशिका (संस्कृत गीता टीका) हिन्दी अनुवाद सहित श्रीसर्वेश्वर का गीताङ्क विशेषाङ्क भेंट करते हुए परम हर्ष होता है। यद्यपि यह विशेषाङ्क आपको एक वर्ष पूर्व ही प्राप्त होता किन्तु गतवर्ष इसके स्थान पर एक विशेष उपयोगी "श्रीस्तवरत्नाञ्जलि अंक" बहुत से प्रेमी महानुभावों के अनुरोध पर प्रकाशित करना पड़ा। वह भी आवश्यक ही था। सभी सज्जनों को वह विशेष पसन्द भी आया, वर्तमान निम्बार्काचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज कृत नूतन भगवत्स्तोत्र और उनका हिन्दी अनुवाद सभी उपयोगी था, वह नित्य पाठ के योग्य की वस्तु थी।

इधर यह गीताङ्क विशेषाङ्क भी कम महत्त्व का नहीं है, सभी प्रेमी पाठकों का परम हितकारी है, जब तत्त्वप्रकाशिका टीका का हिन्दी भाषा टीका के साथ-साथ अनुशीलन किया जायेगा तब इससे परम शान्ति का लाभ होगा, यह हमें पूर्ण विश्वास है।

हम चाहते थे कि पूरे अठारह अध्यायों का ही यह विशेषाङ्क प्रकाशित हो किन्तु महँगाई आदि की अनेकों कठिनाइयों के कारण इसके दो भाग करने पड़े, अतः नौ अध्यायों का यह पूर्व भाग ही आपको अर्पित किया जा रहा है। इसी का उत्तर भाग आगामी वर्ष का विशेषाङ्क रहेगा। गीता पर जितना लिखा जाय उतना ही कम कहा जायेगा, क्योंकि यह सर्व शास्त्रमयी है। इस पर शतशः टीकायें लिखी जा चुकी हैं।

तत्त्वप्रकाशिका टीका की भाषा सुन्दर सरस और प्राञ्जल है, इसके अध्ययन अध्यापन से सामान्य हिन्दी पठित व्यक्तियों को भी संस्कृत का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। संस्कृत भाषा का देश में प्रचार प्रसार होना भी आज परम आवश्यक हो गया है, अतः इन सभी दृष्टिकोणों से भी यह विशेषाङ्क महत्वपूर्ण समझा गया है।

ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि जिस प्रकार आप सब सदा से श्रीसर्वेश्वर की सेवा करते आ रहे हैं उसी प्रकार आगे भी तन-मन-धन से सेवा करेंगे तो आपका यह पत्र और भी विशेष लोकोपयोगी सामग्रियों से भरा-पूरा आपको अर्पित होता रहेगा। अतः जिन महानुभावों पर वार्षिक-शुल्क बकाया हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र भिजवाने का प्रयत्न करें। और प्रत्येक प्रेमी पाठकों को चाहिये कि वह एक एक ग्राहक और भी बढ़ाने की चेष्टा करें।

आशा है सभी पाठक महानुभाव हमारे निवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे और प्रस्तुत अङ्क के सम्बन्ध में अपनी भावनायें व्यक्त करने की भी कृपा करेंगे।

सभी पाठकों का कृपाकांक्षी—

व्यवस्थापक—"श्रीसर्वेश्वर"

❀ श्रीसर्वेश्वरो जयति ❀

❀ श्रीभगवन्निम्बार्काय महामुनीन्द्राय नमः ❀

टीका और टीकाकार का संक्षिप्त परिचय

अनन्त श्रीविभूषित सुदर्शनावतार जगद्गुरु भगवान् निम्बार्काचार्यजी की उत्तरवर्ती परम्परा में अनेकों ऐसे भगवद्विभूतिरूप तेजस्वी आचार्य हो गये हैं जिन्होंने निस्स्वार्थभाव (केवल लोकहित के उद्देश्य) से महान् महान् आश्चर्यजनक कार्य किये, उनका अमर सुयश दिग्दिगन्त में आज भी व्याप्त है। यद्यपि ऐसे बहुत से महानुभावों की विस्तृत जीवन गाथायें, दीर्घकाल के करालप्रवाह में विलीन प्रायः हो गई हैं, तथापि उनका सूक्ष्म मूल कहीं न कहीं से उपलब्ध हो जाता है। "नाम काल नहीं खाय" इस उक्ति के अनुसार बहुत से आचार्यों के नाममात्र अवशिष्ट रह गये। कुछ महानुभावों की कृतियाँ भी सुरक्षित मिल जाती हैं। ऐसे ही महानुभावों में गीता की तत्वप्रकाशिका संस्कृत टीका करनेवाले श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य हैं। आपने कब कहाँ किस कुल में आविर्भूत हो, कैसे-कैसे लोकोपहितकारी कार्य किये इन सभी जिज्ञासाओं की पूर्तिरूप समाधान होना आज एक जटिल समस्या बन गई हैं। क्योंकि बहुत से लेखकों ने शोध के बहाने बड़ी-बड़ी भ्रान्तियां फैला डाली हैं। उन भ्रान्तियों में बहुत-सी तो अनजान में हुई हैं और बहुत-सी जानबूझकर भी फैलाई गई हैं। आजकल कुछ सुयोग्य कहलानेवाले शोधकर्त्ताओं में भी यह दूषण घर कर बैठा है। जिस प्रकार कुछ विदेशी लेखकों ने रामायण महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों को भी रूपक बतलाकर इनमें वर्णित घटनाओं को कोरी कल्पना सिद्ध करने का दुस्साहस किया है, उसी प्रकार भारतीयों की सन्तान कहलानेवाले कुछ विदेशियों के पिट्ठु भारतीय भी दिन को रात और रात को दिन सिद्ध करने का साहस करने लगे हैं। वे उनकी दुर्नीतियाँ ही कहलायेंगी, जो प्रामाणिक तथ्यों को भी उलटने के लिये दिन-रात सोचते रहते हैं, एवं शोध करनेवाले छात्र तथा छात्राओं को भी वैसा करने के लिये बाध्य करते रहते हैं।

दीर्घकाल से वैदिक पौराणिक संस्कृत ग्रन्थों में भगवद्भक्त ऋषि-महर्षि राजा-महाराजा आदि के चरित्रों का चित्रण होता आ रहा है, संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत आदि विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों में भी उनके लेखकों ने अपने से पूर्ववर्ती व्यक्तियों का यथा ज्ञात-परिचय देने का प्रयास किया है।

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी के सम्बन्ध में आचार्य चरित्र अमुद्रित (सं०) के लेखक महोदय ने आपके सम्बन्ध में इस प्रकार परिचय दिया है :—

समस्त भारत में पर्यटन करके आपने वैष्णव धर्म की विजय वैजयन्ती को चारों दिशाओं में फहराया। कहा जाता है आपका भी आविर्भाव उसी तैलंगदेशस्थ वैदुर्य्यपतन (भूगीपट्टन में आद्य-निम्बार्काचार्य के कुल में ही हुआ था, ऐसी परम्परागत जनश्रुति है। उपनयन अध्ययन के पश्चात् वैष्णवी दीक्षा प्राप्त कर आपने श्रीरङ्गम्, वेङ्कटाचल, तोताद्री, कांची रामाश्रम होते हुए हेमगोपाल के दर्शन किये। कन्याकुमारी से हिमालय तक जहाँ-जहाँ आप पधारे वहाँ के निवासियों ने आपका बड़ा सम्मान किया। उज्जैन कुछ दिनों तक स्थायी निवास कर आपने श्रीमद्भागवत की तत्त्वप्रकाशिका नामक संस्कृत टीका लिखी। वहाँ से रैवत पर्वत, कर्दमाश्रम होते हुए आप द्वारकाधाम में पहुँचे। सुनते हैं तप्तमुद्रायें धारण करने का प्रचार-प्रसार उस समय शिथिल हो गया था, आपने उसे फिर से चालू करवाया। द्वारिका से चलकर जब आप पुस्करराज पहुँचे तब आपके साथ बहुत-सा जनसमूह और शिष्य प्रशिष्यों के झुण्ड के झुण्ड थे। लगभग चौदहहजार शिष्य संग साथ में थे, आपने पाषण्डियों का दमन करके वैदिक पौराणिक हिन्दुधर्म को उन्नत किया। स्यमन्तपञ्चक वायु ह्रद और ब्रह्म सरोवर तथा प्राची सरस्वती आदि प्राचीन तीर्थों की यात्रा करते हुए आप श्रीनृसिंहाश्रम पधारे वहाँ से फिर काश्मीर मण्डल में पहुँचे, उस समय वहाँ म्लेच्छों का दल बहुत प्रबल हो रहा था, उन सबका यूथपति एक बड़ा बलवान यवन था ज्यों ही चौदह हजार शिष्यों के सहित आप काश्मीर में पहुँचे और घड़ी-घड़ावल, घण्टे, नगारे, शंख, रणसिंहा आदि विविध वाद्यवृन्दों की ध्वनि के साथ भगवान् का नीराजन (आरती उतारना) होने लगा, तो उस तुमुलनाद को सुनकर तान्त्रिक यवनों का समूह चढ़ आया, वह इन सन्तों पर आसुरी माया फैलाने लगा। उसे देखकर बहुत से साधु-सन्त घबड़ाने लगे। जब वह दल आचार्य श्री के सन्निकट आ पहुँचा तो उनके तेज से भयभीत होकर उलटे पैरों भाग छूटा, दलपति-यवन मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ा उसके मुख से रुधिर बहने लगा।

यह समाचार सुनते ही उस (यूथपति) का छोटाभाई जो उससे भी बढ़कर उत्पाती था शासन की बागडोर भी उसी के हाथों में थी। उसने चारों ओर अन्धकार फैला दिया। आचार्य श्री ने भी तत्क्षण सूर्यभगवान् का आवाहन कर समस्त अन्धकार को विनष्ट कर डाला। सूर्य के उस प्रचण्ड तेज से जब यवनसमूह जलने लगा और कहीं भी बचने का स्थान नहीं दिया तब हाथ जोड़कर त्राहि-त्राहि कहता हुआ वह यवन समूह आचार्य श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के चरणों में गिर पड़ा। और गद्गदकण्ठ से स्तुति करने लगा—

यो वै जघान यवनं मुचुकुन्द दृष्टया, श्रीकेशवो व्रजपतिः श्रवणीय लीलः।
भूयः स एव मुनिरूप धरश्च भट्टो भक्ताविनानमनिशं शरणं व्रजामः॥
निमज्जितः संसृतितोयचक्रे तापादिजालैर्मृतक प्रतीकान्।
व्यापारयत् स्वस्य वचः सुधाभिस्तत्पाद मूलं शरणं व्रजामः॥

अर्थात् मुचुकुन्द की दृष्टि से कालयवन को भस्मीभूत करानेवाले श्रवणमनोऽभिराम लीलावाले श्रीव्रजराज केशव ने जिस प्रकार भक्तों की रक्षार्थ अवतार धारण किया था, उसी प्रकार भक्तों की रक्षा और अभक्तों के दमनार्थ उसी केशव भगवान् ने केशवभट्ट मुनि के रूप में पुनः अवतार धारण किया है। आप साक्षात् श्रीकेशव ही हैं। संसार समुद्र में निमग्न त्रिविध तापों से संतप्त अतएव मृतक-समान प्राणियों को जिन्होंने अपनी हितकारिणी दृष्टि से जीवन दान दिया हम सब उसी श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्य के चरणों की शरण में हैं।

इस प्रकार यवन समाज के आतङ्क से काश्मीर के हिन्दुओं को क्लेशमुक्त किया और सबको यही आदेश दिया कि इन क्षण भंगुर शरीर और धन दारा आदि से मोह हटाकर उन्हीं भक्तवत्सल प्रभु का तुम सब भजन करो। आज भी आकाश में स्थित सूर्य उनके प्रभाव को प्रदर्शित कर रहा है।

काश्मीर में ही उन्होंने वेदान्त सूत्रों पर वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति लिखी और "क्रमदीपिका" तन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर (अथर्ववेदीय) और पांच-रात्रान्तर्गत अष्टादशाक्षर मुकुन्दमन्त्र आदि मन्त्रों के उद्धार ऋष्यादिन्यास और अनुष्ठानों का विधि-विधान है। यह ग्रन्थ यद्यपि ७०० श्लोकों के लगभग स्वल्पकाय ही है, लेकिन विविध छन्दों में वर्णित इसकी जटिलता एवं गम्भीरता रचयिता के वैदुष्य की कीर्तिपताका फहरा रही है। रुद्रधराचार्य, विद्याधराचार्य, भैरव त्रिपाठी, गोविन्द विद्याविनोद भट्टाचार्य आदि अनेकों विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर टीकायें की हैं। वे सब बंगाल एसियाटिक सोसायटी के वृहत् पुस्तकागर में सुरक्षित हैं उनकी अन्तिम पुष्पिकाओं के कुछ ब्लाक देखिये—

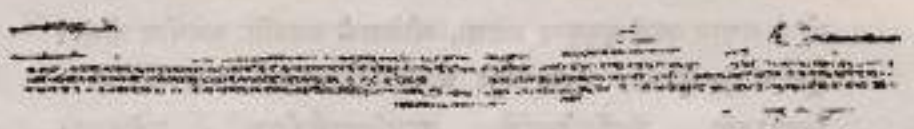

मन्त्रानुष्ठान प्रकरण में इस ग्रन्थ के उद्धरण श्रीगोपालभट्टजी आदि ने हरिभक्तिविलास आदि जैसे ग्रन्थों में दिये हैं। कुछ व्यक्तियों ने भ्रान्तियाँ फैलाना चाहा था कि यह ग्रन्थ किसी अन्य की रचना है। कुछ सज्जन इसे नारद पंचरात्र का अंश बतलाने लगे थे, किन्तु "प्रपञ्चसारे प्रतिथा तु दीक्षा" क्र०दी० ४ पटल आदि श्लोकों में प्रपञ्चसार आदि ग्रन्थों के नामोल्लेख आदि कारणों से उनका संशय निवृत्त हुआ। इसके अतिरिक्त भैरव त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक "यश्चक्रं निज केलि साधन" क्र० ८ पटल श्लोक के चक्रबन्ध में प्राप्त "केशवेन कृता क्रमदीपिका" उल्लेख के आधार पर लिखा है कि कभी कोई इस ग्रन्थ को अन्य की रचना न सिद्ध करे इसलिये चक्रबन्ध में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ और अपना नाम समाविष्ट किया है जो किसी रहस्यवेत्ता के समझ में आ सकता है—"यश्चक्र० इस श्लोक में चक्र शब्द से चक्रबन्ध का संकेत है। चक्रबन्ध षट्कोण का होता है, उसमें ७६ अक्षरों के शार्दूल विक्रीडित छन्द का इस प्रकार समावेश किया जाता है, श्लोक के पहले से तीसरे चरण तक ५७ अक्षरों में से ६-६ अक्षर चक्र के एक एक अरा में रहते हैं और एक अक्षर मध्य में रहता है जो तीनों चरणों में काम देता है, अर्थात् तीनों चरणों के मध्य में वही अक्षर आता है, इस प्रकार ५७ की अपेक्षा ५५ अक्षरों में ही चक्रबन्ध के छहों अरों की पूर्ति हो जाती है। चतुर्थ चरण के अन्तिम अक्षर का दो बार उपयोग होता है, उससे आरम्भ करके इस (चतुर्थ) चरण के अठारह अक्षर घूम जाते हैं, उनमें छः अक्षर तो पूर्व के तीन चरणों के आदि अन्त के समाविष्ट हो जाते हैं और दो दो अक्षर अरों के मध्य मध्य में सन्निविष्ट कर दिये जाते हैं। इस प्रकार के चक्रबन्ध में अरों के तीसरे और छटे अक्षर से अभीष्ट नामादि व्यक्त किये जाते हैं, जैसे कि इस श्लोक के छटे और चौदहवें अक्षरों से "केशवेन-कृता" और तीसरे और सतरहवें अक्षरों से "क्रमदीपिका" व्यक्त होता है। यहाँ सीधे रूप से ही उस श्लोक को देकर ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामोंवाले अक्षरों को स्थूलरूप में दिखाकर दिग्दर्शन कराया जाता है :—

यश्चक्र निजकेलि साधन मधिष्ठान स्थितोऽपि प्रभु।
दत्तं मन्मथ शत्रुणा वन कृते व्याकृत लोकातिकम्॥
धत्तेदीप्त नवेन शोभ न मघापेतात्तनायं ध्रुवं।
व न्दे का य वि म र्द नं व ध कृ तां भु ञ्ज यु कं या द वम्॥

इस ग्रन्थ की बँगला, उड़िया, नागरी आदि अनेकों लिपियों में कागजों के अतिरिक्त ताड़पत्रों में सूचिविद्ध अक्षरोंवाली भी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ मिलती है।

इस ग्रन्थ पर ८ या ९ संस्कृत टीकायें उपलब्ध हो रही हैं। इन पुस्तकों के आधार से श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के समय के विवेचन में भी पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

काश्मीर से ही आपने एक बार हिमालय की यात्रा की, वहाँ श्रीनारदजी आदि की प्रतिमाओं की संस्थापना की और योग समाधि निरत हो ११० वर्ष की आयु तक उधर ही रहे, समाधि के अनन्तर प्रभु की प्रेरणा से पुनः काश्मीर प्रदेश में आये और कुछ समय तक वहाँ के साधकों को योग की शिक्षा देकर हरिद्वार होते हुए नारायणाश्रम पधारे। वहाँ श्रीनारदजी के दर्शन किये और कुछ दिनों तक वहाँ निवास करके मुक्तिक्षेत्र की यात्रा की जहाँ भगवान् के हजारों अर्चा विग्रह हैं, वहाँ से जनक आश्रम (पुर) अयोध्या नैमिषारण्य होते हुए काशीपुरी पहुँचे। वहाँ कुछ सांख्यवाद के विशेष पक्षपाती थे तो कुछ गौतम और कणाद प्रतिपादित न्याय वैशेषिक दर्शनों में ही निरत थे बहुत से अद्वैतवाद में निमग्न थे, बहुत से शैवशाक्त बौद्ध आदि मतों में उलझ कर तर्क वितर्कों में बुद्धि का व्यय कर रहे थे। वे सब सत् शास्त्र की अवहेलना करते थे, उन सबको पराजित करके उनको भगवद्भक्ति की ओर अग्रसर किया। वहाँ से फिर गंगासागर संगम अनुगंगा आदि की यात्रा की। मद्यमत्स्य आहार करनेवाले बंगाल के शाक्तकौल मतावलम्बियों को परास्त करके सात्विक आचरणों द्वारा उनको भगवद्भक्ति में प्रवृत्त किया। वहाँ से लौटकर आने पर आपने नैमिषारण्य में मथुरा के हिन्दुओं की आतङ्कग्रस्त दशा सुनी तो उसी क्षण वहाँ से मथुरा के लिये प्रस्थान कर दिया। हजारों शिष्यों सहित मथुरा में पहुँचकर यवन-तान्त्रिकों को शान्तिपूर्वक बहुत कुछ समझाया बुझाया। आचार्य श्री ने कहा जबरदस्ती किसी के धर्म का परिवर्तन करना कराना उचित नहीं है। क्या हिन्दु क्या मुसलमान, सभी का उपास्य एक ही परमपिता परमेश्वर है। भिन्न-भिन्न नाम रूपों से सब उसी की उपासना करते हैं। हिन्दुधर्म सनातन है, इसके अनुयायियों पर जुल्म करना अच्छा नहीं। जिसका दुर्दान्त स्वभाव होता है वह शान्ति से समझाने पर नहीं मान सकता। यह लोक और शास्त्र सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। कहा भी है :—

[विश्राम घाट पर उपदेश करते हुए
श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य]

फूलै फलै न बेत, यदपि सुधा वर्षहिं जलधि।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम॥

जब शान्तिपूर्वक बहुत कुछ समझाने पर भी यवन तान्त्रिक एवं यवन शासकों का हृदय नहीं बदलता देखा तब श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य को भी दण्डनीति का अवलम्ब लेना पड़ा।

कहा जाता है कि यवनों ने मथुरा में जमुना के घाट (विश्राम) पर कोई ऐसा यन्त्र लगा दिया था कि उस यन्त्र के नीचे होकर जानेवालों की अपने आप शिखा समाप्त हो जाती और सुन्नत हो जाती थी। इसके साथ-साथ हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के कर लगा दिये गये थे। सबकी जा रही थी प्रार्थना की सुनवाई नहीं होती थी, हिन्दु-धर्मावलम्बी असहाय अनाथ की भाँति त्राहि-त्राहि कर रहे थे। इस घटना का उल्लेख श्रीरामानन्दीय महानुभाव नाभादासजी ने स्वरचित भक्तमाल के एक ७५वें छप्पय में इस प्रकार किया है—

[यवन तांत्रिकों के यन्त्र को निर्बल बना कर श्रीकेशवकाश्मीरि यन्त्र के नीचे खड़े हैं]

काश्मीरि की छाप पाप तापिनि जग मण्डन।
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आनधर्म विटप विहण्डन॥
मथुरा मध्य मलेच्छ वाद करि वरबटजीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते॥
विदित बात संसार सब सन्त साखि नाहिंन दुरी।
केशोभट नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता विस्तरी॥

इस छप्पय के शब्दों से साधारणतया यह भाव स्पष्ट होता है कि, श्रीकेशवभटजी का विश्व में बहुत उच्च स्थान था। उनकी सुकीर्ति विस्तृत हो चुकी थी। उनके नाम के साथ काश्मीरि शब्द जुड़ा हुआ था। हरिभक्तिरूप दृढ़ कुठार द्वारा विधर्मरूपी अन्य धर्मों को वे सहज में उन्मूलन कर देते थे। मथुरा में म्लेच्छ यवनों को जीतकर उनके द्वारा हिन्दुओं पर बढ़ाये हुए अत्याचार को समाप्त करवाया। यवनकाजी और शासक सभी इनके प्रताप से भयभीत हो गये। उनका यह प्रभाव सारे संसार में विदित हो रहा है, छिपी हुई बात नहीं है न इसमें कुछ बनावटी ही है वस्तुतः यह सत्य घटना है। सन्त (सत्पुरुष) ही हमारे इस कथन की सत्यता में साक्षी हैं।

विक्रम सम्वत् १७६६ में श्रीप्रियादासजी ने इस छप्पय का निम्नांकित पद्यानुवाद किया है:—

आप काश्मीर सुनी बसत विश्राम तीर तुरक समूह द्वारा जन्त्र इक धारिये।
सहज सुभाउ कोउ निकसत आय ताको पकरत जाय ताकैं सुन्नत निहारिये॥
संग ले हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा अरे वहाँ ठौर बोले नीच पट टारिये।
क्रोध भरि झारे आय सूबा पै पुकारे वे तो देखि सबै हारे मारे जल बोरि डारिये॥

भक्तमाल और उसके टीकाकार दोनों के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैष्णव धर्म की किसी भी शाखारूप सम्प्रदायवाले व्यक्ति से किसी भी प्रकार का वाद-विवाद नहीं किया, अपितु हरिभक्ति विरोधी अन्य धर्मों रूपी वृक्षों को वे हरिभक्तिरूप दृढ़ कुठार से अवश्य

खण्डन करते थे। जैसा कि श्रीनाभाजी और श्रीप्रियादासजी ने उपर्युक्त अपने-अपने स्वरचित पद्यों में अभिव्यक्त किया है।

जहाँ यवन तान्त्रिकों ने जो यन्त्र लगा रक्खा था, वहाँ उसी यन्त्र का आचार्य श्री ने ऐसा परिवर्तन कर दिया कि कोई भी हिन्दू उसके नीचे से निकले उस पर उस यन्त्र का कुछ भी प्रभाव नहीं हो, किन्तु तान्त्रिक शासक यवनमात्र उधर उसके नीचे या निकट आवें सब जलने लग जाँय। आचार्य श्री ने श्रीसुदर्शन चक्रराज एवं भुवन भाष्कर भगवान् सूर्य का उसमें आवाहन कर दिया था। ऐसा भी कहा जाता है कि वह दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार से यवनमात्र को जला रहा था, इधर श्रीयमुनाजी ने भी अपना कलेवर बढ़ाकर यवनों को बहाना आरम्भ कर दिया। ऐसी भी जन-श्रुति है कि उस यन्त्र के नीचे से जो भी यवन पुरुष निकलता, उसका पुंस्त्व बदल कर उसके स्त्री चिह्न व्यक्त हो जाते थे। चाहे जो भी हो, वास्तव में ऐसी घटना अवश्य घटित हुई थी। यवनों द्वारा पीड़ित हिन्दुओं का श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य ने त्राण किया था। और अनीति परायण दुर्मन दुष्टों का आपने अपने तपस्तेज से दमन किया था।

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य द्वारा चक्रसुदर्शन एवं प्रखर सूर्य तेज का आविर्भाव

समय—उपर्युक्त स्पष्टीकरणों द्वारा पता चलता है कि अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में हिन्दुओं पर ऐसे अत्याचार होने के उल्लेख मिलते हैं, अतः वही समय (सन् १२९६–१३२०) इन श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्य की विद्यमानता का प्रमाणित होता है। कुछ व्यक्तियों ने कविराज कृष्णदास के चैतन्य चरितामृत की "हेन काले दिग्विजयी ताहाइ आइला।" तुक के आधार पर उस कल्पित दिग्विजयी और केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य को एक सिद्ध करना चाहा था किन्तु वह सर्वथा अप्रमाणित सिद्ध हुआ, इस आशय को वर्तमान समय में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी ने हमारे एक पत्र के प्रत्युत्तर स्वरूप अपने पत्र द्वारा स्पष्ट कर दिया है। उस पत्र की शब्दावली इस प्रकार है—

श्रीवेदान्ताचार्यजी !

अन्वेषण से पता चला कि श्रीनिम्बार्काचार्य केशवकाश्मीरि तो चैतन्यदेव के जन्म से भी बहुत पूर्व हुए हैं, उनके और इनके काल में सैकड़ों वर्षों का अन्तर है……। यह चित्र

तो काल्पनिक है। किसी भी चित्रकार से आप कह दें, उसी का वे काल्पनिक चित्र बना देंगे। पुनः पुनः प्रणाम। भवदीय—प्रभुदत्त। संकीर्तन भवन झूंसी (प्रयाग)

फाल्गुन शु० ८, २००८ वि०

तत्वार्थ प्रकाशिका टीका की विशेषतायें—गीता पर संस्कृत हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में शतशः टीकायें उपलब्ध हो रही हैं। उनमें बहुत-सी टीकायें सामान्य अक्षरार्थ दरसानेवाली हैं, बहुत-सी दार्शनिक तत्वों के विवेचन करनेवाली हैं। बहुत-सी अपने-अपने स्वाभिमत दार्शनिक सिद्धान्तों को संस्थापित करनेवाली भी हैं। यह तत्वप्रकाशिका टीका भी ब्रह्मजीव और जगत में स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्धरूप टीकाकार के स्वाभिमत सिद्धान्त समर्थनपरक है। यद्यपि द्वैत अद्वैत विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत आदि सभी अभिमतों के प्रदर्शक सभी आचार्य तथा विद्वान् श्रद्धेय हैं और सभी के अभिमत भी अपने-अपने दृष्टिकोण से समीचीन ही हैं, तथापि तत्व प्रकाशिका टीकाकार को गीता के स्वाभाविक अर्थ प्रकाशित करने में कुछ विशेषतायें हैं। उनमें कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

पर्याप्त और अपर्याप्त शब्द का कुछ टीकाकारों ने क्रमशः परिमित और अपरिमित अर्थ किया है। गीता प्रथम अध्याय श्लोक १० में दुर्योधन ने द्रोणाचार्यजी से कहा है कि भीष्मपितामह द्वारा अभिरक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है और भीमसेन द्वारा संरक्षित पाण्डवों की सेना पर्याप्त है। यदि पर्याप्त शब्द से सात अक्षौहिणी संख्या के कारण पाण्डवों की सेना को परिमित बतलाने का भाव दर्शित किया जाय और एकादश अक्षौहिणी संख्या होने से कौरवों की सेना को "अपर्याप्त" शब्द से अपरिमित बतलाना अर्थ व्यक्त किया जाय तो पूर्ववर्ती द्वितीय और तृतीय श्लोकों में दुर्योधन द्वारा पाण्डवों की सेना को व्यूढ और महती बतलाना असंगत होगा। इसके अतिरिक्त अध्याय ३ श्लोक ४२ में "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इस अन्तिम चरण में "स" शब्द का आपने पूर्व प्रकरण समागत "काम" अर्थ किया है, "श्री श्रीधर" श्रीशंकर आदि टीकारों ने "स" शब्द से आत्मा एवं परमात्मा का परामर्श माना है। किन्तु यहाँ इससे पूर्व और अन्त से भी काम की ही चर्चा है, अतः पूर्वापर को एकदम छोड़कर आत्मानुधावन करने की अपेक्षा तत्वप्रकाशिकाकार का अभिमत विशेष संगति संगत जँचता है। इसी प्रकार और भी कई प्रसंग हैं, जो तत्वप्रकाशिका टीका की विशेषता द्योतन करते हैं।

गीता का श्लोक संख्यामान—महाभारत की पाण्डुलिपियाँ दो प्रकार के पाठोंवाली मिलती हैं, एक दक्षिण परम्परावाली और दूसरी उत्तर पूर्वीय (बंगाल आदि) परम्पराऽनुसारिणी। दक्षिण भारत की प्रतियों में गीता की श्लोक संख्या बतलानेवाले 'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः"। इत्यादि श्लोक नहीं मिलते किन्तु उत्तरपूर्वीय भारतीय प्रतियों में मिलते हैं, उन्हीं के अनुसार तत्व-प्रकाशिकाकार ने स्वलिखित भूमिका में उन श्लोकों को उद्धृत करके श्लोक संख्या ७४५ लिख दिये हैं किन्तु गीता की वर्तमान उपलब्ध प्रतियों में श्लोक संख्या ७०० ही देखी जाती है।

कुछ सज्जन इन ७०० श्लोकों को ही ७४५ की संख्या सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में और दूसरे भी ऐसे कुछ विषय हैं जिनका विवेचन दूसरे भाग में किया जायगा। **सम्पादक—"श्रीसर्वेश्वर"**

❋ श्रीसर्वेश्वरो जयति ❋

❋ श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ❋

समर्पण

अखिल ब्रह्माण्डाधिपति, सर्वाधार सर्वनियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् वात्सल्यकारुण्यादि-
गुणार्णव शरणागत-प्रतिपाल भक्तार्तिहरणबद्धकक्ष निखिलैश्वर्य माधुर्यरससारसिन्धु
यशोदाङ्क-लालित व्रजवसुन्धराङ्गण नृत्यमान नाट्याधीश्वर नटवर सदा
श्रीवृषभानुजायुत विराजमान श्रीराधासर्वेश्वर प्रभो ! आपके निकुञ्ज-
परिकरस्थ श्रीरंगदेव्यपर नाम निरन्तर स्वकरकंजस्थ स्व-
स्वरूप श्रीसुदर्शनावतार निखिल महीमण्डलैकदेशिक
श्रीसुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्र परम्पराश्रित
स्वावतारस्वरूप श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य
द्वारा विनर्मित तत्त्व-प्रकाशिका संस्कृत
व्याख्या सहित श्रीमुखसमुद्भूत
वाणीरूप गीता का यह
प्रकाशन आप ही की
वस्तु आप ही के
समर्पित
है।

समर्पक—
श्रीव्रजवल्लभशरण
वेदान्ताचार्य (सम्पादक)

❀ श्रीराधासर्वेश्वरो जयति ❀

❀ श्रीनिम्बार्काय नमः ❀

भूमिका

यो मायागुणदोषलेशरहितः स्वाभाविकैः सद्गुणैः
स्वातन्त्र्याखिलविश्वताद्यगणितैर्युक्तो ब्रह्मादिस्तुतः ॥
भक्ताभीष्टप्रदो रमैकरमणो वेदैकगम्यो हि य-
स्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा गोपीप्रियं श्रीहरिम् ॥१॥
यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ॥
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभव-
त्तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥२॥
श्रुतीनां सूत्राणां स्मृतिनिखिलवेदानुवचसां
परं हार्दं युक्तं ह्यखिलचिदचिद्भिन्नमपि च ॥

वन्दारुजनमन्दारं वात्सल्यादिगुणार्णवम् । वन्दे बोधप्रदं नित्यं श्रीनिवासं सुदर्शनम् ॥१॥
वासुदेवो रमाकान्तो गीताचार्यो जगद्गुरुः । कृपां करोतु दासेऽस्मिन् दीने मयि दयानिधिः ॥२॥
क्षमन्तां मम चापल्यं सज्जना दीनवत्सलाः । सारग्राहिविदो वै मां कृतार्थं विदधत्वमी ॥३॥
अनुगृह्णातु मां रामः शरण्यो भक्तवत्सलः । कर्मणाऽनेन प्रीणातु पिता माता गुरुस्तथा ॥४॥
श्रीकेशवार्यवर्येण शुद्धतत्त्वप्रकाशिका । श्रीगीतायाः कृता टीका तस्या भाषां करोम्यहम् ॥५॥

भावार्थ—माया के गुणदोष से रहित जो ब्रह्मादि से पूज्य है ।
जो स्वाभाविक सद्गुणाढ्य सब में स्वाधीन ज्ञानी तथा ॥
वेदों से वह प्राप्य भक्तवरद श्रीकान्त गोपीप्रिय ।
ऐसे श्रीहरि को प्रणाम शिर से वाणी मनों से सदा ॥१॥
जो श्रीविष्णु दयासमुद्र जिसकी दिव्या कृपा से ध्रुव ।
पाके सिद्धि गया स्वधाम, निधनी को भी मिली सम्पदा ॥
पाई मुक्ति अजामिलादि पतितों ने भी पुजाया गिरि ।
देते आश्रित को अभीष्ट फल जो मैं नित्य उन्को भजूं ॥२॥
श्रुती का सूत्रों का स्मृति सकल वेदानुगत का ।
गुणी भेदाभेदाश्रय पुरुष चैतन्य जड़ से ॥

अभिन्नं स्वाभाव्याद्गुणि च परमं ब्रह्मकमिदं
समादिष्टं यैस्तानपि सततवीडे गुरुवरान् ॥३॥
संसाररोगशमने खलु निम्बवद्यो
हार्द्धिकारहरणे रविवदेव यश्च ॥
श्रीकृष्णपादपरिचारणतुष्टचेता
*निम्बार्कदेशिकवरः स हि मे गतिः स्यात् ॥४॥
श्रीश्रीनिवासमाचार्यं गुरुं श्रीगंगलाभिधम् ॥
प्रणम्य क्रियते गीता-व्याख्या तत्त्वप्रकाशिका ॥५॥

अथ स्वभावतोऽपास्ताखिलाविद्याक्लेशकर्मजन्मादिषड्भावसत्त्वादिगुणकार्यसम्बन्धः सत्यज्ञानानन्त-स्वरूपो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यवात्सल्यौदार्य्यकारुण्यक्षमादयामाधुर्यलावण्यमार्द्दवाद्यनन्तकल्याणगुण-महोदधिः समस्तक्षेत्रज्ञप्रकृतिकालकर्मनियन्ता अतिशयसाम्यवर्जितो विष्वक्सेनगरुडादिनित्यमुक्तैर्निषेवितो ब्रह्मरुद्रेन्द्राद्यचिन्त्यमहिमा तद्वन्द्यो वेदान्तैकवेद्यो जगज्जन्मादिहेतुः प्रणतार्त्तिक्षपणस्वभावः उभयविभूति-र्भगवांश्छ्रीपुरुषोत्तमो देवासुरसंग्रामनिहतावनितलावतीर्ण-राजन्यरूपदैत्यदानवचमूवृन्दाक्रान्तभूभूरि-

---

वही सच्छास्त्रों का, परममत वेदान्तविदको ।
जिनोंने दर्शाया, उन गुरुवरों की स्तुति करूँ ॥३॥
जो निम्बतुल्य भवरोग विनाशकारी ।
स्वान्तान्धकार हरणे रवि कर्मकारी ॥
श्रीकृष्णचन्द्र चरणार्चन तुष्टचेता ।
निम्बार्कदेव वह हों गति नित्य मेरी ॥४॥

भाष्यकार श्री श्रीनिवासाचार्य और गुरुदेव श्रीगंगलभट्टाचार्यजी महाराज को नमन करके अब गीता की तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या की जा रही है ॥५॥

जो सदा समस्त अविद्या, क्लेश, कर्म, जन्मादि, षड्भाव और प्राकृत देहादिकों के कार्य्यों के सम्बन्ध से स्वभावतः ही निर्लिप्त है, जो सत्यज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जो ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, वात्सल्य, उदारता, करुणा, क्षमा, दया, मधुरता, लावण्य, कोमलता आदि गुणों का समुद्र है, समस्तजीव, माया, काल और कर्म का नियन्ता है, जिसकी बराबरी का और जिससे बड़ा कोई नहीं है, विष्वक्सेन, गरुड़ आदि नित्य मुक्तजीवों से जो सदा सेवित है, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि जिसकी महिमा को नहीं जान सकते और वे सदा जिसकी वन्दना करते हैं, जो एकमात्र वेदान्त से ही जाना जाता है, और जो जगत् के जन्म, स्थिति, प्रलय, मोक्ष का कारण है, जिसका स्वभाव प्रणत पुरुषों के दुःखों को हटाने का है, और जो लीला और नित्य दोनों प्रकार की विभूतियों से युक्त है ऐसे श्रीपुरुषोत्तम

---

* निम्बार्कं आर्यचरणः स सदा गतिर्मे पाठान्तरः ।

भारोत्तरणाय ब्रह्मरुद्रादिदेवतावृन्दैः स्तोत्राराधनप्रार्थितो भूभारोत्तारणाय यादवकुले आविर्बभूवेति सर्वजनप्रसिद्धं भगवदवतारप्रयोजनम्। नैतद्भगवतो मुख्यं तात्पर्यं यतस्तस्य वराहपृथुपरशुरामादिवदंश-कलामात्रेणापि भूमारमपहर्तुं समर्थत्वात् "पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः। विचेष्टयति भूतानि क्रीडन्निव सनातनः॥ कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः। आत्ममायेन भगवान्परिवर्तयते ऽनिशम्॥ कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च॥ ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते"इति महाभारतोक्त्याद्भुतप्रभावस्य भगवतोऽचिन्त्यशक्तेर्न केवलं भूभारहरणायैवाविर्भावः, किन्तु अक्षपाद-कणादसांख्यजैमिन्यादिभिः शास्त्रकुद्भिर्हैरण्यगर्भपाशुपतसौरगाणपत्यमतवादिभिश्च प्रणीतैः, परतत्त्वा-पह्नवपरैरन्यविषयैः शास्त्रैः स्वभक्तिज्ञानहीनान्संकीर्णमतीन् जीवान्वीक्ष्य कृष्णद्वैपायनरूपेण परतत्त्व-प्रकाशकशारीरकमीमांसादिसच्छास्त्रनिरूपणेनोक्तमतानि निरस्तानि, तथापि भागवतधर्मविरोध्यसुर-राजन्यप्राये लोके भागवतधर्मप्रवृत्त्यभावमेवान्वीक्ष्य भवाब्धिपतितजनतातत्तरणासाधारणोपायस्वज्ञान-भक्तिप्रवृत्त्यर्थं कलिमलापहराण्यतिमानुषाणि कर्माणि कर्तुं स्वदर्शने चातकवदत्युत्कण्ठितचेतसां स्वा-श्रितानन्यरसिकभक्तानां नन्दयशोदागोपीगोपाक्रूरोद्धवादीनामतिकमनीयमाधुर्यलावण्यादिगुणनिधिमूर्त्ति-

---

भगवान् ने देवासुर संग्राम में मरकर फिर पृथ्वीतल में राजारूप में जन्म पाये हुए दैत्य-दानव सेना समूह से आक्रान्त बड़े भूभार को हटाने के लिए ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवों की स्तुति और आराधना से प्रसन्न हो, यादवकुल में अवतार लिया। भगवान् के अवतार लेने का यही कारण लोक में प्रसिद्ध है। पर भगवान् के अवतार का यह इतना ही मुख्य प्रयोजन नहीं है, क्योंकि भूमि के भार को तो वराह, पृथु, परशुराम आदि अंश और कला अवतार ही हटाने में समर्थ थे।

पुरुषोत्तम भगवान् तो पृथिवी, आकाश, स्वर्ग और सब जीवों को सहज ही में चलाते हैं। भगवान् सदा कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्र को अपनी शक्ति से परिवर्त्तित करते रहते हैं। काल, मृत्यु, जंगम, स्थावर, सभी पर एक भगवान् शासन करते हैं, यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ।

महाभारत में कहे गये ऐसे अद्भुत प्रभाव और अचिन्त्य शक्तिवाले भगवान् का अवतार केवल भूभार उतारने के लिए ही नहीं होता।

यद्यपि गौतम, कणाद (परमाणु कारणवादी) कपिल (प्रकृतिवादी) जैमिनी (कर्मवादी) आदि शास्त्रकारों और हैरण्यगर्भ, पाशुपत, सौर, गाणपत्य आदि मतवादियों द्वारा प्रणीत, परतत्त्व के अपहारक और अन्य विषयक शास्त्रों द्वारा संकीर्ण बुद्धियुक्त और अपने ज्ञान और भक्ति से शून्य जीवों को देख कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) रूप से अवतरित हो परतत्त्व के प्रकाशक शारीरिक मीमांसादि सच्छास्त्रों को निरूपणकर उक्त मतों को ध्वस्त किया। तथापि भागवतधर्म के विरोधी राक्षस राजाओं से पूरितलोक में भागवतधर्म की प्रवृत्ति का अभाव देख संसार-सागर में पतितजनों के उद्धार के असाधारण उपाय अपने ज्ञान और भक्ति के प्रचारार्थ, कलिमल के नाशक अपने अतिमानुष अद्भुत् कर्मों को करने के लिये, और उनके दर्शन के लिये चातकवत् उत्कण्ठित चित्त तथा उनके अनन्य

दर्शनमधुरालापमनोहरलीलाभिर्मनोऽभिलाषपूरणार्थं च भूभारोद्धरणव्याजेन वसुदेवदेवकीभक्तिवशीभूतो ऽजहद्गुणशक्तिः पूर्णानन्दरूपेणैव तयोः पुत्रभावेनाविर्बभूव। तथोक्तं श्रीभागवते कुन्तीस्तुतौ पक्षान्तराण्युपन्यस्य "भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ॥ श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचने" त्युक्त्वा तच्छ्रवणादिफलकथनेनास्यैव पक्षस्य सिद्धान्ततत्वात्। तत्र स्वस्वरूपज्ञानोपदेशेन तावभिनन्द्य नन्दव्रजं गत्वा नन्दयशोदादीन्सुखयित्वा पूतनादिकेश्यन्तासुरसंहरणवत्सपालनकालीयदमनगोवर्द्धनोद्धरणरासलीलादिव्याजेन चतुर्मुखसहस्राक्षपुष्पधन्वादिगर्वापहरणरूपां निरंकुशां पारमेश्वरीं लीलां विधाय लीलयैव कंसादीन्निहत्य पितृविमोचनं गुरोर्विद्याग्रहणं तत्सुतप्रदानेनानृण्यरूपस्वधर्मं च प्रदर्श्य यवनान्निहत्य द्वारकामेत्य तत्र रुक्मिणीहरणमहोक्षदमननरकासुरसंहारणादिनानाश्चर्यविवाहान्कृत्वा यादवकुन्तीसुतादिस्वभक्तोत्कर्षं दर्शयितुं भक्तिकण्टकान् पौण्ड्रकजरासन्धचैद्यशाल्वादीन्भूभाररूपान्हतवान्। अवशिष्टं भूभारमपाकर्तुं दुर्योधनार्जुनभीमादीन्निमित्तीकृत्य महाभारतयुद्धारम्भं कारयामास। तत्र स्वप्रियभक्तकुन्तीसुतानुकम्पया ऽर्जुनसारथ्यमंगीकृतवान् तदोभयसैन्यमध्ये स्वजनबन्धुगुरुवधपातकभयेन युद्धान्निवृत्य रथोपविष्टं युद्धकरणे कुलघ्नतारूपो महान्दोषो, युद्धत्यागे स्वधर्महानिः स्यादित्यु-

---

आश्रित, अनन्य प्रेमी भक्त, नन्द, यशोदा, गोपी, गोप, अक्रूर, उद्धव आदिकों को अतिसुन्दर, मधुरता, लावण्य आदि गुणों से युक्त स्वमूर्ति के दर्शन, उनके संग मधुर आलाप, अपनी मनोहर लीला आदि से उनकी मनोभिलाषा पूर्ति के अर्थ, भूभार हटाने के उद्देश्य से, वसुदेव देवकी की भक्ति के वशीभूत हो, अपने समग्र गुण शक्ति के सहित पूर्णानन्द रूप में प्रकट हुए। श्रीमद्भागवत में कुन्तीस्तुति में, और और पक्षों का उल्लेख कर, "इस संसार में अविद्या, काम और कर्मों से दुःखित मनुष्यों के श्रवण और स्मरण के योग्य कामों को करनेवाले भगवान् की लीला के श्रवण आदि का फल कहकर पक्षान्तर से ऊपर कही हुई बातों का ही समर्थन किया गया है।

जन्म के बाद अपने स्वरूप का ज्ञान देकर अपने माता पिता को प्रसन्न कर भगवान् नन्दव्रज को गये। वहां उन्होंने नन्द यशोदा को सुखी किया, पूतना से आरम्भ कर केशी तक अनेक असुरों को मारा, वत्स-पालन, कालीय-दमन, गोवर्द्धन-धारण, रासलीला आदि के द्वारा ब्रह्मा, इन्द्र, कामदेव, आदि के गर्व को चूर किया। ऐसी निरंकुश पारमेश्वरी लीलाओं को कर फिर कंस को खेल ही में मार डाला, माता पिता को कैद से छुड़ाया, गुरु गृह जा विद्याध्ययन किया, मरे हुए गुरु-सुत को उन्हें दे, गुरु-ऋण से मुक्तिरूप अपना धर्म दिखाया और कालयवन को मार द्वारका चले गये। वहां जा रुक्मिणि हरण, महोक्षदमन, नरकासुर-संहार आदि, आश्चर्ययुक्त अनेक विवाह कर यादव, कुन्तीसुत आदि, अपने भक्तों का उत्कर्ष दिखाने के लिए भक्ति के कांटे-स्वरूप पौण्ड्रक, शिशुपाल, जरासन्ध, शाल्व आदि भूभार रूप राजाओं का विनाश किया। शेष भूभार हरने के लिए दुर्योधन और अर्जुन को निमित्त कर महाभारतयुद्ध रचाया। युद्ध में अपने प्रियभक्त अर्जुन पर कृपा कर उनके सारथी बने। वहां दोनों सेना के बीच, स्वजन-बन्धु एवं गुरुवध के पातक के भय से, युद्ध से हटकर, अर्जुन रथ पर बैठ गया और भगवान् से पूछा कि युद्ध करने में कुलघ्नतारूप महादोष और युद्ध नहीं करने से

अथवा ऽप्यनिष्टमेव कथं मे श्रेयः स्यादिति शोकमोहसागरे निमग्नमर्जुनमुपलक्ष्य सर्वमुमुक्षुजनानुकम्पया ज्ञानकर्मोपासनात्मकत्रिकाण्डविषयकसकलवेदसारभूतगीताशास्त्रोपदेशैस्तत उज्जहार। तच्च स्वयमेवार्जुनो वक्ष्यति "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत !। स्थितो ऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तवे"ति ॥ तच्च गीताशास्त्रं पञ्चचत्वारिंशदधिकसप्तशत श्लोकैर्महाभारते भगवता व्यासेन निबद्धं तदुक्तं भीष्मपर्वणि "षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ॥ अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्सप्तषष्टिं तु सञ्जयः ॥ धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीतायामानमुच्यत"इति। तत्र शोकनिवृत्तिकारणमात्मस्वरूपगुणादियाथात्म्यज्ञानमेव "तरति शोकमात्मविदिति"श्रुतेः, आत्मा द्विविधः जीवात्मपरमात्मभेदात् तत्र जीवक्षेत्रज्ञपुरुषादिशब्दाभिधेयो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वादिधर्माश्रयः सर्वदा परमेश्वराधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिको ऽणुपरिमाणकः प्रतिशरीरं भिन्नो बन्धमोक्षार्हः आद्यः, तद्बन्धहेतुः सत्त्वादिगुणमायादिशब्दवाच्यं देहेन्द्रियादिरूपेण परिणतमचेतनद्रव्यम्, सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सत्यज्ञानानन्तस्वरूपः सर्वात्मा प्रकृतिपुरुषकर्मकालनियन्ताऽतिशयसाम्यवर्जितः सर्वाऽराध्यः स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सर्वैकस्वरूपो हरिनारायणादिशब्दाभिधेयः परब्रह्मभूतो भगवान् वासुदेवो द्वितीयः, तत्प्राप्त्यसाधारणहेतुस्तदनन्यभक्तियोग इति साक्षाद्भगवतोपदिष्टं तदेतदध्यायषट्कत्रयात्मकं गीताशास्त्रमप्रामाण्यकारणबुद्धिमान्द्यदुराग्रहादिदोष-

---

निज क्षात्र-धर्म की हानि होगी, इस प्रकार दोनों अनिष्ट ही देख पड़ते हैं, कैसे मेरा कल्याण होगा ? इस प्रकार मोहसागर में डूबे हुए अर्जुन को उपलक्ष्य कर और सब मुमुक्षुजनों पर कृपा कर ज्ञान, कर्म और उपासना तीन काण्ड विषयक और सकल वेदों के सारभूत गीताशास्त्र का उपदेश दे अर्जुन को मोह सागर से उबारा। यह बात अठारहवें अध्याय में अर्जुन स्वयं कहेंगे।

हे भगवन् आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त की। मैं सन्देह से रहित हो गया। मैं तुम्हारा कहना करूंगा। गीता में यह बात बताई गयी है कि आत्म स्वरूप, गुण आदि का ठीक ठीक ज्ञान ही शोक निवृत्ति का उपाय है।

श्रुति कहती है :—"तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्मा को जाननेवाला शोक को तर जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का है। पहला अर्थात् जीवात्मा-जीव, क्षेत्रज्ञ, पुरुष आदि शब्दों से पुकारा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृत्व आदि धर्मयुक्त, सर्वदा परमेश्वर के अधीन स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिवाला, अणु परिमाण, प्रति शरीर में भिन्न और बन्ध मोक्ष के योग्य है। सत्त्व, रज, तम गुणमय, प्रधान, प्रकृति, माया, आदि शब्दों से कहे जानेवाला, देह इन्द्रियरूप में परिणत, अचेतन द्रव्य जीवात्मा के संसारबन्धन का हेतु है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप, सर्वात्मा, प्रकृति, पुरुष, कर्म और काल के नियन्ता, अतिशय और बराबरी से शून्य, सबके आराध्य, स्वतन्त्र सत्तायुक्त, सर्वत्र एकस्वरूप, हरि, नारायण, राम, कृष्ण आदि जिनके नाम हैं, ऐसे ब्रह्मभूत भगवान् वासुदेव परमात्मा दूसरे हैं। उनका अनन्य भक्तियोग उनकी प्राप्ति का असाधारण उपाय है। ऐसा साक्षात् भगवान् ने ही इस गीता में उपदेश किया है। यह गीता शास्त्र

चतुष्टयशून्यत्वात्सर्वविदुषां प्रमाणतममत एव तस्य सर्वशास्त्रश्रेष्ठपमुक्तं वाराहे "सारभ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन्गीतामृतं ददौ ॥ लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥१॥ संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ॥ गीतानावं समारुह्य पारं याति सुखेन सः ॥२॥ गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ॥ मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालस्य हास्यताम् ॥३॥ ये शृण्वन्ति पठन्ति च गीताशास्त्रमहर्निशम् ॥ न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥४॥ धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनतां गीतार्थं यो न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥५॥ गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यसुरसंमतम् ॥ तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ॥६॥ तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥ सर्वशास्त्रमयी यस्मात्तस्माद्गीता विशिष्यते" इत्यादिना। अत एव बहुभिराचार्यैः स्वस्वमतानुसारेण व्याख्यातमिदं शास्त्रं परन्तु तेषां सर्वज्ञत्वाभावात्तद्व्याख्यानानां शास्त्रविरुद्धांशेनापि युक्तत्वान्न सर्वमुमुक्षूपादेयत्वं, किन्तु "उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ॥ निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः" इति भविष्यपुराणे श्रीव्यासवचनाच्छ्रीनिम्बार्काचार्यस्यैव भगवच्छब्दाभिहितत्वेन सर्वज्ञत्वात्सर्वेभ्यः प्राचीनाचार्यत्वाच्च तद्व्याख्यानस्यैव सर्वश्रुतिसूत्राविरुद्धत्वेन परमश्रेयोऽर्थिभिरुपादेयत्वं, तस्य त्वतिगम्भीरार्थतया शारीरक-

---

जो छः छः अध्यायों के तीन षटक् युक्त हैं, बुद्धिमान्द्य, दुराग्रह आदि अप्रमाणता के चार दोषों से शून्य है, और इसलिए सब विद्वानों द्वारा श्रेष्ठतम प्रमाण जाना जाता है। इसलिए सर्व शास्त्रों से इसकी श्रेष्ठता, वाराह पुराण में कही गई है।

अर्जुन का सारथीपना करते हुए जिन भगवान् कृष्ण ने गीतारूप अमृत को तीनों लोकों के उपकार के लिये दिया, उनको नमस्कार है। जो मनुष्य घोर संसारसमुद्र को तरने की इच्छा रखता है, वह गीतारूपी नाव पर चढ़कर सुख से पार कर जाता है। जिस मनुष्य ने गीताज्ञान नहीं सुना और उसका अभ्यास नहीं किया, वह मूढ़ात्मा यदि मोक्ष चाहता है, तो उसकी मूर्खता पर लड़के भी हँसते हैं। जो गीताशास्त्र दिन-रात पढ़ते और सुनते हैं, वे देवरूप हैं, इसमें संशय नहीं। उस पुरुष के मनुष्य देह को धिक्कार है जिसने गीतार्थ को नहीं जाना। उससे नीचतर मनुष्य दूसरा कोई नहीं। जिस ज्ञान का उल्लेख गीता में नहीं है, वह असुर-सम्मत, धर्म रहित, वेद रहित और व्यर्थ है। इसलिये गीता धर्ममयी, सर्वज्ञान की प्रयोजक तथा सर्वशास्त्रमयी है, और इसलिये सबसे बढ़कर इसकी विशेषता है। अतः बहुत से आचार्यों ने अपने अपने मत के अनुसार इसकी व्याख्यायें की हैं। उन में किसी-किसी की व्याख्यायें कुछ अंश में शास्त्र से विरुद्ध होने से सब मुमुक्षुओं को उपादेय नहीं हो सकतीं। किन्तु श्रीवेदव्यास ने भविष्यपुराण के "उदय-व्यापिनीग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे। निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः" ॥ इस श्लोक में श्रीनिम्बार्क आचार्य को भगवान् शब्द से कहा है, जिससे श्रीनिम्बार्काचार्य का सर्वज्ञ होना और सर्वआचार्यों से उनकी प्राचीनता प्रकट होती है। इसलिये उन्हीं की की हुई गीता व्याख्या, श्रुति-सूत्र से अविरोधी होने के कारण, परम कल्याण चाहनेवालों के लिये उपादेय है। पर वह व्याख्या अति गम्भीर है और उसके अधिकारी वही हैं जो

मीमांसादिसर्ववेदान्तोक्तसाधनसम्पन्नसूक्ष्मबुद्धयधिकारिकत्वेन मन्दमतीनां तत्र प्रवेशानर्हत्वात्तेषां तदर्थ-जिज्ञासूनामल्पप्रयत्नानां मुमुक्षूणामुपकारायाञ्जसा तदुक्तार्थोपलब्धये तच्चरणस्मरणैकबलेन तत्कृपा-लब्धतदुक्तसिद्धान्तेन मया श्रीभगवद्गीताटीका सुगमा तत्त्वप्रकाशिकाभिधा यथामति *विधीयते। तया श्रीवासुदेवो भगवान्प्रसीदतु।

शारीरक मीमांसादि सर्व वेदान्त में कहे गये साधन द्वारा सूक्ष्मबुद्धि से सम्पन्न हैं। मन्दमतियों का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये उसके अर्थ के जिज्ञासु अल्प प्रयत्नवाले मुमुक्षुओं को उनके कहे गये अर्थ की सुगमता से प्राप्ति के लिये श्रीनिम्बार्काचार्य के चरणों का स्मरण करके उनकी कृपा से प्राप्त उनकी की गई, गीताव्याख्या के सिद्धान्तानुसार यह "सुगम तत्त्वप्रकाशिका" नाम की श्रीगीता की टीका अपनी बुद्धयनुसार की जा रही है, इससे भगवान् वासुदेव प्रसन्न हों।

कृष्ण-मयी-गीता है

[रचयिता—पं० श्रीमोहिनीशरणजी शास्त्री, "मोहन" आशा गुजरात]

★

देवन में कृष्ण एक महान् देव तिनको,
अर्चन नमन काटे सब जग को फजीता है।
नामन में एक नाम वासुदेव सरस अति,
जपै जो "मोहन" नाम जग में वही जीता है॥
पतिव्रता बहुतक भई या धरा ऊपर,
मानी गई उत्तम सभी सों सती सीता है।
ऐसे ही छकै शास्त्र, सब ग्रन्थन में सर्वोपरि,
बाणी अगम ज्ञान कृष्णमयी गीता है॥

---

* अभिधीयते।

* श्रीपार्थसारथये नमः *
* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

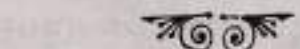

तत्र तावद् 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमि'त्यारभ्यार्जुनस्य शोकमोहापनोदाय भगवदुपदेशं वर्णयितु मर्जुनस्य सहेतुकशोकदर्शनाय प्रथमाध्यायारम्भः। तत्र च स्वपुत्रजयाभिलाषी नष्टदृष्टिरर्जुनस्य गिरीश तोषणदिव्यास्त्रलाभो घोषयात्रायां दुर्योधनस्य गन्धर्वेभ्यो मोचनं विराटनगरउत्तरगोग्रहे कौरवोष्णी-षादिहरणमित्यादि बहुशः श्रुताद्भुतपौरुष-शङ्कितात्मा धृतराष्ट्रस्तदनुकम्पया श्रीवेदव्यासदत्तमहाभारत-सर्ववृत्तान्तविषयकज्ञानदृष्टिं संजयं पृच्छति स्मेत्याह वैशम्पायनो जनमेजयं प्रति। धृतराष्ट्र उवाचेति-प्रश्नमेवाह :—

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

अर्जुन के शोक मोह को मिटाने के लिये "अशोच्या० (गीता २।१०) इस श्लोक से आरम्भ करके भगवान् के दिये हुए उपदेश का वर्णन करने के लिये अर्जुन का सहेतुक शोक दिखानेवाला गीता का यह प्रथम अध्याय आरम्भ होता है। अपने पुत्र (दुर्योधन) के विजय की अभिलाषा रखनेवाला दृष्टि और विमर्शविहीन धृतराष्ट्र ने उन संजयजी से पूछा :—जिनको श्रीवेदव्यासजी ने महाभारत युद्ध के समस्त वृत्तान्तों को दूर से ही देखने की दृष्टि प्रदान की थी। क्योंकि शंकर को भी सन्तुष्ट करने योग्य अर्जुन को दिव्य अस्त्र की प्राप्ति, घोषयात्रा में दुर्योधन को अर्जुन द्वारा गन्धर्वों से छुड़ाना, विराट नगर में गउओं को लाते समय कौरवों की पगड़ी आदि हरण आदि अद्भुत पराक्रमों को बारम्बार सुनने से धृतराष्ट्र के चित्त में सन्देह हो रहा था। इस वृतान्त को वैशम्पायनजी ने राजा जनमेजय को कहा। वह प्रश्न इस प्रकार है :—

हे संजय ! युद्ध करने की इच्छा से दुर्योधन आदि मेरे पुत्र और युधिष्ठिरादि पाण्डवों ने धर्मोत्पत्ति की भूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर क्या किया ?

कुरुक्षेत्र के धर्मोत्पत्ति की भूमि होने में श्रुति प्रमाण है। यथा—"कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" अर्थात् कुरुक्षेत्र देवों के यज्ञ करने की भूमि है। फिर इसका प्रमाण महाभारत आदि में भी है यथा—

"ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्।
तस्मिन्वसन्ति ये राजन् ! न ते शक्याः कथञ्चन ॥"

धर्मक्षेत्र इति। युयुत्सवो योद्धुमिच्छवो मामका ममपुत्राः दुर्योधनादयः, पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः, धर्मक्षेत्रे धर्मोत्पत्तिभूमौ "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनमि"ति श्रुतेः। "ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्। तस्मिन् वसन्ति ये राजन्न ते शोच्याः कथञ्चने"त्यादिमहाभारतादिप्रसिद्धमाहात्म्ये समवेताः संगताः किमकुर्वत। उभयसैन्यमध्ये दिव्यास्त्रविदो महाप्रबलवीरान्भीष्मार्जुनादीन्दृष्ट्वा युद्धव्यवसायं त्यक्त्वा शममास्थिता वा युद्धोद्योगमेव कुर्वन्तः स्थिता इति प्रश्नार्थः। धर्मक्षेत्र इत्यस्य अधार्मिका अपि ममपुत्राः कपटापहृतं पाण्डवराज्यं पितृबधजन्यकोपाविष्टपरशुरामकृतपितृनिष्कृतिहेतु-क्षत्रियवधतद्रुधिरापूरितकुण्डपञ्चक-तर्पितभृग्वादिपितृसन्तुष्टिदत्ततत्प्रार्थितकुण्डतत्क्षेत्रपावनत्ववरयोगाद् यजन-भूमित्वात्कुरुराज्ञस्तपसा च जातधर्मोत्पादकत्वतद्वृद्धिहेतुत्वरूपकुरुक्षेत्रप्रभावाद्धर्मबुद्धयुत्पत्त्या यदि तेभ्यः एव दद्युस्तर्हि युद्धं विनैव नष्टप्रायाः स्युः। अथवा पूर्वमेव धार्मिकाः पाण्डवाः धर्मक्षेत्रसंगत्या धर्मवृद्ध्या स्वजनबन्धुजनवधनिमित्तं राज्यं यदि नेच्छेयुश्चेत्तर्हि सपुत्रः सुखी स्यामित्यभिप्रायः।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अर्थात् कुरुक्षेत्र ब्रह्मा के यज्ञ करने की वेदी है, पवित्र है और ब्रह्मर्षियों से सेवित है। हे राजन्! जो वहां बसते हैं वे तनिक भी शोच करने योग्य नहीं हैं।

धृतराष्ट्र के प्रश्न करने का यह आशय है कि दोनों दलों में महाप्रबल, वीर और दिव्यास्त्रों को जानने वाले भीष्म, अर्जुन इत्यादि को देख दोनों पक्ष के लोग युद्ध का व्यवसाय छोड़ शान्त हो गये अथवा युद्ध के उद्योग ही में लगे रहे।

फिर "धर्मक्षेत्र" इस विशेषण के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि कपट से पाण्डवों का राज्य हरण करने वाले अधार्मिक भी मेरे पुत्र, इस कुरुक्षेत्र ऐसी पवित्र भूमि के प्रभाव से यदि धर्म बुद्धि वाले बनकर पाण्डवों का राज्य लौटा दें, तो बिना लड़ाई ही के वे प्राय नष्ट हो जायेंगे। अथवा पहले ही से धार्मिक पाण्डव लोगों की धर्म बुद्धि इस पवित्र भूमि में आने से यदि और भी प्रबल हो जाय और वे अपने बन्धु-बांधवों को मारकर राज्य लेना नहीं चाहें, तो हम अपने पुत्रों के साथ सुखी होंगे।

कुरुक्षेत्र को धर्म उत्पन्न करने और धर्म को बढ़ाने की शक्ति इसलिए है कि पिता के वध से क्रोधित परशुराम ने पितरों की शान्ति के लिए क्षत्रियों को मार और उनके रुधिर से पाँच कुण्डों को भर उसीसे पितरों का तर्पण किया था और उन भृग्वादि पितरों ने सन्तुष्ट होकर उन कुण्डों और इस क्षेत्र के विषय में पवित्रता का वर दिया था। फिर देवताओं की यज्ञभूमि होने से और कुरुराज के वहाँ तपस्या करने से भी वह भूमि पवित्र है। इसलिए उस भूमि में धर्म के उत्पादन और वृद्धि करने की शक्ति है। १।

एवं पुत्रस्नेहनिबद्धहृदयस्य भगवन्मायाभिभूतस्यान्धमात्रस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य संजयस्योत्तरमवतारयति वैशम्पायनः। संजय उवाच—दृष्ट्वा इति। पाण्डुपुत्राणामनीकं सैन्यं व्यूढं धृष्टद्युम्नादिभिर्व्यूहरचनया स्थापितं राजा दुर्योधनो दृष्ट्वा आचार्यं धनुर्वेदविद्योपदेष्टारमुपसंगम्य तत्समीपं गत्वा वचनमब्रवीत्। एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजन्यं भयं सूचितम्।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

आचार्यस्यामर्षं जनयितुं तावत्पाण्डवसैन्योत्कर्षमाह। पश्यैतामिति। भो आचार्य! एतां पाण्डुपुत्राणां महतीं चमूं व्यूढां पश्य, युद्धार्थमागतानां युक्तमेव चमूव्यूहरचनमिति चेत्तत्रोक्तमाचार्येति। त्वदाश्रितास्मदुद्योगमप्रतीक्ष्यादावेवोद्युक्ता इति तद्धार्ष्ट्यं पश्येति भावः। ननु तेषामपि मच्छिष्यत्वाज्ज्येष्ठत्वादि गुणवत्त्वाच्च युक्तः प्रथमं तदुद्योग इति चेत्तत्राह—द्रुपदपुत्रेणेति द्रुपदस्य तव शत्रोः पुत्रेण व्यूढां व्यूहरचनया स्थापितां अतस्त्वया न क्षम्यतामिति भावः। प्रबलेन शत्रुपुत्रेण सेनापतिना सह न सहसा योद्धव्यमिति चेत्तत्राह—तव शिष्येणेति। नहि गुरोरधिकः शिष्यो भवति, एवं चेत्तः का शङ्का तत्राह—धीमतेति। तव मारणे कृतमतिनेत्यतो नोपक्षणीय इत्यभिप्रायः। एतेन धर्मक्षेत्रगतस्यापि तवपुत्रस्य धर्मबुद्धिर्नोत्पन्ना। सर्पस्य पयःपानेऽपि न क्रोधहानिः, प्रत्युत विषवृद्धिरेव भवति, तद्वत्। तस्मात् तद्राज्यप्रत्यर्पणशंका त्वया न कार्या इति भावः।

इस पुत्र स्नेह में निविष्ट-चित्त और भगवान की माया से मोहित अन्धे धृतराष्ट्र के प्रश्न का अभिप्राय जानकर संजय ने जो उत्तर दिया उसको वैशम्पायन कहते हैं—

धृष्टद्युम्नादि द्वारा व्यूहरचना से स्थापित पाण्डवों के सैन्य को देखकर राजा दुर्योधन ने धनुविद्या के उपदेश देने वाले द्रोणाचार्य के पास जाकर यह कहा। पाण्डवों के सैन्य को देखकर दुर्योधन के हृदय में जो भय का संचार हुआ उसको इस श्लोक से सूचित किया ॥२॥

आचार्य को ईर्षा उत्पन्न करने के लिए दुर्योधन पाण्डवों की सैन्य की बड़ाई करता है—व्यूह रचना में स्थित पाण्डवों के इस बड़े सैन्य को देखिए यदि आप कहें कि युद्ध के लिए आए हुए पाण्डवों का व्यूह रचना करना तो उचित ही है, तो आप आचार्य ठहरे और आपके आश्रित हम लोगों के उद्योग की प्रतीक्षा किये बिना ही इन लोगों ने अपना उद्योग आरम्भ कर दिया। अतः इन लोगों की इस धृष्टता को देखिये। यदि आप कहें कि पाण्डव भी तो हमारे शिष्य हैं और वे तुमसे (ज्येष्ठत्वादि) अवस्था में बड़े होने आदि गुणों के कारण श्रेष्ठ हैं, इसलिए उनका प्रथम उद्योग करना अर्थात् व्यूहरचना ठीक ही हुआ है। पर प्रश्न यह है कि यह व्यूह रचा है किसने? आपके शत्रु राजा द्रुपद के पुत्र ने इस व्यूह की रचना की है। भाव यह कि इस कारण आपको इन लोगों को क्षमा प्रदान नहीं करना चाहिए। यदि आप यह कहें कि शत्रुपुत्र से, जो पाण्डवों का सेनापति है सहसा युद्ध नहीं करना चाहिए, तो यह सेनापति आपका शिष्य है, उससे इतना क्यों डरना चाहिए फिर यदि आप यह कहें

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

स्यादेवंतथाप्येकेन द्रुपदपुत्रेणाधिष्ठितां तेषां चमूमस्मन्मध्ये कश्चिदेकोऽपि जेष्यति, न त्वया तदजेयत्वशंका कार्येति चेन्नैक इत्याह-अत्रशूरा इत्यादिभिः। अत्रास्यां पाण्डवचम्वामन्येऽपि शूराः सन्ति अतो नैकेन जेतुं शक्या तेषां चमूः। शूरान्निर्दिशन्नाह—महेष्वासा इति। महान्त इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा। किञ्च नाल्पयुद्धकौशलाः किन्तु युधि भीमार्जुनसमाः तान्निर्दिशति-युयुधान इत्यादिना। युयुधानः सात्यकिः महारथ इति। त्रयाणां विशेषणम्।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
*पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

कि जब यह शिष्य ही है तो मुझसे क्या बढ़ेगा और उसकी चिन्ता ही क्या ? तो यह धीमान् अर्थात्—बुद्धिमान है और आपको मारने के लिए इसने निश्चय कर लिया है। इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

इस श्लोक से संजय ने धृतराष्ट्र के प्रति यह प्रकट किया कि धर्मक्षेत्र में जाने से भी तुम्हारे पुत्रों में धर्म बुद्धि नहीं उत्पन्न हुई। जैसे सर्प के दूध पीने से उसके क्रोध की हानि नहीं होती बल्कि उसका विष ही बढ़ता है, वैसे ही दुर्योधन आदि तुम्हारे पुत्रों की हालत है। इसलिए यह शंका कि वे पाण्डवों को उनका राज्य लौटा देंगे, व्यर्थ है ॥३॥

यदि ऐसा ही हो जैसा तुम कहते हो, तो अकेले द्रुपदपुत्र से परिचालित उनकी सेना को तो हम लोगों में से कोई एक जीत सकता है। तुमको ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि वह अजेय है। आचार्य के इस विचार का खण्डन करता हुआ दुर्योधन कहता है कि पाण्डवों की सेना में और भी अनेक वीर हैं, इसलिए उनकी सेना को एक व्यक्ति नहीं जीत सकता।

वह पाण्डवों की सेना के वीरों की गणना तीन श्लोकों में इस प्रकार करता है :—महारथी सात्यकि, द्रुपद और विराट, ये बड़े-बड़े धनुर्विद्याविशारद हैं, अल्पयुद्ध कौशलवाले नहीं, बल्कि ये भीष्म और अर्जुन के समान वीर हैं।

यहां महारथ शब्द युयुधान, विराट और द्रुपद इन तीनों का विशेषण है ॥४॥

---

* पुरुजित्कुन्तिभोज ये भिन्न-भिन्न पुरुषों के नाम नहीं हैं। जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित उसका औरस पुत्र था और कुन्तिभोज उसके कुल का नाम है। उद्योग-पर्व में इसका वर्णन है। वहां यह भी वर्णन पाया जाता है कि वह धर्म, भीम और अर्जुन का मामा था। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों पाञ्चाल्य थे और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों अर्जुन के चक्ररक्षक थे। शैब्य शिवि देश का राजा था। —(तिलक महाराज की टीका के आधार पर)

धृष्टकेतुः शिशुपालपुत्रः चेकितानोऽन्यो राजा काशिराजश्च प्रसिद्धः तेषां त्रयाणां विशेषणम् वीर्यवानिति। कुन्तिभोजस्य पुरुजिदिति विशेषणं, शैब्यस्य नरपुंगव इति।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

युधामन्योर्विक्रान्त इति उत्तमौजसो वीर्यवानिति। सौभद्रोऽभिमन्युः द्रौपदेयाः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च चकारादन्येऽपि घटोत्कचादयः सर्व एव महारथाः। अर्जुनादयः प्रसिद्धत्वादतिरथित्वाद्वा महारथेषु न गणिताः। रथार्धरथा अपि न गणिताः महारथादि लक्षणं च—

"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृत॥" इति।

वह पाण्डवों की ओर के और २ राजाओं को गणना करता हुआ कहता है—धृष्टकेतु, शिशुपाल का बेटा चेकितान और काशीराज, ये बड़े बली हैं। पुरुजित, कुन्तिभोज और नरों में श्रेष्ठ शैब्य (ये भी श्रेष्ठ योद्धा हैं) ॥५॥

बड़ा बलवान युधामन्यु और बहादुर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के प्रतिविन्ध्यादि पाँच पुत्र और और भी घटोत्कच इत्यादि महारथी हैं।

प्रकृत में चकार का अर्थ यह है कि इन गिनाए हुए लोगों को छोड़ और भी घटोत्कच आदि कितने ही महारथी हैं।

यहां अर्जुन आदि की गिनती महारथियों में इसलिए नहीं की गई क्योंकि वे तो प्रसिद्ध और अतिरथी हैं।

महारथ आदि के लक्षण स्मृति-ग्रन्थों में इस प्रकार लिखे हैं यथा—

"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः॥"

अर्थात् जो अकेला दस हजार धनुर्धारियों के साथ लड़े, शस्त्र और शास्त्र में प्रवीण हो, उसको महारथ कहते हैं। जो असंख्य धनुर्धर योद्धाओं के साथ अकेला लड़ता है वह अतिरथ, और जो एक सहस्र से अकेला लड़ता है वह रथ कहलाता है और जो उससे न्यून संख्या से अकेला लड़ता है वह अर्धरथ कहलाता है। ६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायक मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

नन्वेवं परसैन्यमजेयं मन्यसे चेत्तर्हि तैः सह सन्धिरेव क्रियतां किं युद्धाग्रहेणेत्याशङ्क्याह—अस्माकं त्विति । तुशब्देन सर्वविद्याश्रयसर्वधनुर्धराचार्यभूतभवद्विधाश्रयाणामस्माकं नास्ति तदजेयत्वशङ्केत्यात्मनस्तेभ्यो वैशिष्ट्यं द्योतयति । अस्माकं ये विशिष्टा विद्यापौरुषादिनोत्कर्षवन्तस्तान्निबोध, मद्विश्वासविषयान् जानीहि ये च मम सैन्यस्य नायकाः स्वाज्ञया योधयितारस्तान् संज्ञार्थं एते विशिष्टा इति नामभिस्ते तुभ्यं सम्यग्बोधनार्थं ब्रवीमि । द्विजोत्तमेतिशब्दस्य स्तुतिबोधकत्वेऽपि न योत्स्यसे चेत्तर्हि केवलं भोजनार्थं ब्राह्मणोत्तम इति गूढार्थः ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

तानेव निर्दिशति-भवानिति । समितिञ्जय इति द्रोणादिकृपान्तानां चतुर्णां विशेषणं समितिं संग्रामं जयति तथा सः । उक्तेभ्यश्चतुर्भ्यः किञ्चिन्न्यूनान् दर्शयति—अश्वत्थामेत्यादि । अश्वत्थामा गुरुपुत्रः विकर्णः स्वकनिष्ठभ्राता सोमदत्तस्य पुत्रः सौमदत्तिर्भूरिश्रवाः ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

यदि आचार्य ऐसा सोचें कि इस प्रकार शत्रु का सैन्य अजेय मानते हो तो उनके साथ सन्धि क्यों नहीं कर लेते, और युद्ध का आग्रह क्यों करते हो ? इस शंका का उत्तर दुर्योधन देता है। वह पाण्डवों से अपनी विशेषता दिखलाता हुआ कहता है कि हम लोगों की ओर जो लोग विद्या, पौरुष आदि विशेष गुणों से युक्त हैं, वे मेरे विश्वासपात्र हैं, यह आप जानें और जो मेरे सैन्य के नायक हैं, अर्थात् अपनी आज्ञा देकर सैन्य को लड़ाने वाले हैं, उनका नाम लेकर मैं आपको उनका परिचय देता हूँ, अर्थात् आपके अच्छी तरह जानने के लिए मैं उनका नाम कहता हूँ ।

यहाँ श्लोकारम्भ में 'तु' शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि सर्व विद्या से युक्त और सब धनुर्धारियों के आचार्य के आश्रय में जब हम लोग हैं तो हारने की शङ्का नहीं है और "द्विजोत्तम" शब्द व्यवहार करने का गूढ़ अर्थ यह है कि मैं आपको द्विजोत्तम कह आपकी बड़ाई करता हूँ। यदि इतने पर भी आप नहीं लड़ेंगे तो समझूँगा कि भोजन ही के लिए आप ब्राह्मणोत्तम हैं ।।७।।

अपनी ओर के वीरों को दुर्योधन गिनता है—रणविजयी आप आप, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य और आप चारों से कुछ ही न्यून गुरुपुत्र अश्वत्थामा, मेरा छोटा भाई विकर्ण और भीष्म के चाचा बाह्लीक के पुत्र सोमदत्त का बेटा भूरिश्रवा ।

या समितिञ्जय विशेषण द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृप के लिए प्रयुक्त हुआ है ।।८।।

किमेत एव तव विशिष्टा योद्धारो, नेत्याह—अन्ये चेति। अन्ये च जयद्रथशल्यप्रभृतयः मदर्थे मत्प्रयोजनाय त्यक्तजीविताः श्रीवितं त्यक्तुं कृतनिश्चयाः। ननु त्वदर्थं त्यक्तजीविताः अप्यसमर्थाश्चेत्किं कुर्युरिति चेन्नेत्याह—विशेषणद्वयेन। नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदा इति। नानाशस्त्राणि प्रहरणानि येषां ते तथा युद्धविशारदाः विविधयुद्धमार्गेषु सर्वे निपुणा इत्यर्थः।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

एवं चेतर्हि भयाभावादिकमितस्ततो धावसीत्यत आह—अपर्याप्तमिति। तत् यथोक्तयोद्धृविशिष्टं भीष्माभिरक्षितमस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तमपूर्णं मे भाति। एतेषां पाण्डवानां तु बलं भीमाभिरक्षितं पर्याप्तं पूर्णं समर्थं मे प्रतिभाति इत्यर्थः।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एवहि ॥११॥

तर्हि किं कर्त्तव्यमित्यत आह—अयनेष्विति। अयनेषु व्यूहप्रवेशनिर्गमस्थानेषु सर्वे यथाभागं विभक्तं स्वं स्वं रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्व एव हि भीष्मं सेनापतिमेवाभिरक्षन्तु। सेनापतौ रक्षिते सर्वं सैन्यं रक्षितं भवति इति भावः।

बस क्या इतने ही विशेष गुण सम्पन्न योद्धा तुम्हारी ओर हैं? दुर्योधन इस प्रश्न का उत्तर देता है कि नहीं, और भी हैं।

जयद्रथ, शल्य इत्यादि और भी योद्धा हमारे लिए प्राण देने को तैयार हैं। यह शङ्का हो कि यदि शक्ति उनमें नहीं हो तो केवल प्राण देने से ही क्या होगा? उसके जवाब में दुर्योधन उनके दो विशेषणों को कहता है कि ये सब शस्त्रों के चलाने में प्रवीण हैं और नाना प्रकार की युद्ध विद्याओं में बड़े कुशल हैं ॥९॥

यदि ऐसी बात है अर्थात् बड़े-बड़े योद्धा तुम्हारी ओर हैं और तुमको कुछ भी डर नहीं है, तो फिर तुम इधर-उधर दौड़ते क्यों फिरते हो? इसका उत्तर दुर्योधन देता है—

ऊपर जिन योद्धाओं का नाम लिया गया है, उनसे युक्त हम लोगों का सैन्यबल, जिसकी रक्षा भीष्म करते हैं हमको अपूर्ण (असमर्थ) मालूम होता है और उन पाण्डवों का बल जिसकी रक्षा भीम करता है पूर्ण अर्थात् समर्थ भासता है ॥१०॥

तब क्या किया जाय? दुर्योधन इसका उत्तर देता है कि व्यूह में प्रवेश करने और वहाँ से निकलने के रास्तों पर यथाभाग स्थित होकर अर्थात् रणभूमि में अपने २ निर्दिष्ट स्थानों को बिना छोड़े हुए आप और सभी लोग सेनापति भीष्म की ही सब तरह से रक्षा करें, क्योंकि सेनापति की रक्षा होने से सब सैन्य की रक्षा होती है ॥११॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

एवं शत्रुसैन्यादन्तर्भीतोऽपि शठत्वेनैवाचार्यमुपसृत्य स्वोत्कर्षद्योतकवचनैरतुष्टेनाचार्येणोपेक्षितं राजानं ज्ञात्वा अयनेष्वित्यादिनाऽऽत्माश्रितं ज्ञात्वा राजत्वान्नोपेक्षणीय इति तं भीष्मो हर्षयामासेत्याह—तस्येति। तस्य दुर्योधनस्य हर्षं सम्यग्जनयन् प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः उच्चैः सिंहनादं विनद्य-शङ्खं दध्मौ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततो भीष्मस्य सेनापतेः शङ्खशब्दा-नन्तरं शंखभेर्यादयः सहसैव तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त। कर्म-विवक्षया कर्मकर्तरि प्रयोगः शंखादीनां स शब्दस्तुमुलो वीरहृदयकम्पनोऽभवत्। पाण्डवास्तु नाकम्पन्तेति भावः।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः पाण्डवसैन्यस्य हर्षं द्योतयितुं माधवादीनां शंखदध्मानमाह—तत इति ततो दुर्योधनसैन्ये शंखशब्दप्रवृत्यनन्तरं श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवश्च दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतु-रित्यादिभिः शब्दैस्तज्जयः सूचितः।

इस प्रकार शत्रु सैन्य से भीतर ही भीतर डरे हुए भी दुर्योधन ने शठता से गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर अपनी बड़ाई की। भीष्म ने ऐसा सोचा कि आचार्य ने उसीके मुख से उसकी बड़ाई सुन अप्रसन्न हो उसकी उपेक्षा की और ऊपर के श्लोक से ऐसा समझकर, कि दुर्योधन मेरे आश्रित है, और द्रोणाचार्य को राजा समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए थी, आपने उसको प्रसन्न किया।

दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए प्रतापी कुरुवृद्ध पितामह भीष्म ने बड़े जोर से सिंहनाद के ऐसा गर्जकर अपने शङ्ख को फूंका ॥१२॥

सेनापति भीष्म के शङ्ख फूंकने पर शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, गोमुख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग, नरसींगादि लड़ाई के बाजे एक संग ही बज उठे। उनका बड़ा भारी शब्द हुआ। अर्थात् वीरों के हृदय को कंपानेवाला शब्द हुआ। भाव यह कि पाण्डवों का हृदय इस शब्द से नहीं कँपा ॥१३॥

अब पाण्डवसेना के हर्ष को सूचित करने के लिए माधवादि ने जो शंख बजाए, उसका वर्णन करते हैं। दुर्योधन के सैन्य में शंखादि बजने पर उजले घोड़ों से युक्त बड़े रथ में स्थित कृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शङ्खों को जोर से फूंका। "शङ्खों को जोर से फूंका" इन शब्दों के व्यवहार करने से (पाण्डवों की) जय सूचित की गई ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मावृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

पाण्डवोत्कर्षमेव द्योतयितुं तच्छङ्खनामानि वर्णयति-पाञ्चजन्यमिति द्वाभ्याम् । पाञ्चजन्यदेवदत्तादिनामभिस्तेषां शङ्खा विदितास्तव पुत्रसंज्ञे तु कस्यापि नाम्ना प्रसिद्धः शंखो नास्ति । किञ्च हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः हृषीकेशो येषां सहायः तेषामेव जयो भविष्यति इति अभिप्रायः ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

अन्येऽपि तत्सैन्ये शङ्खान्दध्मुरित्याह—काश्यश्चेति । काश्यः काशिराजः । शिखण्डी द्रुपदपुत्रः, भीष्मवधाय तपसोत्पन्नो वाऽपूर्वजन्मा धृष्टद्युम्नो द्रोणाचार्यवधायाग्निकुण्डादुत्पन्नः । अपराजितः सात्यकिरर्जुनसमः । एतेन भीष्मद्रोणादिसहायेन मत्पुत्रो जेष्यतीति नाऽऽशासनीयमिति ध्वनितम् । स्पष्टार्थमन्यत् ।

पाण्डवों का उत्कर्ष दिखाने के लिए इन दो श्लोकों से उनके शंखों का नाम वर्णन करते हैं। भगवान् कृष्ण ने पाञ्चजन्य शङ्ख को बजाया, अर्जुन ने देवदत्त नामक शङ्ख को, और भयङ्कर काम करनेवाले भीम ने अपने पौण्ड्र नामक बड़े शङ्ख को फूंका। कुन्ती के लड़के राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शङ्ख को फूंका और नकुल और सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्खों को बजाया।

कहने का मतलब यह कि पाण्डवों के शङ्ख पाञ्चजन्य, देवदत्त आदि नामों से प्रसिद्ध हैं और हे धृतराष्ट्र ! तुम्हारे बेटों में किसी का भी शङ्ख किसी नाम से प्रसिद्ध नहीं है और इन्द्रियों के मालिक श्रीकृष्ण जिनके सहायक हैं, उन्हीं पाण्डवों की जय होगी ॥ १५-१६॥

पाण्डवी सेना में औरों ने भी शङ्ख बजाए, इसका वर्णन करते हैं :—

हे महाराज धृतराष्ट्र ! बड़ा धनुषवाला काशी का राजा और भीष्मवध के लिए तप से उत्पन्न द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा द्रोणाचार्य के वध के लिए अग्निकुण्ड से उत्पन्न अपूर्व जन्मवाला धृष्टद्युम्न, विराट और अर्जुन के समान अजेय सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदी के लड़के और बड़ी बाहुवाला सौभद्र इन सबों ने चारों तरफ से अपने-अपने शङ्ख अलग-अलग बजाए।

पूर्वोक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि भीष्म द्रोणादि की सहायता से मेरे पुत्र जीतेंगे ऐसी आशा, हे धृतराष्ट्र ! आपको नहीं करनी चाहिए ॥१७-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

धार्तराष्ट्राणामन्यत् भयं सूचयति स घोष इति । स पाण्डवसैन्ये वीरकृतशङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां तत्र ये वीरास्तेषां सर्वेषां हृदयानि व्यदारयत् । हृदयविदारणतुल्यां पीडामजनयत् । किं कुर्वन् नभश्च पृथिवीं च व्यनुनादयन् प्रतिध्वनिनाऽऽपूरयन् । यतः तुमुलोऽतितीव्रः ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

यथा स्वदीयानां भयं प्राप्तं पाण्डवानाम् न तथा भयं जातम् प्रत्युत शूरत्व-वृद्धिमाह—अथेति । तुमुलघोषानन्तरं कपिध्वजो गर्जनेन वैरिधैर्य्यापहारकः कपिर्हनुमान् ध्वजेयस्य सोऽर्जुनः धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते प्रवर्तमाने सति दिग्विजयिनः पाण्डोः पुत्रो गाण्डीवमभिदत्तं धनुरुद्यम्य ।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मे ऽच्युत ॥२१॥

तदा हृषीकेशं सर्वेन्द्रियनियन्तारं स्वसारथीभूतं भगवन्तमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह महीपते इति संबोधनेन एवम्भूतेऽर्जुने युद्धायोपस्थिते नीत्यभावान्नश्यमानं तव महीपतित्वमित्युपहासो ध्वनितः । अर्जुनवाक्यमनुवदति—हे अच्युत ! यथा तव कुतोऽपि च्युतिर्नास्ति तथा मे रथमुभयोः सेनयोर्मध्ये स्थापय ।

अब धृतराष्ट्र के पुत्रों के अन्य भय को सूचित करते हैं :—पाण्डवसैन्य के फूंके गए शङ्खों ने बड़ा शब्द किया। आकाश और पृथ्वी उस शब्द से गूंज उठी। और धार्तराष्ट्र के वीरों के हृदय में उस शब्द से हृदय विदीर्ण होने के समान पीड़ा हुई ॥१९॥

हे धृतराष्ट्र ! शङ्खों का शब्द सुन जैसे आपके पक्षवालों को भय उत्पन्न हुआ, वैसे पाण्डवों को भय नहीं हुआ, किन्तु उनमें शूरता की वृद्धि हुई। इसी आशय को यों कहते हैं :—अपनी गर्जना से वैरियों के धैर्य्य के अपहारक हनुमान् जिसकी ध्वजा पर हैं, ऐसे दिग्विजयी पाण्डु का पुत्र अर्जुन धार्तराष्ट्रों को सैनिक ढंग से लड़ाई के लिए अवस्थित देखकर, जब शस्त्र छूटने ही चाहते थे, उसी समय अग्नि से प्राप्त अपने गाण्डीव धनुष को उठाकर सब इन्द्रियों के नियन्ता अपने सारथि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र से यह वाक्य बोले :—हे अच्युत ! अर्थात् सदा एक रस रहनेवाले ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। यहाँ धृतराष्ट्र को सञ्जय ने "महीपते" कहकर सम्बोधन किया है। इससे यह ध्वनित होता है कि इस प्रकार अर्जुन के लड़ाई में उपस्थित होने पर नीति के अभाव के कारण तुम्हारा राज्य नष्ट होगा और तुमको अब महीपति कहना तुम्हारा केवल उपहास करना होगा ॥२०-२१॥

यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

न ह्येकत्रैव स्थिरीभूय योद्धुं नियमोऽस्ति, किमर्थमुभयोः सेनयोर्मध्ये रथः स्थापनीय इत्यपेक्षायामाह—यावदिति । योद्धुकामानवस्थितानेतान्यावदहं निरीक्ष्ये तावत्कालं स्थापय, न तु सर्वदेत्यर्थः । ननु त्वं प्रेक्षको भूत्वा द्रष्टुमागतोऽसि योद्धुं वेरयत आह—कैरिति । अस्मिन् रणसमुद्यमे प्रायो बान्धवा एव समागताः अतः कैर्मया सह योद्धव्यं, केषां मया सह, मम च कैः सह योद्धुं योग्यमित्यर्थः ।

योत्स्यमानानवेक्ष्येऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

ननु बान्धवाः सर्वे त्वया दृष्टपूर्वा एव योग्यतामयोग्यतां च जानास्येव किं पुनरत्र तन्निरीक्षणेनेति चेत्तत्राह—योत्स्यमानानिति । य एतेऽत्र समागतास्तान्योत्स्यमानानहमवेक्ष्ये द्रक्ष्यामि । ननु भीष्मादयः कुलवृद्धत्वात्समा द्रोणादयस्त्वाचार्यत्वात्सुहृदः एवोभयोः समार्थमागताश्चेद्यत्र समागतास्तान्योत्स्यमानानिति कथमुक्तमिति चेत्तत्राहदुर्बुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः अतस्तदवेक्षणमुचितमेवेति भावः ।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

एक जगह खड़ा होकर ही लड़ने का तो नियम नहीं है, अतः तुम क्यों मुझको सेनाओं के मध्य में रथ खड़ा करने के लिए कहते हो ? इसका उत्तर अर्जुन देते हैं :—

युद्ध के लिए आए हुए इन सबों को जब तक मैं देख लूँ तभी तक आप दोनों सैन्य के बीच में मेरा रथ खड़ा करें, सर्वदा के लिए नहीं। तो तुम तमाशा देखने के लिए आए हो वा लड़ने के लिए ? इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन देते हैं, कि इस रणस्थल में प्रायः सम्बन्धी लोग ही जुटे हैं। इसलिए हमको देख लेना चाहिए कि किसके साथ मुझको और किसको मेरे साथ लड़ना उचित है ॥२२॥

सब बान्धवों को तो तुमने पहले से देखा ही है और उनकी योग्यता अयोग्यता भी जानते ही हो तो फिर क्या देखोगे ?

इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन देते हैं कि जो लड़ाई की नियत से आए हुए हैं उनको मैं देखूंगा।

भीष्म इत्यादि कुल के वृद्ध होने से और द्रोणादि आचार्य्य के नाते तुम दोनों पक्षवालों के लिए समान हैं और दोनों पक्ष के सुहृद हैं और दोनों की सहायता के लिए यहाँ आए हैं, तुम उनको युद्ध की इच्छा से आए हुए कैसे कहते हो ? अर्जुन उत्तर देते हैं कि बात ऐसी नहीं है। ये लोग युद्ध में दुर्बुद्धि धार्त्तराष्ट्रों के प्रिय की कामना करनेवाले हैं। भाव यह कि इस कारण इन लोगों का निरीक्षण कर लेना उचित है ॥२३॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानिति आह वैशम्पायनः-सञ्जयउवाचेति । सञ्जयवचनमवतारयति-एवमिति द्वाभ्याम् । हे भारत ! अतिधार्मिकस्य भरतस्यान्वये जातस्य तवापि ज्ञातिद्रोहचिन्तनमनुचितमिति भावः । गुडाका निद्रा तस्या ईशेनार्जुनेन एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तो हृषीकेश उभयोः सेनयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः प्रमुखे सर्वेषां च महीक्षितां मह्यां क्षीयन्ते महीक्षितो राजानस्तेषां च प्रमुखे, रथोत्तमं स्थापयित्वा हे पार्थ ! समवेतान्युद्धाय मिलितानेतान् कुरून् पश्येत्युवाच ।

तत्राऽपश्यत् स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वसुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य सकौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

ततः किं वृत्तमित्यत आह—तत्रेतिसार्धेन । समवेतान् कुरून् पश्येत्येवं भगवतोक्ते सति पार्थः उभयोः सेनयोरपि स्थितान् पितॄन् भूरिश्रवादीन् तदनन्तरं पितामहान् भीष्मादीन्, आचार्यान् द्रोणकृपादीन्,मातुलान् शल्यशकुन्यादीन् भ्रातॄन्भीमदुर्योधनादीन् पुत्रानभिमन्युलक्ष्मणादीन् पौत्रान् लक्ष्मणादिपुत्रान् सखीन्वयस्यानश्वत्थामादीन् श्वसुरान् भार्याणां पितॄन् सुहृदः कृतोपकारा ये तान्सर्वानपश्यत् ।

ततः किं कृतवानिति पुत्रराज्यहानिशङ्काव्याकुलचित्तं धृतराष्ट्रमाश्वासयन्नाह—तानिति । पितृहीनानां वने क्लीष्टानां राज्यभागो देय इति तव कृपानीतस्त्रा । तथाऽर्जुनस्तुमहादेवादिन्द्रादेश्च लब्धदिव्यायुधोऽपि अनिदत्तगाण्डीवधनुषा वासुदेवेन सारथिना च सर्वत्रक्षत्रियजयनसमर्थोऽपि तान्

वैशम्पायन ने जन्मेजय से कहा कि "तब क्या हुआ ?" धृतराष्ट्र के इस कथन की अपेक्षा करके सञ्जय बोला (सञ्जय की उक्ति को अब इन दो श्लोकों में वर्णन करते हैं।)

हे भारत ! (धृतराष्ट्र को भारत कहकर सम्बोधन करने का यह तात्पर्य्य है कि तुम अति धार्मिक भरत के कुल में उत्पन्न हुए हो, तुमको अपनी जाति का द्वेष चिन्तन करना उचित नहीं है।) जितनिद्र अर्जुन के कहने पर भगवान् ने दोनों सेनाओं के बीच और भीष्म द्रोणादि तथा अन्य सब राजाओं के सामने अर्जुन के उत्तम रथ को खड़ाकर, हे अर्जुन ! "युद्ध के लिए आए हुए इन कौरवों को देखो" ऐसा कहा ॥२४-२५॥

तब क्या हुआ ? इसका उत्तर डेढ़ श्लोक में देते हैं । भगवान् के कहने के अनुसार अर्जुन ने दोनों सेनाओं में स्थित भूरिश्रवा आदि पितृवर्ग को, तदनन्तर भीष्म आदि दादाओं को, द्रोण, कृप आदि गुरुओं को, शल्य, शकुनि आदि मामाओं को, दुर्योधन आदि भाइयों को, अभिमन्यु, लक्ष्मण आदि बेटों को, लक्ष्मण के पुत्ररूप पौत्रों को, अश्वत्थामादि समवयस्क साथियों को, ससुरों को और जिन्होंने उपकार किया था—ऐसे मित्रों को वहाँ देखा । "तब अर्जुन ने क्या किया ?" पुत्र-राज्य-हानि की

कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

सर्वान् बन्धूनवस्थितान्समीक्ष्य परया स्वाभाविक्या कृपयाऽऽविष्टो व्याप्तोऽभूत् । तत्कुतः यतः कौन्तेयः महापराधिन्यपि कंसे क्षमाशीलस्य ज्ञानिनो भक्तस्य वसुदेवस्य तत्समशीलायाः भगिन्याः कुन्त्याः सुतस्तत एव विषीदन् विषादं कुर्वन्निदम् वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् ।

तदेवाह—अर्जुन उवाचेति । तच्च दृष्ट्वेत्यारभ्य धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेदित्यन्तम्, हे कृष्ण ! सच्चिदानन्दस्वरूप । इमं स्वजनं स्वकीयं भ्रातृपुत्रादिबन्धुवर्गं युयुत्सुं योद्धुमिच्छुं समुपस्थितं सम्यक् शस्त्रकवचादि संनह्य समीपे स्थितं दृष्ट्वा मम गात्राण्यङ्गानि सीदन्ति व्यथन्ते । मुखं परिशुष्यति, सर्वतः शुष्यति ।

किञ्च मे शरीरे वेपथुः कम्पः रोमहर्षश्च जायते, गाण्डीवस्रंसनं त्वग्दाहश्चेत्यनिष्टसूचकं लक्षणं प्रतीयते ।

किञ्च अवस्थातुं च न शक्नोमि च पुनर्मे मनो भ्रमतीव भ्रमसदृशं विकारं मनसि भावयामि ।

शङ्का से व्याकुल चित्तवाले धृतराष्ट्र के इस प्रश्न के उत्तर में उसको सान्त्वना देता हुआ सञ्जय कहता है, कि हे धृतराष्ट्र ! पितृहीन तथा वन में कष्टों को सहे हुए पाण्डवों को राज्य का हिस्सा देना चाहिए, ऐसी कृपा तुममें तो उत्पन्न नहीं हुई, पर महादेव और इन्द्रादि से दिव्य आयुध उपलब्ध कर, अग्नि से गाण्डीव धनुष प्राप्त कर, भगवान् वासुदेव के ऐसा सारथि पाकर, और सब क्षत्रियों को जीतने का सामर्थ्य रखकर भी अर्जुन, उस सब बन्धुओं को युद्धभूमि में स्थित देख कृपा से पूर्ण हो गए और दुःखी होकर यों बोले :—

हे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! इन अपने भाई, बेटे, आदि बन्धुवर्गों को लड़ाई के लिए अच्छी तरह से शस्त्र कवचादि से सजे हुए देखकर मेरी देह में व्यथा मालूम पड़ती है, मुख बिल्कुल सूख रहा है; शरीर में कँपकँपी हो रही है तथा रोंगटे खड़े हो रहे हैं। मेरा गाण्डीव धनुष हाथ से छूटा जाता है, चमड़े और शरीर में दाह हो रहा है (चमड़े का दाह और गाण्डीव का गिरना अमंगल का लक्षण मालुम होता है), मैं खड़ा नहीं रह सकता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥२६-३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव !
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव ! विपरीतानि निमित्तानि वामाङ्गस्फुरणादीनि पश्यामि । अत एवाऽऽहवे युद्धे स्वजनं हत्वा श्रेय ऐहलौकिकं पारलौकिकं वा नाऽनुपश्यामि, मनसि विचारणादनु पश्चान्न पश्यामि । यद्यपि—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

—इति श्रेयोऽभिधानमस्ति, तथापि हतस्यैव तदभिधानान्न हन्तुः किञ्चित्पुण्यमुक्तम् ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च ।
किम्नो राज्येन गोविन्द! किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

ननु मास्त्वामुष्मिकं श्रेय ऐहिक—राज्यभोगसुखादिकं तु स्यादेवेत्यत आह—न काङ्क्ष इति । हे कृष्णेति सम्बोधनेन सच्चिदानन्दस्वरूपस्त्वं मामपि स्वरूपानन्दतुष्टं कुर्विति सूचितम् । राज्यसाधनभूतविजयमहं न काङ्क्षे नेच्छामि, विजयसाध्यं राज्यं न च काङ्क्षे राज्याधीनानि सुखानि च नकाङ्क्षे नेच्छामि । ननु लोके शत्रुविजयराज्यसुखार्थमेव सर्वजनप्रवृत्तिस्तत्र कुतस्तदनाकाङ्क्षोत्पन्नेत्यत आह—किम्न इति । गावः सनतस्कानीन्द्रियाणि स्वनियम्यतया विन्दते यः स मनेन्द्रियमनः प्रभृति सदा त्वं

हे कृष्ण ! मैं बाम अङ्गों के फड़कने आदि अपशकुनों को देखता हूँ । इसलिए युद्ध में अपने सम्बन्धियों को मार मैं न पारलौकिक कल्याण पाऊँगा, न इस लोक का । विचार से मुझे ऐसा ही मालूम होता है । यद्यपि ऐसा लिखा है कि—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥"

अर्थात् इस लोक में दो ही प्रकार के मनुष्य सूर्यमण्डल को भेदते हैं अर्थात् उसको भेदकर ऊपर को जाते हैं, एक तो योगयुक्त सन्यासी और दूसरा लड़ाई में सम्मुख मरने वाला, तथापि यहाँ लड़ाई में मरने वाले ही की पुण्यप्राप्ति वर्णित है, मारने वाले को नहीं ॥३१॥

खैर, तुम्हें परलोक सम्बन्धी कल्याण न भी प्राप्त हो, पर इस लोक का राज्यभोग सुख इत्यादि तो प्राप्त होगा ही । इसी का उत्तर अर्जुन देते हैं—

हे कृष्ण ! (यहाँ कृष्ण नाम से सम्बोधन करने का भाव यह है कि आप सच्चिदानन्द स्वरूप हैं । मुझ को भी स्वरूप के आनन्द से तुष्टि प्रदान कीजिए ।) राज्य के साधनभूत विजय को मैं नहीं चाहता और विजय से प्राप्त होने वाले राज्य की भी मुझे इच्छा नहीं है । राज्य के अधीन सुखों को भी मैं नहीं चाहता और विजय से प्राप्त होने वाले राज्य की भी मुझे इच्छा नहीं है । राज्य के अधीन सुखों को भी मैं नहीं चाहता ।

जानासीति भावेन सम्बोधयति गोविन्देति। बहुहिंसावद्यदुःसाध्यराज्येन नोस्माकं किं प्रयोजनं, राज्यसाध्यविशिष्टभोगैः किं, जीवितेन भोगकरणक—जीवितेनोपकोशमलीमसेन प्राणधारणपोषणेन वा किं प्रयोजनं, न किमपीत्यर्थः।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

ननु पाण्डुपृथापुत्रस्य तव राज्यसुखादिनैराकांक्ष्यं भवतु? तथापि स्वजनवर्गार्थं तदाकांक्षोचितैवेति चेत्तत्राह—येषामिति। येषां स्वजनबन्धूनामर्थे नो राज्याद्युपेक्षितं, त इमे प्राणान्प्राणसाधनानि धनादीनि च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थितास्तस्मान्नयोद्धुमिच्छामि।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

ननु युद्धे वो हन्तुं शत्रव एव स्थिता, न बन्धव इति चेत्तत्राह-आचार्या इति स्पष्टार्थः। न ह्येतेभ्योऽन्ये स्वजनबन्धवो भवन्तीति भावः।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदनः।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ॥३५॥

संसार में सभी मनुष्यों को यही इच्छा रहती है कि शत्रु पर विजय हो और राज्य और सुख मिले। तुमको इन सबसे क्यों अनिच्छा उत्पन्न हो गई। इस प्रश्न के उत्तर में अर्जुन कहते हैं कि हे गोविन्द! (गोविन्द सम्बोधन करने का यह अभिप्राय है कि आप मन सहित सब इन्द्रियों के नियन्ता होने से उनके रक्षक वा मालिक हैं। इससे आप मेरे मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को जानते हैं।) बहुहिंसायुक्त युद्ध से प्राप्त राज्य से हमको क्या प्रयोजन? और भोगों से मलिन जीवन से ही हमको क्या प्रयोजन? अर्थात् इन सबों से हमको कुछ मतलब नहीं ॥३२॥

मान लिया कि (पाण्डु और पृथा के पुत्र) तुमको राज्य की आकांक्षा नहीं है, तथापि स्वजनवर्ग के लिए राज्य की आकांक्षा करनी उचित है। इसका उत्तर अर्जुन देते हैं—

जिन बन्धु-बान्धवों के लिए राज्य, भोग, सुख इत्यादि की आवश्यकता है, वे ही प्राणों को और उनके साधनभूत धन की आशा को छोड़कर इस युद्ध में स्थित हैं। इसलिए मैं युद्ध करने की इच्छा नहीं करता ॥३३॥

यदि यह कहा जाय कि युद्ध में तुम लोगों को मारने के लिए शत्रु लोग उपस्थित हैं, ये तुम्हारे बन्धु नहीं हैं तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि यहाँ तो गुरु, पिता, लड़के तथा दादा लोग, फिर मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य सम्बन्धी ही लोग युद्ध में डटे हैं। भाव यह कि इन लोगों को छोड़ और बान्धव ही कौन हो सकते हैं ॥३४॥

ननु यद्यं तान्स्वकीयबन्धुबुद्धया स्वं न हनिष्यति तर्हि स्वामेवैते राज्यलोभेन हनिष्यन्ति, तस्मात्त्वमेवैतान्हत्वा सकलपृथ्वीराज्यं कुर्विति चेत्तत्राह एतानिति। अस्मान् घ्नतोऽप्येतान् त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतोरहं हन्तुं नेच्छामि, महीकृते महीमात्रराज्यप्राप्त्यर्थं न हन्यामिति किमुत वक्तव्यमित्यर्थः। मधुसूदनेति संबोधनेन त्वमपि दैत्यमेव हतवान्न स्वबन्धूनिति सूचितम्।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

भवतु तथाऽप्यन्यान्विहाय युष्मद्वधे सदा कृतप्रयत्नाननिघृणान्धृतराष्ट्रपुत्रांस्त्वं जहि। तद्धनने युष्माकं महती प्रीतिर्भविष्यतीत्यत आह—निहत्येति। धार्तराष्ट्रान्निहत्य नोऽस्माकं का प्रीतिः स्यात्किञ्चिदपीत्यर्थः। ननु गराग्निदानादिनैते आततायिन, अतस्तद्वधे दोषाभावश्च शास्त्रविहितः तथा हि—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

यदि तुम अपना बन्धु समझ इन्हें न मारोगे तो यही तुमको राज्य के लोभ से मारेंगे। इसलिए तुम्हीं इन लोगों को मारकर समस्त पृथ्वी का राज्य करो। इस शंका का उत्तर अर्जुन देते हैं—

इन लोगों से मारे जाने पर भी, हे मधुसूदन! और त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी मैं इन लोगों को मारने की इच्छा नहीं करता। पृथ्वीमात्र के राज्य के लिए इन्हें मारना तो दूर की बात है।

"मधुसूदन" सम्बोधन से यह ध्वनि निकलती है कि आपने भी तो अपने शत्रु मधुदैत्य को ही मारा है अपने बान्धवों को नहीं ॥३५॥

खैर औरों को मत मारो पर धृतराष्ट्र के पुत्र तो सदा तुम्हारे वध के प्रयत्न में लगे रहे हैं और अति निर्घृण अर्थात् क्रूर हैं इनको तो तुम मारो। इनको मारने से तुमको बड़ी खुशी होगी। इसका उत्तर अर्जुन देते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हम लोगों को कौन-सी खुशी हासिल होगी अर्थात् कुछ नहीं।

पर ये दुर्योधन आदि तो आततायी हैं क्योंकि इन लोगों ने तुमको विष दिया था और अग्नि में जलाकर मार देने की चेष्टा की थी। ऐसे आततायियों को मार देने से दोष नहीं होता, जैसा कि शास्त्र में लिखा है—

"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥

—इति स्मृतेः। तस्माच्छास्त्रानुवर्तिना त्वया आततायिलक्षणसंपन्नाः दुर्योधनादयो हन्तव्या इति चेत् "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनम्।" "ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रं च यमं वरुणमेव च। प्रसह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरिरितीर्य्यते।" "अत्ता चराचरग्रहणात्" न कर्मणा लिप्यते पापकेनेत्यादिशास्त्राच्चराचरसंहारकोऽपि निर्दोषस्त्वमित्यभिप्रायेण संबोधयति जनार्दन इति। वयं तु न तथेत्याह—एतानाततायिनो हत्वाऽस्मान् पापमेवाश्रयेत्, बन्धुत्वात्, मातृपितृबन्धुवधस्य शास्त्रे महापातकत्वेनोक्तत्वात्।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥"

आग लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्रपाणि, धन का हरने वाला, खेत और स्त्री को हरने वाला ये छः आततायी कहलाते हैं। आते हुये आततायी को देखकर उसे बिना विचारे मारने वाले को भी कुछ दोष नहीं होता। इसलिये शास्त्र के मानने वाले तुमको इन दुर्योधन आदि आततायियों को मार डालना उचित है। भगवान के इस दलील का उत्तर अर्जुन इस प्रकार देते हैं—

हे जनार्दन! (जनार्दन कहने का भाव यह है कि तुम तो चर और अचर को संहार करने वाले हो, फिर भी निर्दोष हो, पर हम लोग वैसे नहीं हैं।) इन आततायियों को मारकर हम लोगों को पाप ही होगा, क्योंकि ये हमारे बन्धु हैं, और माता, पिता और बन्धु के वध को शास्त्रों में महापातक कहा है।

भगवान चराचर के संहारक हैं, इस विषय में शास्त्र प्रमाण—

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनम्" (कठो० १।२।२५)

"ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रं च यमं वरुणमेवच।
प्रसह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरिरितीर्य्यते॥"

"अत्ता चराचरग्रहणात्।" (ब्र० सू० १।२।९)

"न कर्मणा लिप्यते पापकेन॥"

इत्यादि।

जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय भोजन (भात) हैं। मृत्यु जिसका उपसेचन (चटनी) है अर्थात् घृतादि में मिलाकर खाने योग्य भोज्य वस्तु जैसे हैं। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, यम, वरुण सभी को बलात् अपने अपने अधिकार से खींचते हैं अर्थात् अपने अपने अधिकार से उनको हटा देते हैं, इसलिए वे "हरि" कहे जाते हैं। चर और अचर को खाते हैं, इसलिए वे अत्ता अर्थात् खाने वाले कहे जा सकते हैं। पापकर्म को करके भी वे पाप से लिप्त नहीं होते ॥३६॥

यस्माद्बन्धुवधे ऐहिकं पारलौकिकं च न किमपि फलं, प्रत्युत बन्धुवधजन्यपातकफलं नरकपातः स्यात्तस्मात्स्ववान्धवान्धार्तराष्ट्रान्वयं हन्तु नार्हाः। यद्यपि विषाग्निदानाद्दुष्कर्मण एते इति सत्यं, तथापि स्वजनं हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम। हीतिनिश्चयेनैव स्यामेत्यर्थः। माधवेति त्वमपि वंशवर्द्धको न तु वंशनाशक इति भावः।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

ननु यूयमपि तेषां स्वजना एव ते कथं युष्मद्वधे प्रवृत्ताः इति चेत्तत्राह-यद्यपीति। यद्यप्येते दुर्योधनादयो लोभोपहतचेतसः लोभेनोपहतं नष्टं धर्मविषयं चेतो येषां ते तथा नष्टधर्मज्ञानत्वात्कुलक्षय-तादिदोषं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीत्यतोऽस्मद्वधे प्रवृत्ता इत्यर्थः।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन! ॥३९॥

वयं तु न तथेत्याह—कथमिति। कुलक्षयकृतं दोषं प्रकर्षेण पश्यद्भिः अस्माभिरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयं? धर्मप्रवर्तकत्ववदाश्रयाणामस्माकं नाधर्मे प्रवृत्तिः स्यादित्यस्माभिर्भवानर्च्यते याच्यते इति जनार्दनेति सम्बोधनाभिप्रायः। 'कृत्यल्युटोर्बहुलमि'ति कर्मणि ल्युट्।

क्योंकि बन्धुओं को मारने से न इस लोक का फल मिलेगा और न परलोक का बल्कि उल्टे बन्धु वध के पाप का फल, नरक भोग प्राप्त होगा। इसलिए हम लोगों को अपने बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना योग्य नहीं है। यद्यपि इन लोगों ने हम लोगों को विष देकर और अग्नि में जलाने की चेष्टा कर दुष्कर्म किया है सही, तथापि अपने स्वजनों को मारकर हम लोग कैसे सुखी होंगे? अर्थात् कदापि सुखी नहीं हो सकते।

"माधव" शब्द से सम्बोधन करने का अर्थ यह है कि आप भी तो अपने वंश के वर्द्धक हैं, न कि नाशक ॥३७॥

तुम लोग भी तो उनके स्वजन ही हो तब वे क्यों तुम लोगों को मारने के लिए उद्यत हैं? इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन देते हैं कि इन दुर्योधनादिकों की धर्म-विषयक बुद्धि लोभ से नष्ट हो गई है। जिस कारण ये कुलक्षय के दोष और मित्र से द्रोह करने के पाप को देखकर भी नहीं देखते हैं। तात्पर्य यह कि इसीलिए वे हम लोगों को मारने के लिए तैयार हैं ॥३८॥

हम लोग वैसे नहीं है, इस सम्बन्ध में कहते हैं—कुलक्षय के दोष को हम लोग पूर्णरूप से देखते हैं, तब हम लोग उस पाप से अपने को बचाने का विचार क्यों न करें?

यहाँ जनार्दन" शब्द से सम्बोधन करने का तात्पर्य यह है कि धर्म के प्रवर्तक आपके आश्रय में होकर हम लोगों की अधर्म में प्रवृत्ति नहीं हो, यही हम लोगों की आपसे याचना है। यहाँ जनार्दन शब्द में "अर्द" धातु याचनार्थक है ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिरित्युक्तमिदानीं तमेव दोषं प्रपञ्चयति-कुलक्षय इति । सनातनाः परम्परागताः कुलोचिताः धर्मा कुलक्षये धर्मानुष्ठातृपुरुषवर्गे नष्टे सति प्रणश्यन्ति । नैतावानेव दोषः किन्तु उत अन्योऽपि इत्यर्थः । अनुष्ठात्रभावाद्धर्मे धर्ममात्रे नष्टे सति कृत्स्नं कुलं यत्किञ्चिदवशिष्टं स्त्रीबालादिरूपम् अधर्मोऽभिभवति व्याप्नोति ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

ततश्च महान् दोषो भवतीत्याह—अधर्मेति । अधर्मव्यापनात्कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति यथेष्टाचारेण वर्त्तन्ते । भक्तानां पापकर्षकस्त्वं न तु पापे नियोजक इत्यभिप्रायेण कृष्णेति संबोधनं, वार्ष्णेयेति हे धर्मज्ञ ! कुलप्रसूतस्त्रीषु दुष्टासु सतीषु वर्णसंकरो जायते ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

संकरोत्पत्तिफलमाह—संकर इति जात्यन्तरपुरुषादन्यस्त्रियां जातः संकरः, स कुलघ्नानां कुलस्य च नरकायैव भवति । न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः, किन्तु तत्पितृणामपीत्याह—पतन्तीति । हि यतः संतत्यभावात् लुप्ता पिण्डोदकक्रिया येषां ते, तेषां कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरके इति शेषः ।

कुलक्षय के दोष को हम लोग जानते हैं, यह कहकर अर्जुन अब उन दोषों का वर्णन करते हैं—

कुल के क्षय होने से अर्थात् कुल धर्म के अनुष्ठान करने वाले पुरुषवर्ग के नष्ट होने से परम्परागत कुलोचित धर्मों का नाश हो जाता है । यही नहीं, पर और भी दोष है कि अनुष्ठान करने वालों के अभाव से धर्म के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को अर्थात् कुल में बचे बचाए स्त्री, बालकों को अधर्म घेर लेता है ॥४०॥

कुल के अधर्म से घिर जाने पर बड़ा भारी दोष पैदा होता है, उसी दोष को यहां वर्णन करते हैं ।

हे कृष्ण ! (कृष्ण शब्द सम्बोधन करने का अर्थ यह है कि आप भक्तों के पाप को खींचने वाले हैं, पाप में लगाने वाले नहीं ।) अधर्म के व्याप जाने से कुल की स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी हो जाती हैं । हे वृष्णिवंश में उत्पन्न ! हे धर्म के जानने वाले ! कुल की स्त्रियां जब दुष्टा हो जाती हैं तब उनमें वर्णसंकर या दोगले पैदा होने लगते हैं ॥४१॥

अब यहां वर्णसंकर की उत्पत्ति के फल को दिखाते हैं—

कुल में दोगलों के उत्पन्न होने से कुल के नाश करने वाले और कुल वाले दोनों ही नरक को

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

संकरस्य कुलतत्पितृणामनर्थकारित्वमुक्तमिदानीं तद्धेतु-भूतपुरुषाणामजस्रदुःखानुभूतिरूपं फलमाह—दोषैरितिद्वाभ्याम् । जातिधर्माः ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिजात्यसाधारणा वेदविहिताः कुलधर्माश्च शाश्वताः परमश्रेयः साधनभूताः सदाचार्योपदिष्टा वेदवेदान्तनिर्णीता भगवदुपासनादिप्रधानाः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैरेतैर्दोषैरुत्साद्यन्ते विनाश्यन्ते । धर्मोच्छेदास्तेषां नरके नियतं निवृत्तिवर्जितमजस्रमित्यर्थः यथाश्रुतथा वासो भवतीत्यतो महानर्थकारणं बन्धुवधकरं युद्धम् ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

यस्मादेवं तस्मादनर्थेऽर्थबुद्धया तदव्यवसायिनो वयं महामूढा इति पश्चात्तापं कुर्वन्नाह—अहो बत इति खेदे वयं, महत्पापं कर्तुं व्यवसिता निश्चयं कुर्वन्तः । यद्यस्माद्राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यता इति ।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

जाते हैं । यही नहीं, उनके पितर भी नरक में गिरते हैं । सन्तान नहीं रहने से पितरों को पिण्डा और जल नहीं मिलता, इसलिए इन कुल के नाश करने वालों के पितर नरक में गिरते हैं ॥४२॥

संकरों के कुल और उनके पितरों के अनिष्ट को कह चुके । अब संकरों के कारणभूत पुरुषों के कभी नहीं छूटने वाले दुःखरूप फल का वर्णन करते हैं—

कुल के नाश करने वालों के इस वर्णसंकरों को उत्पन्न करने के दोष से जातिधर्म, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादिक वेद से प्रतिपादित विशेष-धर्म और कुल-धर्म अर्थात् परमकल्याण के साधनभूत श्रेष्ठ आचार्य द्वारा उपदेश किये गये वेद-वेदान्त से निश्चितत्त भगवदुपासना रूप प्रधान धर्म, ये दोनों ही धर्म नष्ट हो जाते हैं । हे जनार्दन ! जो मनुष्य कुलधर्म का नाश करते हैं वे धर्म का नाश करने से सदा नरक में वास करते हैं, ऐसा हम लोगों ने सुना है । इसलिए बन्धुओं को नाश करने वाला यह युद्ध बड़े ही अनर्थ का कारण है ॥४३-४४॥

जब ऐसी बात है, तब हम लोगों ने अनर्थ करनेवाले विषय को लाभदायक समझकर बड़ी भूल की है । इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ अर्जुन कहता है :—

बड़े दुःख का विषय है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने पर उतारू हुए हैं, क्योंकि राज्य-सुख के लोभ से अपने बन्धु-बान्धवों को मारने के लिए उद्यत हुए हैं ॥४५॥

ननु बन्धुकृपामोहेन त्वयिनिर्विण्णेऽपि परेषां भीमादीनां च निर्वेदाभावाद्राज्यहेतोस्ते परस्परं योत्स्यन्त एव ततो युद्धाऽऽवेशेन धार्तराष्ट्रास्त्वामपि हनिष्यन्ति चेत्तदा त्वया किं कर्तव्यमिति चेत्तत्राह-यदीति। अप्रतीकारं प्राणत्राणाय प्रतीकारमकुर्वन्तमत एवाशस्त्रं मां यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः लोभाऽऽविष्टचेतस्त्वेन नष्टज्ञाना रणे हन्युश्चेत्तर्हि अजस्रनरकफलाद्बन्धुवधात्तन्मरणं मे क्षेमतरं भवेदत्यर्थं हितं भवेत्। एतच्छरीरनाशेऽपि किमहं पापमकरवं किमहं साधुनाकरवमित्येवं पश्चात्तापाभावादितिभावः।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्रापेक्षायां सञ्जय उवाच-एवमिति। शोकेन संविग्नं व्यथितं मानसं यस्य सोऽर्जुनः संख्ये संग्रामे एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्त्वा सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे रथोपर्युपवेशनस्थाने-उपाविशत्।

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयिश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायामर्जुनशोकवर्णन उपोद्घातास्यः प्रथमोऽध्यायः।

मान लिया कि तुम बन्धु-कृपा से उत्पन्न मोह के कारण लड़ाई से विरक्त हो जाओ, पर भीमादि तो वैराग्य के अभाव से राज्य के लिए जरूर लड़ेंगे ही। तब युद्ध के आवेश में आकर यदि दुर्योधनादि तुमको मार दें तो तुम क्या करोगे? इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन यहाँ देते हैं—

यदि हाथ में शस्त्र लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र जिनका ज्ञान लोभ से ढँके हृदय के कारण नष्ट हो गया है, मुझको, जो अपने प्राण बचाव के लिए कुछ उद्योग नहीं करता हूँ और इसलिए निरस्त्र हूँ, लड़ाई में मारेंगे तो यह बात बन्धुओं के मारने से जो मुझको उसका फलस्वरूप अजस्त्र नरक लाभ होगा उससे कहीं अधिक कल्याणकर होगी। भाव यह कि शरीर छूट जाने पर यह पश्चात्ताप कि "मैंने बन्धुओं को मारकर बुरा कर्म क्यों किया, अच्छा कर्म क्यों नहीं किया" नहीं होगा ॥४६॥

तब क्या हुआ? धृतराष्ट्र के इस प्रश्न के उत्तर में संजय बोला—

शोक से दुःखित हृदय वाला अर्जुन युद्ध भूमि में इस प्रकार कहकर तीर-धनुष को फेंककर रथ पर छिपकर बैठने के स्थान पर जा बैठा ॥४७॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः ॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

एवं बन्धुवधपापभयेन युद्धादुपरतमर्जुनं श्रुत्वा निवृत्तपुत्रराज्यापायभयं तदुत्तरवृत्तान्तं जिज्ञासुं धृतराष्ट्रं प्रति सत्यवादी सञ्जय उक्तवानित्याह वैशम्पायनः—सञ्जय उवाचेति । उक्तप्रकारेण यथा मयोक्तम् तथा स्वाभाविक्या कृपयाऽऽविष्टमत एव विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तमत एवाश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् अश्रुभिः पूर्णेऽत एवाकुले ईक्षणे यस्य तमर्जुनं मधुसूदन इदं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच । दैत्यराजस्य मधोरपि सूदनो निहन्ता वासुदेवो क्षत्रियरूपेणावतीर्णो दुष्टदैत्यान् पृथ्वीभारभूतान् सर्वान्हनिष्यतीति मधुसूदन-शब्दाभिप्रायः ।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥२॥

भगवद्वाक्यमवतारयति—श्रीभगवानुवाचेति । स्वाभाविकैश्वर्यादिषड्गुणानां नित्याश्रयभूतो भगवच्छब्दवाच्यो वासुदेवः स्वभक्तहितं चिकीर्षुः कुतस्त्वामिति द्वाभ्यामुक्तवानित्यर्थः । हे अर्जुन ! बन्धु-

---

वैशम्पायनजी बोले—बन्धुओं के वध के पाप के डर से अर्जुन लड़ाई से विमुख हो गये, यह सुनकर धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों के राज्यनाशक भय जाता रहा, परन्तु उसके बाद की वार्त्ता जानने के लिए उसकी प्रबल इच्छा हुई, इसलिए सत्यवादी संजय आगे की वार्त्ता इस प्रकार कहने लगे—

अपने बन्धुओं के प्रति स्वाभाविक करुणा से व्याप्त और इसलिए दुःख करते हुए तथा आँसू से भरे, इसलिए व्याकुल नेत्र वाले, अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन निम्नलिखित वाक्य बोले—

"मधुसूदन" शब्द के प्रयोग का यहाँ यह मतलब है कि क्षत्रिय रूप से अवतीर्ण मधुराक्षस के मारने वाले भगवान् वासुदेव पृथ्वी के भारभूत दुष्ट दैत्यों का जरूर विनाश करेंगे ॥१॥

भग अर्थात् ऐश्वर्यादि षड् गुणों के नित्य आश्रय श्रीवासुदेव अपने भक्त अर्जुन के हित की कामना से उससे यों बोले—हे अर्जुन ! स्वधर्म से विमुख करने वाली, युद्ध से पीछे हटाने वाली और

कृपाव्याप्तोहकृताश्रुपातपुरः सरं स्वधर्मवैमुख्यकरं युद्धात्पराङ्मुखत्वमिदं कश्मलं मानसं कथमनार्यैरधर्मबहुलैर्जुष्टं सेवितमतएवास्वर्ग्यं स्वर्गविरोधि अकीर्तिकरं च विषमे शोकानर्हस्थाने संग्रामे त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरस्य पाण्डोः पुत्रं कुतो हेतोरुपस्थितं प्राप्तम् ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ ! पृथया आराधितदेवराजप्रसादालब्धस्तद्वीर्यातिशयसंपन्नः पुत्रस्त्वं क्लैब्यं क्लीवभावं तेजोवीर्यादिनाशकं मा गमः । एतत्कश्मलं च त्वयि साक्षान्महादेवतोषकार्यद्भुतयुद्धकारिणि नोपपद्यते । यच्च त्वयोक्तं—'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः' इति तत् क्षुद्रमतितुच्छं यतो हृदयदौर्बल्यं हृदयस्य दौर्बल्यं कृपामोहजन्यं कातर्यं त्यक्त्वा कुलोचितधैर्यावलम्बनेनापनीयोत्तिष्ठ । तत्र हेतुर्गर्भितसंबोधनमाह—हे परंतप ! परान् शत्रूंस्तापयति इति तथा सर्वान् शत्रून् जेष्यतीति जन्मसमये देववाण्याभ्युक्तत्वादिति भावः ।

अर्जुन उवाच—
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन !
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

ननु भगवदुक्तं सर्वं सत्यं, तथापि सत्कुलीनेन परम्पराप्राप्तस्वधर्माविरोध्येव युद्धं कर्तव्यं, न तु धर्मनाशकमित्यभिप्रायवानर्जुनः श्रीकृष्णं प्रत्युक्तवानित्याह सञ्जयः—अर्जुन उवाचेति । तदेव वाक्यमाह—कथमिति । भीष्मं पितामहं द्रोणं चाचार्यं संख्ये संग्रामेऽहं कथं प्रतियोत्स्यामि, न कथमपीत्यर्थः

जिसके कारण तुम बन्धुओं पर कृपा बरसाते हुए रो रहे हो, ऐसी हृदय की दुर्बलता तुझमें इस शोक के अयोग्य संग्राम स्थल में कहाँ से और क्यों आ गई ? यह दुर्बलता अनार्यों के योग्य, स्वर्ग को विरोधिनी और तुम्हारी अकीर्ति करने वाली है ॥२॥

हे पार्थ ! (यहाँ पार्थ शब्द से अर्जुन को सम्बोधन करने का भाव यह है कि हे अर्जुन ! तुम पृथा के पुत्र हो जिसने इन्द्र की कृपा से तुमको प्राप्त किया था, इसलिये तुम इन्द्र के बल से युक्त हो।) तेज और वीर्य की नाशक इस क्लीवता अर्थात् हृदय की दुर्बलता को छोड़ो। साक्षात् महादेवजी को लड़ाई में अद्भुत रीति से युद्ध करके सन्तोष देने वाले तुम में यह मोह और दुर्बलता शोभा नहीं देती। हे परन्तप ! अर्थात् शत्रुओं को दुख पहुँचाने वाले (परन्तप कहने का भाव यह है कि तुम शत्रुओं को अवश्य जीतोगे और तुम्हारे जन्म समय में देववाणी भी ऐसी ही हुई थी।) "न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" कहकर जो तुमने अपनी तुच्छ कातरता प्रकट की है उस कृपा और मोह से उत्पन्न कातरता को छोड़ो और स्वकुलोचित धैर्य अवलम्बन कर उठो ॥३॥

यद्यपि भगवान् ने जो कहा सब सत्य है, तथापि सत्कुलोत्पन्न व्यक्ति को धर्म का अविरोधी ही युद्ध करना चाहिये, न कि ऐसा युद्ध जिससे धर्म का नाश हो जाय। इसी अभिप्राय से अर्जुन भगवान्

तत्रापीषुभिः ? याभ्यां सह वाचाऽपि युद्धमनुचितं किं पुनः प्राणहारिभिः शरैरित्यर्थः । कुतो यतस्तौ-पूजार्हौ दुर्योधनादिभिरस्मद्धर्मनाशाय पुरस्कृतौ ।

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद्ब्रह्मराक्षसः ॥

इत्यादिशास्त्रोक्तं गुरोर्वचनाऽवज्ञाऽऽचरणमपि महादोषं जानद्भिरस्माभिः कथं तन्निधननिमित्ते युद्धे वर्तितव्यमिति भावः ।

गुरून् हत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

ननु पूजार्हाविति सत्यमुक्तं तथापि भीष्मद्रोणकृपाणां पौत्रत्वेन शिष्यत्वेन च धार्तराष्ट्रा यूयं च समा एव योगक्षेमेण रक्षणीयाः, कथं ते धार्तराष्ट्रानुवर्तिनो भूत्वाऽनपकारिणां शिष्याणां शत्रव इव राज्यप्राप्तिविरोधिनो युद्धाय प्रवृत्ताः अतः कार्याकार्यविवेकरहिता उत्पथगामिनस्ततो वधार्हाः । उक्तं च भीष्मेणैव—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागोऽभिधीयते ॥'

से बोले । पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ाई में कैसे भिड़ सकता हूँ अर्थात् कभी नहीं भिड़ सकता और सो भी बाणों द्वारा । जिनके साथ वाग्युद्ध भी करना अनुचित है उन पर प्राणहारी बाणों का किस प्रकार प्रहार करूँगा । क्योंकि ये दोनों हमारे पूज्य हैं और धर्म को नाश करने के लिए ही दुर्योधन ने इनको समर-भूमि में आगे रक्खा है ? शास्त्र का वचन है—

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद् ब्रह्मराक्षसः ॥

अर्थात् गुरु से जो हुंकार या तुंकार पूर्वक भाषण करता है और ब्राह्मण को वितण्डावाद से जीतता है, वह जल शून्य जंगल में ब्रह्मराक्षस होता है । ऐसी अवस्था में गुरु की अवज्ञा वचन मात्र से करने के महान् दोष को जानकर भी उन गुरुओं के नाश करनेवाले युद्ध में हम कैसे प्रवृत्त हों ? ॥४॥

यदि भगवान् यह कहें कि भीष्म, द्रोण पूज्य हैं सही; पर पौत्र और शिष्य के नाते तुम और दुर्योधन तो उनकी नजर में बराबर ही हो, तो फिर वे दुर्योधन का पक्ष लेकर तुम्हारे प्रति शत्रुता का व्यवहार क्यों करते हैं ? तुमने तो उनकी कुछ बुराई की नहीं है, फिर भी तुम्हारे राज्य प्राप्ति के विरोधी युद्ध में वे प्रवृत्त हैं, अतएव वे मारने के योग्य हैं, क्योंकि भीष्म ही का यह कहा हुआ है कि—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागोऽभिधीयते ॥

इति चेत्तत्राह—गुरूनिति । महानुभावः सर्वसामर्थ्यरूपः प्रभावो येषां तान् गुरून् हत्वा इहास्मिल्लोके भैक्ष्यं भिक्षितान्नाद्यपि भोक्तुं श्रेयः, परलोकस्थेयोविरोधिपापस्पर्शाभावादित्यर्थः । महानुभावत्वादेव तेषां नावलिप्तत्वादिदोष योगः तत्त्यागवचनमपि कालकामादिजयनशीलानां तेषामेवोपपद्यते, नेतरेषाम्—

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथाऽरुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥

—इति वचनात् । यतु—

अर्थस्य पुरुषो दासस्त्वर्थो दासो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

—इति तद्वाक्येनैव तेषामर्थकामपरत्वान्न तद्धननं दोषावहमित्याशङ्क्याह हत्वेति । अर्थकामान्गुरून् हत्वा इहैव भोगान् भुञ्जीय अतस्तेषां गुरुवधजनितमहापातकेन तत्राशादित्यर्थः । इहापि न शुद्धान् किन्तु रुधिरप्रदिग्धान् रुधिरेण प्रकर्षेणोपचितान् ॥

अर्थात् गुरु भी यदि सत् और असत् कार्य के विवेक से रहित, दर्पयुक्त तथा उल्टे रास्ते में चलने वाला हो तो वह त्याग देने के योग्य है । इस शङ्का का उत्तर अर्जुन इस श्लोक में देते हैं—

अर्जुन कहते हैं कि सर्व सामर्थ्य वाले गुरुओं को न मारकर इस संसार में भीख माँगकर खाना अच्छा है, क्योंकि इसमें परलोक प्राप्ति के विरोधी पाप का स्पर्शमात्र भी नहीं है । कहने का तात्पर्य यह कि ये लोग महानुभाव हैं, इसलिये उनको अवलिप्त आदि दोष नहीं लगते हैं और उनके परित्याग का भी जो वचन है वह सबके लिये नहीं है । वह तो काल और काम को जो जीते हुए हैं, उन्हीं के लिये है, क्योंकि कहा है कि—

"नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥"

अर्थात् सामर्थ्यहीन पुरुष इसको (गुरु के त्यागादि कार्य को) नहीं करे, नहीं तो शिवजी के विष पान का अनुकरण करने वाले के समान वह नष्ट हो जायगा । फिर यदि भगवान् कहें कि भीष्म, द्रोण अर्थकामी हैं, जैसा भीष्म ने स्वयं कहा है कि—

"अर्थस्य पुरुषो दासस्त्वर्थो दासो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥"

अर्थात् मनुष्य अर्थ (धन) का दास है । अर्थ (धन) किसी का दास नहीं है । यह सत्य है । हे महाराज ! हम कौरवों के धन से बँधे हुए हैं । ऐसी हालत में इनको मारने में कुछ दोष नहीं है । इस शङ्का का उत्तर अर्जुन देते हैं कि इन अर्थकामी गुरुओं को मारकर इनके रक्त से सना हुआ, इसलिये यहाँ भी अशुद्ध, भोग केवल इस संसार ही में भोग सकते हैं, क्योंकि गुरु-घातक से दूषित भोग चिरस्थाई अर्थात् परलोक में प्राप्त नहीं हो सकता ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नोगरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

ननु शास्त्रविहितं क्षत्रियस्य श्रेयो युद्धरूपं स्वधर्मं विहाय परधर्मं भैक्ष्यं कथं श्रेयो मन्यसे इत्यत आह—न चैतदिति । भैक्ष्यं वा युद्धं वा नोऽस्माकं कतरत् गरीयः श्रेष्ठमेतद्वयम् न विद्मः । युद्धांगीकारेऽपि यद्वा तान् वयं जयेम, यदि वा नोऽस्मान् ते जयेयुरेतच्च न विद्मः । किञ्च जयोऽप्यस्माकं पराजय इत्याह—यानेवेति । यान् बन्धूनेव हत्वा वयं न जिजीविषामो जीवितं नेच्छामस्ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखेऽवस्थिताः ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

एवं चेत्किं त्वया स्वश्रेयो निश्चितमित्यपेक्षायां 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्याश्च तस्मै गोपायति स्म कृष्णः, तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत्, ये तु कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति-

---

यदि भगवान् कहें कि शास्त्र में विहित क्षत्रियों का कल्याण कर युद्धरूप अपने धर्म को छोड़कर परधर्म (दूसरों के धर्म) भीख माँगने को क्यों श्रेष्ठ समझते हो तो अर्जुन उसका उत्तर देते हैं—

भीख माँगना वा युद्ध करना इन दोनों में हम लोगों के लिए कौन श्रेष्ठ है यह नहीं मालूम पड़ता । फिर युद्ध करने भी हम दुर्योधनादिकों को जीतेंगे या वे हम लोगों पर जय लाभ करेंगे यह नहीं जानता । और फिर हम लोगों की जीत भी तो हार ही के समान होगी, क्योंकि जिन बन्धुओं को मारकर हम जीवन धारण करना नहीं चाहते, वे ही लोग इस लड़ाई में हम लोगों के सामने खड़े हैं ॥६॥

यदि ऐसी बात है तो तुमने अपना श्रेय क्या निश्चय किया ? इस प्रश्न की अपेक्षा करके अर्जुन कहते हैं—

हे भगवन् ! यह श्रुतियों में लिखा हुआ है कि—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्याश्च तस्मै गोपायतिस्म कृष्णः ।
तं ह देवामात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणं व्रजेत् ॥"

अर्थात् जो परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को पैदाकर उनको स्वाधिकार में स्थापित कर उन्हें उस अधिकार के निर्वाह के लिये वेद की शिक्षा देता है, आत्मा (जीवों) की बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में मोक्ष का इच्छुक मैं जाता हूं । जो कृष्ण सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को पैदाकर उनके लिये विद्या (वेद) की रक्षा करते हैं, उसी आत्मबुद्धि के प्रकाशक देवकी शरण में मुक्ति चाहने वाले जावें । फिर स्मृति में भी लिखा है कि—

मानवाः । भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दनेत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितां भगवदुपसत्तिमेव सर्वसाधनेषु गरीयसीं मनसि निधाय स्वहिताहितज्ञानकौशलं विहाय ब्रह्मरुद्रादिभिरनवगतमहिमानमचिन्त्यगुणशक्तिकं कारुण्यवात्सल्यादिगुणार्णवं स्वभक्तहिताय वसुदेवगृहेऽवतीर्णं साक्षात्परमात्मभूतं (भगवन्तं) त्वमेव शरणं व्रजामि इत्याह—कार्पण्येति । 'यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः ।' इति श्रुतेः पूर्वप्रतिपादिताक्षरशब्दवाच्यसूर्यचन्द्रवायुवह्नीन्द्रादिसर्वजगन्नियन्तृपरमात्मस्वरूपगुणादिज्ञानहीनः कृपणः इत्युच्यते शास्त्रे । लोके तु स्वल्पमपि द्रव्यव्ययं कर्तुमक्षमः कृपणस्तस्य भावः कार्पण्यं तन्निमित्ते एतत्स्वजनवधेऽस्मज्जीवनं निरर्थकमिति मोहरूपो दोषस्तेनोपहतो विवेकात्मको स्वभावो यस्य अतएव धर्मे संमूढम् चेतो यस्य सोऽहं त्वां स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषं सर्वज्ञं पृच्छामि । किं ? यत् निश्चितम् असंदिग्धं श्रेयः परमपुरुषार्थभूतं हितं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि । हितोपदेशस्यात्मनो योग्यतामाह—शिष्यस्तेऽहमिति । तव शासनयोग्योऽहम् अतः सखित्वान्मम तुल्योऽयं नोपदेशार्हं इति न शंकनीयं त्वया, तस्मात्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां त्वं शाधि स्वकरुणावशेन शिक्षयेत्यर्थः ।

"ये तु कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दनः ॥"

अर्थात् जो मनुष्य कृष्ण की शरण में जाता है उसको मोह नहीं होता । बड़े भारी भय में पड़े लोगों के रक्षक श्री जनार्दन हैं ।

इसलिये अपने हिताहित के जानने की कुशलता को छोड़ और मन में यह निश्चय कर कि सब साधनों में भगवान् की "शरणागति" ही सबसे श्रेष्ठ साधन है, मैं आपकी शरण में हूँ । आप साक्षात् परब्रह्म हैं । भक्तों के हित के लिए वसुदेव के गृह में अवतार लिये हैं । ब्रह्मा, रुद्र भी आपकी महिमा, गुण और शक्ति की कल्पना नहीं कर सकते । और आप कारुण्य, वात्सल्य आदि गुणों के समुद्र हैं ।

इन्हीं ऊपर के भावों को दरसाते हुए अर्जुन कहते हैं कि अपने बन्धुओं को मारकर हम लोगों का जीवन निरर्थक हो जायगा, ऐसी ※कृपणता से मेरा विवेक ढक गया है और धर्म के विषय में मेरे हृदय में मोह वा भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है । इसलिए मैं, समस्त दोषों से स्वभाव ही से रहित और सर्वज्ञ आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चय रूप से मोक्ष देने वाला रास्ता हो, वह आप मुझको बतावें । आपका हितोपदेश सुनने की मुझ में योग्यता भी है । यह न समझिये कि मैं आपका सखा हूँ इसलिए हितोपदेश सुनने के लिए अयोग्य हूँ । मैं अपने को आपका शिष्य समझता हूँ । मैं आपकी शरण में हूँ, मुझको आप कृपाकर शिक्षा दीजिये ॥७॥

※अक्षर शब्द वाच्य, सूर्य, चन्द्रमा, वायु अग्नि, इन्द्र आदि समस्त जगत् के नियन्ता, परमात्मा के गुण आदि के ज्ञान के अभाव को शास्त्र में कृपणता कहते हैं । जैसा श्रुति में कहा गया है—"यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' अर्थात् हे गार्गि ! जो इस अक्षर परमात्मा को बिना जानकर ही इस लोक से कूच करता है वह कृपण कहलाता है । संसार में कृपण वह कहलाता है जो कुछ भी धन व्यय न कर सकता हो ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

ननु लोके देवताऽऽराधनजन्यसम्पत्पुत्रराज्यादीनि यथाकामं श्रेयांसि बहूनि संति । क्षत्रियाणां तु प्रायो निष्कण्टकराज्यमेव श्रेय इति त्वमेव स्वबुद्धया निश्चित्य तदुपाये प्रयतस्वेति चेत्तत्र 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु श्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवि'दिति श्रुत्यर्थं हृदि निधाय नैतानि शोकतरणोपायानीत्याह—नहीति यच्छब्दः श्रेयःपरामर्शपरः । यच्छ्रेयः इन्द्रियाणां शोषणं मम शोकमपनुद्यान्नाशयेत्तत् भूमौ असपत्नं निष्कण्टकं राज्यमवाप्य सुराणां च आधिपत्यं देवेन्द्रतां च प्राप्यापि न पश्यामि । हीत्यवधारणे । प्रकर्षेण नैव पश्यामीत्यर्थः । अतः त्वमेव तद्वक्तुमर्हसीति भावः ।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—एवमिति । गुडाकाया निद्राया ईशः जितनिद्रोऽर्जुनः हृषीकेशं इन्द्रियनियन्तारं एवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं वेदयते इति गोविन्दः त (य)थोक्तमुद्योगपर्वणि 'गोविन्दो वेदनाद्गवामि'ति हरिवंशेऽपि गौरेषा तु यतो वाणी तां च—

यदि भगवान् कहें कि हे अर्जुन ! संसार में जैसे लोगों के लिए देवताराधना से प्राप्त अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति, पुत्र, राज्य इत्यादि कितने ही श्रेय हैं, वैसे ही क्षत्रियों के लिए निष्कंटक राज्य पाना ही सबसे बड़ा श्रेय है । तो तुम स्वयं ही अपना श्रेय निश्चित करके उसके साधनों के उपायों में लग जाओ । इसका उत्तर अर्जुन देते हैं—हे भगवान् ! ये सब शोक तरने के उपाय नहीं हैं । श्रुति कहती है—

"सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवन् शोकस्य पारं ।
तारयतु श्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् ॥"

अर्थात् मुझ को शोक के पार पहुँचाइये । आत्म-ज्ञानी शोक को पार करता है यह मैंने आप ही सरीखे महात्माओं से सुना है । फलतः इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक का नाश समस्त पृथ्वी का एकाधिपत्य राज्य वा इन्द्र का भी राज्य पाकर होगा, ऐसा मुझे नहीं मालूम पड़ता । इसलिए आप ही कृपा करके मेरे श्रेय का हेतु निश्चत कर दीजिए, क्योंकि मैं आपके शरणागत हूँ और शरणागतों का भार स्वामी पर ही रहता है ॥८॥

इसके बाद क्या हुआ । यह जानने की इच्छा वाले धृतराष्ट्र के प्रति संजय बोला—निद्रा के ऊपर विजयी और शत्रुओं को नाश करने वाले अर्जुन इन्द्रियों के स्वामी श्री भगवान् से ऐसा कहा कि

वेदयते भवान् । गोविन्दस्तु ततो देव ! मुनिभिः कथ्यते भवान् । इति तं सर्ववेदोपदेष्टारं सर्वज्ञं भगवन्तं न योत्स्य इत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव । हेति स्फुटम् ।

तमुवा च हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

एवं युद्धत्यागाय कृतव्यवसायेऽर्जुने मम पुत्राणां सुखं जीवनं सिद्धमिति चेतनाचेतननियन्तरि दुर्जनविनाशायावतीर्णे भगवत्यधिष्ठातरि सति नाशासनीयमिति धृतराष्ट्राय सूचयितुं सञ्जय आह—तमिति । हे भारत ! महावीरस्य वंशे जातस्य तव युद्धोपरतौ पुत्रस्नेहेन हर्षो नोचित इति भावः । हृषीकेशः सर्वेन्द्रियनियन्ता तमुभयोः सेनयोर्मध्ये युद्धार्थं विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तमर्जुनं प्रहसन्निव इदं वक्ष्यमाणं वच उवाचेत्यन्वयः । पाण्डुपुत्रस्य क्षत्रियसम्मतस्य नैतद्युक्तमिति लज्जानिमित्तं कोपमुत्पादयितुं प्रहसन्निवेत्युक्तम् । अर्जुनं निमित्तीकृत्य सर्वसेनासंहारार्थं प्रवर्त्तस्य गुरुत्वेनांगीकृतस्य हितोपदेष्टुर्भगवतः स्वधर्मे प्रवर्त्तयितुमुद्यतस्य प्रहासो नोचितः, किन्तु (तद्विद्या) तद्विद्याबुद्धिकौशल्यगर्वापनयनेन तत्त्वज्ञानाधिकारितासम्पादनाय तथा वचनमितीवशब्दाभिप्रायः ।

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

हे गोविन्द ! मैं न लड़ूंगा, चुप हो गये । (गोविन्द शब्द का यह अर्थ है कि भगवान् "गो" अर्थात् वेद की वाणी को जानते हैं और शिक्षा देते हैं अर्थात् सर्व वेद के उपदेष्टा और सर्वज्ञ हैं ।) ॥९॥

यह सुनकर कि अर्जुन लड़ाई छोड़ देने पर कटिबद्ध वा कृत-निश्चय हो गया, धृतराष्ट्र ने अपने मन में सोचा कि मेरे लड़कों का अब जीवन सुख से बीतेगा । इस विश्वास को दूर कराने के लिए और यह जनाने के लिये कि चेतन अचेतन के नियन्ता और दुर्जनों के नाश के अर्थ अवतार लेने वाले भगवान् के रहते तुम को ऐसी आशा न करनी चाहिये, संजय इस प्रकार बोला—

हे भारत ! अर्थात् भरतवंश से उत्पन्न धृतराष्ट्र ! (भारत सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि तुम इतने बड़े महावीर भरत के कुल में उत्पन्न हुए हो । तुम को पुत्र स्नेह के वश हो अर्जुन के युद्ध से हट जाने पर खुशी नहीं माननी चाहिए ।) सब इन्द्रियों के नियंता भगवान् दोनों सेनाओं के बीच में स्थित और दुःख करते हुए अर्जुन के प्रति लज्जा और क्रोध पैदा करने के लिए, उसका उपहास करते हुए के ऐसा, यह बोले ।

यहाँ भगवान् पर यह आक्षेप हो सकता है कि अर्जुन को निमित्त करके सब सेनाओं का नाश करने में प्रवृत्त और अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्त करने में उद्यत, उनके गुरु और उपदेष्टा बनकर, उनको अर्जुन का ठट्ठा मचाना उचित नहीं है । इसका उत्तर यह है कि अर्जुन की विद्या बुद्धि की कुशलता के घमण्ड को हटाकर तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनाने के लिए भगवान् ने ठट्ठा के सदृश कहा ॥१०॥

तत्र 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय समन्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्यामि'ति श्रुतेरुक्तलक्षणाधिकारिणे गुरुणा ब्रह्मविद्योपदेष्टव्या अतस्तथाभूतार्जुनाय 'एतस्यप्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपिवा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणस्थितः ॥
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ।
नारायणः परोध्याता ध्यानं नारायणः परः ॥
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् ।'
ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद्वशे वर्त्ततेऽदः कृष्णस्यसचराचरम् ॥
यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्विधौकसः ।
अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः ॥
किमनेन जगन्नाथ ! सर्वं त्वद्वशगं जगत् ।
एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित् तदच्युतो नास्तिवरं ततोऽन्यत् ।
सकलमिदमहं च वासुदेवः परमः पुमान्परमेश्वरः स एकः ॥

शोक और मोह को जड़ से उखाड़ने वाली विद्या अर्जुन को सिखाने के लिए और देह और आत्मा का विवेक उत्पन्न करने के लिये एवं उसके पण्डित होने के अभिमान को हटाने के लिए भगवान् कहते हैं। अर्जुन सब प्रकार से शिष्य होने के योग्य है, क्योंकि जो गुण शिष्यों में होने श्रुति ने बताये हैं वे सब उसमें विद्यमान हैं। यथा—

"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय समन्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥"

अर्थात् विधि पूर्वक समीप में प्राप्त, अच्छी तरह से प्रशान्त चित्त और समन्वित (बाह्य, इन्द्रिय निग्रह युक्त) शिष्य को विद्वान् (गुरु) उस ब्रह्म विद्या का उपदेश करे जिससे अक्षर पुरुष अर्थात् परब्रह्म जाना जाता है। अब इस अक्षर पुरुष के विषय में श्रुति स्मृति यों कहती हैं—

"एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ॥
भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः ॥"

अर्थात् इस अक्षर परब्रह्म से शासित सूर्य और चन्द्रमा बिना आधार के स्थित हैं। इसके डर से वायु बहता है, इसके डर से सूर्य यथा समय उगता है और इसके भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है। और भी—

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

तत्र को मोहः क शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादि श्रुतिस्मृतिनिर्णीता सूर्यचन्द्रवाय्वग्नीन्द्रमृत्युद्यावादिसर्वचेतनाचेतननियन्तृजगज्जन्मस्थितिलयाभिन्ननिमित्तोपादानकारणसर्वव्यापकसर्वात्मभूतसर्वभिन्नाभिन्नस्वरूपाक्षरनारायणहरिवासुदेवादिशब्दाभिधेयपरमब्रह्मस्वरूपगुणादिविषयिणी विद्या निःशेषशोकमोहविनाशिनी तामेवोपदेष्टुं तावन्नियम्यभूतचिदचिद्वर्गयाथात्म्यज्ञानाभावेन शोचते देहात्मविवेकमुत्पादयितुं तस्य पाण्डित्याभिमानं निरासयन् श्रीभगवानुवाच—अशोच्यानिति। अशोच्यान् शोचितुमयोग्यान् पुण्यलोकजयोद्यतान् भीष्मद्रोणादीन् त्वमन्वशोचः शोकमकार्षीः :—

'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
किन्नो राज्येन गोविन्द किंभोगैर्जीवितेन वा ॥'

—इत्यादिना। एतैर्विना राज्यादिना जीवितेन वाऽस्माकं किं प्रयोजनमित्येवं शोकाकुलतयासि इति ते मूर्खत्वम्। किञ्च प्रज्ञावादांश्च भाषसे प्रज्ञावतां वादाः प्रज्ञावादाः स्वपाण्डित्यद्योतकास्तान् "पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः, उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरके नियतं वासो भवति, गुरून् हत्वा हि महानुभावान्श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' इत्यादिना भाषसे, कथयसि। एवं मूर्खत्वं पाण्डित्यं चैकस्मिन्विरुद्धमतो मृषा ते पाण्डित्यमित्यर्थः। यतो गतासून् गतप्राणान् मृतान् अगतासूनप्राणतो जीवितान् पण्डिता नानुशोचन्ति। तत्वविवेचिनीबुद्धिः पण्डा सा जाता येषां ते पण्डितास्ते देहेन्द्रियादिविच्छेदे सत्वे वा तद्व्यतिरिक्तात्मनां शोकं न कुर्वन्ति इत्यर्थः।

इस जगत् में जो कुछ देखा वा सुना जाता है उन सबको बाहर भीतर से व्याप्त करके नारायण स्थित हैं। और भी श्रुति स्मृतियों से निर्णीत ब्रह्मविद्या, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मृत्यु इत्यादि सब चेतन और अचेतन के नियामक, जगत् के जन्म, स्थिति और लय के अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सबमें व्यापक, सबके आत्मस्वरूप, सबसे भिन्नाभिन्नस्वरूप और जो नारायण वासुदेव इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं, उन्हीं ब्रह्म के गुण और स्वरूप बताने वाली विद्या भगवान् अर्जुन को सिखाना चाहते हैं। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! पुण्यलोक जीतने की कामना करने वाले भीष्म, द्रोणादिक सोच करने योग्य नहीं है और तुम उनके लिये सोच कर रहे हो। यह तुम्हारी मूर्खता है। पर तुम बोल रहे हो पण्डितों जैसा, क्योंकि तुमने पीछे के अध्याय और इस अध्याय में भी कहा है कि—

"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
गुरून् हत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥"

ये पण्डितों की सी बोली हैं। इस प्रकार मूर्खता और पाण्डित्य का एक ही जगह समावेश कर तुम अपने पाण्डित्य को व्यर्थ कर रहे हो। कारण कि मरे हुओं का और जीवितों का तत्त्वातत्त्वविवेकबुद्धियुक्त पण्डित सोच नहीं करते। तात्पर्य यह कि पण्डित लोग देह, इन्द्रिय आदि के नाश होने पर उनसे बिछुड़े हुए आत्मा के लिए शोक नहीं करते ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

ननु कुतस्तेऽशोच्याः ? यतस्तान् पण्डिता न शोचन्तीत्यपेक्षायां देहातिरिक्तात्मनां नित्यत्वादित्याह—नत्विति । तत्रात्मत्वेन स्वस्य जीवात्मसाम्यापत्तिं तु शब्देन निराकरोति । सर्वात्मनां मध्ये यथा अहं सर्वेश्वर इतः पूर्वस्मिन्काले जातु कदाचिन्नासं नाभवमिति न, अपित्वासमेव । तथात्वं नासीरिति न, किन्त्वासीरेव । तथेमे जनाधिपा नाऽऽसिषति न, किन्त्वासन्नेव । एतेनात्मनां भूतकाले सत्त्वादुत्पत्तिर्निराकृता । न चेति । पुनः सर्वे वयं पूर्वोक्ता अतः वर्तमानकालात् परमन्ते (परमग्रिमे) काले न भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एव । एतेन नाशाभावो निरूपितः, उत्पत्तिनाशाभावादेव मध्येऽपि तेषां सत्त्वं सिद्ध्यति । एवं कालत्रयेऽपि सत्त्वप्रतिपादनात्सर्व एवात्मानो नित्या अतोऽशोच्या इति भावः ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

ननु देवदत्तस्य पुत्रो जातः, यज्ञदत्तोमृत इति परम्परागतप्रतीतेर्जन्ममरणयोर्दशाहानिः ब्राह्मणस्याशौचप्रतिपादकधर्मशास्त्रस्य च प्रामाण्यात्कथमात्मनां जन्मनाशाभावः, कथं वा शोच्यत्वमन्यथा प्रमाणबाधः स्यादित्याशङ्क्याह देहिन इति, देहः कर्मफलभोगायतनभूतो विद्यते यस्य स देही, तस्यैकस्मिन्नेव देहे यथा कौमारं यौवनं जरा परस्परविरुद्धावस्थाः कालभेदेन प्राप्नोति, न त्ववस्थाभेदेनात्मभेदः, 'योऽहं पित्राद्यंकेऽक्रीडं स एवाहं यौवने विषयमनुभूयेदानीं वार्द्धके पुत्रपौत्रादीननुभवामी'त्यबाधितप्रत्यभिज्ञानात्,

---

पण्डित लोग मृत और जीवित के विषय में जिस कारण से नहीं सोचते हैं उस (देह से भिन्न आत्मा के नित्यत्वरूप) कारण को भगवान् कहते हैं—प्रथम 'तु' शब्द जीवात्मा और परमात्मा में समानता का निराकरण करता है। जिस प्रकार सब आत्माओं में सर्वेश्वर मैं पूर्वकाल में नहीं था, ऐसी बात नहीं है, अर्थात् पूर्वकाल में भी था, वैसे ही तुम भी या ये राजा लोग भी पूर्वकाल में नहीं थे, यह बात नहीं है, अर्थात् तुम और ये लोग भी पूर्वकाल में थे। इससे भूतकाल में भी सब आत्माओं का विद्यमान रहने से आत्मा की कभी उत्पत्ति हुई, इसका खण्डन भगवान् करते हैं। फिर हम लोग वर्त्तमान काल के बाद भविष्यत् काल में न होंगे, यह बात भी नहीं है, अर्थात् भविष्यत् में भी रहेंगे। इससे आत्मा का नाश नहीं होता, यह बात निरूपित की गई और जिसकी उत्पत्ति वा नाश नहीं वह बीच के समय में भी रहेगा ही। इस प्रकार आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल में स्थित है। इसलिए सब आत्माएँ नित्य हैं, तब उसके लिये सोच क्यों करना ? ॥१२॥

जैसे एक ही शरीर में देही (देह वाला जीव) काल भेद से लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा तीन भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता है, पर उसके स्वरूप में कुछ भेद नहीं होता, क्योंकि अनुभव वाले को ही अनुभूत विषय का स्मरण रहता है, इस नियमानुसार वह समझता है और उसको यह स्मरण होता है कि मैं ही एक समय लड़कपन में पिता की गोद में खेला करता था, फिर वही मैंने जवानी में विषय-

अनुभवस्मृत्योरेकाधिकरणनियमाच्च। तथा पूर्वदेहादन्यो देहो देहान्तरं तस्यप्राप्तिस्तस्यैवात्मनः, न तु देह-भेदेनात्मभेदः। तत्र देहान्तरप्राप्तौ धीरो आरणावती बुद्धिमान्न मुह्यति, पितृपुत्रादौ मृते नष्टोऽयमिति मोहं न प्राप्नोति इत्यर्थः। 'देहिन'इत्यारभ्य 'देही नित्यमवध्योऽयमि'त्यन्तेषु श्लोकेष्वेकवचनं जात्यभिप्रायकमेव, न तु जीवात्मस्वरूपैकत्वविषयम्। 'आचार्यप्रोक्ता या जातिः सा नित्या साऽजराऽमरे'ति सनत्सुजात-वचनात्।' 'न त्वं नेमे जनाधिपाः' इति निरन्तरश्लोके बहुत्वनिरूपण—प्रतिपादनाच्च। नैतावदेव प्रमाणमपि तु 'कामात्मानः स्वर्गपराः, ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं, साङ्ख्ययोगौ-पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः, कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये। तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्त-रात्मना। न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः भजन्ते मां दृढव्रताः। यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। महात्मानस्तु मां पार्थ ? दैवीं प्रकृतिमास्थिताः। ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः। मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च। निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तदि'त्यादि सर्वेषु अध्यायेषु प्रत्यगात्मबहुत्वप्रतिपादकानि वाक्यानि विद्यन्ते, एकात्मत्वांगी-कारे तानि बाध्येरन्। न चोपाधिकृतभेदप्रतिपादनेन न तद्बाध इति वाच्यं, तेषामुपाधिपरत्वकल्पने मानाभावात्। प्रत्युत 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः। कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनामि'ति निवृताशेषा-ऽविद्यानामपि बहुत्वप्रतिपादनात् अन्यथा सर्वदेहेषु चेतनैकत्वांगीकारे एकस्मिन्सुप्ते मूर्छिते मृते वा सर्वेषां तत्साम्यापत्तिः स्यात्, सर्वान्तर्वर्तिसुखदुःखादिज्ञानं सर्वेषां समानं स्यात्। किञ्च अहं त्वमयमिति प्रत्ययानां निगमनाविरहेण विभागाभावः स्यात्सर्वत्राहमेव प्रतीतिः स्यात् न तु तथाऽस्ति। किं तर्हि

भोग किया था और वही बुढ़ापे में पुत्र पौत्र का सुख अनुभव कर रहा है। वैसे ही जीव को भी दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, पर जीव वही रहता है। इसलिये स्वयम् युद्ध में मरने पर विवेकियों को शोक मोह नहीं करना चाहिये।

इस श्लोक में देही (जीव) को एक वचन लिखा है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जीव एक है। यहां देही शब्द का प्रयोग समुदाय या जाति के अर्थ में हुआ है। जीव यथार्थ में अनन्त हैं और गीता के प्रत्येक अध्याय में ऐसे अनेकानेक श्लोक हैं जहां जीव के लिए बहुवचन व्यवहृत हुआ है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जीव अनन्त हैं ॥१३॥

भगवदुक्तात्मभेदः स्वरूपनिरूपित इति श्रुतिरपि निश्चाययति। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामानि'ति। तस्मादात्मैकत्ववादिनो भ्रान्ता इति निश्चीयते। अतः स्वधर्मे युद्धे मरणेऽपि विवेकिनो न शोकमोहौ स्यातामिति भावः।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

ननु भवत्वात्मनां स्वरूपेण नित्यत्वे बहुत्वे च तन्नाशनिमित्तं मोहानौचित्यमिति। तथाऽपि युद्धे शस्त्रपातादिना आचार्यपितृबन्धूनां प्रियदेहवियोगे सुखहानिर्दुःखावाप्तिश्च भवेदेव, तन्निमित्तो मोहः सम्भवतीत्याशङ्क्याह-मात्रास्पर्शा इति। मात्राः शब्दादितन्मात्राणि तत्कार्यत्वाच्छब्दस्पर्शादयो विषया मात्राशब्दवाच्यास्तेषां श्रोत्रादीन्द्रियैः स्पर्शाः शीतोष्णसुखदुःखदा भवन्ति। मृदुमधुराः सुखदाः कटुपरुषा दुःखदाः। तथाऽपि नात्मवन्नित्याः किन्त्वागमापायिनः आगमापायशीलाः अतएव अनित्यास्ततस्तान्विवेक-धैर्यसम्पत्त्या तितिक्षस्व सहस्व। कालान्तरे स्वयमेव नंक्ष्यन्ति। तन्निमित्तो मोहस्तव नोचित इति कौन्तेय भारतेति सम्बोधनाभ्यां सूचितम्।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

मात्रास्पर्शेतितिक्षायां किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—यं हीति। हे पुरुषर्षभ ! यं पुरुषं स्वधर्मानुवर्तिनं शास्त्रविहितं फलसंकल्पशून्यं युद्धादिकं स्वधर्मं कुर्वाणं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य स तमतएव

यदि यही बात हो कि आत्मा स्वरूप से ही नित्य और अनेक है तो उसके लिए मोह करना अनुचित है सही, पर युद्ध में शस्त्र इत्यादि से आहत होकर गुरु, भाई इत्यादि की प्रिय देह की हानि तो होगी ही, तब बन्धुओं के वियोग से दुःख अवश्य होगा। इसके लिये दुःख और शोक होना सम्भव है। इसका उत्तर भगवान् देते हैं—

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन ! शब्दादि तन्मात्राओं के विषयों का अर्थात् शब्द स्पर्शादिकों का कान, आँख आदि इन्द्रियों के साथ सम्मिलन शीतल और गर्म, सुखद और दुखद होता है। जैसे जो मृदु वा मधुर हुआ वह सुखद मालूम पड़ता है और जो कटु वा कड़ा हुआ दुखद मालूम पड़ता है। पर ये शब्दादि विषय आत्मा के समान नित्य नहीं हैं। ये आने जाने वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसके विवेक और धैर्य के बल से इनको सहो। ये कालान्तर में स्वयमेव नाश हो जायेंगे। "भारत" और "कौन्तेय" सम्बोधन से यह दरसाया कि इनके लिए तुमको मोह करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम बड़े विवेकियों के वंश में उत्पन्न हो॥१४॥

मात्रा स्पर्शों के सहने से जो फल वा लाभ होगा उसको अब कहते हैं। हे पुरुष श्रेष्ठ ! जो पुरुष अपने धर्म का अनुवर्त्ति होकर और फल सङ्कल्प शून्य शास्त्र में कहे हुए युद्धादि अपने धर्म को पालन करता है और जिस धीर पुरुष को दुःख सुख बराबर ही है, अर्थात् शस्त्रादिकों की मृदु वा कठोर चोट

धीरं धैर्यवन्तमेते शस्त्रपातादिजन्यमृदुपरुषाः स्पर्शा न व्यथयन्ति स्वधर्माद्न चालयन्ति। सोऽमृतत्वाय परमपुरुषार्थभूतजरामरणादिधर्मवर्जितस्वरूपप्राप्तये कल्पते योग्यो भवति।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

नन्वतिप्रभूतशीतोष्णादिप्राप्तावात्माऽप्यतिदुःख्यनुभूयते, अमुकोऽतिदुःखेनमृत इत्यात्मनोऽप्यभाव-प्रतीतेः कथं शीतोष्णादेरेवागमापायित्वं कथं वाऽऽत्मनोऽमृतत्वकल्पनमित्याशंक्यां निरासयति-नेति। असतोऽनात्मधर्मस्य विकारस्य शीतोष्णादेरात्मनि भावः सत्ता न विद्यते, सतोऽविकार्यस्यात्मनोऽभावो विनाशो न विद्यते। अनयोर्भावाभावौ नाज्ञप्रतीत्यवसेयावित्याह—उभयोरिति। उभयोरप्यनयोः सदसतो-र्विचारे जाते अन्तः सिद्धान्तपक्षः निर्णय इत्यर्थः तत्त्वदर्शिभिर्दृष्टः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयम्, एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं तत्त्वं जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपं, तद्दर्शनशीलैर्दृष्टो ज्ञात इत्यर्थः।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिसको धर्म से च्युत नही कराती, वह, परम पुरुषार्थरूप, जरा मरणादि से रहित, शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥१५॥

अब यहां यह शङ्का होती है कि अधिक शीत और उष्णता की प्राप्ति होने पर आत्मा भी दुःख अनुभव करने लगता है। वह पुरुष अधिक दुःख के कारण मर गया, ऐसा भी लोग कहते हैं और मरने पर आत्मा शरीर के साथ-साथ लापता हो जाता है। ऐसी दशा में आत्मा को नित्य और अमृत और शीतोष्ण को आने जाने वाला कैसे माना जाय? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

अनात्म धर्म वाले और विकारी शीतोष्ण की आत्मा में सत्ता वा स्थिति नहीं है, इससे सत् वा अविकारी जो आत्मा है इसका अभाव अर्थात् विनाश नहीं होता। यह बात मूढ़ों की कही हुई नहीं है, किन्तु सत् और असत् विचार के सिद्धान्त वा निर्णय के जो जानने वाले तत्त्वदर्शी हैं, उनकी देखी या जानी हुई है। यथा श्रुतिः—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो॥"

अर्थात् हे सोम्य! (शिष्य) इसके (सृष्टि के) आगे एक सत् ही था। वह एक ही सत् ब्रह्म अद्वितीय था। इस सब जगत् का आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो! वह सत्य है। वह आत्मा है। तुम्हारी अन्तरात्मा वही है। इससे अर्थात् तत्पद वाच्य ब्रह्म और त्वम्पदवाच्य जीवान्तर्यामी ब्रह्म के अभेद से तुम तदात्मक हो ॥१६॥

निर्णीतार्थमाह—अविनाशि इति। तत्तत्वं त्वविनाशि विनाशाभावशीलं विद्धि। किं तत्? येनात्मवर्गेण सर्वमिदमचेतनं ततं व्याप्तं, व्यापकं सूक्ष्मं व्याप्यं स्थूलं, व्यापकत्वेन सूक्ष्मत्वादव्ययस्यात्मतत्वस्य विनाशं कञ्चिदनात्मपदार्थः कर्तुं नार्हति न योग्यो भवति।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत! ॥१८॥

नन्वात्मनां विनाशानर्हत्वेन नित्यत्वमुक्तं, तर्हि सर्वेषां मातृपित्रादयो नष्टा इत्यबाधितप्रतीतेः के विषया इत्याशङ्क्याह—अन्तवन्त इति। नित्यस्य शरीरिणः इमे कर्मफलभोगायतनभूताः पञ्चमहाभूतावयवोपचिता देहा अन्तवन्तो विनाशिन उक्ता व्यासादिभिः। तथाहि—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। संसारेष्वनुभूतानि यातो यास्यन्ति यान्ति च॥
हर्षस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्याप्यनित्य॥ इति

हेतु स्थूलसूक्ष्मशरीरम्। शरीरिणो नित्यत्वे हेतुगर्भितविशेषणमाह—अनाशिन इति। नाशाभाववतः अतएव नित्यस्य 'अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशी न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितमि'ति वैष्णवे जडभरतवाक्यात्। ननु नित्योऽविनाशी चेदात्मा तर्हि देहे नष्टेऽपि तदुपलब्धिः किन्न स्यादित्यशंका निरासाय हेतुगर्भितविशेषणमाह—अप्रमेयस्य इति। भगवत्कृपां शास्त्रमन्तरेण प्रत्यक्षादि-

---

अब निर्णीतार्थ कहते हैं। उस तत्त्व को तुम अविनाशी जानो। किस तत्त्व को? जिससे यह सब अचेतन व्याप्त है। क्योंकि जो व्याप्य होता है वह स्थूल और व्यापक सूक्ष्म होता है और इसलिये इस सूक्ष्म, व्यापक, अव्यय आत्मतत्त्व का नाश कोई अनात्म पदार्थ नहीं कर सकता है ॥१७॥

विनाश के अयोग्य होने के कारण आत्मा को नित्य कहा गया है, तब अमुक की माता मरी, अमुक का पिता मरा, इन प्रतीतियों का विषय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

नित्य आत्मा के कर्मफल भोग स्थानस्वरूप और पञ्चमहाभूत से बने हुए शरीर नाशवान हैं। व्यासादि तत्त्वज्ञ महर्षियों ने ऐसा ही कहा है, 'संसार में स्थित हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री पुत्र मर गये हैं, मरते हैं और मरेंगे। इस संसार में हर्ष के हजारों स्थान हैं और शोक के भी सैकड़ों स्थान हैं, पर इनसे मूर्खों को मोह होता है, पण्डितों को नहीं। धर्म नित्य है। सुख दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है। इसका हेतु स्थूल सूक्ष्म शरीर अनित्य है।'

आत्मा की नित्यता में हेतुपूर्ण विशेषण जोड़ते हैं। आत्मा अविनाशी है, इसलिये नित्य है। विष्णुपुराण में जड़भरत का वाक्य है :—'पण्डित लोग आत्मा को अनाशी और परमार्थ जानते हैं। नाशवान् द्रव्य से बना हुआ पदार्थ शरीर नाशवान् है, इसमें सन्देह नहीं।' यदि आत्मा अविनाशी है तो शरीर के नाश होने पर दीखता क्यों नहीं? इस शङ्का के उत्तर में यह कहते हैं, कि ऐसा होना सम्भव नहीं। क्योंकि आत्मा अप्रमेय है अर्थात् भगवत् कृपा और शास्त्र का प्रमाण छोड़कर और किसी

प्रमाणैरिदमित्थमिति प्रमातुमशक्यत्वात्। 'एनं विदुर्भगवत्प्रसादादि'त्याद्याचार्यपादोक्तेश्च। यद्देहादि इदमित्थमित्युपलभ्यते तन्नाशित्वेनाप्युपलभ्यते, आत्मा न तथा। किन्त्वहं जानाम्यनुभवामीति प्रतीत्या प्रमातृतयैवोपलभ्यते, यस्मादनाशित्वादात्मानो न शोच्याः, नाशित्वादन्तवन्तो देहा अपि न शोच्याः। तस्मान्मोहं विहाय हे भारत! त्वं युद्धयस्व।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

एवमात्मनोऽविनाशित्वे सिद्धे गुरून् हत्वेत्यादिना आत्मनो गुर्वादिहन्तृत्वकल्पनं तेऽज्ञानमेवेत्याह—य इति। यः पुरुषः एनमुक्तविधं शरीरिणं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारमयं मम हन्तेति वेत्ति जानाति यश्चान्य एनं हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं हतोऽयं मयेति मन्यते तावुभौ न विजानीतः, आत्मस्वरूपानभिज्ञावित्यर्थः। यतो नायं हन्ति न हन्यते, हननक्रियायाः कर्त्ता कर्म वा न भवतीत्यर्थः।

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

हननक्रियायाः कर्त्ता कर्म वाऽयं कुतो न भवतीत्याकांक्षायां जन्मादिषड्विक्रियारहितत्वादित्याह—नेति। अयं पुरुषः न जायते नोत्पद्यते। वा शब्दश्चार्थे। न चायं कदाचिन्म्रियते। तत्कुतो यस्मान्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अयमात्मा पूर्वं भूत्वा पश्चान्न भवितेति। न यो हि अभूत्वा भविता स उत्पद्यते,

---

प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा 'यह ऐसा ही है' ऐसे ज्ञान का विषय नहीं होता। आचार्यपाद श्रीनिम्बार्क भगवान की उक्ति है—'इस आत्मा को भगवान् ही की कृपा से जान सकते हैं।' देह आदि का जो 'इदमित्थम्' (यह ऐसा है) ज्ञान होता है, वह उनके नाशवान् होने के कारण। आत्मा वैसा नहीं है, इसीलिये उसका 'इदमित्थम्' ज्ञान होना असम्भव है। पर 'हम जानते हैं', 'हम अनुभव करते हैं' इन प्रतीतियों से प्रमाता रूप से (अर्थात् ज्ञानाश्रय रूप से) उसका ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिये अविनाशी होने से आत्मा के लिये शोक करना उचित नहीं है और नाशवान् होने से शरीर भी शोक करने के योग्य नहीं। इसलिये हे भारत! मोह छोड़कर तुम लड़ो ॥१८॥

आत्मा अविनाशी सिद्ध होने पर गुरु आदि का हनन-संकल्प अज्ञानमात्र है। यही यहाँ कहते हैं। जो मनुष्य इस शरीरी अर्थात् आत्मा को मारनेवाला समझता है और जो यह समझता है कि आत्मा मारा गया ये दोनों आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ हैं, क्योंकि आत्मा न मारा जाता है न मरता है, अर्थात् हनन क्रिया का आत्मा न कर्म है न कर्त्ता ॥१९॥

आत्मा हनन क्रिया का कर्त्ता वा कर्म नहीं है, क्योंकि यह षड्विकार शून्य है। इसी को यहाँ दिखाते हैं :—

यह पुरुष कभी उत्पन्न नहीं होता और न कभी यह मरता है। ऐसा क्यों? कारण कि यह पूर्व में होकर पीछे नहीं होगा ऐसी बात नहीं है। जो पहले नहीं होकर पीछे होता है उसी को उत्पन्न

यश्च प्राग्भूत्वा भूयो न भविता स म्रियते इत्युच्यते। अयं तु प्रागपि सत्त्वान्नोत्पद्यते। उत्तरकालेऽपि सत्त्वान्न म्रियते। यतो न जायते अतोऽजो न म्रियतेऽतो नित्यः, इति द्वाभ्यां पदाभ्यां जन्ममरणलक्षणे विक्रिये निरस्ते। अस्तित्वलक्षणविकारवारणायाह—शाश्वत इति। सनातनः प्राकृतवत्सदसत्परिणामशून्यः इत्यर्थः। वृद्धिलक्षणविक्रियावारणाय पुराण इति। पुरापि नव एव। यो हि सावयवः सोऽवयवोपचयाद्वर्द्धते। अयं तु निरवयवो ज्ञानैकस्वरूपत्वान्न वर्द्धते इत्यर्थः। परिशिष्टौ परिणामापक्षयौ जन्ममरणास्तित्ववृद्धयभावादेव निरस्तौ। एवं षड्विकारशून्य आत्मा शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते। शरीरमेव हननक्रियायाः कर्मभूतमित्यर्थः।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

कथं तर्हि 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादि निषेधशास्त्रस्य गोघ्नब्रह्मघ्नादेर्नरकादिविधायक शास्त्रस्य च सार्थक्यमित्याशङ्कापरिहारार्थमाह—वेदेति। अविनाशिनं विनाशाभाववन्तमत एव नित्यं यतोऽजमव्ययं जन्मपरिणामादिरहितमेनं प्रतिशरीरभिन्नमात्मानं यः पुरुषो वेद जानाति हे पार्थ! स कथं हन्ति कथं घातयति। बहुष्वेव किं शब्दप्रयोगो लोके शास्त्रे च दृष्टः। तथा च ब्राह्मणादिश्वपचपशुकृम्यन्त शरीरेषु विनाशानर्हस्वभावतया वर्तमानेष्वात्मसु कं कतमं हन्ति हननक्रियायाः कर्त्ता भवति। कं वा घातयति तां

होना कहते हैं, और जो पहले से होकर पीछे नहीं होता है उसे मरना कहते हैं। यह आत्मा पहले भी था इसलिये उत्पन्न नहीं हुआ और पीछे भी रहेगा इसलिये मरता नहीं। जन्म नहीं लेता है इससे अज है। नहीं मरता है इससे नित्य है। इन दोनों शब्दों से आत्मा को दो विकारों से अर्थात् जन्म और मरण से रहित बतलाया। अब तीसरे विकार (अस्तित्व) से भी इसको रहित बताने के लिये कहते हैं कि आत्मा शाश्वत है अर्थात् सनातन है और प्राकृत वस्तुओं के समान सत् और असत् परिणामवाला नहीं है। फिर चौथे विकार (वृद्धि) बढ़ने से शून्य बताने के लिये कहते हैं, कि आत्मा पुराण है, अर्थात् पुराना होने पर भी नया ही है। जो अवयव (भाग) वाला होता है उसी को अवयव के बढ़ने से वृद्धि होती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं अवयव हीन है, इसलिए इसकी वृद्धि सम्भव नहीं। और शेष दो विकार परिणाम (अदल बदल) और अपक्षय (नाश) आत्मा में सम्भव नहीं। जिसमें होना और वृद्धि सम्भव नहीं, उसमें ये अदल बदल और नाश हो सम्भव नहीं हो सकते।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि षड्विकार रहित आत्मा का नाश, इस शरीर के नाश होने से नहीं होता। षड्विकारवाला शरीर ही हनन क्रिया का कर्म है ॥२०॥

यदि ऐसी बात है तो (ब्राह्मणो न हन्तव्यः) ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये इत्यादि निषेध शास्त्र और ब्राह्मण और गौको मारनेवाला नरक में जाता है इस विधायक शास्त्र को सार्थकता कैसे होगी? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि, जो इस प्रति देह में भिन्न आत्मा को जन्म परिणामादि से रहित अतएव अविनाशी और इसीलिये नित्य जानता है, हे अर्जुन! वह कैसे मारता है और किसको

क्रियां प्रति प्रयोजको भवति । न कश्चिदपि इत्यर्थः । एतेन त्वं प्रयोजको भूत्वा घातयसि अहं त्वन्नियुक्तो हन्मीत्यत उभयोः पापं स्यादिति न शंकितव्यमिति ध्वनितम् । एवञ्च ब्राह्मणादिहननननिषेधशास्त्रस्य हननजन्यपापफलाभिधायकस्य च उक्तात्मस्वरूपस्वभावयाथात्म्यज्ञानाभाववद्विषयकत्वेन सार्थक्यम् ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

नन्वात्मनामविनाशित्वेन शोकानर्हत्वेऽपि देहानां विनाशित्वात्तद्विनाशनिमित्ते युद्धे प्रियभोग-साधनभूतेषु भीष्मादिप्रियदेहेषु नश्यत्सु तद्वियोगनिमित्तः शोकः स्यादेवेत्याशंकायामाह—वासांसीति । यथा नरो जीर्णानि वस्त्राणि विहायाऽपराणि नवानि गृह्णाति, न तस्यागे शोको भवति, प्रत्युत हर्ष एव जायते । तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहायाऽन्यानि नवानि शरीराणि संयाति प्राप्नोति । न तस्य पूर्वदेहत्यागे शोको भवति, प्रत्युत हर्ष एवोपजायते । तस्मात्स्वधर्मे युद्धे पूर्वशरीरं त्यक्त्वाऽन्यत्कल्याणतरं शरीरं गृह्णतां भीष्मादीनां हर्षविशेष एवोत्पत्स्यते । अतस्त्वया तदुपकार एव कृतः स्यान्न द्रोहसंभावना कर्तव्येति भावः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

ननु गृहदाहे तदन्तर्वर्तिपुरुषदाहवद्देहस्य छेददाहादौ सत्यात्मनोऽपि छेददाहादिः किञ्च स्यात्तथा-त्वेऽविनाशित्वहानिरत्यत आह नैनमिति । सर्वदेहेषु समानरूपमेनमात्मानं शस्त्राग्न्यब्वायवः छेदनदहन-

---

मरवाता है ? अर्थात् तुम ऐसा समझो कि यह आत्मा न किसी को मारता है न किसी को मरवाता है। इससे यह भाव निकलता है कि यह शंका नहीं करनी चाहिये कि हमको मरवाने का और तुमको मारने का पाप लगेगा और ऊपर उल्लेखित ब्राह्मणादि मारने का निषेधशास्त्र उन लोगों में सार्थक अर्थात् लागू होता है, जिन को यह ज्ञान नहीं है कि यह आत्मा उक्त अविनाशी आदि स्वभाववाला है ॥२१॥

माना कि आत्मा अविनाशी होने से शोक करने के योग्य नहीं है, पर शरीर तो विनाशी है उसके लिए तो शोक होगा ही। हमारे भाई बान्धवों के शरीर का इस युद्ध में नाश होगा इससे उनके, प्रिय भोगों के भोगने का साधन, शरीर के वियोग के लिये दुःख तो होगा ही। अर्जुन की इस शङ्का का उत्तर भगवान् देते हैं :—

जैसे मनुष्य पुराने फटे वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है और पुराने वस्त्रत्याग के लिए शोक नहीं करता, वरंच खुशी मानता है, वैसे ही देही अर्थात् जीव पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है। उसको पूर्व देह त्याग के लिए दुःख नहीं होता, वरंच खुशी ही होती है। इसलिए भीष्मादि तुम्हारे भाई बान्धव इस स्वधर्म युद्ध में अपने पुराने शरीरों को छोड़ दूसरे अधिक कल्याणकर शरीरों को धारण कर खुशी मानेंगे, दुःख नहीं। इसलिए तुम उनका उपकार ही करोगे और तुम्हें उनके द्रोह की सम्भावना नहीं करनी चाहिये ॥२२॥

क्लेदन शोषणात्मकक्रियाफलाश्रयं न कुर्वन्ति, छेदनदहनक्लेदनादिना विनाशयितुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः। एकेनापि प्रसज्यात्मकनञोक्तार्थसिद्धौ तस्य चतुःकृत्व उपादानमुक्तार्थदार्ढ्यायार्जुनस्य हृदि मन्दीभूयापि शंका न तिष्ठेदित्येतदर्थम्।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

शस्त्रादिजन्यतन्नाशानर्हत्वे हेतूनाह—अच्छेद्य इति। यतोऽच्छेद्योऽयं तस्मादेनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति। एवमेवाशोष्यन्तानि विशेषणानि हेतुरूपविशेषणानि योज्यानि। अच्छेद्यत्वादिष्वपि हेतुमाह—नित्य इति। अनित्यश्छेद्यदाह्यादिरूपो भवति, नो नित्यः। नित्यत्वेऽपि हेतुः—सर्वगत इति। सर्वगतत्व-व्यापन स्वभावोऽतिसूक्ष्म इत्यर्थः। नहि व्यापनशीलमतिसूक्ष्मं वस्तु शस्त्राग्न्यादिभिश्छेद्यदाह्यादि कर्तुं शक्यते। यतोऽच्छेद्योऽदाह्यश्च तत एव स्थाणुः स्थिरस्वभावः स्वरूपान्यथाभावरहितः। स्थाणुत्वादक्लेद्यः अद्भिरार्द्रीकृत्य स्वरूपाच्च्यावयितुमशक्यः। स्थाणुत्वादेवाचलः अप्रकम्प्यः। अचलत्वादशोष्यो वायुना शोषयितुमशक्यः। तस्मादुक्तेभ्यो हेतुभ्यः सनातनः, नित्यस्वरूप इत्यर्थः।

घर जलने पर उसके भीतर के मनुष्य जल जाते हैं उसी प्रकार शरीर नष्ट हो जाने से उसके भीतर का आत्मा क्या नष्ट नहीं हो जा सकता है ? इस शङ्का का उत्तर यहां देते हैं :—

सब देहों में समानरूप से वर्त्तमान इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते। आग भी इसको नहीं जला सकती, जल भी इसे नहीं भिगो सकता और वायु इसे नहीं सुखा सकता। इसलिए इसके अविनाशित्व की हानि नहीं हो सकती। जिसमें अर्जुन के हृदय में शङ्का न रह जाय इसलिए भगवान् ने इस श्लोक में चार बार नकार का प्रयोग किया है॥२३॥

शस्त्रादि से आत्मा का नाश क्यों नहीं होता इसका कारण बताते हैं—यह आत्मा काटने योग्य नहीं है इसलिये शस्त्र इसको काट नहीं सकता। यह आत्मा जलाने योग्य नहीं है इसलिए आग इसे जला नहीं सकती। यह आत्मा भिगोने योग्य नहीं है इसलिए पानी इसे भिगो नहीं सकता। यह आत्मा सुखाने योग्य नहीं है इसलिये वायु इसको सुखा नहीं सकता।

आत्मा में ऊपर लिखित शस्त्रादिकों से नाशादि की अयोग्यता इसलिए है कि यह नित्य है और नित्य इसलिए है कि यह सर्वगत नाम व्यापन स्वभाव वाला है, इसलिए बहुत सूक्ष्म है और व्यापनशील अतिसूक्ष्म होने से शस्त्र, अग्नि, जल, वायु का इस पर प्रभाव नहीं पड़ता। अच्छेद्य और अदाह्य होने से आत्मा स्थाणु अर्थात् स्थिर स्वरूपवाला है, इसके स्वरूप में हेर फेर नहीं होता। स्थिर स्वभाववाला होने से जल इसको भिगोकर बदल नहीं सकता और यह हिलाया डुलाया भी नहीं जा सकता, अर्थात् अचल है। अचल होने से वायु इसको सुखा नहीं सकता क्योंकि यह अपने पूर्व रूप से चलायमान नहीं होता। भाव कि इन ऊपर कहे कारणों से आत्मा सनातन और नित्य स्वरूप है॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

किञ्चान्योऽप्यशोच्यत्वे हेतुरित्याह अव्यक्त इति । छेद्यादिद्रव्याणि यथा यैः प्रमाणैर्व्यज्यन्ते तथा तैः प्रमाणैरयमात्मा न व्यज्यतेऽतोऽव्यक्तः । तथा खेतरसमस्तवस्तुस्वरूपस्वभावोपम्येन चिन्तयितुमनर्हस्तोऽचिन्त्यः, अत एवाविकार्यः । दध्यादिवद्विकारशून्य उच्यते तस्मादेवमुक्तस्वरूपस्वभावमेनमात्मानम् विदित्वा त्वं शोचितुं नार्हसि ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो ! नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

एवं वैदिकमतानुकूल्येन भगवता प्रत्यगात्मनोऽशोच्यत्वमुपपाद्येदानीं देहातिरिक्तो देहतुल्यपरिमाणक आत्मा देहेन सह जायते म्रियते चेति दिगम्बरमतांगीकारेऽपि तस्याशोच्यतोच्यते—अथ चेति । अथेति पक्षान्तरे मदुक्तमतेतरमतान्युगमपक्षेऽपि नित्यजातं नित्यं वा मृतमेनमात्मानं त्वं मन्यसे तथापि हे महाबाहो ! नैवं शोचितुमर्हसि ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

कुतस्तत्राह—जातस्येति । उत्पन्नस्य विनाशोऽवश्यम्भावी तच्छरीरारम्भकर्मणां नियतकालस्थायित्वनियमात् । मृतस्य च पूर्वदेहकृतस्योत्तरदेहसंबंधहेतुकर्मणो विद्यमानत्वाज्जन्माप्यवर्जनीयं

आत्मा अशोच्य है इसमें और कारण बतलाते हैं। आत्मा अव्यक्त है अर्थात् जिन प्रमाणों द्वारा काटी और जलाई जानेवाली वस्तु प्रकट की जाती है, उन प्रमाणों द्वारा आत्मा प्रकट नहीं किया जा सकता इससे अव्यक्त कहा जाता है। आत्मा अचिन्त्य है अर्थात् उससे पृथक् वस्तु द्वारा उसके स्वरूप और स्वभाव की उपमा देकर हम लोग उसको नहीं समझ सकते। आत्मा इसलिए सर्वथा विकारहीन है। दूध का विकार जैसे दही हो जाता है, वैसे आत्मा का किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। इन कारणों से आत्मा को पीछे कहे हुए स्वरूप और स्वभाववाला जानकर, हे अर्जुन ! तुमको उसके लिए शोक नहीं करना चाहिए ॥२५॥

वैदिकमतानुकूल आत्मा शोच करने योग्य नहीं है, यह प्रतिपादन करके अब भगवान यह कहते हैं कि दिगम्बर मत अङ्गीकार करने पर भी, (जिस मत में आत्मा देह से पृथक् होने पर भी देह के समान परिणामवाला है और देह के साथ ही नित्य जन्मता और मरता है,) आत्मा शोच करने लायक नहीं है। हे अर्जुन ! पक्षान्तर में यदि मेरे मत से दूसरे मत को भी स्वीकार कर आत्मा को नित्य जन्मने और मरनेवाला मानो तब भी आत्मा के लिए तुमको शोच करना योग्य नहीं है ॥२६॥

जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा क्योंकि ऐसा नियम है कि शरीर को आरम्भ करनेवाले प्रारब्धादि कर्म नियत ही काल तक अर्थात् उनके भोग के समय तक ही स्थित रहते हैं।

हेतुसत्वे कार्योत्पत्तेः सम्भवात् । यस्मादेवं तस्मादपरिहार्येऽर्थे तत्तत्कर्माधीनावर्जनीयजन्ममरणपदार्थे त्वं शोचितुं नार्हसि ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

देहवियोगयोगयोरवर्जनीयत्वेऽपि अस्मदनुभूतभीष्मादिदेहेषु नश्यत्सु एतान्कथं पुनर्द्रक्ष्यामः, क्व गमिष्यन्तीति शोककारणमस्तीत्याह—अव्यक्तादीनि इति । अव्यक्तं त्रिगुणात्मकं प्रधानं मायादिरुत्पत्तेः पूर्वं स्वरूपं येषां तान्यव्यक्तादीनि भूतानि चेतनाधेयभूतशरीराणि सद्रूपकारणद्रव्यात्मना स्थितान्यपि अतिसूक्ष्मत्वादुपलब्धुमयोग्यानि, न तु तार्किकाभिमतप्रागभावरूपाणि ततो व्यक्तमभिव्यक्तमवस्थान्तरापत्तिलक्षणं जन्मैव मध्ये येषां तथा तानि । सदेव कारणद्रव्यमवस्थान्तरापत्त्या कार्यव्यक्तादिशब्दाभिधेयं प्रत्यक्ष शास्त्राभ्यां गृह्यते । अतो मध्येऽवस्थान्तरापन्नान्यपि कारणाभिन्नान्येव । 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, भावे चोपलब्धेः, सत्त्वाच्चावरस्ये'त्यादिसूत्रेभ्यश्च । ननु 'असदेवेदमग्र आसीत् ततः सदजायते'ति श्रुतेः कार्यस्योत्पत्तेरसत्पूर्वकत्वोक्तेस्तदनन्यत्वे कथमदेवेदं जगदिति चेन्न, एतच्छ्रुतिस्थासच्छब्दार्थस्य सूत्रकारेणैव निर्णीतत्वात् 'असद्व्यपदेशादिति चेन्न,

---

और जो मर गया उसका भी जन्म अनिवार्य ही है क्योंकि पूर्व देह से कृत कर्म उत्तर देह से सम्बन्ध करानेवाले होते हैं, कारण कि हेतु के रहने पर उसके कार्य की उत्पत्ति होती ही है। इस लिए यदि कर्म के अधीन होने से जन्म और मरण ये दोनों अनिवार्य (कभी नहीं मिटनेवाले) हैं तो उसके लिए शोच नहीं करना चाहिए ॥२७॥

देह का योग और वियोग अनिवार्य होने पर भी हम लोगों से अनुभूत भीष्म आदि के ये शरीर नष्ट हो जाएँगे और उनको हम फिर से देख नहीं सकेंगे। वे लापता हो जाएँगे। इन सबका दुःख तो अवश्य होगा ही। इसी का उत्तर यहाँ देते हैं—

भीष्मादि के चेतन का आधेय शरीर इस जन्म के पूर्व अव्यक्त था अर्थात् सत् रूप कारण द्रव्य में स्थित भी इतना सूक्ष्म था कि उसकी उपलब्धि या प्राप्ति नहीं हो सकती थी। यह बात नहीं थी कि वह था ही नहीं, जैसा कि तार्किकों का मत है। वह था जरूर, पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अपने सत् रूप कारण (प्रकृति) में स्थित था। फिर यह शरीर बीच में जन्म होने पर व्यक्त अर्थात् प्रकट हुआ। अवस्थान्तर का प्राप्त होना (सूक्ष्म से स्थूल होना) ही उसका जन्म या प्रकट होना है। कारण द्रव्य जो सत्य है उसी का अवस्थान्तर होने से कार्य ऐसा नाम पड़ जाता है अर्थात् कार्य और कारण में अभिन्नता है। इसमें शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों भाँति के प्रमाण हैं। श्रुति कहती है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे शिष्य ! इस सृष्टि से आगे सत् ही था। फिर व्यास के सूत्र हैं—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, भावे चोपलब्धेः, सत्त्वाच्चावरस्य।" (इन सभी का अर्थ श्री श्रीनिवासाचार्यकृत वेदान्त कौस्तुभ भाष्य में देखिए।) इनका भावार्थ यह है कि कार्य कारण में सदा अनन्यत्व है। कारण

धर्मान्तरेण वाक्य शेषात्, पटवच्चे'ति सूत्राभ्याम्। अन्यथा तत्रैव वाक्यशेषे 'कथमसतः सज्जायेते'ति श्रुतिविरोधात्। असत उत्पत्त्यंगीकारे तिलेभ्य इव सिकताभ्योऽपि तैलोत्पत्ति स्यान्न च सा दृष्टा श्रुता वा। तस्मात्सत एव सूक्ष्मद्रव्यस्य स्थूलावस्थापत्तिः कार्यत्वेनाभिधीयते इति दिक्। यदुपादानकं वस्तु तस्य तत्रैव लयो नान्यत्रेत्याह—अव्यक्तनिधनान्येवेति। अव्यक्ते प्रधाने एव निधनं प्राणवियोगानन्तरावस्थानम् येषां तानि घटकुण्डलादेर्मृत्सुवर्णादिस्वरूपापत्तिवत्। तत्रैवम्भूतेषु देहेषु नश्यत्सु का परिदेवना कः शोकनिमित्तो विलापः। बुद्धिमतो न युज्यत इत्यर्थः।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

स्यादेतद्देहानामचित्प्रधानपरिणामत्वादन्ते तत्रैव लयसम्भवान्न पुनस्तद्दर्शनादीति, आत्मा स्वपरिणामिस्वभावतया नित्यो ध्रुवश्चोक्तस्ततो देहवैलक्षण्येन दर्शनादियोग्यो भवेदित्याकांक्षायां दुर्बोध

से ही कार्य की प्राप्ति होती है और कारण में कार्य सूक्ष्मरूप से रहता है अतः कार्य भी सत् है। पर इसमें शङ्का यह हो सकती है कि "असदेवेदमग्र आसीत्ततःसदजायत" अर्थात् प्रारम्भ में यह असत् ही था उसी से सत् की उत्पत्ति हुई और जब कारण ही असत् ठहरा और कार्य कारण में अनन्यत्व सम्बन्ध है तो यह जगत् भी असत् ही है। पर ऐसी शंका करना भूल है, क्योंकि इस श्रुति में जो असत् शब्द व्यवहार हुआ है उसके अर्थ का निर्णय स्वयं सूत्रकार ने ही कर दिया है। वे कहते हैं—"असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्, पटवच्च" अर्थात् ऊपर उल्लेखित श्रुति से यह नहीं समझना चाहिए कि कारण असत् है किन्तु इस असत् कहनेवाली श्रुति में केवल धर्मान्तर कहा गया है। नहीं तो वहाँ पर ही वाक्य शेष में कहा है कि "कथमसतः सज्जायेत" अर्थात् असत् से सत् कैसे पैदा हो सकता है? फिर भी यदि असत् से सत् का होना माना जाय तो तिल से तेल निकालने की क्या आवश्यकता है, बालू ही से तेल और जल मथकर घी निकाल लेना चाहिए। किन्तु यह कहीं देखा सुना नहीं जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ। इन सबसे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि सूक्ष्मरूप से जो द्रव्य कारण में स्थित है उसी का स्थूल होकर दृष्टिगोचर होने को कार्य कहते हैं।

जो वस्तु जहाँ से निकलती है उसका लय भी वहीं होता है इसलिए कहते हैं कि इस शरीर का अन्त अव्यक्त अर्थात् प्रधान में ही होता है। जैसे घड़ा फूटने पर मिट्टी में मिल जाता है और कुण्डल टूटने पर स्वर्ण ही हो जाता है, वैसे ही अव्यक्त माया व प्रधान से निकला हुआ शरीर फिर उसी में लीन हो जाता है। तब ऐसे शरीर के नाश के लिए शोक करना बुद्धिमानों का काम नहीं है ॥२८॥

शरीर मायापरिणामी होने के कारण माया में ही उसका लय हो जाता है। इसलिए मृत्यु के बाद उसका देखा जाना असम्भव है। पर आत्मा देह से विलक्षण है और परिणामी स्वभाववाला नहीं होने से नित्य और ध्रुव है इसलिये उसका देखा जाना सम्भव होना चाहिए। इसका उत्तर यहाँ देते हैं।

आत्मेत्याह—आश्चर्यवदिति। सहस्रेषु मनुष्येषु कश्चिद्भगवदाराधनलब्धतत्प्रसादनिवृत्तदेहाद्यभिनिवेश एनं देहिनं पश्यति, शास्त्रसंस्कृतबुद्धावनुभवति। कथमाश्चर्यवत् पूर्वानुभूतसर्ववस्तुविजातीयत्वाददृष्टमिव, न तु लौकिकवस्तुसाधारणतया न केवलमनुभवितुस्तदाश्चर्यवत्त्वमपि तु तद्वक्तुरपीत्याह-आश्चर्यवदिति। तथैव कश्चिदेवान्यस्तदुपदेष्टा गुरुरपि शिष्यायाश्चर्यवद्वदति, न तु केनचिद्दृष्टवस्तूपमातुं शक्नोति। तथैवान्य आश्चर्यवदेनं शृणोति। कश्चिदेनं श्रुत्वाऽपि न च नैव वेद। तस्माद्द्रष्टा श्रोता वक्ता चास्य दुर्लभ इति भावः।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत!
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

एनमित्येकवचनेनात्मैक्यभ्रमं मा कार्षीरिति वदन्नात्मोपदेशमुपसंहरति-देहीति। हे भारत! सर्वस्य देवतिर्यग् कीटादिप्राणिमात्रस्य देहे वध्यमानेऽप्ययमुक्तविधो देही कर्मफलभोगायतनभूतं देहं प्रति भिन्नस्वरूपेणाश्रयीभूतोऽवध्यः, हन्तुमशक्यः। यस्मादेवं तस्मात्सर्वाणि भूतानि आत्माश्रितशरीराणि त्वं शोचितुं नार्हसि।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई एक जिसका देहादि में अभिनिवेश भगवदाराधना से प्राप्त भगवत्-कृपा से छूट गया है, आत्मा को देखता है, अर्थात् शास्त्र से पवित्र की हुई बुद्धि से उसका अनुभव करता है, यह मनुष्य आत्मा को आश्चर्य पदार्थ के ऐसा देखता है अर्थात् जितनी भी वस्तुएँ उसने पूर्व में देखी या अनुभव की हैं उन सबसे आत्मा विलक्षण जान पड़ता है। केवल अनुभव ही करनेवाला आत्मा को आश्चर्य के ऐसा देखता है सो नहीं। आत्मस्वरूप का कहनेवाला या उसको अपने शिष्य को शिक्षा देनेवाला गुरु भी उसको आश्चर्य पदार्थ के ऐसा ही कहता है अर्थात् किसी दृष्ट या अनुभूत पदार्थ से उपमा देकर उसका वर्णन नहीं कर सकता। इसी प्रकार श्रोता भी आश्चर्य पदार्थ के ही ऐसा सुनता है अर्थात् आत्मा के विषय में सुननेवालों को भी यही मालुम होता है कि ऐसी बात को कभी नहीं सुना। कोई आत्मा के विषय में सुनकर भी इसको नहीं जानता। कहने का तात्पर्य यह कि आत्म-स्वरूप के देखने, कहने और सुननेवाले बहुत दुर्लभ हैं ॥२९॥

पूर्व श्लोक में (एनं) शब्द आत्मा के लिए व्यवहृत हुआ है। यह एक वचन है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि आत्मा एक ही है। उसी भ्रम को हटाते हुए आत्मा के विषय में भगवान् उपदेश करते हैं।

हे अर्जुन! सब (देव, तिर्यक्, कीट इत्यादि) के नाश होने योग्य शरीर में आत्मा नित्य और अवध्य है, क्योंकि कर्मफल भोग के स्थानस्वरूप शरीर से यह भिन्न है। इसलिए कोई इसको मार नहीं सकता। इससे आत्माश्रित शरीरों के लिए दुःख करना तुमको योग्य नहीं है ॥३०॥

एतावताऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपाद्य 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' इति यदर्जुनेनोक्तं तस्योत्तरमाह—स्वधर्ममिति। न केवलमात्मतत्त्वमेवावेक्ष्य किन्तु स्वधर्म-क्षत्रियधर्ममपि चावेक्ष्य शास्त्रेण निश्चित्य त्वं विकम्पितुं विचलितुं धर्मादधर्मभ्रान्त्या निवर्त्तितुं नार्हसि। कोऽसौ धर्म इत्यपेक्षायामाह—धर्म्यादिति। धर्मादनपेतं धर्म्यं तस्मात् युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयो न विद्यते। शास्त्रे इति शेषः। तथोक्तं याज्ञवल्क्येन—'पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वनिवर्त्तिनामिति' एतेन 'हन्ष्वेमं स्वजनं कृष्ण! युयुत्सुं समुपस्थितमि'त्यारभ्य 'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते' इति मध्ये 'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन' इत्यन्तं स्वधर्मप्रतिकूलं ते वचनमनुचितमिति भावः।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

स्वश्रेयो महता यत्नेन प्राप्यते, इदं तु तवायत्नतः प्राप्तमित्याह-यदृच्छयेति यदृच्छया स्वप्रयत्नं विनैवोपपन्नमुपस्थितमीदृशं पौरुषविशेषविशिष्टवीरपुरुषप्रतियोद्बृनिष्ठमैहिकामुष्मिककीर्तिलाभकरं युद्धं सुखिनः सुखार्हाः क्षत्रियाः लभन्ते। ननु युद्धे मृतश्चेत् तस्य किं सुखं स्यादित्यत्राह-स्वर्गद्वारमिति। अप्रतिरुद्धं स्वर्गस्य द्वारभूतं, तत्—

य आहवेषु युद्धयन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
आकृष्टैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥
—इति वचनात्।

आत्मा शोक करने योग्य नहीं है, यह प्रतिपादन कर अर्जुन ने जो पूछा था कि जो हमारे लिए सर्व श्रेय हो उसे निश्चय करके कहिए, उसका उत्तर भगवान देते हैं—

आत्मतत्त्व के विचार से ही नहीं, बल्कि धर्म के विचार से भी अर्थात् शास्त्रोक्त अपने (क्षत्रिय) धर्म का भी विचार कर तुमको धर्म में अधर्म की भ्रान्ति मान उससे हटना नहीं चाहिए। क्षत्रियों के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर कल्याणकारी वस्तु शास्त्र में नहीं है। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—"पदानि भग्नेष्वनिवर्त्तिनाम्" अर्थात् लड़ाई से जो विमुख नहीं होते हैं, उनका प्रत्येक पद यज्ञ के समान पवित्र है। इसलिए अपने धर्म के प्रतिकूल "दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण" से आरम्भ कर "न च शक्नोम्यवस्थातुं" तक, जो तुम पीछे वाक्य बोले हो, वह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥३१॥

अपने कल्याण को ढूंढ़ने में लोग कितना परिश्रम करते हैं और तुम्हारे पास तुम्हारा कल्याण आप से आप आ गया है। इसी को दिखाते हैं—

हे पार्थ बिना प्रयत्न के अपनी इच्छा से आया हुआ ऐसा युद्ध, जिसमें तुम बड़े पराक्रमशाली वीरों से लड़कर अपनी कीर्ति इस लोक तथा परलोक में फैला सकते हो, भाग्यवान क्षत्रियों को ही मिलता है। यदि यह पूछो कि हम लड़ाई में मारे गए तो कौन फल होगा? मारे जाओगे तो तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाएगा क्योंकि शास्त्र का यह वचन है कि—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदुक्तं 'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते । कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन । इति तस्योत्तरमाह—अथ चेदिति । अथ पक्षान्तरे ऐहिकामुष्मिकसुखलाभानपेक्षया चेद्यदि धर्म्यं धर्मादनपेतं 'निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेदि'ति शास्त्रविहितमिमं संग्रामं त्वं न करिष्यसि ततः संग्रामाकरणात्स्वधर्मं स्वधर्मजन्यं निरतिशयसुखं देवसममहावीरपुरुषविजयागामिनीं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

संग्रामत्यागे न केवलं भाविस्वधर्मकीर्त्तिहानिमात्रमपि तु महान्दोषः स्यादित्याह—अकीर्तिमिति । क्षत्रियहर्षकरे संग्रामे प्राप्ते पाण्डुपुत्रो गाण्डीवधन्वार्जुनः कातरो भूत्वा पलायित इत्यव्ययां बहुजनदृष्टश्रुतपरम्परया सर्वदेशव्यापिनीं पुनरविनाशिनीं तेऽकीर्त्तिं न केवलं क्षत्रियाः कथयिष्यन्ति किन्तु

य आहवेषु युद्धयन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥

अर्थात् जो भूमि के लिए बिना पीठ दिखाए हुए सामने लड़ते हैं और शस्त्रों से मारे जाते हैं वे योगियों के समान स्वर्ग में चले जाते हैं ॥३२॥

पीछे अर्जुन ने जो कहा कि तीनों लोक के राज्य के लिए और इनसे मारे जाने पर भी मैं इन लोगों को नहीं मारूंगा पृथ्वी के राज्य के लिए मारना तो दूर की बात है। और मैं दादा और गुरु को बाणों से कैसे मारूंगा, उसका उत्तर भगवान देते हैं—

यदि सांसारिक और पारलौकिक लाभों की उपेक्षा कर तुम शास्त्रविहित धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करोगे तो अति सुख देनेवाले शास्त्र में कहे हुए—"निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्" अर्थात् शत्रु की सेना को जीतकर पृथ्वी को धर्म से पाले, इस अपने क्षत्रियधर्म और स्वधर्मजन्य श्रेष्ठ सुख एवं देव सरीखे वीरों की जय से प्राप्त कीर्त्ति को नाशकर पाप कमाओगे ॥३३॥

युद्ध से हटने से केवल तुम्हारी भविष्यत् में ही धर्म और कीर्त्ति की हानि होगी सो नहीं । इस समय भी तुम्हारा बड़ा अपकार होगा और तुमको बड़ा दोष होगा । यही कहते हैं—

क्षत्रिय को आनन्द देनेवाले युद्ध को प्राप्त कर वीर पाण्डु का पुत्र, गाण्डीव धनुष का धारण करनेवाला अर्जुन कातर होकर और डरकर रणक्षेत्र से भाग गया, ऐसी तुम्हारी अक्षय अकीर्त्ति सदा के लिए सारे संसार में फैल जाएगी । केवल क्षत्रिय लोग ही नहीं, किन्तु देव, ऋषि, क्षत्रिय, वैश्य,

देवर्षिक्षत्रियवणिग्शूद्रान्तान्ति सर्वाणि भूतानि कथयिष्यन्ति । ननु युद्धे मरणसन्देहान्मरणादकीर्त्तिर्नाधिकेत्यतः सा सोढव्या, न तु मरणोपायं कुर्यात् । तथोक्तं शान्तिपर्वणि—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वापृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न तु युद्धेत् कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेदि'ति ॥

तस्मान्मरणादकीर्त्तिः किमधिकं दुःखमित्यत आह—सम्भावितस्येति । खाण्डवे इन्द्रेणापि अनिवार्यो वासुदेवसखाऽग्नितर्पणाद्यतुल्यपराक्रमैरन्यदुर्लभैर्गुणैर्बहुमतस्याकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते । अधिका भवति ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

ननु नाहं युद्धात्कातरतया भीतो निवर्त्ते । किन्तु बन्धुस्नेहकारुण्यादतोऽकीर्तिनिमित्ताभावात्कथं मेऽकीर्तिं कथयिष्यन्तीति चेत्तत्राह-भयादिति । युद्धोद्योगात्पूर्वमेव नाहं युद्धं करिष्यामीति व्यवसाये-

---

शूद्र इत्यादि सभी तुम्हारी अकीर्ति की बात कहेंगे । और यदि यह समझ बैठे हो कि युद्ध में मारे जाने से अकीर्त्ति अधिक दुःखद न होगी इसलिए उसी को सह लेंगे, मरने का उपाय क्यों करें । महाभारत के शान्तिपर्व में भी युद्ध के खण्डन में ऐसा लिखा है—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वापृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न तु युद्धेत् कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥

अर्थात् साम, दाम, भेद से या इनमें से कोई एक से शत्रु को जीतने की कोशिश करे । लड़ने-वालों का जय पराजय दोनों अनित्य हैं, इसलिए युद्ध को छोड़ देना चाहिए । पर ऐसा समझना तुम्हारी भूल है क्योंकि सम्मानित पुरुषों की अकीर्त्ति मरने से भी अधिकतर दुःखद है और तुम जो खाण्डव वन के दहन में इन्द्र से भी अनिवार्य और अग्नि को तप्त करनेवाले हो, हमारे सखा हो, और और भी अतुल पराक्रम इत्यादि दुर्लभ गुणों से युक्त हो, अतः सभी लोग तुमको अति सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और इसलिए तुम्हारी अकीर्त्ति मरने से भी अधिक दुःखदायी होगी ॥३४॥

यदि अर्जुन ऐसा उत्तर दे कि मैं भय से तो कातर होकर लड़ाई से मुंह नहीं मोड़ता हूँ । किन्तु बन्धु-स्नेह के वश करुणा उत्पन्न होने से नहीं लड़ता हूँ । इसमें अकीर्ति होने का कोई कारण नहीं है, तो भगवान कहते हैं—

नानुयुक्तश्चेत्तर्ह्यवं सर्वे मन्येरन्, पूर्वन्तु गरदाग्निदानकपटद्यूतसर्वस्वाहरणवननिर्यापणादिबह्वपकारिधार्तराष्ट्रवधेच्छुः परशुरामाद्यजेयभीष्मादिभयात्तदधिकविद्यालाभाय तपःकरणगिरीशतोषणस्वर्गप्रयाणाद्यद्भुतकर्म कृत्वा सर्वान्वधिष्यामीति प्रतिज्ञापूर्वकं युद्धार्थमागत्य बहुशस्त्रास्त्रशौर्यतेजःपराक्रमैर्यैषां त्वं बहुमतोऽर्जुनेन युद्धं भविष्यतीति हर्षेणागतास्ते महारथाः इदानीमुभयोः सेनयोर्मध्ये रथं मे स्थापयेति मां प्रेर्य रथे स्थित्वा सम्प्रतिन्यस्तशस्त्रमस्तुष्याप्तावं त्वां दृष्ट्वा भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते। नहि भयं विना क्षत्रियाणां युद्धादुपरामः संभवतीति भावः। तस्मादयुद्धादुपरतो भीष्मद्रोणकर्णादिभ्यो लाघवं यास्यसि।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

न केवलं लाघवमात्रमपि त्वन्यदपि दुःखमित्याह—अवाच्येति। दुर्बलहृदयः पार्थोऽस्मच्छरैः कथमयं योद्धुं शक्नुयात्। भीष्मादिभ्योऽन्यत्रैव यस्य सामर्थ्यमतोऽस्मत्सन्निधौ स्थातुमपि न समर्थ इति तव सामर्थ्यं निन्दन्तस्तवाहिताः कर्णदुर्योधनादयो राज्ञामग्रे बहूनवाच्यवादान् वदिष्यन्ति।

हे अर्जुन! चाहे तुम युद्ध से हटो किसी कारण से, किन्तु महारथ लोग यही समझेंगे कि हम लोगों के भय से ही अर्जुन भाग गया, क्योंकि यदि तुम युद्ध के उद्योग करने के पूर्व ही निश्चयपूर्वक कह देते कि मैं नहीं लड़ूंगा, तब जो तुम कहते या समझते हो वे लोग सभी मान लेते, पर अब तो वह रही नहीं। अग्नि से तुमको जलाने के इच्छुक, कपटजुए से तुम्हारे सर्वस्व के अपहरणकारी तुमको वन में निर्वासन कर और भी तुम्हारा भाँति-भाँति से अपकार करनेवाले धृतराष्ट्रपुत्रों के वध की इच्छा से, परशुराम इत्यादि से अजेय भीष्मादि के भय से उनसे अधिक विद्या सीखने के निमित्त तुमने तप किया, शिव को प्रसन्न किया, स्वर्ग में गए और ऐसे ही ऐसे अद्भुत कर्म किए, फिर सबको मैं मारूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर लड़ाई में आए, बहुत से अस्त्र-शस्त्र, शूरता, तेज और पराक्रमों के कारण जो तुमको सम्मान की नजर से देखते हैं, वे महारथ तुम ही से युद्ध करने का आनन्द लूटने के लिए यहाँ आए; तुमने मुझसे अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करवाया, और यह सब कर-धर के अब जब शस्त्र फेंक आँख में आँसू ला रहे हो तो महारथ लोग क्या समझेंगे? वे जरूर यही समझेंगे कि हम लोगों के डर से अर्जुन की यह दशा हो रही है। क्योंकि भय के बिना और किसी कारण से क्षत्रिय लड़ाई से हट नहीं सकता, इस प्रकार युद्ध से हटने पर भीष्म कर्णादिकों की दृष्टि में तुम तुच्छ हो जाओगे ॥३५॥

केवल लघुता को प्राप्त होगे यही नहीं बल्कि और भी दुःख होगा, सुनो! दुर्बल हृदय अर्जुन हम लोगों के बाणों के सामने कैसे ठहर सकता? उसकी सामर्थ्य भीष्म आदि से दूसरी ही जगह चल सकती है, इसलिए हम लोगों के सामने से भाग गया। इस प्रकार से तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए दुर्योधन, कर्ण इत्यादि जो तुम्हारे शत्रु हैं, वे और और राजाओं के सामने तुमको बहुत गालियाँ सुनावेंगे। इससे बढ़कर और दुःख क्या होगा, अर्थात् कुछ नहीं ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अतः सामर्थ्यवतो वीरस्योभयलोकरक्षणाय परैर्युद्धकरणमेव श्रेय इत्याह—हत इति । धर्मयुद्धे शत्रुभिर्हतश्चेत्स्वर्गं प्राप्स्यसि तान् जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे, एतेन 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुरि'ति संशयो निरस्तः । यत उभयथाऽपि लाभ एव । तस्माद्युद्धाय युद्धं कर्तुं कृतनिश्चयः सन्नुत्तिष्ठ ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

यदुक्तं 'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिन'इति तस्योत्तरमाह—सुखदुःखेति । यद्यपि स्वधर्मभूतयुद्धे शस्त्रपातादिनिमित्ते सुखदुःखे अवर्जनीये तथापि देहस्यैव ते, नोक्तस्वभावस्य देहविलक्षणस्यात्मन इति मत्वा, ते समे कृत्वा तद्धेतुभूतौ लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा स्वर्गादिफलेऽभिसन्धिरहितः सन् युद्धाय युज्यस्व । केवलं स्वधर्मानुष्ठानबुद्धया युद्धमारभस्व । एवं विवेकबुद्धया एतान्सर्वान्हत्वा पापं नावाप्स्यसि, प्रत्युत स्वधर्माकरणजन्यपापात्प्रमोक्ष्यसे ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

सामर्थ्यवान् वीरों को दोनों लोकों की रक्षा के लिए वैरियों के साथ युद्ध करना ही भला है। इसी को स्पष्ट समझाते हैं। धर्मयुद्ध में शत्रुओं से हत होओगे तो स्वर्ग पाओगे और उनको जीतकर पृथ्वी को भोगोगे। इससे भगवान् ने अर्जुन का (न चैतद्विद्मः) जो सन्देह था कि "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" इत्यादि, अर्थात् नहीं जानता कि मैं उनको जीतूंगा कि वे मुझको जीतेंगे और इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है—"निरस्त किया"। इस प्रकार दोनों भाँति लाभ ही है। इसलिए लड़ाई करने के लिए पक्का निश्चय करके उठो ॥३७॥

अर्जुन ने जो पीछे कहा है कि—"पापमेवाश्रयेदस्मान्" आदि अर्थात् हमें इन आततायियों को मारकर पाप ही होगा उसका उत्तर भगवान देते हैं—यद्यपि लड़ाई में शस्त्रादि की चोट से दुःख निश्चय है, तथापि यह समझकर कि यह सुख दुःख शरीर को ही होगा, देह से विलक्षण आत्मा को नहीं। सुख दुःख दोनों को बराबर समझो और उनके हेतुभूत लाभ, हानि, जय, पराजय को भी बराबर ही समझ और उनके स्वर्गादि फलों की आकांक्षा से रहित हो, और युद्ध के लिए सचेत हो। अर्थात् अपने धर्म के अनुष्ठान की बुद्धि से लड़ाई आरम्भ करो। इस प्रकार विवेक रखते हुए इन सबको मारकर भी तुमको कोई पाप नहीं होगा, वरन् अपना धर्म नहीं पालने के कारण जो पाप होगा उससे छूटोगे ॥३८॥

एवं देहादिविलक्षणात्मतत्त्वयाथात्म्यज्ञानमुपदिश्य तदर्जुनस्य हृच्चलद्भूतं ज्ञात्वा नहि साधनमृते तत्त्वज्ञानं स्थिरीभवतीति दर्शयन्साधनानुष्ठानदार्ढ्यायोक्तमनुवदन् तत्साधनभूतं कर्मयोगं वक्तुं प्रस्तौति—एषेति। एषा 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमि'त्यारभ्य 'तस्मात्सर्वाणि भूतानि'इत्यन्तैः श्लोकैः सांख्ये सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते तत्त्वमनयेति संख्याऽध्यात्म शास्त्रजा बुद्धिस्तयाऽवधारणीयं तत्त्वं सांख्यं तस्मिन्विषये बुद्धिरभिहिता निरूपिता। तथापि (तव) तत्साधनानुष्ठानाभावात्त्वय्यस्थिरेव लक्ष्यतेऽतो योगे निःसंगतया भगवदाराधनात्मके कर्मयोगे तु तद्भिन्नां तत्साधनभूतामिमां सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यनन्तरमेव संक्षेपेणोक्तामग्रे विस्तरेण वक्ष्यमाणां शृणु। हे पार्थ! शुद्धान्तःकरणायाः पृथायाः पुत्र! यया बुद्ध्या युक्तस्त्वं कर्मबन्धं कर्मणा बन्धभूतं संसारं प्रहास्यसि प्रकर्षेण त्यक्ष्यसि।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

ननु 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुत्या कर्मणा कृषिवत् क्षयिष्णुत्वान्निधानात्किञ्चिदंगवैगुण्ये प्रत्यवायसम्भवाच्च कुतः कर्मयोगस्य कर्मबन्धप्रहणन-शक्तिरिति चेत्तत्राह—नेहेति। इह भगवदाराधनात्मके निष्कामकर्मणि अभिक्रमः प्रारम्भस्तस्य नाशो नास्ति। कृष्यादेरिव विघ्नबाहुल्येन नैष्फल्यं नास्ति इत्यर्थः। आरब्धस्य च विच्छेदेऽपि प्रत्यवायो न

भगवान् ने अर्जुन को देह से पृथक आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान का उपदेश दिया; पर यह देखकर कि अर्जुन के हृदय में वह ज्ञान बैठा नहीं और यह समझ कि साधन के बिना तत्त्वज्ञान स्थिर नहीं हो सकता, अब आत्मतत्त्वज्ञान को दृढ़ करने के लिए उसके साधनभूत कर्मयोग को कहते हैं। "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" से लेकर "तस्मात् सर्वाणि भूतानि" तक के श्लोकों से मैंने तुम्हारी बुद्धि सांख्य (अध्यात्म) योग से लगायी अर्थात् इन श्लोकों से मैंने तुमको सांख्ययोग (आत्मतत्त्व) का उपदेश दिया, उस पर भी साधनानुष्ठान के बिना वह तुम्हारे मन में बैठा हुआ नहीं दीखता। इसलिए भगवदाराधनरूप निष्काम कर्मयोग जो उसका साधन है, वह मैं तुमसे कहता हूँ। पीछे के श्लोक में संक्षेप से मैंने इसको कह दिया है। अब सविस्तार सुनो। हे शुद्धान्तःकरणवाली पृथा के पुत्र! इस साधनरूप कर्मयोग की बुद्धि से युक्त तुम कर्म के बन्धनों से पूर्णतया मुक्त हो जाओगे ॥३९॥

श्रुति में यह बात लिखी हुई है कि "यथेह कर्मचितो लोकःक्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" अर्थात् जैसे यहाँ कर्म से प्राप्त किए हुए लोक (फल) का क्षय हो जाता है, इसी प्रकार यागादि पुण्य कर्मों से प्राप्त स्वर्गादि लोक भी नाश हो जाते हैं। इससे श्रुति, कर्म को खेती के जैसा नाशवान् कहती है और सकामकर्म में मन्त्रादिकों के अन्यथा उच्चारणादि कुछ भी अंगहानि होने से प्रत्यवाय का भय बना रहता है। यदि ऐसी बात है तो कर्मयोग को कर्मबन्धन से छुड़ाने की शक्ति कहाँ से हो सकती? इस शंका का उत्तर यहाँ देते हैं।

विद्यते। भगवदाज्ञापालनबुद्धयाऽनुष्ठिते प्रत्यवायासम्भवात्। अतोऽस्य निष्कामकर्मयोगस्य धर्मस्य स्वल्पमप्यनुष्ठानं महतो भयात्संसारात्त्रायते रक्षति।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

सकामकर्मविषयाया बुद्धेर्निष्कामभगवदाराधनात्मककर्मयोगविषयबुद्धेः सुखहेतुत्वेन महान्विशेष इत्याह—व्यवसायेति। इह कर्मानुष्ठातरि जीवलोके व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका। भगवत्तोषणात्मकमेव कर्त्तव्यं नान्यत् तत्प्रसादेन सुखेनैव तरिष्यामो नान्याराधनेनेति। निश्चयो व्यवसायस्तदात्मिका बुद्धिः सर्वनियन्तृसर्वकर्मफलप्रदातृसर्वमुमुक्षुध्येयसर्वेश्वराराधनैकविषयत्वादेकफलकत्वाच्चैका, अतः सुखदा, सा च परमनिःश्रेयस्कामानां मुमुक्षूणामेवेति निश्चीयते। अव्यवसायिनामनिश्चिततत्त्वानां स्वर्गधनस्त्रीपुत्र-पश्वादिबहुकामानां तत्तत्कर्मफलसाधनकर्मनिष्ठानां बुद्धयः कर्मकाण्डे कामानां बहुभेदेन बहुशाखाः, तत्राप्यवान्तरानन्तप्रकारभेदादनन्ताश्च दुःखदाश्चेत्यनुभवगम्यम्।

भगवदाराधनरूप निष्काम कर्म के प्रारम्भ का नाश नहीं होता, जैसा कि कृषिकर्म में विघ्नों से होना सम्भव है। और भगवदाज्ञापालनरूप बुद्धि से कर्म किए जाने पर यदि आरम्भ किए हुए कर्म का विच्छेदन भी हो जाए तो उसमें प्रायश्चित् नहीं होता। कारण कि भगवदाज्ञापालन की बुद्धि से किए गए कर्म में प्रत्यवाय होना सम्भव नहीं। इसलिए इस निष्काम कर्म का थोड़ा भी अनुष्ठान संसाररूपी बड़े भारी भय से रक्षा करता है ॥४०॥

सकाम कर्मविषयक बुद्धि से निष्काम भगवद्आराधनात्मक कर्मयोगविषयक बुद्धि अधिक सुख देनेवाली है। इसी को कहते हैं—

हे अर्जुन! भगवान को प्रसन्न करनेवाले कर्म को ही करना चाहिए, और दूसरे कर्म को नहीं। भगवान की कृपा से हम सुख से संसार को तर जाएँगे, दूसरे देवताओं के आराधन से नहीं। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि एक है अर्थात् भ्रम में डालनेवाली नहीं है। सबके नियन्ता, सब फल के दाता होने के कारण सब मोक्षार्थियों को ध्यान करने योग्य और सबके आराध्य सर्वेश्वर भगवान ही इस व्यावसायात्मिका बुद्धि के एक विषय हैं और इसका फल भी एक मुक्ति ही है। अतएव यह बुद्धि सुख देनेवाली है और ऐसी बुद्धि परम कल्याण के चाहनेवालों को ही होती है। जिन लोगों की बुद्धि अव्यवसायी है, अर्थात् किसी एक वस्तु की निश्चयरूप से कामना करनेवाली नहीं है, स्वर्ग, धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बहुत सी कामनाओं से भ्रमित हो रही है, वे उन कामनाओं को प्राप्त करने के लिए बहुत से कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते हैं। अतएव ऐसी बुद्धि, कामनाओं के बहुत भेद से, बहुशाखावाली है, और उसमें बहुत प्रकार के अवान्तर भेद होने से अनन्त है। इसलिए यह दुःख देनेवाली है। यह बात अनुभव से जानी जा सकती है ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

ननु विधिवदधीतवेदानां तदर्थपरिशीलिनां पण्डितानामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवतीत्यपेक्षायां वेदशिरोभागमविदित्वा वेदतात्पर्याज्ञानादित्याह—यामिति त्रिभिः । यामिमां वक्ष्यमाणां पुष्पितां विपलतावदापातरमणीयां प्रकर्षेण वदन्ति तेऽविपश्चितो ज्ञानहीनाः न तु पण्डिताः । कुतो यतो वेदवादरताः वेदेषु ये फलार्थवादाः 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्यस्य याजिनः सुकृतं भवति, अपाम सोममभृता अभूम, यत्र नोष्णं न च शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातयः' इत्यादयस्तेषु रताः सक्ताः । सत्कृत्वलक्षणं नान्यदस्तीति वादिन इति । स्वर्गादिभोगादधिकं किञ्चित्फलं मोक्षसुखं नास्तीति वदनशीलाः ।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

एतत्कुतो यतः कामात्मानः । कामा विषयेन्द्रियजन्यसुखानि तेष्वेवात्मा मनो येषां ते तथा । अत एव स्वर्गपराः एतद्देहत्यागानन्तरं दिव्यविमानारोहणाप्सरोभोगाम्लानपारिजातपुष्पमालाविधारण-दिव्यचन्दनालेपामृतपानादिस्वर्गफलमेव परमपुरुषार्थं मन्यमानाः स्वर्गफलभोगावसाने इहलोके विद्या-धनाढ्यकुले जन्म तदनुगुणश्रेष्ठवर्णाश्रमनिबन्धनानि कर्माणि च पुनस्तज्जन्यं पूर्वोक्तं फलं तानि प्रकर्षेण

जिन्होंने वेद का विधिवत् अध्ययन किया है; और उनके अर्थों को भी विचारा है, ऐसे पण्डितों की बुद्धि व्यवसायात्मिका क्यों नहीं होती ? इसका कारण वेद के शिरोभाग उपनिषदों के ज्ञान के अभाव से वेद के तात्पर्य का ज्ञान न होना ही है । इस आशय को तीन श्लोक से कहते हैं—

जो लोग आगे कही जानेवाली, पुष्पित विपलता के समान ऊपर से देखने में सुन्दर पर भीतर से हलाहल भरी हुई वार्त्ता की प्रशंसा करते हैं, वे मूढ़ और ज्ञानहीन हैं, क्योंकि वे वेद के फलार्थवाद में रत हैं, अर्थात् वेद में जो सब फलार्थवाद के वचन हैं यथा—"अक्षय्यं ह वै चातुर्मासस्य याजिनः सुकृतं भवति, अपाम सोममभृता अभूम, यत्र नोष्णं न च शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातयः" अर्थात् चतुर्मास में जो यज्ञ करता है, उसको अक्षय पुण्य होता है । हम सोम पीकर अमर हो गए । जहाँ स्वर्ग में न गर्मी है न सर्दी, न दुःख है न शत्रु है । इन्हीं सकाम वेद के वचनों में उनको प्रेम है । और उसका प्रमाण यह है कि वे कहते हैं कि स्वर्गादि भोगों से अधिक और कोई दूसरा मोक्ष सुख नहीं है ॥४२॥

ऐसा क्यों अर्थात् ये लोग इस प्रकार के वेदवाद में रत क्यों हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

इन लोगों का आत्मा (मन) विषयेन्द्रियजन्य सुख के पीछे लालायित है, इसलिए वे स्वर्ग के इच्छुक हैं । इस देह को छोड़ने के बाद दिव्यविमान में चढ़कर अप्सराओं के भोगविलास का सुख भोगना, न सूखनेवाले पारिजात के पुष्पों की माला धारण करना, दिव्य चन्दनादि का लेपन, अमृत का पान इत्यादि जो स्वर्ग के सुख हैं उन्हीं को ये परम पुरुषार्थ मानते हैं । फिर स्वर्गफल के भोगों के अन्त हो जाने पर इस भूलोक में विद्या और धन से युक्त कुल में उत्पन्न होकर उस कुल के अनुकूल

घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा तां पुनर्भोगैश्वर्यगति प्रति क्रियाविशेषबहुलां पूर्वोक्तो भोग ऐश्वर्यं च क्वचिदिन्द्रेण देवाधिकारे गन्धर्वाप्सरोदेवविशेषं प्रत्याज्ञापनं तपोगति प्राप्ति प्रति साधनभूतायाः क्रियाया विशेषा बहुद्रव्याऽऽयाससाध्यचार्तुमास्ययज्ञोतिष्टोमदर्शपूर्णमासादयस्तैर्बहुलां विस्तृतां भोगैश्वर्य-प्राप्तिफलकातिविस्तृतक्रियाप्रतिपादिकामिति यावत् एतादृशीं वाचं प्रवदन्तीत्यनुषंगः ।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

तेषां भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां तया पुष्पितया वाचाऽपहृतं चेतो येषां परमार्थतत्त्वविचारानर्हं-चेतसामिति यावत् अतः उक्तप्रकाराव्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते, समाधीयते आत्मतत्त्व-मस्मिन्निति समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तस्मिन्मोक्षसाधनभूतभगवदाराधनात्मककर्मनिश्चयरूपा बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यते इत्यर्थः ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

ननु यदि स्वर्गादिकं फलं परमार्थरूपं न भवति चेत्तर्हि अपौरुषेयतया निर्दोषा वेदाः सर्वजनस्य हितार्थाविबोधने प्रवृत्ताः किमिति स्वर्गाद्युद्देशेन कर्माणि विदधतीति चेत्तत्राह—त्रैगुण्यविषया इति । त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तत्र भवास्तद्वृत्तिस्थाः पुरुषास्त्रैगुण्यशब्दवाच्याः । तत्र केचित्सत्त्वाधिकाः

वर्णाश्रम धर्म को करते हुए फिर धर्म के बल स्वर्ग को प्राप्त कर पुनः पुण्य भोग के बाद इस संसार में आते हैं। इस प्रकार घटीयन्त्र के जैसा वेदों के उक्त वचन अविच्छेदरूप से जन्म और कर्म के देनेवाले हैं। और फिर भोग और ऐश्वर्य पाने के लिए, यथा—कभी इन्द्र से देवता के अधिकारी बन गन्धर्व, अप्सरा तथा और देवों के ऊपर शासन करने का काम पाने के लिए, लाखों प्रकार के, बहुत द्रव्य और परिश्रम से साध्य, ज्योतिष्ठोम आदि यज्ञ के प्रतिपादक ऐसे ही वचनों की वे मूढ़ लोग, अर्थात् वेद के वास्तविक तात्पर्य को नहीं जाननेवाले प्रशंसा करते हैं ॥४३॥

भोग और ऐश्वर्य में आसक्त चित्तवाले और ऊपर कही हुई लुभानेवाली बातों से परमार्थ तत्त्व के विचार में अयोग्य बुद्धिवाले को व्यवसायात्मिका बुद्धि में चित्त की एकाग्रता नहीं होती है, अर्थात् भगवान की सेवा ही एकमात्र मोक्ष का साधन है ऐसी दृढ़ और निश्चयात्मिका बुद्धि उनमें नहीं उपजती ॥४४॥

यदि स्वर्गादिफल परमार्थरूप या परमश्रेय नहीं है तो ईश्वरोक्त होने से जो निर्दोष वेद हैं, और जो सब जीवों के कल्याण की शिक्षा देने में रत हैं, वे स्वर्गादि की प्राप्ति के उद्देश्य से काम्यकर्मों का विधान क्यों करते हैं ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गुण तीन प्रकार के होते हैं, यथा—सत्, रज और तम और इन्हीं के अनुसार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं, यथा—जिसमें सतोगुण की मात्रा अधिक रहै, वह सत्त्वगुणवाला हुआ, जिसमें

केचिद्रजोऽधिकाः, केचित्तमोऽधिका इति त्रिविधा जना भवन्ति, तद्विषया वेदा उपनिषद्भ्यतिरिक्ताः काम्यफलाद्यभिधायकाः यो यत्कामस्तस्य तदेव विहितं, तदनुसारेण तत्तत्फलस्तुतितत्प्रकारास्तत्साधनानि कर्माणि बोधयन्ति यदि तेषां तत्तद्गुणानुसारेण तत्तद्धितसाधनं वेदा न बोधयेयुस्तर्हि तत्त्वज्ञाननिष्ठाभावात् त्रिगुणविलक्षणमोक्षफलमजानन्तः स्वाभिमतस्वर्गादिफलहितप्राप्तिसाधनानि कर्माण्यप्यविज्ञायोभयथा नष्टा भवेयुरिति तद्धितकर्मबोधनास्त्रैगुण्यविषया इति युक्तमुक्तम् । हे अर्जुन ! त्वन्तु निस्त्रैगुण्यो भवेति त्रिगुणमयस्वर्गादिफलतत्साधनतःप्रतिपादकवेदानिष्ठो भव । वेदविहितेऽपि त्रिगुणात्मकफलसाधनादौ निःस्पृहो भवेति भावः । ननु स्वर्गादौ निःस्पृहत्वेऽपि सर्वस्यान्नवस्त्रादेस्त्रिगुणमयत्वमेव ? तस्य च देहनिर्वाहार्थमवश्यापेक्षितत्वात् कथं निस्त्रैगुण्यसंभव इत्यत आहनिर्द्वन्द्व इति । द्वन्द्वानि शीतोष्णक्षुधापिपासा सुखदुःखानि तद्रहितो भव तानि सहस्वेत्यर्थः । कथमिति चेत्तत्राह—नित्यसत्त्वस्थ इति । नित्यसत्त्वं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं तल्लक्षणं धैर्यं तत्रस्थः सन्, रजस्तमोऽभिभूतसत्त्वः पुरुषः शीतोष्णादिप्राप्तौ मरणभयेन धैर्यात्प्रचलति । त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय शुद्धसत्त्वनिष्ठो भवेति भावः ।

रजोगुण की मात्रा अधिक हो वह रजोगुणी और जिसमें तमोगुण की मात्रा अधिक हो वह तमोगुणी हुआ । उपनिषदों के अतिरिक्त जो काम्यफल कहनेवाले वेद हैं, वे इन्हीं तीन प्रकार के मनुष्यों को अपना विषय बनाते हैं, अर्थात् जो जिस गुणवाला होता है वेद उसके लिए वैसा ही कर्म और उसका साधन बताते हैं, और उन्हीं कर्मों की स्तुति करते हैं । यदि वेद ऐसे मनुष्यों के हितसाधन के लिए उनके गुण के अनुसार कर्म और उसका साधन नहीं बतावें तो ये लोग दोनों प्रकार से नष्ट हो जावें । उधर तत्त्वज्ञान में तो उनकी निष्ठा नहीं इसलिए त्रिगुण से पृथक मोक्षफल को नहीं जानते और इधर स्वर्गादि प्राप्ति के साधन कर्मों को यदि वेद नहीं बतावें तो उनको स्वर्गादि भी नहीं मिले । इसलिए वेद भिन्न-भिन्न गुणवालों के लिए त्रिगुणात्मक कर्मों और उनके साधनों को बताते हैं । इस प्रकार वेदों को त्रिगुण विषयवाला कहना बहुत ठीक है । इसलिए हे अर्जुन ! तुम त्रिगुणमय वेदों में प्रतिपादित स्वर्गादि फलों के साधन स्वरूप कर्मों में निष्ठा मत करो । अर्थात् वेदों के पूर्वकाण्ड में प्रतिपादित त्रिगुणात्मक फलसाधनादि में निस्पृह बनो ।

अर्जुन शंका करते हैं कि त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वर्गादिकों में यदि स्पृहा न भी करें पर देहनिर्वाह के लिए अन्न-वस्त्रादि की तो स्पृहा करनी ही पड़ेगी और ये भी त्रिगुणात्मक हैं । इस प्रकार त्रिगुणयुक्त विषयों में बिलकुल निस्पृह होना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि निर्द्वन्द्व हो जाओ अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से रहित हो जाओ, अर्थात् इनको सहन करो ।

अर्जुन पूछते हैं कि किस प्रकार सहें ?

भगवान कहते हैं कि नित्य सत्त्वस्थ होकर सहो, अर्थात् रजोगुण तमोगुण को छोड़ जब तुम सतोगुण में स्थित हो जाओगे तब तुमको धैर्य होगा । इसी धैर्य के बल पर इन द्वन्द्वों को सहो ।

ननु परिग्रहवतस्तद्योगक्षेमार्थिनः कुतो नित्यसत्त्वस्थत्वमिति चेत्तत्राह—निर्योगक्षेम इति। अपेक्षितस्य लाभो योगः लब्धस्य रक्षणं क्षेमस्तन्निरपेक्षो भव। एवं चेत्कथं मे निर्वाहो भविष्यतीति सन्देहो न कर्तव्य इत्याह—आत्मवानिति। आत्मा परमात्मा सर्वाभीष्टप्रदो ध्येयतया विद्यते यस्य स तथा तदाश्रितो भूत्वा चिन्तां विहाय किञ्चिद्योगक्षेमाय नान्यं कञ्चन समाश्रयेति भावः।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

ननु वेदविषयपरित्यागे तदर्थातिरिक्तपदार्थाभावान्मुमुक्षोरपि साधनानुष्ठानाद्यपेक्षितं सर्वं हेयं स्यात्तथात्वे तस्य स्वार्थभ्रंश एव स्यादिति चेत्तत्राह—यावानिति। यथा स्नानपानाद्यर्थिनः पुरुषस्य उदपाने वापीकूपतडागादिषु यावान्यावत्परिमाणः स्नानपानाद्यर्थः सर्वतः संप्लुतोदके बहुदेशप्रसृतजल-समूहे महानद्यादिषु तावानेवार्थः। एवं वेदार्थं विजानतः ब्राह्मणस्य ब्रह्मज्ञस्य मुमुक्षोरिति यावत्। वेदैकदेशे यावानर्थः स्वश्रेयःसाधनभूतसर्वदेवताभगवत्तोषकरं कर्माचरणं प्रयोजनं तावानेव सर्ववेदेष्वर्थः

रजोगुण और तमोगुण से ही जो लोग घिरे हुए हैं, उन्हीं लोगों को सर्दी-गर्मी आदि के प्राप्त होने पर मरने का भय होता है और वे उससे अधीर हो उठते हैं। तुम सत्त्व में स्थिर होकर और इस प्रकार धैर्य प्राप्त कर सभी द्वन्दों को सहो।

अर्जुन फिर शंका करते हैं कि जो गृहस्थ है, वह संसार में संग्रह करना और संग्रह किए हुए की रक्षा करना चाहता है, तो वह सतोगुण में हमेशा कैसे रह सकता है? भगवान इसका उत्तर देते हैं कि योग अर्थात् अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् उसका संरक्षण दोनों से ही मन को फेर लो। तब अर्जुन पूछते हैं कि ऐसा करने से निर्वाह कैसे होगा? भगवान कहते हैं कि निर्वाह की चिन्ता मत करो। आत्मवान् हो जाओ, अर्थात् परमात्मा सब अभीष्ट के देनेवाले हैं और उन्हीं का आश्रय सबको करना चाहिए ऐसा विचार कर चिन्ता छोड़ दो और योगक्षेम के लिए उन्हीं की शरण में जाओ और उन्हीं का भरोसा करो ॥४५॥

वेदों को छोड़कर साधनादि का बतानेवाला दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, और मुमुक्षु को भी वेद में कहे हुए मोक्ष के साधन और उसके अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। इन सबके हेय हो जाने से मुक्ति की इच्छा करनेवालों के भी स्वार्थ का नाश हो जाएगा। इस शङ्का का उत्तर भगवान यहाँ देते हैं—

स्नान, पान इत्यादि मनुष्यों का काम जैसे कूप, तड़ागादि से सधता है, वैसे ही बहुत से देशों में फैले हुए जलसमूह जैसे महानदी, सरोवर इत्यादि से भी चलता है, अर्थात् चाहे कूप हो या तड़ाग, नदी हो या बड़ा जलाशय, मनुष्य अपने काम भर ही जल उससे लेगा, अर्थात् दोनों (बड़े और छोटे जलसमूह) से उसका काम एक ही रूप से चलेगा। इसी प्रकार वेद के अर्थ को जाननेवाले ब्रह्मज्ञ या मोक्षार्थी को वेद के उन्हीं भागों से काम है, जहाँ अपने कल्याण (मोक्ष) के साधनभूत, सब सृष्टि के

प्रयोजनं, नतु वेदोक्तं सर्वं सर्वैरुपादेयं किन्तु यथाधिकारमेव । यथा वेदोदितमेवाग्निहोत्र—श्राद्धपितृतर्पणादिकं कर्म न संन्यासिनाऽनुष्ठेयमनधिकारात् । किन्तु प्रवृत्तिनिष्ठगृहस्थस्यैव तत्राधिकारः । संन्यासिनां तु स्नानप्रणवजपतत्त्वानुसंधानयावद्देहयात्रामात्रभिक्षावसनोपादानमेव वेदोदितमनुष्ठेयम् तदुदितं विवेकः ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

ननु यद्येवं तर्हि मुमुक्षुणा ज्ञाननिष्ठैव सम्पादनीया, किं कर्मणेति चेत्तत्राहकर्मण्येवेति । ते तव मुमुक्षोः तत्त्वनिष्ठापादनाय तावदन्तःकरणशुद्धयर्थं कर्मण्येवाधिकारोऽस्ति । न च कर्मणि अधिकृतस्य मे तत्राऽऽसक्तधाऽव्यवसायात्मिका बुद्धिः स्यादिति वाच्यमित्याह—मा फलेषुकदाचनेति । कर्मफलेषु ते अधिकारो मा भूत् । नहि फलेच्छां त्यक्त्वा कर्म कुर्वतोऽव्यवसायात्मिका बुद्धिर्भवति, अपि तु फलासक्तस्यैव । न तु फलेच्छाभावेऽपि कर्म कुर्वतः फलावाप्तिः स्यादेवेति चेत्तत्राह—मा कर्मफलहेतुर्भूरिति । मत्प्रसादस्य कर्मण इदं फलमित्यात्मानं फलं प्रति हेतुं मा भावयेथाः । फलोद्देशं विनैव कर्म कुर्वित्यर्थः । ननु निष्फलकर्मकरणादकरणमेव ज्यायो 'न कुर्यान्निष्फलं कर्मे'ति निषिद्धत्वादिति चेत्तत्राह—मा ते

स्वामी भगवान् को तोष (संतुष्ट) करनेवाले कर्मों का वर्णन है । समूचे वेद से उसको कुछ भी प्रयोजन नहीं । वेदों में कहे हुए सब विषय सबको ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं । किन्तु, अपने-अपने अधिकारानुसार प्रयोजनीय विषय ही ग्रहण करना चाहिए । जैसे वेद में कहे हुए अग्निहोत्र श्राद्ध, तर्पण आदि कर्मों से संन्यासी को क्या प्रयोजन हो सकता है ? उन कर्मों से तो केवल गृहस्थ को ही प्रयोजन है । संन्यासियों को तो वेद के उतने ही भाग से प्रयोजन है जहाँ स्नान, प्रणव, जप, तत्त्वानुसन्धान, देहयात्रा के लिए भिक्षाग्रहण इत्यादि का विधान है । ऐसे ही मोक्षार्थियों के बारे में भी समझना चाहिए ॥४६॥

यदि ऐसी बात है तो मोक्षार्थियों को केवल ज्ञाननिष्ठा के लिए चेष्टा करना चाहिए, कर्म से उनको क्या प्रयोजन है ? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं—

तत्त्वनिष्ठा प्राप्त करने के लिए जब तक अन्तःकरण की शुद्धि न हो तब तक तुम्हारा (अर्थात् मोक्षार्थी का) कर्म में ही अधिकार है । तब तक तुमको कर्म ही करना चाहिए । पर कर्म करने से उसमें आसक्ति होकर बुद्धि अव्यवसायात्मिका (अनिश्चिता) हो सकती है । तब कर्म के फल में तुम अपना अधिकार मत समझो, कर्म के फल की इच्छा मत करो, क्योंकि फल में आसक्ति होने से ही बुद्धि अनिश्चित हो जाती है । पर फल की इच्छा न करने पर भी फल तो होगा ही । इसका उत्तर भगवान देते हैं कि फल होगा तो होने दो । उसका तुम कारण मत बनो । ऐसा मत समझो कि मेरे इस कर्म का यह फल है । बिना फल के उद्देश्य से ही कर्म करो । तो ऐसे फलशून्य कर्म के करने से तो न करना ही अच्छा है क्योंकि कहा गया है—"न कुर्यान्निष्फलं कर्म" अर्थात् निष्फल कर्म नहीं करना चाहिए ।

संगोऽस्त्वकर्मणि इति। अकर्मणि कर्माकरणे तव मुमुक्षोः संगो न, योत्स्यामीत्यहंकारो माऽस्तु नित्य-नैमित्तिकाकरणे प्रत्यवायापत्तेः 'मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्य-वायजिहासये'ति मनुस्मरणात्।

योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय!
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

तर्हि किं कुर्यामित्यत आह—योगस्थ इति। योगस्थः सन् संगं कर्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा कर्माणि कुरु। कर्माणि इति बहुवचनं नित्यनैमित्तिकयोरेव बहुप्रकाराभिप्रायेण। न च काम्यस्यापि ग्रहणमिति वाच्यम्। पूर्वापरविरोधात्। योगशब्दार्थं स्वयमेवाह समत्वं योग उच्यते इति सिद्ध्यसिद्ध्योर्यत्समचित्तत्वं स एव योग उच्यते विवेकिभिः।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय!
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

ननु फलार्थमपि कर्मकर्त्तुरभीष्टदानेन श्रेष्ठं प्रतीयते किमर्थमसकृत्तन्निषिध्यत इत्यत आह—दूरेणेति। हे धनञ्जय, पूर्वमेव धनं जितवानसि नहि ते धनादिफलाकांक्षया स्वधर्मे प्रवृत्तिरिति भावः। व्यवसायात्मकबुद्ध्याऽनुष्ठितः कर्मयोगो बुद्धियोगस्तस्मात् काम्यं कर्म दूरेणावरम् अतिनिकृष्टमित्यर्थः।

इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि तेरा अकर्म में प्रेम न हो अर्थात् तुम्हारे जैसे मुमुक्षु को "मैं युद्ध न करूँगा" इस प्रकार अभिमानपूर्वक अकर्म में प्रेम नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से नित्य नैमित्तिक कर्मों के नहीं करने का पाप लगेगा। मनु ने कहा है—

मोक्षार्थी, काम्य और निषिद्ध कर्मों में न लगे। पाप से बचने की इच्छा से नित्य नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करे ॥४७॥

अर्जुन पूछते हैं कि तब हम क्या करें? भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! योग में स्थित होकर, संग अर्थात् मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ, यह अभिमान छोड़, फल की आशा से रहित हो और काम की सिद्धि से न प्रसन्न, और न उसकी असिद्धि से अप्रसन्न हो, केवल नित्य नैमित्तिक कर्मों को करो। काम्य कर्म को मत करो। यहाँ 'कर्माणि' यह बहुवचन का व्यवहार नित्य और नैमित्तिक कर्मों के नाना प्रकार के होने के कारण है। बहुवचन के प्रयोग से काम्य कर्म का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि इससे पूर्वापर का विरोध होता है। समत्व को ही योग कहते हैं अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में एक-सा रहना, दुःख सुख का अनुभव नहीं करना, इसी को विवेकी लोग "योग" कहते हैं ॥४८॥

अर्जुन कहते हैं कि करनेवालों को फल देने के कारण, फल के लिए किए गए कर्म तो बहुत श्रेष्ठ मालुम पड़ते हैं। आप फिर क्यों बार-बार उनका निषेध करते हैं। भगवान उत्तर देते हैं कि हे धनञ्जय! (धनञ्जय शब्द के प्रयोग करने का भाव यह है कि तुमने तो पहले ही धन को जीता है, इसलिए तुम्हारी धर्म में प्रवृत्ति धनादि की प्राप्ति के फल की कामना से नहीं हो सकती।) व्यवसा-

हि यस्मादेवं तस्माद् बुद्धौ शरणं निवासस्थानमाश्रयमिति यावत्। अन्विच्छ तदाश्रितो भवेत्यर्थः। फलहेतवः फलोद्देशेन कर्मकुर्वाणाः कृपणा अतिदीनाः। त्वं तु कृपणो मा भवेति भावः।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

काम्यकर्मणि दोषं प्रदर्श्य बुद्धियोगे गुणं दर्शयति-बुद्धीति। बुद्धियुक्तः पुरुषः इह कर्मभूमौ उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे जहाति। तस्माद्योगायोक्तबुद्धियोगाय युज्यस्व प्रवृत्तो भव। कर्मसु वर्तमानस्य पुरुषस्य योगः समत्वं कौशलं यद्बन्धनहेतूनां कर्मणां मोक्षहेतुत्वापादनमितिमहत्कुशलत्वमित्यर्थः।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

ननु दुष्कृतत्यागे भवति कौशलं सुकृतं तु किमर्थं त्याज्यमित्यत आह-कर्मजमिति। उक्तबुद्धया युक्ता मनीषिणः बन्धमोक्षहेतुमननशीलाः हि यतः कर्मजं फलं सुख-दुःखात्मकमुभयविधमपि बन्धनरूपं मत्वा न केवलं दुष्कृतफलमपि तु जन्मापादकं सुकृतफलमपि त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः जन्मैव बन्धस्तस्माद्विनिर्मुक्ताः सन्तः अनामयम् आमयो मायाकार्यस्वभावः परिणामापक्षयादि-रूपो रोगस्तद्रहितं पदमुपनिषत्प्रतिपाद्यं परवैकुण्ठाख्यं स्थानं गच्छन्ति। तस्मात्तुच्छफलं सुकृतमप्यनन्तफलाय त्याज्यमिति भावः।

यात्मिका बुद्धि से किए गए कर्मों की अपेक्षा काम्य-कर्म बहुत निकृष्ट या तुच्छ होते हैं। इसलिए आत्मज्ञान के साधक, हे अर्जुन! तुम एक निश्चयात्मक बुद्धि की शरण में स्थित हो और कामनाशून्य होकर काम करो। फल की इच्छा से काम करनेवाले वास्तव में अति दीन हैं। अभिप्राय यही है कि तुम धनञ्जय हो, तुम दीन मत बनो ॥४९॥

आत्मज्ञान को ठीक से समझने के लिए काम्यकर्मों में दोष (आनंदाभाव) देखा गया, अब बुद्धियोग का गुण कहते हैं। बुद्धियुक्त पुरुष इस कर्मभूमि में पुण्य-पाप दोनों को छोड़ देता है। इसलिए बुद्धियोग में तुम प्रवृत्त हो। ईश्वरार्थ कर्म करनेवाले पुरुष का कर्म में योग होना अर्थात् इसमें समता प्राप्त करना ही कुशलता है क्योंकि इससे बन्धन के हेतु जो कर्म हैं, वे भी मोक्ष के साधन हो जाते हैं ॥५०॥

दुष्कर्मों को त्यागना ही कर्म की कुशलता है, किन्तु सुकर्मों को क्यों छोड़ा जाय? इसका उत्तर देते हैं, यथा—

बन्धमोक्ष के हेतु के विषय में विचार करनेवाले पुरुष उपरोल्लिखित अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि से युक्त हैं। वे सुखदुःखात्मक अच्छे बुरे दोनों प्रकार के कर्मों को बन्धनरूप समझकर ही छोड़ देते हैं। और इस प्रकार कर्म से उत्पन्न जन्मरूपी बन्धन से छुटकारा पाकर माया के कार्यों में पाये जानेवाले परिणाम और अपक्षय आदि रोगों से रहित तथा जो उपनिषदों से प्रतिपाद्य परवैकुण्ठ है

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्ताऽसि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

कर्माणि कुर्वतो ममाप्येवम्भूतो निर्वेदः कदा भविष्यतीति अपेक्षायामाह—यदेति । नास्ति कालनियमः किन्तु यदा यस्मिन्काले ते बुद्धिर्मोहकलिलं मोहो मन्निमित्तमेते मरिष्यन्ति अहं पापभागी स्यामित्याद्यन्तःकरणविभ्रम एव कलिलं गहनकर्दमं व्यतितरिष्यति विशेषेणोल्लंघ्य गमिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रोतुं योग्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि गमिष्यसि प्राप्स्यसि । पुनस्त-ज्जिज्ञासां न करिष्यसीति भावः ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

निष्कामकर्मानुष्ठानेन कदा योगं प्राप्स्यामीत्यपेक्षायामाह—श्रुति इति । इतः पूर्वमतस्त्वविद्भ्यः श्रुतिभिर्नानाविधसाधनफल-श्रवणैस्ते बुद्धिर्विप्रतिपन्ना इदं श्रेय इदं नेत्यादिसंशयग्रस्ततयाऽतत्वनिष्ठासती विक्षिप्ताऽऽसीत् । यदा यस्मिन्काले समाधिर्मनस आत्मप्रावण्यं तस्मिन्नचला विषयान्तराग्रहणेन तदेक-निश्चया सती स्थास्यति । तदा योगं योगफलमात्मयाथात्म्यानुभवमवाप्स्यसि ।

अर्जुन उवाच—
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !
स्थितधीः किं प्रभाषेत् किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

वहाँ पहुँच जाते हैं । कहने का भाव यह है कि सुकृत या अच्छे कर्म का भी तो अन्त होने ही वाला है । इसलिए वह भी तुच्छ और क्षणिक फल का दाता है और अनन्त फल (मुक्ति) के लिए तुच्छ फलवाले पुण्य कर्मों को भी छोड़ देना चाहिए ॥५१॥

अर्जुन शंका करते हैं कि इस प्रकार कर्म करता हुआ मैं वैराग्य को कब प्राप्त होऊँगा ? भगवान उत्तर देते हैं कि इसका कोई समय निश्चित् नहीं है । जिस समय तुम अन्तःकरण में भरे हुए मोह के गाढ़े कीचड़ को पार कर जाओगे अर्थात ये मेरे भाई-बान्धवादि मेरे लिए मरेंगे, मैं पाप का भागी होऊँगा इत्यादि जो ये विभ्रम हैं, ये जब छूट जाएँगे तब तुमको सुनने के योग्य और सुने हुए कर्म-फल से विराग हो जाएगा । और तुम तब कर्मफल जानने की इच्छा न करोगे ॥५२॥

अर्जुन पूछते हैं कि निष्काम कर्म करते हुए योग को कब पाऊँगा ? भगवान उत्तर देते हैं—हे अर्जुन ! श्रुतियों में वर्णित नाना प्रकार के साधनों और उनके फलों को अज्ञानियों से तुम अब तक सुनते आए हो, इससे तुम्हारी बुद्धि विक्षिप्त हो गई है, अर्थात् यह श्रेष्ठ है कि वह श्रेष्ठ है, ऐसे ही विचारों से संशयग्रस्त हो गई है । जिस समय तुम्हारा मन, अचल हो और विषयों को न ग्रहण कर आत्मोन्मुखी हो जाएगा । तब तुम्हारी बुद्धि निश्चल हो जाएगी, तभी तुम योग को पाओगे अर्थात् निष्काम कर्म-योग का फल, आत्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव प्राप्त करोगे ॥५३॥

यदा समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसीत्युक्तं तेन समाधिस्थः स्थितप्रज्ञस्तत्त्वज्ञो भवतीति विज्ञाय तस्य लक्षणभाषणासनव्रजनानि जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति स्थितप्रज्ञस्येति । हे केशव ! स्थिता प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तत्कुतो यतः समाधिस्थस्तस्य का भाषा ? भाष्यते प्रकर्षेण कथ्यतेऽनयेति भाषा लक्षणमित्यर्थः । तथा स्थितधीः पुरुषः समाधेरुत्थाय किं प्रभाषेत् ? किं भाषणं कथं वा भाषणं कुर्वीत । तथा किमासीत कथमासीत उपविशेत । तथा किं कथं वा व्रजेत गमनं कुर्यात् । स्थितप्रज्ञस्य मूढजनाद्विलक्षणानि भाषणादीन्यतः पृच्छामि एतद्ब्रूहि इति शेषः । ननु समाधिस्थस्य लक्षणभाषणादिकं समाधिमच्छेष्ठो ब्रह्मशिवादिः कश्चिज्जानीयात्तत एव जिज्ञासितव्यमित्याशंक्यानिराकर्तुं संबोधनमुक्तं-केशवेति । कश्च ईशश्च केशौ वापयति उत्पादयति नियमयति ताभ्यां ज्ञानं प्रापयति वा तथा स त्वमेव ब्रह्मशिवादिजनकत्वान्नियन्तृत्वाद्गुरुत्वाद्वा सर्वेश्वरः सर्वज्ञश्च समाश्रयणीय इत्यर्थः । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वा वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये, तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत, क इति ब्रह्माणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् । आवां तवांगसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवानि'त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ।

जब समाधि में तुम्हारी बुद्धि अचल हो जाएगी तब तुम योग को पाओगे, ऐसा भगवान ने अर्जुन से कहा। तब समाधिनिष्ठस्थितप्रज्ञ ही तत्त्वज्ञ होता है ऐसा जानकर अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि ऐसी समाधि में स्थित, स्थित बुद्धिवाले तत्त्वज्ञ के लक्षण क्या हैं ?

हे केशव ! समाधि में स्थित होने के कारण जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है उसकी क्या भाषा होती है, और लक्षण कैसे होते हैं ? समाधि से उठने पर ऐसा पुरुष क्या और कैसा बोलता है ? वह कैसे रहता-बैठता है ? वह कैसे चलता-फिरता है ? अभिप्राय यह है कि संसारी मूढ़जनों की बोलचाल, चलन व्यवहार से इस समाधिस्थ पुरुष के बोलचाल, चलन व्यवहार में क्या अन्तर होता है, जिससे वह पहचाना जाता है ? इन अन्तरों को मैं आपसे पूछता हूँ। आप कहें।

यहाँ भगवान् यह कह सकते हैं कि ब्रह्मा, शिव आदि जो समाधिष्ठों में श्रेष्ठ हैं उन्हीं से तुमको समाधिस्थों के लक्षण पूछना चाहिए। इसी के उत्तर में अर्जुन उन्हें केशव कहकर सम्बोधन करते हैं। अर्थात् आप तो "क" ब्रह्मा और "ईश" शिव के उत्पादक तथा नियामक और उनको ज्ञान देनेवाले हैं। इसलिए उनके पिता, नियन्ता और गुरु होने से सर्वेश्वर और सर्वज्ञ हैं। इसलिए मैं आपकी ही शरण में आया हूँ। आप ही मुझे बतावें। शिव और ब्रह्मा की आपसे ही उत्पत्ति हुई है। इसको श्रुति भी कहती है। यथा—

पहली श्रुति का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है। दूसरी का अर्थ यह है कि भगवान के ध्यान में स्थित होने पर उनके ललाट से तीन नेत्रवाले और हाथ में शूल लिए हुए पुरुष अर्थात् शिवजी पैदा हुए। स्मृति का अर्थ यह है कि—"ब्रह्मा और सब देहियों के ईश्वर हम (शिव) आपके अंग से निकले हैं। इसलिए आपका नाम केशव है ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

एवमर्जुनस्य चतुरः प्रश्नान् क्रमेण यावदध्यायान्तं वक्तुं तावत्प्रथमप्रश्नस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच—प्रजहाति इति द्वाभ्याम् । मनोगतान् सर्वान् कामान् यदा प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति, तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते । मनोगतकामपरित्यागे किं गमकमित्यत आह—आत्मन्येवात्मना तुष्ट इति । आत्मनि स्वस्वरूपे प्रजापतिविद्योक्तापहतपाप्मत्वादिविशिष्टे ज्ञानानन्दस्वरूपे आत्मना काममलपरित्यागान्निर्मलीभूतेन मनसा तुष्टः प्रसन्नो यदा भवति तदा तस्य स्थितप्रज्ञता ज्ञेयेत्यर्थः ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

नन्विदं लक्षणं स्वसंवेद्यं तस्यात्मसंतुष्टत्वमन्यैः कथं ज्ञेयमित्यपेक्षायामाह-दुःखेष्विति । दुःखानि तावदध्यात्माधिदैवाधिभौतिकभेदात्त्रिविधानि । तत्राध्यात्मं शारीरकमानसभेदात् द्विविधम्, तत्राक्षिशिरोरोगातिसारज्वरादिकं शारीरकम्, निन्दाऽसूयाऽऽक्रमणेर्ष्यादिजन्यं मानसम्, शीतोष्णवातवर्षाविद्युदादिसमुद्भवनाधिदैविकम्, मनुष्यराक्षसपशुपक्ष्यादिजन्यमाधिभौतिकमिति विवेकः । तेषु प्रारब्धवशात्

अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर अध्याय की समाप्ति तक एक-एक करके देते हैं । प्रथम प्रश्न का उत्तर दो श्लोकों से देते हैं—

जो मन में स्थित सब अभिलाषाओं को छोड़ देता है और इस कारण सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद की प्रजापति-विद्या में कहे गए, सब पापों से रहित होना इत्यादि आठ गुणों से युक्त, ज्ञानानन्द, अपने आत्मस्वरूप में ही, कामरहित अतएव निर्मल मन के द्वारा, आनन्द अनुभव करता है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है । अर्थात् जब किसी की ऐसी दशा हो जाय तब समझना चाहिए कि उस मनुष्य को स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो गयी ॥५५॥

ऊपर के कहे गए लक्षण तो स्वसम्वेद्य हैं अर्थात् इनको जिनमें हैं, वे ही अनुभव कर सकते हैं, बाहर के दूसरे लोग कैसे जान सकते हैं कि कोई व्यक्ति स्थितधी हो गया ? इसी का उत्तर देते हैं ।

दुःखों को आने जानेवाले स्वभाव का और प्रारब्ध से आया हुआ मान, ऐसा विचार कर कि भोग हो जाने से स्वयं ही नाश हो जाएँगे, स्थितधी मनुष्य का मन दुःख पड़ने पर चंचल नहीं होता । उसी प्रकार सुख को प्रारब्ध से ही आया हुआ जानकर ऐसा मनुष्य और अधिकाधिक सुखों की भी इच्छा नहीं करता । (दुःख तीन प्रकार के होते हैं, यथा—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है, शरीर सम्बन्धी जैसे ज्वर, आँख की पीड़ा इत्यादि, और मनसंबंधी जैसे ईर्षा, डाह इत्यादि, आधिभौतिक दुःख वह है जो सांसारिक जीवों के द्वारा प्राप्त होता है, जैसे

प्राप्तेषु एतान्यागमापायित्वात्स्वयमेव भोगेन वा नश्यन्तीति विचारेण नोद्विग्नं मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः तथा प्रारब्धवशात्सुखानि अपि प्राप्नुवन्ति तेष्वनागतेषु विगतस्पृहः वाञ्छारहितः। तत्र हेतुः वीतरागभयक्रोध इति। मनस आसक्तिविषयेष्वभीष्टपदार्थेषु मयैते मा क्षियेरन्निति प्रीत्यतिशयो रागः। प्रियवियोगजन्यागामिदुःखनिमित्तजन्यं दुःखं भयं, प्रियवस्तुनाशहेतावुपस्थिते तद्वियोगकर्तृविषयोऽन्तःकरणविकारविशेषः क्रोधः, एते रागादयो नित्यसुखस्वरूपे आत्मन्यविवेकेन जायन्ते, तद्विवेकेन (वीता) गता यस्मात्स मुनिर्मननशीलः स्थितप्रज्ञ उच्यते विवेकिभिरिति शेषः।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

इदानीं स्थितधीः किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह—यः सर्वत्रेति। यो मुनिः सर्वविषयेष्वनभिस्नेहश्चिताशक्तिरहितस्ततः एव तत्तत् शुभाशुभं मूढजनाभिमतं शुभं सुखहेतुं सुमिष्टस्निग्धपायसमोदकादिभोजनमिष्टरसादिपानं कोमलं सुरूपं वस्त्रं गृहपानादिकं वा प्राप्य नाभिनंदति। त्वया ममातिप्रियं कृतं त्वत्समो नास्ति कश्चिदित्यभिनंदनं न करोति। अशुभं दुःखहेतुतया मतं उक्ताद्विपरीतभोजनपानादिमृषासमाधिर्दाम्भिक इत्यादिवाक्यं वा प्राप्यकश्चित्प्रति न द्वेष्टि। अतोरागदोषाभावात्स्तुतिनिन्दारहितं सर्वहितमल्पभाषणं करोतीति भावः। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता, स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः।

मनुष्य, पशु, पक्षी और राक्षस इत्यादि से उत्पन्न और आधिदैविक दुःख वह है जो दैवी शक्तियों से जैसे वर्षा, बिजली इत्यादि से उत्पन्न होता है।)

स्थितप्रज्ञ मनुष्य सुख-दुःख की परवाह नहीं करता इसका कारण यह है कि राग (प्रेम या आसक्ति) भय और क्रोध से वह रहित है। यह नाश न हो जाय ऐसी अभीष्ट पदार्थ में जो मन की अतिशय प्रीति है उसी को राग कहते हैं। प्रियवियोगजन्य आगामी दुःख को भय कहते हैं। प्रिय वियोग करानेवाले के प्रतिः अन्तःकरण में जो विकार होता है, उसको क्रोध कहते हैं। ये रागादिक नित्य सुख स्वरूप आत्मा में अविवेक से पैदा होते हैं। आत्मस्वरूप के विवेक होने से जिनके रागादि छूट गये हैं, ऐसे ही रागादिरहित मननशील मनुष्य को विवेकी लोग स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५६॥

स्थित बुद्धिवाला कैसे बोलता है अब इसका उत्तर देते हैं—जो मननशील पुरुष विषयों से आसक्तिरहित होकर मूढ़जनों से अभिलषित सुख अर्थात् खीर, लड्डू इत्यादि तथा मीठी पेय वस्तु या कोमल वस्त्रादिकों को पाकर आनंदित नहीं होता और ठीक इसके उलटा दुःख देनेवाले, अरुचिकर भोजन, पान इत्यादि को पाकर दुःखी नहीं होता और उसके लिए किसी से प्रीति या द्वेष नहीं करता अर्थात् अच्छी वस्तु देनेवालों की बड़ाई खुशामद या बुरी वस्तु या गाली देनेवालों की शिकायत नहीं करता वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। राग-द्वेषादि दोषों से शून्य होने के कारण जो निन्दा-स्तुति से रहित होकर सबके हितार्थ कम बचन बोलता है (आत्म-तत्त्व के ज्ञान से युक्त बचन बोलता है) ऐसे मनुष्य की बुद्धि ही प्रतिष्ठित है, निश्चल है, वही वास्तव में स्थितप्रज्ञ है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥५८॥

किमासीतेत्यस्योत्तरमाह—यदेति । यदा समाधेर्व्युत्थानसमये अयं योगी इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिविषयेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वथा इन्द्रियाणि श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि संहरते बहिर्न प्रवर्तयति । कर्मेन्द्रियाणि त्वावश्यके कर्मणि संकोचेन प्रवर्तयति च । तत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीवेति । यथा यथा कूर्मोऽन्यभयात्करचरणादीनि शरीरान्तरूपसंहरति आहारार्थं शनैर्निःसार्य प्रवर्तते च, तद्वत् । तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्थितप्रज्ञ एवमासीतेत्यर्थः ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

नन्वयोगिनां मूढानामपि रोगादिवशादिन्द्रियाणि विषयेभ्यः स्वयमुपसंह्रीयन्ते कथमिन्द्रियाणां विषयेष्वप्रवर्तनं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमिति चेत्तत्राह—विषया इति । निराहारस्य रोगेण भोजनरहितस्य देहिन इन्द्रियशैथिल्याद्विषयाः शब्दस्पर्शादिभोगास्तद्ग्रहणाशक्यत्वात् विशेषेण निवर्तन्ते इति सत्यं, तथापि रसवर्जं रसो विषयेष्वन्तरा रागः स्नेहस्तं विना रोगिणः पुरुषस्य विषयभोगो निवर्तते । परन्तु

स्थितधी कैसे रहता है ? उसका उत्तर देते हैं। समाधि से उठने पर यह योगी शब्दादि सब विषयों से सब प्रकार इन्द्रियों को खींच लेता है अर्थात् उनको बाहर नहीं फैलने देता। आवश्यक कामों को करने के लिए बड़े संकोच से उनका व्यवहार करता है। इसमें समझने के लिए दृष्टान्त देते हैं। जैसे कछुआ भय के कारण अपने हाथ, पैर आदि अङ्गों को अपने शरीर के भीतर छिपाए रहता है, केवल भोजन संग्रह करने के लिए धीरे-धीरे कभी-कभी उनको निकालता है, उसी प्रकार यह योगी अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोके रखा है। ऐसे ही योगी की बुद्धि प्रतिष्ठित या स्थिर रहती है अर्थात् स्थितप्रज्ञ इसी भाँति रहता है ॥५८॥

अयोगी याने मूढ़ का मन भी रोगावस्था में विषयों से हट जाता है। तब विषयों से मन का हटना स्थितप्रज्ञ का लक्षण कैसे हो सकता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

यह सही है कि रोग के कारण भोजन से रहित मनुष्य का मन, इन्द्रियों के विषय रस, रूप, गन्ध इत्यादि से हट जाता है, पर इसका कारण विषय त्याग नहीं है क्योंकि उस समय आहार आदि के न मिलने से जो भोग करने के लिए साधन रूप इन्द्रियां हैं वे शिथिल और बलहीन हो जाती हैं—इसलिए विषयों का भोग करने में अशक्त हो जाती हैं। किन्तु भीतर-भीतर मन में इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में राग बना ही रहता है। उसमें कोई कमी नहीं होती है। रोगी मन ही मन यह सोचता रहता है कि अच्छे होने पर सुन्दर षट्रस भोजन, पान, स्त्रीसंभोग इत्यादि सब विषयों का सुख भोगूंगा। किन्तु योगी में ऐसी बात नहीं होती।

दुःखनिवृत्तेरनन्तरं मधुरान्नभक्षणपानस्त्रीभोगादिजन्यं सुखं भोक्ष्यामीति मनसि वासना न निवर्त्तते इत्यर्थः। स रसोऽप्यस्य विदुषः परं परमानंदं दृष्ट्वा निवर्त्तते। नहि नित्यानन्तानन्दज्ञस्य विनाशिनि तुच्छानन्दे रागो भवति। परब्रह्मार्थस्तु सर्वानन्दकारणस्य निखिलहेयगन्धवर्जितस्य (ध्येयस्य) भगवत-श्चिद्घनं वपुरेव। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति, यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकश्चेति श्रुतेः।

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

स्थितप्रज्ञतायामिन्द्रियसंयमस्य कारणत्वमुक्तं तदभावे दोषमाह—यतत इति। हे कौन्तेय ! विपश्चितः विविधं गुणदोषं पश्यतो विवेकिनः पुरुषस्य यततोऽपि मनोध्येयरूपे प्रवणीकरणार्थं भूयो भूयो विषयेभ्यो विनिवर्त्तने प्रयतमानस्यापि मनः सर्वेन्द्रियाणि प्रसभं बलात्कारेण हरन्ति विषयेषु रागवत्कुर्वन्ति। यततोऽपि विपश्चितश्च कथं हरन्ति तत्राह—प्रमाथीनीति। प्रमथनशीलानि अतस्तद्विवेकं यत्नं चाकिञ्चित्कृत्वा विषयानुध्याने प्रवर्त्तयन्तीत्यर्थः।

परमानन्द को देखकर (पाकर) विद्वान योगी का विषयों में अन्तराग भी नष्ट हो जाता है। क्या नित्य अनन्त आनन्द को जाननेवाले को कभी तुच्छ विनाशी विषयानन्द में प्रेम हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। परमानन्द का तात्पर्य यहाँ सर्वानन्द के कारण, समस्त हेय गुणों की गन्ध से रहित और सब मुमुक्षुओं के ध्येय भगवान् के चिद्घनविग्रह से ही है। क्योंकि श्रुति कहती है कि इसी ब्रह्मानन्द (परमात्मा) के आनन्द की मात्रा से सब लोग जीते हैं। अभिप्राय यह है कि सर्वानन्द-स्वरूप भगवान के ही आनन्द का छींटा इस लोक के आनन्द का कारण है। भगवान का स्वरूप जैसा आनन्दमय है, वैसे ही उनका विग्रह भी आनन्दस्वरूप है। भगवान का क्या स्वरूप है ? भगवान ज्ञानात्मक और ऐश्वर्यात्मक हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान जैसे चिद्घन हैं वैसे ही उनका विग्रह भी चिद्घन होने से आनन्दस्वरूप है ॥५९॥

स्थितप्रज्ञता में इन्द्रिय संयम को कारण बतलाकर अब इन्द्रिय संयम के अभाव में जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनको कहते हैं—

हे अर्जुन ! विवेकी पुरुषों के यत्न को मिट्टी में मिलाकर (बेकार करके) बलात् विषयों की ओर ले जाने की शक्तिशाली इन्द्रियाँ गुण-दोष के देखनेवाले विवेकी पुरुषों के भी मन को बलात् हरती हैं। उनके मन में भी विषयासक्ति उत्पन्न करती हैं। यद्यपि वह विवेकी पुरुष विषयों से अपने मन को हटाकर उसको ध्येय की ओर लगाने की बार-बार चेष्टा करता है तथापि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, अतः बलशील विवेकी पुरुष के मन में भी विक्षोभ पैदा करके विषयों (भोगों) के ध्यान में उसको लगा देती हैं ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताः ॥६१॥

यस्मादवशीकृतेन्द्रियाण्यनर्थकारणानि तस्मान्मुमुक्षुणा प्रथमं तज्जयः कर्त्तव्यः इत्याह—तानि दुष्टानि सर्वाणीन्द्रियाणि संयम्य सम्यङ्नियम्य वशीकृत्य युक्तः ध्येये नियुक्तमना आसीत् समाहितोऽस्यादित्यर्थः । ननु यदि तानि प्रमाथीनि तर्हि कथं तेषां संयमः स्यादित्याह—मत्पर इति । अहं हृषीकेशः पर उत्कृष्ट उपायो यस्य स तथा मदाश्रयो भूत्वा अनायासेन जयेदित्यर्थः । मदाश्रयणं विनेन्द्रियाणि वशीकर्तुमशक्यानीति भावः । इन्द्रियवशीकरणमेव पुरुषार्थकारणमित्याह—वशे हीति-हीत्यवधारणे । यस्य साधकस्येन्द्रियाणि वशे भवन्ति तस्यैव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति, नान्यस्येत्यर्थः । एतावता किमासीतेत्यस्योत्तरमुक्तम् ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

एवं वशीकृतेन्द्रियत्वं स्थितप्रज्ञतालक्षणमुक्तमिदानीं बाह्येन्द्रियसंयमे सत्यपि मनः संयमाभावे-ऽनर्थप्राप्तिः स्यादित्याह—ध्यायत इति द्वाभ्याम् । विषयान् रूपरसादीन् ध्यायतो मनसा पुनः पुनश्चिन्तयतः पुंसस्तेषु संग आसक्तिः सुखहेतुबुद्ध्या प्रीत्यतिशय उपजायते । संगात्कामः संगस्य परिणामो

वश में नहीं की गई इन्द्रियां अनर्थ की कारण हैं इसलिए मोक्षार्थियों को पहले उन्हीं को जय करना (जीतना) चाहिए, यही कहते हैं । इन दुष्ट तथा दुर्जेय इन्द्रियों को सम्यक् प्रकार से वश में करके मन को ध्येय-विषय में लगावे । यदि अर्जुन यह शंका करें कि इन्द्रियां तो बड़ी प्रबल हैं, ये कैसे वश में हो सकती हैं ? तो भगवान कहते हैं कि हमारा आश्रय ग्रहण करने से ही ये सहज में ही वश की जा सकती हैं क्योंकि मैं हृषीकेश हूं अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी (नियन्ता) हूं । कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मेरी शरण में आए इन्द्रियां वश में नहीं हो सकतीं ।

इन्द्रियों को वश में करना ही पुरुषार्थ का कारण है । जिस साधक की इन्द्रियां वश में हो गई हों उसी की स्थितप्रज्ञ संज्ञा होती है अर्थात् उसकी प्रज्ञा या बुद्धि निश्चल होती है । यहाँ तक, स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है, उसका उत्तर कहा ॥६१॥

इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करने को स्थितप्रज्ञता का लक्षण बताकर, बाहर की इन्द्रियों को वश में रखते हुए भी मन के संयम के अभाव से जो हानियां होती हैं, उनको दो श्लोकों से बतलाते हैं ।

रूप, रस आदि विषयों का मन में बार-बार चिन्तन करने से मनुष्यों को उनमें आसक्ति पैदा होती है । वह उनमें, (उनको सुख का हेतु समझकर) अतिशय प्रीति होने से उनके लिए मन में काम

अवस्थाविशेषः, यस्मिन् जाते पुरुषो विषयानुभूय बधिरोऽन्धउन्मत्त इव जायते । स कामः सम्यग् जायते, कामात् क्रोधोऽभिजायते । कामे जाते विषयप्राप्तिप्रतिबन्धे सति तत्प्रतिबन्धकेषु जनेषु अभिज्वलनात्मकोऽन्तः करणपरिणामः क्रोधः साक्षाज्जायते । क्रोधात्संमोहः कार्याकार्यविवेको भवति । संमोहात् स्मृतिविभ्रमः स्मृतेराचार्योपदिष्ट शास्त्रार्थविचारस्य विभ्रमो भ्रंशो भवति । स्मृतिभ्रंशात् सुखरूपात्मव्यवसायात्मिकाया बुद्धेर्नाशो भवति। बुद्धिनाशात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थहीनो मृततुल्यो भवतीत्यर्थः । तस्मान्मनो निग्रहोऽवश्यं कर्तव्य इति भावः ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

मनसो निग्रहे बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावोऽपि न दोषयोग इति वदन् व्रजेत्किमित्यवशिष्टस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—रागादेः द्वाभ्याम् । तु शब्दः पूर्वस्माद्वैलक्षण्यद्योतनार्थः । विधेयः वशीभूतः आत्मा मनो यस्य स रागद्वेषवियुक्तैरिन्द्रियैर्विषयान् चरन् भुञ्जानः प्रसादं चित्तस्य प्रसन्नतामधिगच्छति निर्मलान्तःकरणो भवतीत्यर्थः ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

उत्पन्न होता है । काम संग का फल है । काम होने पर मनुष्य विषयों का अनुभव कर बहरा, अन्धा, और पागलों जैसा हो जाता है । उसको कुछ सुनाई या दिखाई नहीं पड़ता । काम से क्रोध पैदा होता है अर्थात् मन में काम उत्पन्न होने पर विषयप्राप्ति में रुकावट डालनेवाले मनुष्य के प्रति शरीर को जलानेवाली अन्तःकरण की वह अवस्था प्राप्त होती है जिसको क्रोध कहते हैं । क्रोध से मोह होता है जिसके वश में होकर मनुष्य कार्य या अकार्य (अच्छे-बुरे) का विचार नहीं कर सकता । मोह होने से स्मृति अर्थात् आचार्य के सिखाए हुए सदुपदेशों को मनुष्य भूल जाता है जिसके कारण उसकी निश्चयात्मिका सुखरूपी बुद्धि लोप हो जाती, और जब बुद्धि ही नहीं रही तो उस बुद्धिहीन मनुष्य का नाश उपस्थित होता है । वह बुद्धिहीन मनुष्य सर्व पुरुषार्थ से रहित मृततुल्य हो जाता है । इसलिए सब अनर्थों की जड़ मन को जरूर वश में करना चाहिए ॥६२-६३॥

मन को रोक लेने पर बाहरी इन्द्रियाँ न भी रोकी जाँय तो कुछ ज्यादा हानि नहीं होती इसी को कहते हुए अर्जुन के अन्त के प्रश्न का उत्तर भगवान दो श्लोकों में देते हैं । प्रश्न था कि स्थितधी पुरुष कैसे चलता है ।

जिस मनुष्य ने मन को वश में कर लिया है, वह वश में की गई और राग-द्वेष से हीन इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्नता को प्राप्त करता है, अर्थात् उसके अन्तःकरण में कुछ भी विकार नहीं होता । वह निर्दोष और निर्मल बना रहता है ॥६४॥

चित्तप्रसादे सति अस्य मुमुक्षोः सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनां हानिरुपजायते। विषयासक्तचेतसां विपाकदशायां यान्यवर्जनीयानि दुःखानि, निर्मलमनसस्तेषां हानिर्नियतभोगनिवृत्तिरनायासेन भवतीत्यर्थः। न केवलं तस्य दुःखहानिमात्रमपि तु महत्फलं प्राप्नोतीत्याह—प्रसन्नचेतस इति। ह्यवधारणे। प्रसन्नचेतस आशु शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते परितः सर्ववृत्तीः समाकृष्य निश्चला भवतीत्यर्थः।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

उक्तार्थदृढीकरणायासंयतमनसः सर्वं विपरीतफलं दर्शयतीति—नास्ति इति। अयुक्तस्यवशीकृतचित्तस्य बुद्धिः सर्ववेदवेदान्तनिर्णीत तत्त्वविषयिणी व्यवसायात्मिका न भवति। किञ्च अयुक्तस्य भावना तत्त्वपरिशीलनात्मिका मनोवृत्तिर्नास्ति। अभावयतः भावनाशून्यस्य शान्तिर्विषयेभ्य उपरतिर्न भवति। अशान्तस्य सुखं दुःखलेशात् संभिन्नं नित्यानपायिसुखं कुतः स्यात्। प्राकृतविषयजन्यं राजसं सुखं तु तस्यापि भवति, विषयेन्द्रियसंयोगादित्यादिना वक्ष्यमाणत्वात्।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

अयुक्तस्य बुद्धिः कुतः? नास्तीत्यत आह—इन्द्रियाणामिति। हि यस्मात् इन्द्रियाणां चरतां

चित्त की प्रसन्नता होने से उस (मोक्ष की इच्छा करनेवाले) पुरुष के सब आध्यात्मिकादि दुःखों का नाश हो जाता है अर्थात् विषय में आसक्त चित्तवाले को विपाकदशा अर्थात् भोग के समय में जो दुःख उन्हें अवश्य भोगना ही पड़ता है, उन दुःखों से विषय में रागहीन पुरुषों का बिना ही परिश्रम छुटकारा हो जाता है। केवल दुःख से छुटकारा ही नहीं होता बल्कि और भी बड़ाभारी फल होता है। वह यह कि ऐसे प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि शीघ्र ही निश्चय सब वृत्तियों से याने इन्द्रियों के सब विषयों से हटकर ध्येयस्वरूप भगवान में निश्चल (केन्द्रित) हो जाती है ॥६५॥

पीछे कहे हुए विषय को दृढ़ करने के लिए असंयत मनवाले को जो विपरीत फल मिलता है उसको स्पष्ट करते हैं।

जिसने मन को वश में नहीं किया है उसको सब वेद-वेदान्त से निर्णय किए हुए परमतत्त्व निश्चयात्मिका (दृढ़) बुद्धि नहीं होती। ऐसे अयुक्त पुरुष की भावना अर्थात् तत्त्व को विचारने की भी मनोवृत्ति नहीं होती। अर्थात् उसका मन तत्त्व के विचारने में नहीं लगता। भावनाहीन मनुष्य को विषयों से शान्ति अथवा आराम नहीं होता। और जिसको शान्ति नहीं उसको नित्य अनपायी सुख कहाँ से मिल सकता है। प्राकृत विषयों से उत्पन्न राजसी सुख उसको भी मिल सकता है जैसा कि आगे "विषयेन्द्रिय संयोगात्" इत्यादि से कहेंगे ॥६६॥

अयुक्त अर्थात् जिसने इन्द्रियाँ वश में नहीं की हैं उसको बुद्धि (प्रज्ञा) क्यों नहीं होती, इसका अब उत्तर देते हैं।

विषयेषु प्रवर्त्तमानानां मध्ये यत्किमपीन्द्रियं मनोऽनुविधीयते, कर्मभूतं मनः पुरुषेणाऽनुवर्त्यते । तदिन्द्रियं मनो वा अस्य पुरुषस्य प्रज्ञां आत्मतत्त्वविषयिणीं बुद्धिं हरति, तत्त्वतः प्रच्याव्य स्वानुवर्त्तिनीं विषयाभिमुखीं करोति । तत्र दृष्टान्तः—वायुर्नावमिति । यथा अम्भसि नीयमानां नावं प्रतिकूलो वायुर्हरति । गन्तव्यमार्गात् प्रच्याव्य विकटे प्रक्षिप्य नाशयति, तद्वदित्यर्थः ।

तस्माद्यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

एवमिन्द्रियाणि प्रमाथीनीत्यादिनेन्द्रियाणां मनोबुद्धिभ्रंशकत्वं तन्नियमनस्य च स्थितप्रज्ञताहेतुत्वं चानेकधोपपाद्येदानीं तमर्थमनूद्योपसंहरति-तस्मादिति । यस्मादिन्द्रियाण्येव विषयप्रवृत्तिहेतुत्वेनानर्थकराणि तस्मात् हे महाबाहो ! यस्य पुरुषस्य सर्वशः सर्वप्रकारेण इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

ननु सर्वेन्द्रियव्यापारशून्यः स्थितप्रज्ञ उक्तस्तथाभूतो न कोऽपि दृश्यते, किन्त्वन्यजनवद्दर्शन श्रवणादि व्यापारः स्थितप्रज्ञस्याप्यवर्जनीयः कथमुक्तार्थः सम्भाव्येतेत्याशंक्य स्थितप्रज्ञस्य दर्शनादि सर्वलोकविलक्षणमित्याह—या निशेति । सर्वभूतानां प्राणिनां या निशेव निशा आत्मस्वरूपादिदर्शनयोग्या

जिस पुरुष का मन विषयों में लगी हुई इन्द्रियों का कुछ भी अनुसरण करता है उसका मन या इन्द्रियाँ उसकी प्रज्ञा या आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि को हर लेती हैं । अर्थात् बुद्धि को तत्त्व से हटाकर अपनी अनुवर्त्ति बनाकर विषय की ओर लगा देती हैं । जिस प्रकार जल में चलते हुए असावधान मल्लाह की नाव को वायु ठीक राह से हटाकर विपत्ति में डाल नाश कर देती है ॥६७॥

इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं और मन-बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाली हैं । इसलिए इनका संयम करना स्थितप्रज्ञता का कारण है । इस बात को बहुत प्रकार से समझाकर अब भगवान स्थितप्रज्ञता का अर्थ कहकर इस विषय को समाप्त करते हैं ।

हे महाबाहो ! (अर्जुन) ये इन्द्रियाँ ही मनुष्य को विषय में लगाकर अनर्थ पैदा करती हैं । इसलिए जिस पुरुष ने इन्द्रियों को उनके विषयों से रोका है उसी पुरुष की बुद्धि स्थिर रहती है ॥६८॥

यहाँ तक शंका होती है कि जैसे सोया हुआ पुरुष, इन्द्रियों के व्यापार से शून्य हो जाता है ऐसा इन्द्रियों के व्यापार से शून्य तो कोई देखा ही नहीं जाता स्थितप्रज्ञावालों का भी देखना सुनना और लोगों के ही देखने सुनने के समान होता होगा, तब पीछे जो कहा गया है कि ये स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों के व्यापार को रोके रखते हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसके उत्तर में स्थितप्रज्ञावालों के देखने सुनने की विलक्षणता बतलाते हैं ।

बुद्धिवृत्तिः, विषयासक्तचेतसां दर्शनाद्ययोग्यतया गाढान्धतमस्वती कुहूशर्वरीव, तस्यामात्मस्वरूपादि-दर्शनार्हबुद्धिवृत्तौ प्राणिमात्रनिशायां संयमी सम्यङ्नियमित-बाह्यान्तःकरणे मुनिर्जागर्त्ति, प्रबुद्धः सन् याथात्म्येन शास्वतत्त्वं बुद्धावनुभवति। यस्यां तु विषयानुभवयोग्यायामनात्मनिष्ठायां बुद्धिवृत्तौ भूतानि अवशीकृत-बाह्यान्तःकरणाः प्राणिनः जाग्रति सावधानतया वर्त्तन्ते, सा विषयानुभवयोग्या बुद्धिवृत्तिः आत्मतत्त्वं याथात्म्येन पश्यतो मुनेर्निशा निशेव निशा विषयदर्शनानर्हा बुद्धिवृत्तिरित्यर्थः। अतः सम्भावितमेवेदं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमिति सिद्धम्।

आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नन्वेवं निगृहीतसर्वेन्द्रियस्य सर्वविषयेभ्यो निवृत्तबुद्धेर्योगिनो योगप्रभावाद्यदि सर्वकामसिद्धयः स्वयं प्राप्नुयुः स तान् कामान् गृह्णीयाच्चेत्तर्हि तस्य तत्रासक्त्या तत्त्वतश्च्युतिः स्यादित्याशंकावारणाय आह—आपूर्णमाणमिति। सर्वाभिर्नदीभिः सदा आपूर्यमाणं तथाऽप्यनुल्लंघितमर्यादं समुद्रं पुनरपि वृष्टिजाः सर्वा आपः प्रविशन्ति स यद्वन्न कञ्चन विशेषमापद्यते, तद्वत्। विषयात्मभिः काम्यन्त इति कामाः सर्वे रूपरसादयो विषयाः प्रारब्धवशाद्योगविघ्नार्थं दैवैः प्रेषिताः वा यं स्थितप्रज्ञं मुनिं प्रविशन्ति तद्विन्द्रिय-

---

जो आत्मस्वरूप के दर्शन करने के योग्य बुद्धिवृत्ति सब विषयासक्त जीवों के लिए अमावस्या की अंधेरी रात जैसी है, अर्थात् जैसे अंधेरी रात में कुछ नहीं सूझता वैसे ही इन जीवों को आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं होता, उस रात्रि में इन्द्रिय संयम करनेवाले जागते हैं। अर्थात् जो लोग अच्छी रीति से बाहर भीतर की इन्द्रियों को संयम में किए हुए हैं, वे जागकर अपनी बुद्धि में शास्त्रोक्त तत्त्व आत्मस्वरूप का यथार्थ अनुभव करते हैं। और विषय को अनुभव करने की शक्ति या योग्यता रखनेवाली और अनात्म वस्तु में निष्ठा रखनेवाली जिस बुद्धिवृत्ति में बाहर भीतर की इन्द्रियों को नहीं वश में किए हुए लोग जागते हैं अर्थात् उसमें सावधानी से लगते हैं वह आत्मतत्त्व को साक्षात् देखनेवाले मुनियों को रात्रि के समान है। अर्थात् वे मुनिलोग उसमें आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव करते हैं, अतएव उनकी बुद्धि विषयों के दर्शन के अयोग्य हो जाती हैं। इसलिए स्थितप्रज्ञ का जो ऊपर लक्षण कहा गया है वह सम्भव है ऐसा सिद्ध हुआ ॥६९॥

यदि ऐसे इन्द्रियसंयमी और सब विषयों से निवृत्त बुद्धिवाले योगी को उसके योग के बल से सब सिद्धियां आप ही आप प्राप्त हो जाएं और वह उनको ग्रहण कर ले तब उनमें उसकी आसक्ति हो सकती है। और इस प्रकार वह तत्त्वज्ञान से गिर सकता है। इसी शंका का उत्तर देते हैं—

जैसे सब नदियों के जल से सदा भरे हुए सदा अचल और अपनी मर्यादा को न छोड़नेवाले समुद्र में वर्षा का सब पानी आ गिरता है पर समुद्र में उससे कोई विकार, बढ़ना या घटना अथवा और कोई विशेषता पैदा नहीं होती उसी प्रकार प्रारब्धवश आए हुए या योग में विघ्न करने के लिए

ग्राह्यतां स्वयमेव प्राप्नुवन्त्यपि किञ्चिद्विकारं कर्तुं न प्रभवन्ति। स शान्तिं सर्वविक्षेपहेतुकर्मध्वंसेन निरतिशयानन्दरूपां मुक्तिमाप्नोति। न तस्य तत्त्वनिष्ठाया भ्रंशशंकाशीत्यर्थः। विषयिणस्तदभावमाह—न कामकामीति। कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य स तथा शान्तिं न प्राप्नोति। किन्तु विषयानुभवार्हे संसार एव वर्त्तते।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एवम्भूतमहाफलस्य योगस्य कोऽधिकारीत्यपेक्षायामाह—विहायेति। सामान्यवच्छब्दप्रयोगात्सर्वविषयत्यागपूर्वकालनिष्ठायां वर्णाश्रमविशेषनियमो नास्ति। किन्तु यः कश्चिदपि पुमान्सर्वान्कामानप्राप्तान्प्राप्तान्वा विहाय विशेषेण त्यक्त्वा देहयात्रामात्रेऽपि निस्पृहः अत एव निर्मम यदृच्छाप्राप्ते भोजनाच्छानादौ ममेदमित्यभिमानशून्यः पुनश्च निरहंकारः देहेन्द्रियादावहंकाररहितः आत्मनस्तद्वैलक्षण्यज्ञानपूर्वकदेहादि संबंधस्यानित्यत्वज्ञानात् चरति यदृच्छाप्राप्तभोगान् भुङ्क्ते यत्र क्व वा गच्छति स शान्तिमुक्तलक्षणामधिगच्छति निर्बन्धतया प्राप्नोति।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

देवताओं द्वारा भेजे हुए रूप, रस, गन्धादि विषय उस स्थितप्रज्ञ मुनि को इन्द्रियों को स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, पर वे विषय, उसके मन में कोई विकार पैदा नहीं कर सकते।

ऐसा स्थितप्रज्ञ मुनि विक्षेप उत्पन्न करनेवाले सब कर्मों का विध्वंस कर शान्ति अर्थात् निरतिशय आनन्दरूप मुक्ति को पाता है। भाव यह है कि उसके तत्त्वज्ञान से गिरने की कोई भी आशंका नहीं रहती।

जो कामना की इच्छा करनेवाले और लोग हैं वे इस शान्ति को नहीं पाते। वे विषय के अनुभव करने योग्य संसार में ही स्थित रहते हैं ॥७०॥

ऐसे महाफलवाले योग का कौन अधिकारी है ? उसको कहते हैं—

जो कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति या आश्रम का ही क्यों न हो, सब प्राप्त या अप्राप्त कामों या अभिलाषाओं को पूर्णरूप से छोड़ देहयात्रा में भी स्पृहाहीन हो अर्थात् भोजन-कपड़ा कैसे मिलेगा इसकी भी चिन्ता छोड़ और इसीलिए भोजन-कपड़े में ममतारहित हो और देह-इन्द्रिय आदि में भी यह जानकर कि ये आत्मा से भिन्न हैं और इनका आत्मा के साथ सम्बन्ध भी अनित्य है, अहंकाररहित होकर अपने प्रारब्ध से प्राप्त भोगों को भोगता हुआ जहाँ कहीं रहे, वह बिना रोक-टोक के शान्ति अथवा मोक्ष को पाता है ॥७१॥

उक्तात्मनिष्ठां स्तुवन्नुपसंहरति-एषेति। एषाऽसंगकर्मपूर्विका ब्राह्मी ब्रह्मसंबंधिनी ब्रह्मप्राप्तिकेति यावत् स्थितिः स्थितप्रज्ञा लक्षणा निष्ठोक्तेति शेषः। एनां स्थितिं प्राप्य कर्मयोगी न विमुह्यति देहात्मबुद्धिं न प्राप्नोति। अस्यां स्थित्यां अन्तकाले मरणासन्नकालेऽपि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं सर्वकर्मध्वंसपूर्वकं दुःखात्यन्ताभावं निरतिशय-सुखं मोक्षमृच्छति प्राप्नोति। प्राकृतोभयशरीर त्यागपूर्वकमप्राकृतदेहवान् भूत्वा निरंतरभगवद्भजनानंदसुखानुभवयोग्यो भवतीति भावः। किं पुनर्वक्तव्यं ? यदि पूर्वसमर्थे वयस्यस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीति।

भगवत्प्राप्तिहेतुस्तत्पराभक्तिर्हि वक्ष्यते।
तदंगमात्मविज्ञानं साधनं तस्य कर्म च ॥१॥
असंगं तेन शुद्धात्मा स्थितप्रज्ञो भवेत्ततः।
सर्वदुःखविनिर्मुक्तः परां शान्तिमिगच्छति ॥२॥
इति गीतार्थसंक्षेपः श्रीकृष्णेन कृपावशात्।
अध्यायेऽस्मिन् समादिष्टो भक्तानां हितसिद्धये ॥३॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां तत्वप्रकाशिकायां जगद्विजयिश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां गीतासंग्रहार्थप्रकाशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

हे अर्जुन यह मैंने तुमसे ब्राह्मीस्थिति कही, अर्थात् आसक्तिहीन कर्म से युक्त जो स्थिति ब्रह्मसम्बधिनी या ब्रह्म को मिलानेवाली है। इस स्थिति को प्राप्तकर कर्मयोगी को मोह नहीं होता अर्थात् देह में आत्मबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। मरणकाल में भी इस स्थिति में स्थित हो जाने से मनुष्य को सब दुःखों से एकदम रहित, निरतिशय सुख का देनेवाला मोक्षपद मिलता है। अर्थात् वह जीव स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के प्राकृत शरीरों को छोड़ अप्राकृत (दिव्य) शरीर को धारण कर सदा भगवत् भजन के आनंद सुख को अनुभव करने योग्य हो जाता है और यदि वह ब्राह्मीस्थिति युवावस्था से ही हो जाय तो फिर क्या पूछना ? ॥७२॥

इस दूसरे अध्याय में भगवान् को प्राप्त करने का कारण पराभक्ति कही। इस पराभक्ति का अङ्ग आत्मस्वरूप का विज्ञान अर्थात् देह और आत्मा का यथार्थ विवेक भी बतलाया। और देहात्मविज्ञान का साधन आसक्ति रहित निष्कामकर्म करना और उस निष्कामकर्म से अन्तःकरण की शुद्धि, तब श्रीभगवान् का आश्रयग्रहण करने से इन्द्रियों का संयम, उससे स्थितप्रज्ञता और तब सब दुःखों से छुटकारा पाकर पराशान्ति (मुक्ति) लाभ होना, यह समूचे गीताशास्त्र का अर्थ संक्षेप में श्रीकृष्ण-भगवान् ने कृपा करके भक्तों के हित के लिए इसमें कहा।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ? ॥१॥

एवं तावदर्जुनस्यात्मतत्त्वोपदेशनिमित्तशोकमोहप्रदर्शनायोपोद्घातत्वेन प्रथमाध्यायो निरूपितः । ततः शोकमोहनिवृत्तये देहात्मविवेकः तत्साधनभूतासंगकर्मयोगसत्त्वशुद्धिपूर्वकभगवदाश्रयणसाध्यसर्वेन्द्रियसंयमस्ततः स्थितप्रज्ञता तत्फलं सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकपरमा शान्तिरिति सर्वगीताशास्त्रार्थः संक्षेपेण द्वितीयाध्याये निरूपितः । तत उक्तार्थस्यैव षोडशाध्यायैर्विस्तरो कृतो बोध्यः । तत्र तावत्पूर्वाध्याये 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमिति श्लोकेनात्मज्ञानहीनं मां कुत्सयित्वा 'न त्वेवाहमित्यारभ्य 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिरित्यन्तेन शोकविनाशोपायं ज्ञानयोगं मह्यमुपदिश्य पुनर्योगेत्विमां शृण्वित्युक्त्वा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि, योगस्थः कुरुकर्माणि' इत्यादिना कर्मनिष्ठामुपादेयतयाऽभिधाय 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चले'त्यादिना समाधिनिष्ठामुपदिश्य, स्थितप्रज्ञलक्षणे सर्वकाम-

---

अर्जुन को आत्मतत्त्व का उपदेश देने के लिए पहले अध्याय में भूमिका के स्वरूप में उनके शोक मोह को दिखाया। उसके बाद दूसरे अध्याय में उनके शोक मोह को छुड़ाने के लिए देह और आत्मा का विवेक अर्थात् उनकी पृथक्ता का निरूपण किया। फिर इस विवेक के साधनभूत इन्द्रिय-संयम को बताया। अनन्तर यह इन्द्रियसंयम आसक्तिहीन कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक, भगवान् का आश्रय ग्रहण करने से ही प्राप्तव्य है, यह बताया। फिर इस इन्द्रियसंयम से स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है, जिसका फल सर्वदुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमशान्ति (मुक्ति) मिलना है।

अब अर्जुन कहते हैं कि हे भगवान् ! पीछे के अध्याय में 'न शोक करने योग्य वस्तु के लिए तुम शोक करते हो' इस श्लोक से आपने मुझ (आत्मज्ञानहीन) को भर्त्सना कर "नत्वेवाहम्" इस श्लोक से प्रारम्भ कर "एषातेऽभिहिता सांख्ये", तक के श्लोकों से ज्ञानयोग को शोक के विनाश का उपाय बताया। फिर "पुनर्योगेत्विमां शृणु", ऐसा कह "कर्मण्येवाऽधिकारस्ते", "मा ते संगोस्त्वकर्मणि", "योगस्थः कुरु कर्माणि", इत्यादि से कर्मनिष्ठा का प्रतिपादन किया। फिर 'श्रुति विप्रतिपन्नाते यदा

त्यागपूर्वक-सर्वेन्द्रियसंयममात्मनैव संतुष्टत्वं चोक्त्वा 'या निशे'त्यादिना 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'इति ज्ञानफलेनोपसंहारात् मध्येऽभिहितायाः कर्मबुद्धेः सकाशात् ज्ञाननिष्ठाया ज्यायस्त्वं भगवतोऽभिप्रेतमिति प्रतीयते । एवं सति सर्वज्ञो हितोपदेष्टा गुरुर्भगवान् निकृष्टे कर्माधिकारे कथं मां नियोजयतीति संदिह्य, पृच्छति । अर्जुन उवाच—ज्यायसी चेदिति । हे जनार्दन ! श्रेयोऽर्थिभिः सर्वैर्भक्तैः स्वस्याभीष्टमर्थ्यते याच्यते तथा भूतस्त्वं मयाऽपि स्वश्रेयः साधननिश्चयार्थं याच्यते इत्यर्थः । कर्मणः सकाशात्, बुद्धिर्ज्ञानयोगाख्या मोक्षहेतुत्वेन ज्यायसी श्रेष्ठतरा चेद्यदि ते तव मता ? तत्तर्हि किं किमर्थं घोरे हिंसाबहुले युद्धाख्ये कर्मणि मां त्वदेकशरणं नियोजयसि । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिना प्रेरयसि । हे केशव ब्रह्मशिवादीनामीश्वर ! त्वया भक्तस्य मम बुद्धि-व्यामोहो न कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः ।

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

ननु नाहं त्वद्बुद्धिं मोहयामि त्वं मे किं व्यामोहकत्वं पश्यसि तद्वदेति चेत्तत्राह—व्यामिश्रेणेति । 'न त्वेवाहमि'त्यादिना ज्ञाननिष्ठामुपदिश्य 'योगस्थः कुरु कर्माणी'ति कर्मनिष्ठां चोपदिश्य पुनरन्ते

स्थास्यति निश्चला', इत्यादि से समाधिनिष्ठा का उपदेश कर सर्वकर्मत्यागपूर्वक इन्द्रियों के संयम को और आत्मा में ही आनन्द के अनुभव करने को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाया और शेष में फिर "या निशा" इत्यादि से और "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! "स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" से स्थितप्रज्ञता के ज्ञानरूपी फल का कथन किया ।

इससे मालुम होता है कि आपके मत में ज्ञाननिष्ठा कर्मबुद्धि से श्रेष्ठ है, क्योंकि आरंभ और अन्त में आपने ज्ञाननिष्ठा की ही बड़ाई की है । यदि यथार्थ में ऐसी बात है और आपका यही मत है तो आप सर्वज्ञ, हित का उपदेश देनेवाले, भगवान्, और हमारे गुरु होकर मुझे ज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट कर्म में क्यों लगाते हैं ? ऐसा ही मन में सन्देह कर अर्जुन, भगवान् से पूछते हैं—"हे जनार्दन ! (जनार्दन शब्द का अर्थ यह है कि अपने श्रेय की इच्छा करनेवाले सब भक्त आपसे अपने अभीष्ट की याचना करते हैं । मैं भी अपने श्रेय के निश्चय करने के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ ।) यदि आपके विचार में मोक्ष पाने के लिए कर्म से ज्ञानयोग अर्थात् बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तब आप मुझको, जिसके आप ही एकमात्र शरण्य हैं, ऐसे हिंसापूर्ण घोर युद्ध में "कर्मण्येवाधिकारस्ते" ऐसा कहकर क्यों लगाते हैं ? अभिप्राय यह है कि हे केशव ! अर्थात् ब्रह्मा, शिव आदि के स्वामी आपको मेरे जैसे भक्त की बुद्धि में मोह उत्पन्न करना उचित नहीं है ॥१॥

यदि भगवान कहें कि हम तो तुम्हारी बुद्धि को नहीं मोहते हैं । हमारे वचनों में मोह उत्पन्न करनेवाली कौन-सी बातें हैं ? तब भगवान् के इस प्रश्न का अर्जुन यों उत्तर देते हैं—"नत्वेवाहं जातुनासं" इत्यादि श्लोकों से आपने ज्ञाननिष्ठा का उपदेश दिया । फिर "योगस्थः कुरु कर्माणि" से

ज्ञाननिष्ठामेव सप्रशंसं यदुपदिष्टवान् भवांस्तत्ते वाक्यमधिकारिभेदाप्रतिपादनेन मदेकविषयत्वाद्व्यामिश्रेणेव वाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव। यद्यपि महाकारुणिकस्य सर्वसुहृदो गुरोस्तव मोहकत्वं नास्त्येव, तथापि तव वाक्यार्थानिश्चयान्ममैव तथा भातीतीव शब्दाभिप्रायः। यस्मादेवं तस्मादेकं ज्ञानं कर्म वा निश्चित्य वद येनानुष्ठितेनाहं श्रेयोऽर्थी श्रेय आप्नुयां प्राप्नुयाम्।

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ!।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

तत्रोत्तरं—श्रीभगवानुवाच। लोकेऽस्मिन्निति। हे अनघार्जुन! त्वं तूपदेशयोग्यः, यथा तव संदेहो जातस्तथा न मया मोक्षसाधनत्वेन परस्परनिरपेक्षत्वेन ज्ञानकर्मात्मिके द्वेनिष्ठे एकाधिकार्य्युद्देशेनाभिहिते, किन्तु एकस्याप्यधिकारभेदेनांगांगिभावेन निष्ठाद्वयमुक्तमिति विविच्य दर्शयति-लोक इति। नानाविधेऽपि अस्मिन् लोके जने मुमुक्षुजनोद्देशेन द्विविधा द्विप्रकारा ज्ञानकर्मात्मिका निष्ठा मत्प्राप्तिसाधनलक्षणा स्थितिर्यथाधिकारमसंकीर्णा पुरा पूर्वाध्याये मयोक्ता 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'इत्यादिना। अधिकारभेदमेव दर्शयति—ज्ञानेति। सम्यक्ख्यायते आत्मतत्त्वमनयेति संख्या बुद्धिस्तन्निष्ठाः सांख्यास्तेषां यथाऽधिकारमनभिहितफलकैरीश्वराराधनभूतैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणानां

कर्मनिष्ठा का उपदेश किया और अन्त में फिर ज्ञाननिष्ठा की ही प्रशंसा कर उसी का उपदेश दिया, और ये सब बातें अधिकारी भेद के अभाव में मेरे ही लिए कही गईं। अर्थात् मैं ही इन दोनों ज्ञान और कर्मनिष्ठाओं का अधिकारी माना गया। इसलिए इन बातों से मेरे मन में मोह जैसा मालुम होता है। (यद्यपि परम कारुणिक, सबको भलाई करनेवाले और गुरु होकर आप मोह पैदा नहीं करना चाहते हैं, पर वाक्यार्थ का निश्चय न होने के कारण मुझको ही मोह-सा मालुम पड़ता है। इस श्लोक में 'इव' शब्द का व्यवहार करने का यही भाव है।) अतएव ज्ञान या कर्म किसी एक को निश्चय करके कहिए जिससे कल्याण चाहनेवाले मुझको श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो ॥२॥

अर्जुन के प्रश्न का भगवान् उत्तर देते हैं—हे पापरहित अर्जुन! (पापरहित कहने का आशय यह है कि तुम उपदेश के योग्य हो।) जैसा तुमने सन्देह किया है वैसी बात नहीं है। मैंने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा को मोक्ष के साधन में परस्पर निरपेक्ष अर्थात् बिना सम्बन्ध के नहीं बतलाया है। और यही कहा है कि एक मनुष्य के लिये भी अधिकार भेद से ये दोनों निष्ठायें अंगाङ्गी सम्बन्धवाली हैं। इसी बात को अधिक स्पष्ट कर भगवान् आगे कहते हैं—

पीछे के अध्याय में एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" इत्यादि श्लोकों से मैंने यह कहा था कि इस नानाविध मनुष्यवाले संसार में मुमुक्षुजनों के लिए दो प्रकार की निष्ठाएँ होती हैं। एक ज्ञाननिष्ठा और दूसरी कर्मसम्बन्धी निष्ठा। इन दोनों निष्ठाओं से मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकता है। अधिकारी भेद से दोनों पृथक् और अमिश्रित हैं। (अब अधिकार का भेद नीचे दिखाते हैं।) जिन

ज्ञानयोगेन स्थितप्रज्ञता लक्षणा निष्ठोक्ता। 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः'। इत्यादिना। योगिनां पूर्वमननुष्ठितानभिसंहितफलकर्मणामशुद्धान्तः करणानां मुमुक्षूणामुक्तसांख्यनिष्ठामारुरुक्षूणामन्तःकरणशुद्धिद्वारा स्थितप्रज्ञतालक्षणज्ञानारूढताप्राप्त्यर्थं योगो निष्कामकर्मानुष्ठानं तद्वतां योगिनां कर्मयोगेन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिना निष्ठा स्थितिरुक्ता। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन इति श्रुतेः कर्मणां विविदिषायां विनियोगात्। न चैषोधिकारभेदोऽनुष्ठातृपुरुषभेद एव नियत इति शंकनीयम्, एकस्यापि पुरुषस्यावस्थाभेदेनाधिकार—भेदस्य संभवात्। तथाहि 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते।' इति श्रुतिस्मृत्यभिहिताविद्याशब्दवाच्येन कर्मणा पुरुषो मृत्युं प्रमादं तीर्त्वा तत्कारणमन्तःकरणमलं विधूय विद्ययाऽमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति इति श्रुत्यर्थानुसारेण मुमुक्षायां जातायां पुरुषो न सहसा ज्ञानेऽधिकरोति[1]। अपितु निष्कामकर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्धिद्वारेणैवेति भगवतानिष्ठाद्वयमुपदिष्टम्। यस्य तु

मुमुक्षुओं का अन्तःकरण यथाधिकार निष्काम ईश्वराराधन रूप कर्मों से शुद्ध हो गया है, इस कारण जिनकी आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि में निष्ठा है, ऐसे सांख्यों के लिए ज्ञानयोग से स्थितप्रज्ञ लक्षणवाली निष्ठा होना मैंने "तानि सर्वाणिसंयम्य युक्त आसीत मत्पर" इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादन किया। और जिन मुमुक्षुओं का अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध नहीं हुआ है, पर ऊपर कही गई सांख्यनिष्ठा के पथ के पथिक और मुमुक्षु हैं, उनको अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा स्थितप्रज्ञता लक्षण ज्ञान के मार्ग पर चलने के लिए मैंने "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इत्यादि श्लोकों से कर्मयोग की निष्ठा प्रतिपादन की। श्रुति भी भगवान को जानने की योग्यता उत्पन्न करने में कर्म की उपयोगिता कहती है। यथा—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन" अर्थात् वेदाध्ययन यज्ञ, तप, दान और उपवास से ब्राह्मण लोग उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। यहां ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि अधिकार भेद से अधिकारी का भी भेद अवश्य ही होगा, क्योंकि एक ही मनुष्य अवस्थाभेद से ज्ञान और कर्म दोनों का अधिकारी हो सकता है, अर्थात् एक ही मनुष्य पहले कर्मयोगी होकर, जब निष्काम कर्म से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाए तो ज्ञानयोग का अधिकारी बन सकता है। फिर स्मृति कहती है—

पुरुष अविद्या अर्थात् कर्म से मृत्यु नाम प्रमाद को पार करके विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। अविद्या का ही नाम कर्म है, और इसको तीसरी शक्ति कहते हैं। (परा और अपरा ये दो शक्तियां और हैं।) इस श्रुतिस्मृति से कथित अविद्या अर्थात् कर्म से मनुष्य प्रमाद को पारकर (उसके कारण अन्तःकरण के मल को धोकर) विद्या से मोक्ष लाभ करते हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मुमुक्षु पुरुष सहसा ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। किन्तु निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करके ही ज्ञान का अधिकारी हो सकता है। जिस पुरुष

१—अधिकारी भवति।

कर्मानुष्ठानं विनैवेह जन्मन्युक्तलक्षणं ज्ञानं जायेत तस्य जन्मान्तरानुष्ठितनिष्कामकर्मभिरन्तःकरण-शुद्धिरनुमेयेति नोत्तरव्यवस्थायां कश्चिद्विरोधः ।

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्मणां ज्ञानार्थे विनियोग इत्युक्तं तदभावे न ज्ञानप्राप्तिरित्याह—न कर्मणामिति । स्वस्ववर्णाश्रमोचितभगवदाज्ञापालनात्मककर्मणामनारम्भादकरणान्नैष्कर्म्यं कर्मराहित्यं ज्ञानं पुरुषो नाश्नुते न प्राप्नोति । ननु 'एतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती'ति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव मोक्षाभिधानात्किं कर्मभिरित्यत आह—न चेति । चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानं विना कृतात्केवलात्संन्यासात्सिद्धिं मोक्षं न च समधिगच्छति प्राप्नोति । लोके संन्यासीति प्रथामात्रप्राप्तावपि न संन्यासफलभाग्भवतीत्यर्थः[1] ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यतेह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

तस्य फलपर्यवसायित्वं दूरे तिष्ठतु तावत्सर्वकर्मसंन्यासएवाशक्य इत्याह नहीति जातु कदाचित् कश्चिदपि मूर्खो ज्ञानी वा क्षणमपि अकर्मकृत्कर्माकुर्वाणो न हि तिष्ठति । हीत्यवधारणे । नैव तिष्ठति ।

को इस संसार में कर्म के अनुष्ठान के बिना ही उक्त प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, समझना चाहिए कि उसने पूर्व जन्म में निष्काम कर्म करके अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर ली है ॥३॥

कर्मों का उपयोग ज्ञानप्राप्ति के लिए है, ऐसा पूर्व श्लोक में कहकर अब यह बतलाते हैं कि कर्म के न करने से ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकती ।

भगवदाज्ञा समझ अपने अपने वर्णाश्रम के कर्मों को नहीं करने से मनुष्य, कर्म से राहित्य अर्थात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । पर श्रुति कहती है कि—"एतमेव लोकमिच्छन् प्रव्रजन्ति" अर्थात् परब्रह्म के लोक की इच्छा करनेवाले सब कर्मों को पूर्णरूप से त्याग देते हैं। इस प्रकार जब सब कर्मों के त्याग को ही श्रुति ने मोक्ष का कारण बताया, तो फिर कर्म करने से क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर यहाँ देते हैं कि चित्तशुद्धि के अभाव में ज्ञान नहीं होता है और ज्ञान के बिना केवल सन्यास से सिद्धि अर्थात् मोक्ष को कोई प्राप्त नहीं कर सकता । संसार में नाममात्र का सन्यासी कहलाकर भी ऐसा अशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष सन्यास के फल का अधिकारी नहीं हो सकता ॥४॥

सन्यास का फल मिलना तो दूर रहा, पहले सब कर्मों का छोड़ना ही असम्भव है । इसी अभिप्राय को इस प्रकार कहते हैं—

मूर्ख या ज्ञानी कोई भी कभी क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता । अर्थात् वैदिक अथवा लौकिक कर्म वह जरूर करेगा ही । क्योंकि वह अवश (बन्धन में) है । अर्थात् जब तक

1—नाप्नुवतीति भावः ।

अपि तु वैदिकं लौकिकं वा कर्मकुर्वन्नेव तिष्ठतीत्यर्थः। हि यतोऽवशः यावत्स्थूलसूक्ष्मदेहहेतुभूतकर्मास्ति तावत्प्रकृतिवशगस्तस्मात्प्रकृतिजैः सर्वजगद्धेतुप्रकृतिसमुद्भवैः सत्वादिभिर्गुणैः सर्वोऽपि जनः कर्म कार्य्यते। बलात्कर्मणि नियुज्यते। तस्मान्मुमुक्षुणा ज्ञानप्रतिबंधकपापक्षयार्थं स्वोचितः कर्मयोग एवानुष्ठेयः।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

ननु कर्मणः कर्मेन्द्रियाधीनत्वात् तन्नियमने कर्म कथं स्यादिति चेत्तत्राह—कर्मेन्द्रियाणीति। यो विमूढात्मा अनादिविषयवासनया मलीमसत्वेनऽऽत्मतत्त्वस्मरणानर्हतया विषयासक्तमनाः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, मनसा इन्द्रियार्थान्विषयान् स्मरन्नास्ते, स मिथ्याचार उच्यते। निष्कामकर्मानुष्ठानं विनाऽनादिपापानिवृत्त्या मनसो विषयासंगोऽवर्जनीय इति भावः। तस्मात्परमार्थोपयोगित्वाभावात् सर्वकर्मसंन्यास्यहमिति लोके दर्शयितुं मिथ्या वृथैव कर्मेन्द्रियसंयमरूपाचारो यस्य स तथाऽऽच्यते। शास्त्रविद्भिरिति शेषः।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

तस्माद्विषयासक्तिशून्यः कर्मकर्त्ताऽपि ततः श्रेष्ठ इत्याह—यस्त्विति। तु शब्दः पूर्वोक्तसंन्यासिनो

स्थूल और सूक्ष्म शरीर के कारणरूप कर्म स्थित हैं तब तक वह प्रकृति के आधीन है। इसलिए प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तमोगुण ये सबसे बलात्कार कर्म कराते हैं। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान की प्राप्ति में प्रतिबन्धक (रुकावट डालनेवाले) पापों के नाश के लिए अपने वर्ण और आश्रम के उचित कर्मों को जरूर करना चाहिए ॥५॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि कर्म कर्मेन्द्रियों के आधीन हैं, तब इन्द्रियों का नियम न होने से कर्म कैसे सम्भव हो सकता है? इस शंका का उत्तर भगवान इस प्रकार देते हैं, यथा—

अनादि विषयवासना से उत्पन्न मलिनता के कारण आत्मतत्त्व के विचार के अयोग्य और इस कारण विषयों में आसक्त जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों का नियमन कर मन से विषयों का स्मरण करता रहता है, उस मनुष्य को शास्त्र के जाननेवाले मिथ्याचारी कहते हैं। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म के अनुष्ठान के बिना अनादि पाप की निवृत्ति नहीं होती, और इस निवृत्ति के बिना मन का विषय से संग नहीं छूट सकता। इसलिए सब कर्मों का बनावटी संन्यास (त्याग) मोक्ष का देनेवाला नहीं हो सकता। ऐसा संन्यासी निरर्थक संन्यास का ढकोसला दिखाता है और उसका कर्मेन्द्रियों का संयमरूप आचार व्यर्थ है ॥६॥

इस कारण ऐसे मिथ्याचारी संन्यासी से विषयासक्ति से शून्य कर्म का करनेवाला श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् यही भाव यहाँ प्रकट करते हैं—

वैलक्षण्यद्योतनार्थः। इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि आत्मस्मरणयोग्येन विषयविमुक्तेन मनसा नियम्य वशीकृत्य कर्मेन्द्रियैः वाक्पाणिपादादिभिः कर्मयोगमसक्तः फलाभिसन्धिरहितः सन् य आरभते स क्रमेण मोक्षं योयोग्यत्वाद्विशिष्यते श्रेष्ठो भवति।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

पूर्वोक्तयत्तच्छब्दाभ्यामन्यपर एवायमुपदेश इति न मन्तव्यमित्याह—नियतमिति। मोहलिंगेन पूर्वमकृतनिष्कामकर्मा त्वं नियतं नित्यकर्त्तव्यतया विहितं स्नानसंध्योपासनतर्पणादिकं कर्म कुरु। हि यस्मादकर्मणः कर्माकरणात्कर्म ज्यायः प्रशस्यं पापक्षयहेतुत्वात्। न केवलं प्रशस्यतरया कर्त्तव्यमपि तु अकर्मणः सर्वकर्मरहितस्य तव शरीरयात्रा देहनिर्वाहोऽपि न प्रकर्षेण सिद्ध्येत्कुतोऽन्यदिति अपि शब्दार्थः।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

ननु 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैरि'ति श्रुतेः 'कर्मणा बध्यते जन्तुरि'ति स्मृतेश्च सर्वकर्मणो बन्धनत्वाभिधानात्कथं मां तत्रैव प्रवर्त्तयसीति विवक्षुं मत्वाऽऽह—यज्ञार्थादिति। यज्ञो विष्णुः 'यज्ञो वै

श्लोक में "तु" शब्द के प्रयोग से पूर्वोक्त बनावटी संन्यासी के इस प्रकार के कर्मयोगी की विलक्षणता जानना (बताना) अभीष्ट है। आँख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों को आत्मचिन्तन के योग्य, और विषयों से रहित, मनद्वारा वश करके वाणी तथा हाथ-पैर इत्यादि कर्मेन्द्रियों से जो, कर्म के फल की आशा से शून्य हो, कर्मों को करता है वह क्रम से मोक्ष की योग्यता प्राप्त करता है। इसलिए ऐसा पुरुष पूर्वकथित बनावटी संन्यासी से कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥७॥

हे अर्जुन! तुम्हारे मोह से यह मालुम होता है कि तुमने पूर्व में निष्काम कर्म नहीं किया। तुम नियत अर्थात् शास्त्र से विहित नित्य कर्म यथा स्नान, संन्योपासना, तर्पणादि कर्मों को करो, क्योंकि कर्म नहीं करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। कारण कि नित्यकर्मों को नहीं करने से पाप होता है और उनको करने से विधिलंघनरूप पाप का क्षय होता है। कर्म नहीं करने से कर्म करना श्रेष्ठ है, केवल इसीलिए करना चाहिए सो बात नहीं है। इसका और भी कारण है। वह यह कि कर्म नहीं करने से शरीरयात्रा भी ठीक रीति से नहीं चल सकती और बात तो दूर रही ॥८॥

श्रुति में लिखा हुआ है कि—"ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" अर्थात् मनुष्य, देव नाम परब्रह्म को जानकर सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है। फिर स्मृति कहती है कि "कर्मणाबध्यते जन्तुः" अर्थात् कर्मों से जीव बाँधा जाता है। इन सब वाक्यों से कर्म बन्धनरूप कहा गया है। तब मुझे उसी कर्म में आप क्यों लगाते हैं? अर्जुन की इस शंका का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं—श्रुति में लिखा हुआ

विष्णुरि'ति श्रुतेः तदर्थं तदाराधनं तदाज्ञापालनात्मकं यत्कर्म ततोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी जनः कर्मबन्धनः कर्मैव बन्धनं यस्य स तथा कर्मणा बध्यते इत्यर्थः अतस्तदर्थं विष्णुप्रीत्यर्थं कर्म हे कौन्तेय ! मुक्तसंगः फलसंकल्परहितः सन् सम्यग्विधिश्रद्धापूर्वकमाचर ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

एवं मुमुक्षुणा ज्ञानलाभाय विष्णुप्रीत्यर्थं तदाराधनात्मकं निष्कामकर्मकर्त्तव्यमित्युक्तमिदानीं विष्ण्वाराधनरूपं कर्म स्वभक्तार्थमेवोपदिशामि, न तु सर्वजनेभ्यः । यतो मद्भक्तेतरे सर्वे जनाः सृष्टिवृद्धये प्रजापतिना विष्णिवतरदेवताऽऽराधने काम्ये कर्मणि नियुक्ता इति ज्ञापनाय प्रजाः प्रति तन्नियोगमाह—सहयज्ञा इति चतुर्भिः । सहयज्ञाः यज्ञसाधनद्रव्यक्रियाकलापसहिताः प्रजाः ब्राह्मणादित्रिवर्णान् पुरा सर्गकाले कल्पादौ सृष्ट्वा प्रजापतिर्ब्रह्मोवाच । किं ? तदाह । अनेन यज्ञेन यथावर्णाश्रमोचितविधिश्रद्धायुक्तेन प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिः उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । अनेन कथं वृद्धिः स्यादत आह—एष यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुगस्तु । इष्टानभीष्टान्कामान्दोग्धीति तथा ऐहिकामुष्मिकाभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः । इहेत्थं काम्यकर्मणि नियोगः प्रलोभनं चोक्तसंगत्यैव संगच्छते । अन्यथा—'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते, असक्तः स विशिष्यते, मुक्तसंगः समाचरे'ति प्रकृतनिष्कामकर्मोपदेश-

---

है कि "यज्ञोवै विष्णुः" अर्थात् विष्णु ही यज्ञ हैं । यज्ञ के अर्थ अर्थात् विष्णु के लिए उनकी आराधनारूप और उनके आज्ञापालनरूप कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों में प्रवृत्त लोगों का कर्म बन्धनरूप होता है । अर्थात् ऐसे ही कर्मों में मनुष्य बन्धन प्राप्त करते हैं । इसलिए हे अर्जुन ! तुम फलसंकल्प से रहित हो, श्रद्धा और विधिपूर्वक, विष्णु की प्रीति के लिए, कर्मों को करो ॥९॥

ज्ञानप्राप्ति के लिए मुमुक्षुओं को विष्णुप्रीत्यर्थ विष्णु का आराधनरूप निष्काम कर्म करना चाहिए । ऐसा कहकर भगवान् अब यह कहते हैं कि यह उपदेश सबके लिए नहीं है, केवल मेरे भक्तों के लिए है । इसका कारण यह है कि ब्रह्मा ने हमारे भक्तों के अतिरिक्त और लोगों को सृष्टि की वृद्धि के लिए, विष्णु से इतर और देवताओं के आराधनरूप काम्यकर्म में लगाया । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रजा के प्रति ब्रह्मा को जो आज्ञा हुई उसका वर्णन चार श्लोकों में करते हैं—

कल्प के आरम्भ में जब सृष्टि हुई तब ब्रह्मा ने यज्ञ के साधन, द्रव्य और क्रिया कलापों के साथ ब्राह्मणादि तीनों वर्णों को उत्पन्न कर यह उपदेश किया कि तुम लोग इस यज्ञ से अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल विधि और श्रद्धायुक्त होकर कर्म करने से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो (यज्ञ से वृद्धि कैसे होगी यह आगे बताते हैं) और यह यज्ञ तुम लोगों के इच्छित पदार्थ का देनेवाला हो, अर्थात् यह यज्ञ लोक में और परलोक में तुमको अभीष्ट भोग प्रदान करे ।

यहाँ काम्य कर्मों में नियोग और इसके लिए प्रलोभन ऊपर कहे हुए विष्णुभक्त से इतर लोगों के निमित्त ही है । नहीं तो भगवान् ने जो निष्कामकर्म का उपदेश किया है, उससे विरोध पड़

विरोधात् । 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुष' इत्यादिवक्ष्यमाणात्मरतस्य कर्मनिरपेक्षत्वोक्तेरनासक्त्या चरतो मोक्षकथनोक्तेर्जनकादिनिदर्शनाच्चासंगत स्यादिदमेव विस्तरेण ।

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

कथमयमिष्टकामधुक् स्यादित्यपेक्षायामाह—देवानिति । अनेन यज्ञेन यूयं देवानिन्द्रादीन्भावयत हविर्भागे वर्द्धयत । ते देवा वर्धिताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्याऽन्नोत्पत्तिद्वारेण धनसंततिदानेन वर्द्धयन्तु । एवं परस्परं अन्योन्यं भावयन्तो यूयं देवाश्च परं श्रेयोऽभिमतार्थं प्राप्स्यथ ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

उक्तार्थं दृढीकुर्वंस्तस्याकर्तुर्दोषमाह इष्टानिति । यज्ञैर्भाविता देवा युष्मभ्यमिष्टान्भोगान्हि निश्चितं दास्यन्ते । यस्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय बलिवैश्वदेवाग्निहोत्राद्यकरणेनादत्त्वा यो भुङ्क्ते स स्तेन एव, स चौरवद् दण्ड्य इति भावः ।

जाएगा। यथा—"न कर्मणा मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। असक्तः स विशिष्यते, मुक्तसंगः समाचर।" फिर आगे के अध्याय में भी नीचे लिखे श्लोकों से भगवान् ने आत्मा में रत पुरुषों को कर्म के विषय में निरपेक्ष कहा है। और आसक्तिहीन होकर कर्मों का करना मोक्ष का कारण बतलाया है। इससे ऊपर लिखित प्रजापति का उपदेश केवल विष्णुभक्त से इतर सांसारिक विषयसुख की वासनावाले जनों के लिए ही है। ऐसा नहीं मानने से नीचे लिखे श्लोकों से विरोध पड़ेगा। यथा—"यस्त्वात्म-रतिरेवस्या-दात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः" ॥१०॥

यज्ञ अभिलषित पदार्थ का देनेवाला कैसे होगा, इसको कहते हैं—

इस यज्ञ से तुम लोग इन्द्रादि देवों का उपकार करो अर्थात् हवि प्रदान कर उनकी वृद्धि करो। और वे भी उपकारवर्द्धित होकर तुम्हारा उपकार करें, अर्थात् वर्षा प्रदान कर अन्न उपजावें और धन-सन्तान आदि देकर तुमको बढ़ावें। इस प्रकार एक दूसरे की भलाई करते हुए तुम और देवता लोग अपने-अपने परम श्रेय अर्थात् इच्छित फल को पाओगे ॥११॥

ऊपर कहे हुए को दृढ़ करने के लिए वैसा नहीं करने में दोष दिखाते हैं—यज्ञ से अभिलषित सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे भोगों को जरूर देंगे। जो इन देवताओं द्वारा दिए गए भोगों को उनको बिना दिए हुए ही अर्थात् बिना बलिवैश्वदेव अग्निहोत्र इत्यादि किए हुए भोगता है वह चोर है, चोर के समान दण्डनीय है ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

तस्माद्देवार्चानुभोजिनो निर्दोषा इत्याह—यज्ञशिष्टाशिन इति। यज्ञशिष्टं देवर्षिभूतार्चनाख्य-पञ्चमहायज्ञावशिष्टमन्नं येऽश्नन्ति ते सन्तः सदाचाराः सर्वकिल्बिषैर्विहिताकरणाविहितकरणजैः स्वर्ग-प्रतिबन्धकैः पञ्चसूनोद्भवैर्मुच्यन्ते। पञ्च यज्ञास्तु—'पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः। अमी पंच महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामका ॥" इत्युक्ताः॥ पंचसूनाश्च 'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी। पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विदन्ति। पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहती'ति स्मृत्युक्ताः। येत्वात्मकारणात् आत्मनः स्वस्य भोजनार्थं पचन्ति, न तु देवाद्यर्थं, ते पापाः पापाचारा अत्र पञ्चसूनानिमित्तं विध्युपेक्षादिनिमित्तं च पापं भुञ्जते प्राप्नुवन्ति।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

एवं जगत्प्रवृत्त्यधिकारिणः कर्मकरणाकरणयोर्हेतुना गुणदोषौ दर्शयित्वा पुनः तस्यैव कर्माकरणे हेत्वन्तरेण दोषमाह—अन्नादिति त्रिभिः। भुक्तादन्नाद्रजोरेतोरूपेण परिणतानि सजीवानि शरीराणि भवन्ति उत्पद्यन्ते। पर्जन्याद्वृष्टेरन्नस्य संभवः प्रसिद्धः। पर्जन्यो यज्ञाद्भवतीति शास्त्रेण ज्ञायते।

इसलिए देवार्चन के पश्चात् भोजन करनेवाले निर्दोष हैं। इसी आशय को अब सविस्तार कहते हैं—

देव, ऋषि, भूतादि से अर्चनरूप जो पञ्च महायज्ञ हैं, उन यज्ञों से बचे हुए अन्न का जो पुरुष भोजन करते हैं, वे सदाचारी मनुष्य विहित कर्मों को नहीं करने से तथा अविहित करने से उत्पन्न स्वर्गप्राप्ति में रुकावट डालनेवाले पापों से बिल्कुल मुक्त हो जाते हैं। ये पाप पञ्चसूना से उत्पन्न होते हैं। वे पञ्चसूना ये है—"कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, उदकुम्भी च मार्जनी। पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति। पंचसूनाकृतं पापं पंचयज्ञैर्व्यपोहति।" अर्थात् मूसल से कूटना, चक्की में पीसना, चूल्हे पर सिझाना, धोना और बुहारना ये पाँच पाप गृहस्थों से होते हैं। इनके कारण वे स्वर्ग में नहीं जा सकते। उक्त पंचसूना से किए पाँच पाप, महायज्ञ से नष्ट होते हैं। पञ्च महायज्ञ ये हैं—"पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः। अमी पंच महायज्ञा ब्रह्म यज्ञादि नामकाः॥" अर्थात् वेदपाठ, होम, अतिथि सेवा, तर्पण और बलि ये ही पांच ब्रह्मयज्ञादि नामवाले महायज्ञ हैं। परन्तु जो अपने लिए ही भोजन बनाते हैं, देवताओं के लिए नहीं, वे पापाचारी पंचसूना और विधि की उपेक्षा करने के कारण पाप के भागी होते हैं ॥१३॥

जगत् में प्रवृत्ति के अधिकारी पुरुषों को कर्म न करने का और करने का गुण दिखलाकर फिर अब दूसरी रीति से उनके कर्म के नहीं करने का दोष तीन श्लोकों से दिखाते हैं—

भोजन किए हुए अन्न से रज, वीर्य उत्पन्न होकर जीव के साथ शरीर उत्पन्न होते हैं। और

यज्ञश्च समिदाज्यादिद्रव्यस्य मंत्रपुरःसरमग्नौ प्रक्षेपणादिरूपकर्तृव्यापाररूपात्कर्मणः समुद्भवति इति सर्वं विलोमेनाह मनुः 'अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५।

यज्ञहेतुभूतं कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि । अत्र ब्रह्मशब्देन प्रकृतिपरिणामरूप शरीरं विविक्षितं 'तदेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' इतिश्रुतौ ब्रह्मशब्देन प्रकृतिर्निर्दिष्टा, इहापि चतुर्दशाध्याये वक्ष्यते । 'मम योनिर्महद्ब्रह्मे'ति । अतो ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टप्रकृतिपरिणामरूपशरीरोद्भवं कर्मेति युक्तम् 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'इति प्रकृतेः कर्महेतुत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । तच्चशरीररूपेणैव सम्भवति । ब्रह्म उक्तस्वरूपमक्षरसमुद्भवम् । अत्राक्षरशब्देन पुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दवाच्यो जीवात्मोच्यते । 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इतिवक्ष्यमाणत्वात् । तेनाधिष्ठितं शरीररूपं प्रकृत्याख्यं ब्रह्म भुक्तान्नपानादिनापुष्टया लब्धसामर्थ्यं सत्कर्मोत्पादने योग्यो भवति । कार्योत्पादनयोग्यतैव समुद्भवशब्देनाभिहिता, अतो ब्रह्माक्षर-

---

वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, यह सभी जानते हैं । मेघ या वृष्टि यज्ञ से होती है, यह शास्त्र कहता है और यज्ञ काष्ठ, घी आदि द्रव्यों को अग्नि में मन्त्र के साथ डालने पर कर्त्ता के व्यापाररूप कर्म से उत्पन्न होता है । मनु ने भी उल्टी रीति से इसी बात को कहा है । यथा—"अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है । सूर्य से वृष्टि होती है । पुनः वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

यज्ञ के हेतुभूत कर्म को ब्रह्म से पैदा हुआ जानो । (यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति का परिणाम स्वरूप शरीर है ।) श्रुति में भी ब्रह्म शब्द प्रकृति के अर्थ में व्यवहार किया गया है । यथा—"तदेतत् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥" अर्थात् यह ब्रह्म नाम रूप और अन्न होता है । फिर चौदहवें अध्याय में भी भगवान् "मम योनिर्महद्ब्रह्म" ऐसा कहेंगे, अर्थात् मेरी योनि अर्थात् प्रकृति (सर्वभूतोत्पत्ति स्थान) महद्ब्रह्म है । इसलिए ब्रह्म शब्द से निर्दिष्ट प्रकृति के परिणाम रूप शरीर से ही कर्म उत्पन्न होता है, यह अर्थ बहुत ठीक हुआ, क्योंकि आगे भगवान् प्रकृति को ही कर्म का हेतु कहेंगे, यथा—"कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते" अर्थात् कार्यकारण के होने में प्रकृति ही हेतु है । और प्रकृति का कार्यकारण का हेतु होना शरीर के द्वारा ही सम्भव हो सकता है ।

ऊपर कहे हुए स्वभाववाला ब्रह्म (शरीर) अक्षर से उत्पन्न हुआ । यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ पुरुष, क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों से वाच्य जीवात्मा समझना चाहिए । क्योंकि आगे भगवान कहेंगे—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते" अर्थात् कूटस्थ जो जीव है उसी को अक्षर कहते हैं । इस जीव से अधिष्ठित शरीररूप प्रकृति नामवाला ब्रह्म भोजन किए हुए अन्नपानादि से पुष्ट हो सामर्थ्य प्राप्त कर अच्छे कर्मों को करने की योग्यता प्राप्त करता है । कार्य के उत्पादन की योग्यता प्राप्त करना ही "समुद्भव"

यज्ञश्च समिदाज्यादिद्रव्यस्य मंत्रपुरःसरमग्नौ प्रक्षेपणादिरूपकर्त्तृव्यापाररूपात्कर्मणः समुद्भवति इति सर्वं विलोमेनाह मनुः 'अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

यज्ञहेतुभूतं कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि । अत्र ब्रह्मशब्देन प्रकृतिपरिणामरूप शरीरं विवक्षितं 'तदेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' इतिश्रुतौ ब्रह्मशब्देन प्रकृतिर्निर्दिष्टा, इहापि चतुर्दशाध्याये वक्ष्यते । 'मम योनिर्महद्ब्रह्मे'ति । अतो ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टप्रकृतिपरिणामरूपशरीरोद्भवं कर्मेति युक्तम् 'कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'इति प्रकृतेः कर्महेतुत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । तच्चशरीररूपेणैव सम्भवति । ब्रह्म उक्तस्वरूपमक्षरसमुद्भवम् । अत्राक्षरशब्देन पुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दवाच्यो जीवात्मोच्यते । 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इतिवक्ष्यमाणत्वात् । तेनाधिष्ठितं शरीररूपं प्रकृत्याख्यं ब्रह्म भुक्तान्नपानादिनापुष्ट्या लब्धसामर्थ्यं सत्कर्मोत्पादने योग्यो भवति । कार्योत्पादनयोग्यतैव समुद्भवशब्देनाभिहिता, अतो ब्रह्माक्षर-

---

वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, यह सभी जानते हैं। मेघ या वृष्टि यज्ञ से होती है, यह शास्त्र कहता है और यज्ञ काष्ठ, घी आदि द्रव्यों को अग्नि में मन्त्र के साथ डालने पर कर्त्ता के व्यापाररूप कर्म से उत्पन्न होता है। मनु ने भी उल्टी रीति से इसी बात को कहा है। यथा—"अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है। सूर्य से वृष्टि होती है। पुनः वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

यज्ञ के हेतुभूत कर्म को ब्रह्म से पैदा हुआ जानो। (यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति का परिणाम स्वरूप शरीर है।) श्रुति में भी ब्रह्म शब्द प्रकृति के अर्थ में व्यवहार किया गया है। यथा—"तदेतत् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥" अर्थात् यह ब्रह्म नाम रूप और अन्न होता है। फिर चौदहवें अध्याय में भी भगवान् "मम योनिर्महद्ब्रह्म" ऐसा कहेंगे, अर्थात् मेरी योनि अर्थात् प्रकृति (सर्वभूतोत्पत्ति स्थान) महद्ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म शब्द से निर्दिष्ट प्रकृति के परिणाम रूप शरीर से ही कर्म उत्पन्न होता है, यह अर्थ बहुत ठीक हुआ, क्योंकि आगे भगवान् प्रकृति को ही कर्म का हेतु कहेंगे, यथा—"कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते" अर्थात् कार्यकारण के होने में प्रकृति ही हेतु है। और प्रकृति का कार्यकारण का हेतु होना शरीर के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

ऊपर कहे हुए स्वभाववाला ब्रह्म (शरीर) अक्षर से उत्पन्न हुआ। यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ पुरुष, क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों से वाच्य जीवात्मा समझना चाहिए। क्योंकि आगे भगवान कहेंगे—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते" अर्थात् कूटस्थ जो जीव है उसी को अक्षर कहते हैं। इस जीव से अधिष्ठित शरीररूप प्रकृति नामवाला ब्रह्म भोजन किए हुए अन्नपानादि से पुष्ट हो सामर्थ्य प्राप्त कर अच्छे कर्मों को करने की योग्यता प्राप्त करता है। कार्य के उत्पादन की योग्यता प्राप्त करना ही "समुद्भव"

समुद्भवमित्युक्तं, प्रकृतिरपि क्षेत्रज्ञाधिष्ठितैव कार्योत्पादने समर्था, न केवला। तथा चोक्तं विष्णुपुराणे। 'गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने। गुण व्यञ्जनसंभूतः सर्गकाले द्विजोत्तमे'ति यस्मादक्षरशब्दवाच्यं जीवाधिष्ठितं शरीरात्मया परिणतं प्रकृत्याख्यं ब्रह्म यज्ञहेतुभूतकर्मोत्पादकं तस्मात्सर्वगतं यज्ञादिकर्मसु सर्वाधिकारे गतं प्राप्तम्, न तेन विना यज्ञप्रवृत्तिर्भवेदिति भावः। अतएव नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं यजमानहोत्रादिशरीरं नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं, प्रकर्षेण स्थितं पूजितं वेत्यर्थः।

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ! स जीवति ॥१६॥

एतेन किं निर्दिष्टमित्यत आह—एवमिति। अयं भावः परमेश्वरेणादौ सृष्टिकाले स्वस्मिन् लीनानां जीवानां तत्तत्कर्मफलभोगसिद्धये स्वांशभूतजीवानुप्रवेशेन प्रकृतिपरिणामद्वारा नामरूपविभागं कृत्वा, चतुर्मुखद्वारेण ब्राह्मणादीनुत्पाद्य सृष्टिवृद्ध्यर्थं तेभ्योऽन्नादिभोगम् प्रदर्श्य, ततो ब्राह्मणादीनां यज्ञादिकर्मोत्पादनसामर्थ्यं, ततः कर्मोत्पत्तिस्ततो यज्ञसंभवस्ततो वृष्टिस्ततः पुनरन्नोत्पत्तिस्ततः सर्वाणि

शब्द का अर्थ है। इसीलिए ब्रह्म (प्रकृति) का अक्षर से समुद्भव कहा। प्रकृति भी क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव का आश्रय ग्रहण करके ही कार्य करने में समर्थ होती है। अकेली वह कुछ नहीं कर सकती। विष्णु-पुराण में भी यही बात कही गई है। यथा—

"गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ! ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतः सर्गकाले द्विजोत्तम ! ॥"

अर्थात् हे द्विजों में श्रेष्ठ ! हे मुने ! सृष्टि के गुणों में पूर्व में समता थी। फिर सृष्टि के समय में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव का आश्रय पाकर गुणों का प्रकाश हुआ। क्योंकि अक्षर शब्द से वाच्य, जीव से अधिष्ठित, शरीररूप प्रकृतिनामवाला ब्रह्म, यज्ञ के हेतुभूत कर्मों का उत्पादक है, अर्थात् शरीर द्वारा ही यज्ञ के सब कर्म होते हैं, इसलिए यज्ञादि सब कर्मों में वह शरीर आवश्यक है। उसके बिना यज्ञ की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये यजमान, होता, ब्रह्मा आदि के शरीर नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् अच्छी रीति से स्थित वा पूजित हैं। कहने का तात्पर्य यह कि शरीर से कर्म होता है और शरीर जीव के बिना ठहर नहीं सकता। इसलिये सब यज्ञकर्मों में जीव से अधिष्ठित शरीर की आवश्यकता है अर्थात् शरीर प्रधान है ॥१५॥

सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर ने अपने में लीन जीवों को उनके कर्मफल भोगने के लिये, अपने अंशभूत जीवों में प्रवेश करके, प्रकृति का परिणाम, शरीरादि द्वारा नाम रूप का विभाग कर ब्रह्मा के द्वारा ब्राह्मणादि को उत्पन्न कराया। फिर सृष्टि की वृद्धि के लिए उन लोगों को अन्नादि भोग दिखाया। इन भोगों से ब्राह्मणादि में यज्ञादि कर्म करने का सामर्थ्य हुआ। इस सामर्थ्य से कर्म की उत्पत्ति हुई। कर्म से यज्ञ हुआ। यज्ञ करने से वृष्टि हुई। वृष्टि से फिर अन्न उत्पन्न हुआ। अन्न से

शरीराणीत्येवं प्रकारेणेश्वरेण प्रवर्तितं जगच्चक्रं, इह जगति कर्माधिकारे वर्तमानो यः स्वाधिकारानुसारं नानुवर्तयति, यज्ञादिकर्मणा सृष्टिं न वर्द्धयति सोऽघायुरघार्थमेवायुर्यस्य स तथाभूतो भवति। यतः इन्द्रियाराम इन्द्रियप्रीतयेऽन्नशिष्टान्नवर्द्धितदेहत्वेन देवपितृतिथिवञ्चकः पापवर्द्धक एवेत्यर्थः। हे पार्थ! स पुरुषो मोघं वृथैव जीवति तज्जीवनान्मरणं श्रेय इति भावः।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

एवमनादिविषयवासनावतां प्रवृत्त्यधिकारिणां जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूते काम्ये कर्मण्यधिकार इति निर्णीतमिदानीं विषयवासना शून्यस्यात्मनिष्ठस्य तूक्तयज्ञादिकर्माकरणे न कश्चिद् दोषयोग इत्याह—यस्त्विति द्वाभ्याम्। तु शब्दः पूर्वोक्तात्सकामाधिष्कामस्य विदुषो महद्वैलक्षण्यं द्योतयति। यो मानवः आत्मरतिः आत्मनि स्वात्मभूते भगवति रतिः प्रीतिर्यस्य नतु शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयेषु स्त्रीषु वा तथाऽऽत्मना तेनैव तृप्तः पूर्णः, न तु नानाविधभोजनादिना। तथा आत्मन्येव संतुष्ट आत्मस्वरूपगुणाद्यनुभव एव संतुष्टः स्यात्, न तु धनपुत्रपशुक्षेत्रादिलाभे। तस्य तथाभूतस्य कार्यं कर्त्तव्यं कर्म न विद्यते, न स कर्म-नियोगार्ह इत्यर्थः।

सजीव शरीर उत्पन्न हुए। इस प्रकार ईश्वर के चलाये हुए इस जगच्चक्र का इस संसार में कर्माधिकार में स्थित जो पुरुष अपने अधिकार के अनुसार नहीं अनुसरण करता, अर्थात् यज्ञादि कर्मों के द्वारा सृष्टि की वृद्धि नहीं करता, उसकी आयु पाप ही के लिये है, अर्थात् उसका जीवन पापमय है। क्योंकि ऐसा पुरुष अपने इन्द्रियसुख के लिये यज्ञ से नहीं बचे हुए अन्न से शरीर को बढ़ाकर देव, पितृ अतिथि को ठगनेवाला होता है। हे अर्जुन ऐसा मनुष्य वृथा ही जीता है। अर्थात् उसके जीने से मरना ही भला है ॥१६॥

इस प्रकार अनादि विषय वासना में लिप्त, प्रवृत्ति मार्ग के अधिकारी पुरुषों का काम्यकर्मों में, जो संसारचक्र की प्रवृत्ति के कारण हैं, अधिकार होना बतलाकर विषय वासना से शून्य, आत्मनिष्ठ पुरुषों को ऊपर कहे गये यज्ञादि कर्मों को न करने से भी कुछ दोष नहीं होता, इस भाव को अब दो श्लोकों से कहते हैं—

यहां "तु" शब्द से यह अभिप्राय है कि पूर्वोक्त सकामी पुरुष से निष्कामी विद्वान् पुरुषों का बड़ा अन्तर है।

जिस मनुष्य को अपने आत्मभूत भगवान् में प्रीति है, परन्तु शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में अथवा स्त्री पुत्र इत्यादि में नहीं, और जो आत्मा ही के अनुभव में तृप्त वा पूर्ण है, नाना प्रकार के भोजनादिकों से नहीं, और जो आत्मा ही के स्वरूप और गुणादि के अनुभव में ही सन्तुष्ट है, धन, पुत्र, पशु, खेत आदि के लाभ से नहीं, ऐसे पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है, उसके लिये किसी कर्म का नियोग वा आज्ञा नहीं है ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तत्र हेतुमाह—नैवेति । लोके कर्मणा कर्तुरुत्कर्षो भवति तदकरणेऽपकर्षो आपते । तस्यात्मरतस्य विदुषः कृतेन कर्मणा कश्चनोत्कर्षार्थो नास्ति । न चाप्यकृतेनेह कश्चनापकर्षो दोषो वा भवति । आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्योपेक्षितत्वात् । अत एव चास्यात्मविदः सर्वभूतेषु देवमनुष्यादिषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः कोऽप्यर्थाय प्रयोजनाय सेवनीयो न भवतीत्यर्थः ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

एवम्भूतात्मज्ञानव्यवस्थेप्सुना फलाभिसन्धिशून्यं कर्म कर्तव्यमित्याह—तस्मादिति । यस्मात्परमेश्वराराधनात्मकं कर्म एवम्भूतज्ञानफलकं तस्मादसक्तः फलसंकल्पवर्जितः सन् कार्यं नियतं कर्तव्यं कर्म सततं नित्यं यावज्जीवं समाचर । हि यतः, असक्तः सन्कर्माचरन् पुरुषः कोऽपीश्वराराधकः सत्त्वशुद्धिज्ञानद्वारा (परं) परमेश्वरं परं सर्वोत्तमं मोक्षाख्यं फलं वा आप्नोति ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

नन्वन्तःकरणशुद्ध्यर्थमेव कर्म कर्तव्यं, तच्छुद्ध्या ज्ञाने जाते कर्म त्याज्यमन्यथा सदा कर्मणि

ऊपर श्लोक में दिये गये विषय का कारण यहाँ बतलाते हैं—संसार में कर्म के करनेवालों की बड़ाई व भलाई होती है, और जो कर्म नहीं करते उनकी निन्दा, बुराई वा हानि होती है। जिस पुरुष की आत्मभूत भगवान् में प्रीति है, उसको अपने किये हुए कर्मों से कोई बड़ाई वा लाभ प्राप्ति की इच्छा नहीं है, और न उसको कर्म नहीं करने से इस जगत में कोई दोष वा हानि होती है। इसका कारण यह है कि आत्मा के अतिरिक्त और विषयों की यह उपेक्षा करता है, अर्थात् उनकी परवाह नहीं करता। इसलिये आत्मा का जाननेवाला पुरुष देव, मनुष्यादि किसी को उनसे कुछ पाने के लिये सेवा शुश्रूषा नहीं करता, क्योंकि उसको किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥१८॥

ऐसे आत्मज्ञानी की अवस्था चाहनेवालों को फल की इच्छा छोड़कर कर्म करना चाहिये। यही आशय यहाँ कहते हैं। क्योंकि परमेश्वर का आराधन रूप कर्म उपरोक्त आत्मज्ञान का देनेवाला है, इसलिये फल की इच्छा छोड़ नियत कर्म को अर्थात् कर्तव्य कर्म को यावज्जीवन सुचारु रूप से करो। इसका कारण यह है कि संगरहित वा आसक्तिहीन होकर सब कर्मों का करनेवाला कोई भी भगवान् का भक्त सत्त्वशुद्धिपूर्वक ज्ञान द्वारा भगवान् को वा सर्वोत्तम मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१९॥

यहाँ यह शंका हो सकती है, कि जब अन्तःकरण की शुद्धि ही के लिये कर्म किया जाता है, तब अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तो कर्म छोड़ देना चाहिये, नहीं तो सदा कर्म

क्रियमाणे मोक्षो न स्यात्तेन बन्धः स्यात्। 'नास्त्यकृतः कृतेने'ति श्रुतेः कर्मणा बध्यते जन्तुरि'ति शास्त्रादित्याशंकानिरासार्थं कर्म कुर्वतो ज्ञानिनः प्रमाणयति कर्मणैवेति सहार्थे तृतीया। 'बृढोयूने'ति निर्देशात् तथा च कर्मणा सहैव न तु कर्मत्यागेन, ज्ञानित्वेन विख्याताः जनकादयः जनकाश्वपतिप्रभृतयः ज्ञानस्य संसिद्धिं मोक्षाख्यामास्थिताः प्राप्ताः, न तु कर्मानुष्ठानेन बन्धं प्राप्ताः ज्ञानप्रभावादिति भावः। हि यत एव तस्मात्त्वमपि ज्ञानी चेत्कर्मकर्तुमर्हसि। ननु ज्ञाननिष्ठः पुरुषः कर्मणि क्रियमाणेऽपि ज्ञानफलसिद्धिमेव प्राप्नोति, न तु कर्मणा बध्यते। एवम्प्रभावा ज्ञाननिष्ठा चेत्किमर्थं ज्ञानिनोऽपि कर्मकरणावश्यकत्वमिति। यद्यपि ज्ञाननिष्ठार्हस्त्वं तथापि लोकसंग्रहमेव पश्यन् लोकानां स्वधर्मे प्रवृत्तनमधर्मान्निवर्त्तनं लोकसंग्रहस्तं संपश्यन्कर्तुमर्हसि योग्यो भवसि।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

ननु मया कर्मकरणे लोकसंग्रहः कथं स्यादित्यतआह—यद्यदिति। श्रेष्ठः जातिकुलगुणादिना लोकेऽतिशयप्रशस्यतया संमतः पुरुषो यद्यत्कर्माऽऽचरति, इतरस्ततो निकृष्टो जनस्तत्तदेवाचरति। ननु

में लगे रहने से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, किन्तु कर्म से बन्धन हो सकता है। क्योंकि श्रुति कहती है कि—"नास्त्यकृतः कृतेन" अर्थात् किये गये कर्मों से मोक्ष नहीं हो सकता है। शास्त्रों में भी लिखा हुआ है कि—"कर्मणा बध्यते जन्तुः" अर्थात् कर्म से जीव बन्धन में पड़ता है। इन्हीं शंकाओं को हटाने के लिये भगवान् कर्म करनेवाले ज्ञानियों का उदाहरण देते हैं—ज्ञानियों में प्रसिद्ध जनक, अश्वपति इत्यादि कर्म करते हुए ही, कर्म को छोड़कर नहीं, ज्ञान की सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए। ज्ञान के प्रभाव से उनका कर्म उनके लिये बन्धन नहीं हुआ। इसलिये यदि तुम भी ज्ञानी हो तो कर्म से विमुख होना तुम्हारे लिये उचित नहीं है, अर्थात् तुम अपने को यदि ज्ञानी भी समझो तब भी तुझे कर्म करना ही चाहिये।

फिर शंका होती है कि ज्ञाननिष्ठ पुरुष कर्म करके भी ज्ञान के फल सिद्धि ही को प्राप्त करता है, और कर्म उसको नहीं बाँधता। तब यदि ज्ञान निष्ठा की इतनी महिमा है तो ज्ञानियों को कर्म करना क्यों जरूरी है? इसी शंका का उत्तर देते हैं—

यद्यपि तुम ज्ञाननिष्ठा के योग्य हो, तथापि लोकसंग्रह का ध्यान रखते हुए तुमको कर्म करना उचित है। अर्थात् जिससे लोग स्वधर्म में लगें और अधर्म से हटें तुमको कर्म करना चाहिये ॥२०॥

अर्जुन शंका कर सकते हैं कि हमारे कर्म करने से लोकसंग्रह कैसे होगा? भगवान् इसी का उत्तर देते हैं—

जाति, कुल, गुण इत्यादि से जो पुरुष संसार में प्रसिद्धि पाकर सबसे पूज्य होता है, वह जिन कर्मों को करता है उससे निकृष्ट दूसरे जन भी उन्हीं कर्मों को करते हैं। फिर यहाँ शंका होती है कि

शुभाशुभाचारयोः शास्त्रमेव सर्वेषां प्रमाणं तदेव दृष्ट्वाऽन्येऽपि किम्न कुर्वन्तीत्यत आह—स इति। स श्रेष्ठः पुरुषो यच्छास्त्रमन्यद्वा प्रमाणं कुरुते मन्यते लोकोऽजनस्तदेवानुवर्त्तते तदुक्तवचनं विश्वस्तः कुरुते। यथा शास्त्रगर्हितमपि मत्स्य-भोजनं पूर्वं केनचिच्छ्रेष्ठेन कृतं कान्यकुब्जादयस्तदनुवर्त्तिनो बहवो भुञ्जते, तद्वत्।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥

न केवलं त्वामेवेदमाज्ञापयामि किन्त्वहमपि लोकसंग्रहार्थमेव कर्म करोमीत्याह—न मे इति। हे पार्थ! मे ममत्रिषु लोकेषु अनवाप्तमप्राप्तं अवाप्तव्यं प्राप्तुं योग्यमपेक्षितं किञ्चन नास्ति, अतः कर्त्तव्यं नास्ति। तथापि कर्मणि वर्त्त एव, कर्म करोम्येवेत्यर्थः।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥२३॥

तदकरणे मम दोषः स्यादित्याह यदीति। जातु कदाचिदतन्द्रितोऽनलसः सन्यदि कर्मण्यहं न वर्त्तेयं कर्म नाचरेयं, तर्हि हे पार्थ! जगद्धिताय धर्मज्ञशिष्टजनाग्रवर्तिवसुदेवगृहाऽवतीर्णस्य सर्वेश्वरस्य वर्त्म

शुभ और अशुभ आचार में तो शास्त्र ही प्रमाण हैं, तो उन्हीं को देखकर उन्हीं के अनुसार और लोग क्यों नहीं कर्म करते? इस शंका का उत्तर देते हैं—

वह श्रेष्ठ पुरुष जिन शास्त्रोक्त वा दूसरी बातों को प्रमाण मानता है वा अच्छा समझता है, उन्हीं को सब लोग उसके वचनों में विश्वास करके प्रमाण वा उत्तम मानते और कहते हैं। जैसे शास्त्र से निषिद्ध भी मछली का भोजन किसी-किसी जाति के श्रेष्ठ लोगों में किये जाने से मैथिल, कान्यकुब्ज आदि जाति के बहुत लोग, उन श्रेष्ठों का अनुसरण करते हुए, यह गर्हित कर्म करते हैं॥२१॥

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम्हीं को मैं ऐसी आज्ञा देता हूँ सो नहीं, मैं भी लोकसंग्रह के लिये ही कर्म करता हूँ—यही आशय यहां इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

हे अर्जुन! तीनों लोक में ऐसी चीज नहीं जो मुझे प्राप्त न हो या जिसकी प्राप्ति की मुझे इच्छा हो और जिसके पाने के लिये मुझे कुछ कर्म करना पड़े। अतः मुझको कुछ कर्त्तव्य नहीं है। तथापि लोकसंग्रह के लिये मैं भी कर्म करता हूँ॥२२॥

कर्म नहीं करने से जो स्वयं भगवान् को दोष होगा, वह कहते हैं—

यदि कदाचित् आलस्य रहित हो हम कर्म नहीं करें तो हे अर्जुन! कर्माधिकारी मनुष्य सर्व प्रकार से मेरा ही अनुकरण करेंगे। क्योंकि मैंने जगत हित के लिये धर्मज्ञ, सदाचारी पुरुषों में अग्रणी वसुदेव के गृह में अवतार लिया है और मैं सर्वेश्वर हूँ। इसलिये मेरी चाल देख लोग यही समझेंगे

कर्मानुष्ठानमार्गं मनुष्याः कर्माधिकारिणः सर्वशः सर्वप्रकारेणानुवर्तन्ते । अयमेव धर्म इति स्वहिताय स्वीकुर्वन्ति । ममाचारप्रमाणका भवन्तीत्यर्थः ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

ननु लोकानां सर्वज्ञस्य सर्वश्रेष्ठस्य तवानुवर्त्तनमुचितमेव तव कर्माकरणे को दोष इत्यत आह—उत्सीदेयुरिति । चेदहं कर्म न कुर्यां तर्हीमे ममाचारानुवर्त्तिनो लोका जना उत्सीदेयुः । कर्मविदामग्रणीर्वासुदेवो यदि कर्म न करोति तर्ह्यस्माभिरपि न कर्त्तव्यमिति मत्वा धर्माद्भ्रष्टाः भवेयुरित्यर्थः । स्वधर्मनियमत्यागात्संकरः वर्णानां सांकर्यं स्यात्तस्य कर्त्ताऽहमेव स्यां ततश्चेमाः प्रजा उपहन्यां नरकपातार्हताहेतुना विनाशकर्त्ता स्यामित्यर्थः । एवं सर्वलोकसरक्षणार्थमवतीर्णस्य मम महान्दोष एव स्यादिति भावः ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ! ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽशक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

तस्माद्विदुषाऽपि लोकोपकारार्थं कर्म कर्त्तव्यमित्याह—सक्ता इति त्रिभिः । अविद्वांसो वेदान्ततत्त्वज्ञानहीनाः कर्मणि सक्ता अभिनिविष्टाः सन्तो यथा कर्म कुर्वन्ति, विद्वानात्मानात्मविवेकज्ञोऽसक्तः कर्मणि तत्फलेऽभिनिवेशवर्जितः सन् लोकसंग्रहं चिकीर्षुः, स्वाचारेण लोकानां स्वधर्मे निश्चयं कर्त्तुमिच्छुस्तथाऽविद्वद्वत्कुर्यात् ।

कि यही राह ठीक है, यही धर्म है, इसी में हम लोगों का हित है और इस प्रकार मैं उनके लिये प्रमाण हो जाऊँगा अर्थात् दूसरे मनुष्य भी मेरी देखा देखी कुलोचित कर्मों को छोड़ बैठेंगे ॥२३॥

यदि हम कर्म नहीं करें तो सब लोग हमारे मार्ग पर चलकर भ्रष्ट हो जायेंगे । अर्थात् हमारे कर्म नहीं करने से लोग सोचेंगे कि कर्म के जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ वासुदेव कृष्ण ही जब कर्म नहीं करते हैं तब हम लोगों को भी कर्म नहीं करना चाहिये और इस प्रकार समझ कर्म नहीं करके वे धर्मभ्रष्ट हो जायेंगे तथा अपने-अपने धर्म के नियमों को छोड़ने से वर्णों में संकरता आ जायगी और इस संकरता की जड़ हम ही होंगे । संकरता होने से प्रजा नरक जाने के योग्य हो जायगी और उनको नरक भेज उनका नाश करनेवाले हम ही होंगे । इस प्रकार सर्वलोक की रक्षा के लिये अवतार लेकर हम महादोष के पात्र बनेंगे ॥२४॥

इसलिये विद्वान को भी लोक के उपकार के लिये कर्म करना चाहिये । परमात्मा इसी आशय को यहाँ तीन श्लोकों से प्रकट करते हैं—

हे अर्जुन ! वेदान्त के तत्त्व के ज्ञान से हीन मनुष्य कर्मों में आसक्त हो जिस प्रकार कर्मों को करते हैं, आत्म और अनात्म के विवेकी पुरुष कर्मों में अनासक्त हो अर्थात् उनके फल में राग रहित हो लोकसंग्रह की कामना से उसी प्रकार (अविद्वानों के समान ही) कर्मों को करे । भावार्थ कि कर्म

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ननु पंकलिप्तानां पंके (नि) पातनवत्कर्मासक्तानामज्ञानां कर्मण्येव प्रवर्त्तनमहितमेव कृतं स्यादतस्तद्धितेप्सुना विदुषा ज्ञानमेवोपदेष्टव्यमिति चेत्तत्राह—न बुद्धिभेदमिति । अज्ञानामन्तःकरणशुद्धयभावात्तत्त्वोपदेशानर्हाणामत एव कर्मसंगिनामनादिकर्मवासनयाऽशुद्धमनस्त्वेन कर्मण्येवारूढमतीनामात्मज्ञानं विना कर्मभिर्मोक्षो नास्तीति बुद्धिभेदं न जनयेन्नोत्पादयेत् । किं तर्हि एते ज्ञानेऽनधिकृताः कर्मच्युताःभ्रष्टाः भवेयुरितिविद्वान् तेषां हितबुद्धया युक्तः सन् सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि समाचरन् अज्ञान् कर्मसु जोषयेत् प्रीतिं जनयेत् ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

ननु विदुषोऽप्यविदत्कर्मानुष्ठानं चेत्तर्हि विदुषो विदुषः को विशेष इत्याकांक्षोपशमार्थं तद्विशेषं दर्शयति । प्रकृतेरिति द्वाभ्याम् । प्रकृतिरीश्वरस्याचिच्छक्तिर्माया तस्या गुणैः सत्त्वादिभिर्देहेन्द्रियरूपेण परिणतैः सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि कर्माणि अहंकारविमूढात्मा अनात्मनि देहादावात्मबुद्धि-

---

दोनों का एक ही प्रकार का होता है । मूढ़ को कर्म के फल में प्रेम है किन्तु विद्वान को कर्म के फल में आसक्ति नहीं है । वह कर्म केवल इसीलिये करता है कि उसका आचार देख कर लोग अपने धर्म का निश्चय करेंगे अर्थात् कुलोचित कर्म करते रहेंगे ॥२५॥

कर्म में आसक्त अज्ञानियों को कर्म में ही लगाना, पङ्क में लपटे हुए को पङ्क में गिराने के समान उनका अहित करना होगा । इसलिये अज्ञानियों के हित चाहने वाले विद्वानों को उनको ज्ञान का ही उपदेश करना चाहिये । भगवान् इसके उत्तर में कहते हैं :—

अन्तःकरण की शुद्धि के अभाव से तत्त्वोपदेश के अयोग्य और इसलिये कर्म में आसक्त, अर्थात् अनादि कर्म वासना से अशुद्ध मन होने के कारण कर्म ही में तत्पर जो अज्ञानी लोग हैं, उनको यह कह कर कि 'ज्ञान के बिना कर्म से मुक्ति नहीं होती' उनमें बुद्धिभेद वा भ्रम नहीं उत्पन्न करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से ज्ञान के अनधिकारी ये लोग कर्म से च्युत होकर अर्थात् कर्म को छोड़ भ्रष्ट हो जायेंगे । इसलिये उनके हित की बुद्धि से युक्त हो विद्वान् स्वयं नित्य नैमित्तिक कर्म को करता हुआ उनको कर्म में लगावे अर्थात् उनकी कर्म में प्रीति उत्पन्न करे ॥२६॥

यदि विद्वान् का भी कर्मानुष्ठान अज्ञानी ही के ऐसा हो, तो ज्ञानी और अज्ञानी में विशेषता क्या रही ? इस प्रश्न का उत्तर यहां दो श्लोकों से देते हैं :—

ईश्वर की अचित् (ज्ञान विहीन) जड़ शक्ति, माया के कार्य्य सत्त्वादि गुणों के, देह, इन्द्रिय रूप परिणामों द्वारा सर्व प्रकार से किये गये कर्मों का, अहंकार से मोहित मनवाला पुरुष अपने को कर्ता मानता है, माया के गुण और उसके कार्य देह तथा इन्द्रियादिकों को नहीं । (यहां अहंकार का

रहंकारस्तेन विमूढ आत्मा मनो यस्य सोऽहंकर्त्ता इति मन्यते, न तु गुणांस्तत्कार्यभूतान्देहेन्द्रियादीन्वा। यद्यपि कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यादिशास्त्रादात्मनः कर्त्तृत्वमस्ति, तथापि बद्धावस्थायां संकुचितज्ञानत्वादेहेन्द्रियाधीनं कर्त्तृत्वं न केवलस्यात्मनः। 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्। शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः। तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिरि'ति (गी० १८।१४–१६) वक्ष्यमाणत्वात्। अतएव 'अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते' इत्युक्तम्। अन्यथा जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चितेति मोक्षदशायामप्यात्मनः कर्त्तृत्वप्रतिपादक श्रुतिबाधः स्यादित्यलं विस्तरेण।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणागुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

गुणानां सकार्याणां सत्त्वादीनां विभागः, कर्माणि सत्त्वाद्यनुगुणानि तेषां च विभागः दैहिक-मानसादिरूपः, तयोर्विभागयोस्तत्त्वं यथार्थ्यं वेत्तीति गुणकर्मविभागवित्। स तु गुणाः सत्त्वादिकार्यभूता मनोवाक्शरीररूपाः गुणेषु स्वस्वकर्मभूतविषयेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते अहमेव करोमीति न मन्यते।

अर्थ है देहादि अनात्म पदार्थों को आत्मा समझना)। यद्यपि "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादि शास्त्र के वचनों से आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध है, तथापि बद्धावस्था में धर्मभूत ज्ञान के संकुचित होने से आत्मा का कर्त्तापन देह इन्द्रिय इत्यादि करणों के अधीन है। बद्धावस्था में वह स्वाधीन कर्त्ता नहीं है। आगे के अध्यायों में यह बात कही गई है। यथा :—

"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥"

सारांश यह कि शरीर, वचन और मन से जो भला बुरा कर्म मनुष्य करता है उसमें पांच कारण होते हैं, यथा १ अधिष्ठान २ कर्त्ता ३ करण ४ विविध चेष्टा और ५ दैव। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य केवल अपने ही को कर्त्ता मानता है, वह मूढ़ देखता हुआ भी नहीं देखता है। इसलिये ऊपर कहा गया है कि अहंकार से मोहित ही पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है। ऐसा नहीं मानने से "जक्षन् क्रीड़न् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चिता" अर्थात् मुक्त आत्मा, विद्वान् मुक्त के उपासना भावानुसार फल भोग कराने में चतुर ब्रह्मा के साथ मोक्ष दशा में भी पूजा करता है, खेल करता है और रमण करता है, इत्यादि, इसका और दूसरी भी (मोक्ष दशा में आत्मा के कर्तृत्व प्रतिपादक) श्रुतियों का बाध हो जायगा ॥२७॥

जो पुरुष सत्त्वादि गुणों के विभागों को उनके कार्य्यों के साथ और उन गुणों के अनुरूप दैहिक मानसिक आदि कर्मों के विभागों को ठीक रीति से जानता है, वह यह जानकर कि ये सत्त्वादि के कार्यभूत मन, वाक् में लगे रहते हैं, ऐसा कभी नहीं मानता कि मैं इन कर्मों का कर्त्ता हूँ ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

एवं विद्वदविदुषोर्भेदं प्रदर्श्य पुनः 'न बुद्धिभेदं जनयेदि'ति उक्तमेव दृढयति-प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्गुणैः सम्मूढाः सन्तः पूर्वोक्तगुणकर्मसु सज्जन्ते । वयमेवैतत्कर्म कृत्वैतत्फलं भोक्ष्याम इत्थमासक्ता भवन्ति । तानकृत्स्नविद आत्मज्ञानहीनानतएव मन्दान्मन्दबुद्धीन् कृत्स्नविन् गुणकर्मविभागात्मविद् न विचालयेत् कर्मनिष्ठातो न च्यावयेत् ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

एवं 'नकर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इत्यारभ्य कर्मकरणावश्यकत्वं तस्य फलाभिसन्धिरहितत्वेनाबन्धकत्वंलोकसंग्रहार्थमनासक्त्या कर्त्तव्यत्वमभिहितमेतत्सर्वं कथं स्यादिति चिन्तयतेऽर्जुनाय कृपया भगवान् स्वयमेव तत्प्रकारमुपदिशति-मयीति । मयि भगवति सर्वज्ञे सर्वशक्तौ सर्वान्तर्यामिणि वासुदेवे सर्वाणि कर्माणि दैहिकमानसादीनि सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसा अध्यात्मन्यन्तर्यामिणि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेन संन्यस्य ममान्तर्यामीश्वर एव सर्वकर्माणि कारयति नाहं स्वतंत्रः कर्मेति मत्वा तत्प्रीत्यर्थमेव भवेयुरिति बुद्ध्याऽप्यर्पयित्वा निराशीः कर्मसुफल-कामनावर्जित अतएव निर्ममस्तव

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी का भेद कह कर अब फिर जो पहले कह आये हैं, कि अज्ञानियों में बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, उसी को दृढ़ करते हैं :—

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होने के कारण पहले कहे गुणों के कार्यरूप कर्मों में अज्ञानी पुरुष आसक्त हो जाते हैं । अर्थात् वे ऐसा सोचने लगते हैं कि हम ही लोग इन कर्मों के कर्त्ता हैं और हम ही लोग इनके फल को भोगेंगे । ऐसे आत्मज्ञान से हीन अतएव मन्दबुद्धि पुरुषों को गुण कर्म के विभागों को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कर्मनिष्ठा से न हटावे ॥२९॥

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" से आरम्भ करके भगवान् ने कर्म करने की आवश्यकता, उसके फल की इच्छा नहीं रहने से उसमें संसार के बन्धन में बाँधने की शक्ति का अभाव और आसक्तिहीन होकर लोक-संग्रह (रक्षा) के लिये कर्मों का करना बताया । यह सब कैसे हो सकता है ? यदि ऐसी चिन्ता अर्जुन के मन में स्थान पाई हो तो उसका समाधान भगवान् कृपा कर बिना अर्जुन के पूछे स्वयं ही कर देते हैं और इस श्लोक में उसका रास्ता बताते हैं । दैहिक, मानसिक इत्यादि सर्व कर्मों को अध्यात्म बुद्धि द्वारा मुझ सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् वासुदेव में अर्पण कर अर्थात् यह समझ कर कि मेरे अन्तर्यामी भगवान् ही मुझसे सब कर्मों को कराते हैं, मैं स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं हूँ, इसलिये मेरा सब काम उन्हीं की प्रीति के लिये हो और उन्हीं में अर्पित हो, हे अर्जुन ! तुम कर्मों के फल की इच्छा से शून्य हो और इसलिये उनमें ममता रहित हो तथा मोह शोक के ज्वर

ममताशून्यो भूत्वा विगतज्वरः शोकमोहरहितः सन् युद्धयस्व । एवं कृतेऽसङ्गत्वमन्तः शुद्धिर्लोकसंग्रहश्च भवेदिति भावः ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

एतेन 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां, सर्वात्मा, एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते । स कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीषिताऽपि' इत्यादि श्रुतिशतसिद्धं परमेश्वराधीनम् सर्वात्मकर्तृत्वं, तदर्पणबुद्धया च हृतं कर्म दोषस्पर्शाय न भवतीति भगवता स्वमतमुक्तमिदानीं श्रद्धयेदमनुतिष्ठतां गुणमननुतिष्ठतांश्च दोषमाह—ये मे मतमिति द्वाभ्याम् । इदं पूर्वश्लोके कर्मविषयं मम मतं नित्यं श्रुतिस्मृतिभिर्निर्णीतं सनातनं तुभ्यमुपदिष्टं, ये केऽपि मानवाः कर्ममात्राधिकारिणः श्रद्धावन्तः भगवतोक्तं शास्त्रनिर्णीतमेवैतदिति विश्वासवन्तः अनसूयन्तः 'असूया दोषारोपो गुणेष्वपि' सा चेह 'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्वेति

से रहित होकर लड़ाई करो। ऐसा करने से तुम्हारी उसमें आसक्ति नहीं होगी, तुम्हारा अन्तःकरण भी शुद्ध होगा और लोक संग्रह भी होगा ॥३०॥

श्रुति कहती है:—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, सर्वात्मा[1] एष एव साधुकर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषिते, स कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीषिताऽपि ।" अर्थात् मनुष्यों के हृदय में प्रवेश कर परब्रह्म उनका शासन करने वाला है । वह सबों का आत्मा है । वही उस मनुष्य से जिसको इस लोक से ऊपर ले जाने की इच्छा होती है अच्छा कर्म कराता है । वही उस मनुष्य से जिसको इस लोक से नीचे गिराने की उसकी इच्छा होती है, बुरा कर्म कराता है । वह पुण्य पाप कराता हुआ भी दोष का भागी नहीं होता, क्योंकि शासनकर्त्ता है । ऐसी सैकड़ों श्रुतियों से यह बात सिद्ध है कि सब जीवों का कर्त्तव्य परमेश्वर के आधीन है और परमेश्वर में अर्पण बुद्धि से किये गये कर्मों में दोष का लेशमात्र भी नहीं रहता । ऐसा अपना मत भगवान् ने स्वयं पीछे के श्लोक में स्थापित किया है । अब आगे के दो श्लोकों में इस मत में श्रद्धा करके कर्म करने वालों का गुण और नहीं कर्म करने वालों का दोष बताते हैं ।

हे अर्जुन ! श्रुतिस्मृतियों से निश्रित और सनातन कर्म विषयक अपने मत का हमने तुमको उपदेश किया । जो कोई कर्म मात्र का अधिकारी मनुष्य श्रद्धा के साथ अर्थात् यह विश्वास करके कि भगवान् का कहा हुआ मत ही दोषारोपण किये हुये असंग कर्मों को करता है, वह भी शुभाशुभ कर्मों से छूट जाता है । दोषारोपण करना यहां इस प्रकार है जैसा कि भगवान् ने जो कहा कि "निराशी-

---

१—साधु कर्म का विषय अत्यन्त अनुकूल और असाधु कर्म का विषय अत्यन्त प्रतिकूल आचरण-कारी जीव है । ऐसा ही श्रुति का तात्पर्य समझना ।

काममम्मताहीनं विधाय तस्य प्रयोजनशून्ये युद्धे प्रवर्त्तनं न समीचीनमिदं मतमित्येवं रूपतामकुर्वन्तोऽनुतिष्ठन्ति, तेऽपि कर्मभिः शुभाशुभैर्मुच्यन्ते ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

ये तु एतन्मम मतं अभ्यसूयन्तो दोषारोपं कुर्वन्तो नानुतिष्ठन्ति नानुवर्त्तन्ते तान्सर्वज्ञानविमूढान् सर्वकर्मज्ञाने विशेषतो मूढान् यतोऽचेतसोऽशुद्धचित्तान्नष्टान् सदा संसारिणो विद्धि जानीहि ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

नन्वेवं शास्त्रप्रतिपादितं तव मतं सर्वे कुतो नानुतिष्ठन्ति शास्त्ररूपाज्ञाप्रतिकूलाः कथं भवन्तीत्यपेक्षायामाह—सदृशमिति । प्रकृतिर्हि पूर्वजन्मकृतगुणानुकूलं शुभाशुभकर्मसंस्कारेणेह जन्मन्यभिव्यक्तः स्वभावविशेषस्तस्याः स्वस्याः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशं स्वभावानुकूलमिति यावत् ज्ञानवानपि वेद-स्मृतिपुराण-शब्दार्थज्ञानवानपि चेष्टते, किं पुनर्वक्तव्यं मूर्खः प्रकृतेः सदृशं चेष्टत इति ? तस्मात् भूतानि सर्वे प्राणिनः प्रकृतिमुक्तरूपां यान्ति प्राप्नुवन्ति स्वभावस्य वशे भवन्तीत्यर्थः । निग्रहः शास्त्रीयाज्ञा किं करिष्यति । अनादिविषयवासनादूषितचेतसां सर्वकामत्यागपूर्वकमव्यर्पणबुद्धिर्न जायते इत्यर्थः ।

निर्ममो युध्यस्व" यहाँ ममताहीन और कामनाहीन होने का उपदेश कर प्रयोजन शून्य युद्ध में अर्जुन को लगाना भगवान् के लिये उचित नहीं हुआ, इत्यादि ॥३१॥

जो लोग इस मेरे मत में दोषारोपण करते हुए इसका अनुसरण नहीं करते हैं उन अशुद्ध चित्त वालों सर्व कर्म ज्ञान से अनभिज्ञों को नष्ट ही जानो । अर्थात् उनको सदा संसारी समझो ॥३२॥

यदि ऐसी बात है जैसा कि आप कहते हैं तो सब शास्त्रों से प्रतिपादित आपके मत के अनुकूल लोग क्यों नहीं चलते हैं ? शास्त्र की आज्ञा के प्रतिकूल क्यों चलते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के गुणों के अनुकूल शुभ और अशुभ कर्मों के संस्कार से इस जन्म में प्रकट हुआ जो स्वभाव होता है उसी को प्रकृति कहते हैं । वेद, स्मृति, पुराण के शब्दार्थ का जानने वाला भी इस अपनी प्रकृति के अनुकूल ही चलता है । अर्थात् जैसी उसकी प्रकृति है वैसा ही कर्म करता है, तो फिर मूर्खों के विषय में क्या कहना है (कौन बात चलावे) ? वे तो अपनी प्रकृति के अनुकूल चलेंगे ही । इसलिए जीवमात्र अपनी प्रकृति वा स्वभाव के वश में है । ऐसी दशा में निग्रह वा शास्त्र की आज्ञा क्या कर सकती है ? भाव यह है कि अनादि विषय वासना से दूषित चित्त वालों को सर्व कामना त्याग पूर्वक मुझ में कर्म अर्पण करने वाली बुद्धि नहीं होती है । अर्थात् सर्व कामनाओं को छोड़ अपने कर्मों को वे मुझमें अर्पण नहीं कर सकते ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

यद्येवं सर्वे प्रकृतिं यान्ति तर्हि प्रकृतिशून्यो न कोऽप्यस्ति । तथात्वे गुरुशास्त्रोपदेशस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्यत आह—इन्द्रियस्येति । इन्द्रियस्येति चीप्सया श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियस्य वागादिकर्मेन्द्रियस्य च अर्थे शब्दादिविषये वचनादौ कर्मणि च रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । स्वानुकूले मधुरादौ रागः कामः, प्रतिकूले परुषादौ द्वेषः क्रोधः इति प्राचीनवासनानुसारेण सर्वेषां व्यवस्थितौ स्वभावसिद्धौ । गुरुशास्त्रोपदेशस्तु तयो रागद्वेषयोर्वशं न गच्छेदित्येवं ततो निवर्त्तयति । किमर्थं ? हि यस्मात्तौ रागद्वेषौ अस्य मुमुक्षोः परिपन्थिनौ पथिकस्योत्पथनयनेन सर्वस्वहारि चौरवत् ज्ञानभक्तिरूपमोक्षमार्गात्प्रच्याव्यापथे विषयप्राप्तिसाधने नीत्वा तत्राऽसक्तं कृत्वा मोक्षसाधनसर्वस्वहारिणौ । तत्र यथा राजभटः पथिकं चौरवशं प्राप्तुवन्तं दृष्ट्वा ततो प्रतिवार्य्य सुमार्गे प्रवर्त्तयति, तथा शास्त्राचार्योपदेशो विषये रागद्वेषवशं गच्छन्तं मुमुक्षुं ततो वारयित्वा मोक्षप्राप्तिहेतुभूते परमेश्वराराधने सुमार्गे प्रवर्त्तयति । अतो न गुरुशास्त्रोपदेशस्य वैयर्थ्यम् ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

ननु शास्त्राचार्योपदेशेनासन्मार्गान्निवृत्तस्येश्वराराधनाय निर्हिंसकसात्त्विकयदृच्छालाभसंतोष

यदि सब कोई प्रकृति के वश में है और कोई उससे रहित वा स्वतन्त्र नहीं है तो गुरु और शास्त्र का उपदेश व्यर्थ हुआ इस शंका का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं:—

आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का और वाक् आदि कर्मेन्द्रियों का अपने अपने शब्दादि विषयों में और वचनादि कर्मों में रागद्वेष स्वभाव से ही सिद्ध है । अर्थात् अपने अनुकूल कोमल मीठे आदि वस्तुओं में राग वा प्रेम और अपने प्रतिकूल कठिन आदि वस्तुओं से द्वेष वा क्रोध स्वभाव से ही अर्थात् प्राचीन वासना के अनुसार सबको होता है । गुरु और शास्त्र का उपदेश यही है कि इन रागद्वेषों के वश में मनुष्य को नहीं होना चाहिए । क्योंकि ये रागद्वेष, सर्वस्व हरण करने वाले चोर के ऐसा, मुमुक्षु पथिक को भ्रष्ट कर ज्ञान, भक्तिरूप मोक्ष के मार्ग से गिराते हैं, और विषय प्राप्ति साधन रूप बुरे रास्ते में ले जाकर के और उसमें आसक्ति पैदा करके मोक्ष के साधन रूप सर्वस्व का हरण करते हैं । जैसे राजा की पुलिस राह चलने वाले को चोर के वश में देख उसको उस रास्ते से हटाकर अच्छा रास्ता बताती है, उसी प्रकार शास्त्र और आचार्य का उपदेश राग और द्वेष के वश में होते हुए मोक्षार्थियों को उससे हटा कर वा रोककर मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप परमेश्वर की आराधना के अच्छे मार्ग में लगाता है । इसलिए गुरु और शास्त्र का उपदेश व्यर्थ नहीं है ॥३४॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि गुरु और शास्त्र का उपदेश असत् मार्ग से हटाकर ईश्वराराधन के लिये निर्हिंसक और सात्विक धर्म में लगाना है । इससे यथा लाभ सन्तोष का आश्रय ले बन के

वन्यान्नादि जीवनरूपो मुनिधर्म एव श्रेयानिति। स्वधर्मः स्ववर्णाश्रमनिबन्धनः शास्त्रविहितोऽयो धर्मः स विगुणोऽपि कियद्गुणहीनोऽपि सुष्ठु सर्वाङ्गतयाऽनुष्ठितात्परधर्मादन्यवर्णाश्रमोद्देशेन विहिताद्धर्मात् श्रेयान् प्रशस्यतरः, अतः स्वधर्मे स्थितस्य निधनमरणमपि श्रेयः, अतिशयेन प्रशस्यम्। कस्मात् परधर्मे जीवनादपि यतः परधर्मो भयावहः परस्यान्यस्यान्येनानुष्ठितः शास्त्रीयोऽपि धर्मः तद्रुचिरपि पापवत् भयावहः नरकादिभयं तत्फलमावहति प्रापयतीति तथा 'पर्युदस्तो हि यो यस्माच्छास्त्रीयादपि कर्मणः। न स तत्राधिकारी स्याद्दानादौ दीक्षितो यथेति शास्त्रनियमात्।

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपिवार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥३६॥

'परधर्मो भयावह ? इत्युक्तं तेन नरकादिभयहेतुः पाप सूचितम्। इदानीं पापाचारस्य हेतुं-जिज्ञासुरर्जुन उवाच—अथेति। अथ शब्दः प्रश्नान्तरे। परधर्मरुचिर्भयावहेति त्वदुक्तं मयाऽवधारितं किञ्चिदन्यत्पृच्छामीत्यर्थः हे वार्ष्णेय ! परधर्मरुच्युपलक्षितं नरकादिफलकं पापं कर्त्तुमनिच्छन्नपि केन प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं पुरुषः पापं चरति आचरति। तत्रापि बलादिव नियोजितः इति मे ब्रूहि इति शेषः।

अन्नादिकों से मुनियों का सा जीवन धारण करना ही श्रेष्ठ मालूम पड़ता है। तब फिर हिंसा युक्त राजस और तामस युद्ध में जो क्षत्रियों का धर्म है, प्रवृत्त होने से क्या लाभ ? इसीका निराकरण भगवान् आगे करते हैं:—

अपने वर्णाश्रम का शास्त्र विहित धर्म कर्म गुण वाला होने पर अथवा उसका सांगोपांग आचरण न बनने पर भी पूर्ण रूप से और सुचारु रीति से प्रतिपालित दूसरे वर्णों के विहित धर्म से अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये अपने धर्मों में स्थित रहकर मरना भी दूसरे धर्म में रहकर जीने से श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि दूसरे का धर्म भयका देने वाला है क्योंकि दूसरे के धर्म में रुचि, पाप ही के समान, नरक में पहुँचने वाली है। शास्त्र भी कहता है:—

"पर्युदस्तो हि यो यस्माच्छास्त्रीयादपिकर्मणः॥
न स तत्राधिकारी स्यादानादौ दीक्षितो यथा॥"

अर्थात् जैसे जो पुरुष शास्त्रसम्मत कर्म से हट जाता है वह दीक्षित भी हो तो भी दानादि कर्म में अधिकारी नहीं हो सकता ॥३५॥

दूसरे का धर्म भयावह है, उससे नरकादिका भय है, यह जानकर अब अर्जुन पापाचार का कारण जानने की इच्छा से पूछते हैं कि हे भगवन् ! परधर्म में रुचि भयावह है, यह तो मैंने समझा। अब दूसरी बात पूछता हूँ। वह यह कि मनुष्य नरकादि फल वाले पापों को करने में इच्छा रहित भी किससे प्रेरित किया जाता है। मानो, उसको कोई जबरदस्ती उन पाप कर्मों में लगाता है। इस बात को आप मुझसे कहिये ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

एवं पृष्टो 'ध्यायतो विषयानि' त्यादिना 'संगात्संजायते काम' इत्युक्त 'इन्द्रियस्येन्द्रियार्थे' इत्यत्र रागशब्देनाभिहितः काम एव पापाचारहेतुर्महाञ्छत्रुरित्युत्तरं श्रीभगवानुवाच । यस्त्वया पापाचरणे प्रयोजकः पृष्टः स एव इन्द्रियार्थे रागपर्यायः काम एव । ननु क्रोधोऽपि हि साद्यनर्थहेतुरुक्त इति चेत्सत्यं ? सोऽपि न ततो भिन्नः, किन्तुक्रोध एष' इति काम एव केनचित्प्रतिहतः क्रोधरूपेण परिणमते । अतः क्रोधोऽपि काम एव । कामजय एव क्रोधजयः । न तज्जये पृथक्प्रयत्नः कर्त्तव्य इति भावः । तज्जयोपायदर्शनाय तत्कारणमाह—रजोगुण समुद्भव इति । रजोगुणात्साम्यमुद्भवति उत्पद्यते इति रजोगुणसमुद्भवः । एतेन सत्त्वगुणवृद्धया रजोऽभिभवद्वारेण कामजयो भवेदिति सूचितं, तस्य दुर्जयतामाहमहाशन इति । महदशनं यस्य बहुधनधान्यस्त्रीराज्यलाभेऽपि हविषाऽग्निरिवबर्द्धते न तु शाम्यति । अतएव महापाप्मा केनचित्निवारितः क्रोधात्मना परिणमय्य पितृभ्रातृगुर्वादिहिंसनमपि दोषमगणय्य कारयति । अतएनमिह श्रेयोमार्गे वैरिणं विद्धि ॥३७॥

अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् पापाचार के कारण काम को ही, जिसको राग भी कहते हैं, सब अनर्थों का मूल और बड़ा भारी शत्रु बताते हैं। इससे पहले भी "ध्यायतो विषयान्, संगात्संजायते कामः" इत्यादि श्लोकों में इस काम का उल्लेख वे कर चुके हैं। भगवान् कहते हैं कि वह काम ही, जिसका नाम राग भी है, पाप कर्मों का प्रयोजक है। वही मनुष्य को पाप कर्मों में लगाता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्रोध भी तो हिंसादि अनेक अनर्थों का कारण कहा गया है तो उसको क्यों छोड़ देते हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि क्रोध काम से भिन्न नहीं है। बल्कि काम ही रुकावट पड़ने पर क्रोध में परिणत हो जाता है। अर्थात् जहाँ किसी के काम में किसी ने रुकावट डाली कि काम क्रोध के रूप में बदल जाता है। इसलिए क्रोध भी काम ही है और काम का जीतना ही क्रोध का जीतना है। काम को जीत लेने पर क्रोध को जीत लेने के लिए पृथक् यत्न नहीं करना पड़ता। अब काम के जीतने का उपाय बताने के लिए उसके कारण का उल्लेख करते हैं:—

यह काम रजोगुण से उत्पन्न होता है। ऐसा कहने का आशय यह है कि सत्वगुण की वृद्धि कर रजोगुण को दबाने से काम जीता जा सकता है। फिर काम की दुर्जयता कहते हैं:—

यह काम बड़ा पेटू है अर्थात् बहुत धन, धान्य, स्त्री, राज्य इत्यादि पाने पर भी इसका पेट नहीं भरता, बल्कि जैसे आग में हविष्य डालने से वह प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं, उसी प्रकार धन धान्य पाने से यह काम शान्त होने के बदले और बढ़ता ही जाता है। इसलिए यह बड़ा पापी है। कहीं किसी ने यदि रोका तो क्रोध का रूप धर, माता-पिता, भ्राता, गुरु, आदि की भी यह हिंसा कर डालता है और उसके दोष की परवाह नहीं करता। इसलिए इसको श्रेय वा मोक्ष मार्ग का बैरी जानो ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथा दर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

तस्य वैरित्वम् दृष्टान्तैरुपपादयति–धूमेनेति। यथा धूमेन वह्निराव्रियते, आच्छाद्यते यथा वा दर्शो मलेन, यथा च उल्वेन गर्भवेष्टनेन चर्मणा जरायुणा गर्भ आवृतः, तथा तेनेदमावृतम्।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

तदिदं शब्दार्थं स्वयमेव वदन् दार्ष्टान्तं स्पष्टयति–आवृतमिति। एतेन कामरूपेण ज्ञानिनो नित्यवैरिणा धर्मभूतं ज्ञानमावृतं, कामरूपेण किं रूपेण ? हे कौन्तेय ! दुःपूरेण दुःखेन पूर्यते इति दुःपूरस्तेन अनलेन चेति। च इवार्थे। अनलेन वह्निनेवेत्यर्थः। यथानलो हविषा न पूर्य्यते, तथाऽयं विषयभोगेन न पूर्य्यते इत्यर्थः। अज्ञस्य तु विषयभोगकाले कामः सुखहेतुत्वेन प्रिय एव प्रतीयते, परिणामे दुःखानुभवकाले वैर्य्यनुभूयते। ज्ञानीतु भोगसमयेऽप्येनं दुःखमेव जानाति, किं पुनः परिणामेऽतो ज्ञानिनो नित्यवैरिणेत्युक्तम्।

इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते
एतैर्विमोहयत्येषज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

एवम्भूतस्य वैरिणः कामस्य हननायाधिष्ठानमाह–इन्द्रियाणीति। एतैरिन्द्रियमनोबुद्धिभिरेष कामः ज्ञानं यथार्थानुभवमावृत्य देहिनं विमोहयति। विवेक नाशयित्वा सुखदुःखाभिनिवेशे योजयति।

दृष्टान्तों के द्वारा काम को दिखाते हैं:—

जिस प्रकार धूम से अग्नि, मैल से दर्पण, और जमड़े की झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इस काम से ज्ञान भी ढका हुआ है ॥३८॥

अब ऊपर के श्लोक में जो "इदम्" शब्द आया, उसके अर्थ को स्वयं कहते हुए दृष्टान्त (उपमेय) को भगवान् स्पष्ट करते हैं:—

यह काम ज्ञानियों का नित्य बैरी है। इसने उनके धर्मभूत ज्ञान को ढक लिया है। यह काम अग्नि के ऐसा दुःपूर है। अर्थात् जैसे अग्नि में कितनी ही हवि डाली जाय परन्तु कभी पूरा नहीं पड़ता, उसी प्रकार इस काम रूप अग्नि में कितना ही विषय भोग रूप हवि डाली जाय, किन्तु उसका पेट कभी नहीं भरता। विषय के भोग काल में अज्ञानियों को यह काम सुख देने वाले के ऐसा मालूम पड़ता है, किन्तु परिणाम में अर्थात् केवल जब वे उसका फलस्वरूप दुःख भोगने लगते हैं तब ही वे उसको अपने बैरी के समान अनुभव करते हैं। पर ज्ञानी तो विषय भोग के समय में भी काम को बैरी ही के ऐसा जानते हैं, और फल भोग के समय तो वैसा समझते ही हैं। इसीलिये काम ज्ञानियों का नित्य बैरी है, ऐसा कहा ॥३९॥

ऐसे बैरी काम को नाश करने के लिये उसका अधिष्ठान वा रहने की जगह बताते हैं:—इन्हीं

वस्तुस्वरूपान्यथा ज्ञानं मोहः, तथा च कामविमोहितः पुरुषः दुःखहेतुमपि विषयं सुखमेव मत्वा तत्प्राप्तावेव सर्वथा यतते ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अधिष्ठाननिरूपणं तन्निग्रहपूर्वकं कामजयार्थमेव तदेवाह–तस्मादीति । यस्मादिन्द्रियाधिष्ठित एव कामोविमोहकरतस्माद्धे भरतर्षभ । त्वमादाविन्द्रियाणि नियम्य विषयेभ्यो निवर्त्य ततो ज्ञान-विज्ञाननाशनं ज्ञानं गुरुशास्त्रोपदेशजं विज्ञानेमननानन्तरनिदिध्यासनजं तयोर्नाशनमत एव पाप्मानं सर्वपापहेतु त्वात्पापरूपमेनं कामं प्रजहि प्रकर्षेण नाशय । यथा पुनर्नोद् भवेदित्यर्थः ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं ज्ञानविज्ञानविरोधिकामनाशने द्वारभूतेन्द्रियनियमनमुक्तमिदानीं ज्ञानविरोधेऽविज्ञान-भूतानीन्द्रियाणि क्रमतः प्रधानानि प्रदर्श्य सर्वप्रधानभूतं कामं हन्यादित्युपदिशन्नुपसंहरति–इन्द्रियाणीति द्वाभ्याम् । ज्ञानवरणे इन्द्रियाणि पराणि प्रधानकारणान्याहुः । यतः इन्द्रियेषु विषयप्रवणेषु आत्मनि

के द्वारा ज्ञान वा यथार्थ अनुभव को ढक कर यह मनुष्यों में मोह उत्पन्न करता है। अर्थात् उनके विवेक का नाश कर अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न कर उनको सुख दुःख के अनुभव में लगाता है।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अन्यथा वा उलटा ज्ञान को ही मोह कहते हैं। और काम से मोहित पुरुष दुःख के हेतु को भी सुख ही का विषय मान कर उसकी प्राप्ति के लिये सदा सब प्रकार से यत्न करता है ॥४०॥

काम के अधिष्ठान इसीलिये बताये कि उनका निग्रह करके काम जीता जाय। भगवान् इसी बात का वर्णन करते हैं:—

इन्द्रियों में अधिष्ठित हो कर ही काम मोह को उत्पन्न करता है। इसलिये हे अर्जुन ! तुम आरम्भ में इन इन्द्रियों को विषय से रोक कर तत्त्वज्ञान और विज्ञान के नाशक, अतएव सब पापों के कारण होने से पाप रूप, काम को अच्छी रीति से नष्ट करो, जिसमें यह फिर नहीं उत्पन्न हो ।

ज्ञान वह है जो गुरु और शास्त्र के उपदेश से पैदा होता है और विज्ञान वह है जो उपदेश के मनन करने के बाद निदिध्यासन (ध्यान) से उत्पन्न होता है ॥४१॥

ज्ञान और विज्ञान के विरोधी काम के नाश के लिये उसके द्वारभूत इन्द्रियों का नियमन बताया। अब ज्ञान के विरोध के आश्रयभूत इन्द्रियों की क्रम से प्रधानता दिखा कर सबसे प्रधानभूत काम को नष्ट करना चाहिये, ऐसा दो श्लोकों से उपदेश करके यह अध्याय समाप्त किया जाता है:—

ज्ञान को आवृत्त करने में इन्द्रियाँ ही प्रधान कारण हैं, क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ विषय की ओर उन्मुख रहती हैं तब तक आत्मा में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। इन्द्रियों से परे मन है। इसलिये

ज्ञानं न जायते। इन्द्रियेभ्यः परंमनः इन्द्रियेभ्यूपरतेष्वपि मनसि विषयप्रवणे नात्मनि ज्ञानं प्रकाशते। मनसस्तु पराबुद्धिः मनसि विषयविमुखे सत्यपि विपरीताध्यवसायवत्यां बुद्धौ सत्यां नात्मज्ञान प्रकाशते। यो बुद्धेः परतस्तु सः स पूर्वोक्तः कामः यत इन्द्रियादिषु बुद्धिपर्यन्तेषु ज्ञानविरोधिष्वुत्तरोत्तर-प्रधानभूतेषु कथञ्चिद्विषयेभ्यः उपरतेष्वपि रजोगुणसमुद्भवोऽनादिसूक्ष्माभिलाषरूपः कामः मनोबुद्धी विषयसंकल्पाध्यवसायिन्यौ विधायात्मज्ञानमाच्छादयति। अतो बुद्धेः परः सर्वज्ञानविरोधिप्रधानभूतो वैरी स काम एवेत्यर्थः। केचित् यस्तु बुद्धेः परस्तत्साक्षित्वेनावस्थितः सर्वान्तरः स आत्मा विमोहयति-देहिनमिति। देहिशब्दोक्त आत्मा स इति परामृश्यते इत्येवं व्याख्यायन्ते, तदसंगतम्। व्यवहितस्य देहिनः परामर्शासम्भवात्। 'पाप्मान प्रजहि ह्येनं, जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपमि'ति पूर्वोत्तरश्लोकयोः कामस्यैव प्रकृतत्वात् न ह्यनन्तरोक्तं विहाय व्यवहितस्य परामर्शं पण्डिताः कुर्वन्तीत्यल विस्तरेण।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवं ज्ञातस्वरूपाधिष्ठानबलस्य शत्रोर्हनने प्रयतितव्यमिति द्रढयति—एवमिति। एवमुक्तप्रकारेण

इन्द्रियां यदि विषयों से हट भी जायँ पर मन उनकी ओर लगा रहे तो आत्मा में ज्ञान का प्रकाश नहीं होना। फिर मन से परे बुद्धि है। इसलिये मन के विषय से अलग होने पर भी बुद्धि में विपरीत अध्यवसाय (निश्चय) होने से आत्म ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। और जो बुद्धि से भी परे है, वही पूर्व में कहा हुआ काम है। क्योंकि उत्तरोत्तर प्रधानभूत इन्द्रियों से आरम्भ कर बुद्धि पर्यन्त जो ज्ञान के विरोधी हैं, वे किसी तरह विषय से उपरत भी हो जायें, अर्थात् हट भी जायें तो भी रजोगुण से उत्पन्न अनादि, और सूक्ष्म अभिलाष रूप काम विषयक संकल्प और निश्चय करने वाले मन और बुद्धि को विषय में जरूर लगाकर आत्मज्ञान को आच्छादित करता है, अतएव बुद्धि से भी सर्वज्ञान का विरोधी प्रधानभूत वैरी काम ही है।

कोई कोई "सः" का अर्थ काम न करके, जो बुद्धि से परे अर्थात् उसका साक्षी सबका अन्तर्यामी परमात्मा ही देही शब्द से वाच्य जीवात्मा को मोह कराता है, ऐसा अर्थ करते हैं। पर यह उनकी भूल है, क्योंकि देही या आत्मा का यहाँ प्रसंग ही नहीं है। पूर्व के श्लोक में काम ही का उल्लेख है, और पर के श्लोक में भी उसीका। इसलिये बीच के श्लोक में दूसरे विषय आत्मा का टपक पड़ना ठीक नहीं जँचता। पण्डित लोग अनन्तर में (समीप पूर्वक में) कहे हुए विषय को छोड़ व्यवहित विषय का परामर्श (विचार) नहीं करते ॥४२॥

इस प्रकार शत्रु के स्वरूप, अधिष्ठान और बल को जान कर उसके नाश में लग जाना चाहिये। इस आशय को दृढ़ करते हैं:—

बुद्धेः परं सूक्ष्मं वासनारूपं प्रधानं वैरिणं बुद्ध्या आत्मानं मन आत्मना सात्त्विक्या बुद्धया संस्तभ्य कामावशगं कृत्वा मनोबुद्धिभ्यां वियुक्तं निर्बलं सन्तं कामरूपं शत्रुं जहि। हे महाबाहो! महान्तौ बाहू यस्य त्वं शत्रुनिग्रहणे समर्थः। यद्यपि दुरासदं दुःखेनासादनीयम् दुर्निग्राह्यमिति यावत् तथापि मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसेत्युक्तं सज्ञानं मदुपासनं तदेव महाबाहुद्वयं तेन बलान्निगृह्य जहि नाशयेत्यर्थः। इन्द्रियाद्यधिष्ठानं त्याजयेति वा।

ज्ञानसाधनभूतोऽपि कर्मयोगोऽधिकारतः।
स्वप्रसादाय निष्कामः प्राधान्येनेह कीर्त्तितः॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्य विरचितायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥३॥

आगत्य यो मधुपुरेऽखिलधर्मवेत्ता
धर्मैकतरसुहृदो यवनान् जिगाय।
तं धर्ममार्गपरिपालनबद्धकक्षं
काश्मीरिकेशवमहं शरणं प्रपद्ये॥

इस प्रकार बुद्धि से परे सूक्ष्म वासना को ही प्रधान शत्रु जान और सात्विक बुद्धि द्वारा मन को रोक अर्थात् मन काम के वश से छुड़ा कर और इस रीति से मन बुद्धि से उसको अलग कर काम-रूप शत्रु को निर्बल बनाकर जीतो।

यहाँ अर्जुन को 'महाबाहो' सम्बोधन इस अर्थ से करते हैं कि तुम बड़ी बाहु वाले हो। इस लिए तुम शत्रु को जीतने में समर्थ हो। यद्यपि इस कामरूप शत्रु को जीतना बड़ा कठिन और दुष्कर कार्य है, तथापि मुझको सब कर्मों को अर्पण कर अध्यात्म बुद्धि द्वारा और पीछे कहे गये ज्ञान के साथ मेरे उपासना रूप दो बड़ी बलवती भुजाओं से शत्रुओं को पकड़ कर उनका नाश करो, अथवा उसको उसके अधिष्ठान इन्द्रियादि से अलग कर दो॥४३॥

श्री भगवान् ने अपने अपने अधिकारानुसार निष्काम कर्मयोग ही इस तीसरे अध्याय में प्रधानता से उपदेश दिया। यह निष्काम कर्मयोग ही ज्ञान का साधन है और भगवान् को प्रसन्नता का कारण है। यही इस अध्याय का तात्पर्य है।

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां तृतीयोऽध्यायः॥३॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

तृतीयाध्यायेऽमृदितकषायस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् ज्ञानवद्भ्रंशशंकावर्जितः कर्मयोग एव श्रेयोऽर्थः कार्यः । ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि फलकर्तृत्वत्यागपूर्वकं लोकसंग्रहायकर्मैव कर्त्तव्यमिति निर्णीतम् । इदानीं चतुर्थाऽध्याये कर्मयोगस्यैव ज्ञानानुसंधानप्रकारं ज्ञानफलकत्वं कर्मस्वरूपं तद्भेदांश्च वक्तुं श्रेष्ठजनाधिकारिकत्वेन परम्पराप्राप्तमित्युक्तकर्मयोगं प्रशंसन् श्रीभगवानुवाच—इममित्यादित्रिभिः । योऽयं कर्मयोगस्तुभ्यं मयोदितः, स त्वां युद्धेप्रोत्साहनायैवाधुनिकः प्रोक्त इति न मन्तव्यम्, किन्तु जगद्रक्षणाय मन्वन्तरादौ जगद्यात्रानिर्वाहकाय विवस्वते सूर्याय परम श्रेयः साधनतयेममेवाव्ययं योगमहं प्रोक्तवान् । विवस्वान्सूर्यो मनवे स्वपुत्राय सत्यव्रतायप्राह । मनुर्वैवस्वत इक्ष्वाकवे ज्येष्ठाय स्वपुत्रायाब्रवीत् ।

तीसरे अध्याय में यह कह चुके हैं कि मोक्षार्थी जिसका पाप नहीं धुला है अर्थात् जो संसारी है, ज्ञान का अधिकारी सहसा नहीं हो सकता । उसके लिये, ज्ञानवत् भ्रष्ट होने की शंका से वर्जित, कर्मयोग ही श्रेष्ठ है और उसे वही करना चाहिये । फिर यह भी निर्णय किया, कि ज्ञान योग के अधिकारी को भी लोकसंग्रह के लिये उसके फल और कर्त्तापन के भाव से रहित हो कर्म करना ही कर्त्तव्य है । अब चौथे अध्याय में यह बतायेंगे कि कर्म ही ज्ञान के अनुसन्धान का रास्ता है और उसीका फल ज्ञान है । फिर कर्म का स्वरूप और उसके भेदों को भी कहेंगे । अब इस पहले श्लोक में कर्मयोग की प्रशंसा करते हुये यह बताते हैं कि वह परम्परा से प्राप्त है और पूर्व में श्रेष्ठ जन उसके अधिकारी हो चुके हैं ।

भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तुम यह नहीं समझना कि यह कर्मयोग आधुनिक है और मैंने केवल तुमको युद्ध करने में उत्साह देने के लिये ही इसको कहा है । मन्वन्तर के आरम्भ में जगत् की रक्षा के लिए परम कल्याण के साधनरूप इस अव्यय कर्मयोग को मैंने जगत्-यात्रा के चलाने वाले

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

एवमुक्तप्रकारेण शिष्टपरम्पराप्राप्तमिमं योगं राजर्षयो राजानश्च ते ऋषयश्च निमिसगरादि-प्रभृतयो विधिना पित्रादिप्रोक्तं विदुः । अतोऽनादिवेदमूलत्वेनानादिरयमित्यभिप्रायः स एव महा-प्रभावोऽयं योगः महता कालेनाधिकारिबुद्धिमान्द्याद्विच्छिन्नसंप्रदायत्वेह लोके नष्टोऽदर्शनं यातः ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

यः पुरा विवस्वते प्रोक्त स एवायं पुरातनो योगो मयाऽद्य ते तुभ्यं प्रोक्तः । यतस्त्वं मे भक्तः सखा चासि अतएवोक्तः, नान्यस्मै प्रोक्त इत्यर्थः । अन्यस्मै कुतो नोक्तोऽत आह—हि यतः । एतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यं, अनधिकारिणो गोपनीयमित्यर्थः ।

अर्जुन उवाच ।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमिति भगवतो वचः सर्वेश्वरत्वेन (सर्वकारणत्वेन) प्रकृतिकाल-कर्मादिनियन्तृत्वेनावस्थितस्य परस्य ब्रह्मणः स्वेच्छया वसुदेवगृहेऽवतीर्णस्य जीवेष्वसम्भाविताश्चर्य-

---

विवस्वान् सूर्य से कहा था । विवस्वान् सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से और वैवस्वत मनु ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु को इस कर्म योग का उपदेश किया था ॥१॥

ऊपर कही हुई रीति से शिष्ट परम्परा से प्राप्त इस योग को निमि, सगर इत्यादि राजर्षियों ने अपने पिता इत्यादि से जाना । कहने का तात्पर्य यह है कि यह कर्मयोग वेद मूलक है, इसलिये अनादि है । यह महा प्रभाव वाला कर्मयोग बहुत समय बीत जाने के कारण और इसके अधिकारियों के मन्द-बुद्धि होने से इस लोक से लुप्त हो गया है अर्थात् इसका सम्प्रदाय नष्ट हो गया है ॥२॥

जिस कर्म योग को मैंने पूर्व समय में विवस्वान् सूर्य से कहा था, उसी पुरातन कर्म योग को मैंने आज तुमसे कहा, कारण कि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो । और दूसरे से नहीं कहता उसका कारण यह है कि कर्म योग का ज्ञान बहुत उत्तम रहस्य है अनधिकारियों से इसको छिपा कर रखना चाहिये ॥३॥

भगवान् के इस वचन में कि 'पूर्व में मैंने इस कर्म योग को विवस्वान् सूर्य से कहा था' अर्जुन को पूरा विश्वास है क्योंकि वह जानते हैं कि भगवान् सर्वेश्वर हैं, प्रकृति, काल और कर्मादि के नियन्ता हैं, परब्रह्म हैं, और अपनी इच्छा से वसुदेव के घर में अवतार लिये हुए हैं । फिर इनको भगवान् के

रूपानेकचरितैर्ज्ञातानुभावोऽर्जुनः सम्भावितं जानन्नपि अनादिपापवासनादूषितमतीनां भगवति वासुदेवे विपरीतभावनावतां तत्रेतर[1] सजातीयजन्मकर्मबुद्धिमपाकरणाय भगवज्जन्मकर्मयाथात्म्यं भगवन्मुखेनैव निर्णयितुमुक्तमसम्भावितमिव मन्वानोऽर्जुन उवाच—अपरमिति। अपरमर्वाचीनमस्मज्जन्मसमकालं वसुदेवगृहे भवतो जन्म प्रसिद्धं, परं प्राक्कालिकं मन्वादौ विवस्वतो जन्म, तस्मात्तवार्वाचीनत्वान्मनुष्यत्वाच्च प्राचीनाय देवाय विवस्वते त्वमादौ प्रोक्तवानेतत्कथमहं विजानीयां कथं सम्भावयेयमित्यर्थः।

श्रीभगवानुवाच।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

अर्जुनाभिप्रायज्ञ उक्तसन्देहनिरासाय श्रीभगवानुवाच—बहूनीति। मेमम जन्मानि देहेनाविर्भावरूपाणि बहूनि व्यतीतानि अभूवन् तव च चकारादन्येषामपि जीवानां हे अर्जुन! तानि आत्मनोऽन्येषां च सर्वाणि जन्मानि अहं सर्वज्ञो वेद जानामि, अनावृतज्ञानत्वात्। न त्वं वेत्थ आत्मनोऽपि कुतोऽन्येषामावृतज्ञानत्वात्।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

कितने ही, और जीवों में नहीं सम्भव होने वाले, आश्चर्य रूप चरितों का अनुभव भी है। पर यह समझ कर कि अनादि पाप वासनाओं से दूषित बुद्धि वाले मनुष्य भगवान् वासुदेव में विपरीत भावना करेंगे और यह समझेंगे कि भगवान् भी हम ही लोगों के ऐसे जन्म कर्म वाले हैं, अर्जुन भगवान् के मुख से ही उनके जन्म कर्म का यथार्थ तत्त्व निर्णय कराने के लिये उनके ऊपर कहे हुए वचनों को असम्भव सा मानते हुए बोले। हे भगवन्! आपका जन्म तो अर्वाचीन है। आप तो वसुदेव के घर में जन्म लिये हैं और हम लोगों के समकालीन हैं और विवस्वान् सूर्य का जन्म सृष्टि के आरम्भ में हुआ। अर्वाचीन और मनुष्य होकर आपने प्राचीन और देवता विवस्वान् को सृष्टि के आरम्भ में उक्त कर्म योग का उपदेश कैसे किया, यह तो असम्भव मालूम होता है। इसको हम सम्भव कैसे समझें ॥४॥

अर्जुन के अभिप्राय को जानने वाले भगवान् उनके सन्देह को दूर हटाने के लिये बोले :—

हे अर्जुन! लीलार्थ विग्रह धारण रूप मेरे बहुत जन्म हुये। तुम्हारे तथा और जीवों के भी बहुत जन्म हुए। (च से अन्य जीवों का बोध होता है)। हे परंतप! मैं अपने और दूसरों के सब जन्मों का हाल जानता हूँ, क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ, और मेरा ज्ञान अनावृत अर्थात् ढका हुआ नहीं है। तुम अपने जन्मों का भी हाल नहीं जानते, दूसरों का कौन कहे, क्योंकि तुम्हारा ज्ञान ढका हुआ है ॥५॥

१—तत्रैव सजातीय।

तव जन्मन्यपि ज्ञानावरणं नास्ति चेत्तर्हि कथं जन्मेत्यपेक्षायामाह—अज इति। अजोऽपि सन् जीववत्कर्मनिमित्तजन्माऽपूर्वदेहग्रहणं तद्रहितोऽपि सन्, अव्ययात्मा पूर्वदेहवियोगरहितोऽपि सन्, भूतानां सर्वेषां प्राणिनामीश्वरो नियन्ताऽपि सन्, स्वां प्रकृतिं स्वभावमसंगत्वाजेयत्वानतिक्रमणीयत्वावार्यत्वादि स्व स्वभावमधिष्ठाय आत्ममायया मीयते कार्यमनयेति माया ज्ञानं संकल्पो वा 'माया वयुनं ज्ञानमि'ति निघण्टुकोशात्। तथा च प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय स्वस्वभावमपरित्यज्यात्मसंकल्पेन सम्भवामि सम्यक् लोकहितं कुर्वन्नाविर्भवामि। 'अजायमानो बहुधा व्यजायते'ति श्रुतिरप्याह। तथा भगवद्विग्रहप्रकारोऽपि श्रुतिनिर्णीत एव। 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः आप्रणखात्सुवर्णः, यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः, तमेकं गोविन्दं सच्चिदानंदविग्रहमित्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञेयः। एवं च सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरोऽहमात्मस्वरूपगुणशक्तिरेव सच्चित्प्रकाशानन्दविग्रहेण स्वसंकल्पेनैवाविर्भवामीति

आपके जन्म में ज्ञान का आवरण नहीं होता है, अर्थात् आपके जन्म होने पर आपके ज्ञान का आवरण नहीं होता तो आपका जन्म होता कैसे है? अर्जुन के इसी प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं :—मैं अज हूं, अर्थात् जीवों के ऐसा कर्म भोगने के लिये मेरा जन्म नहीं होता, न मैं उनके ऐसा अपूर्व देह ही धारण करता हूं। फिर मैं अव्ययात्मा हूं अर्थात् और जीवों के ऐसा मेरे पूर्व देह का वियोग नहीं होता। फिर मैं सब जीवों का ईश्वर अर्थात् नियन्ता हूं। ऐसा होने पर भी मैं अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव का अधिष्ठान कर अर्थात् अपने स्वभाव को बिना छोड़े अपनी माया अर्थात् संकल्प के द्वारा लोक हित के लिए प्रकट होता हूं। 'प्रकृति' से यहां भगवान् के असंगत्व अर्थात् आसक्ति का अभाव, अजेयत्व अर्थात् किसी के द्वारा जीता नहीं जाना, अनतिक्रमणीयत्व अर्थात् किसीसे उनका अतिक्रमण नहीं होना और अवार्यत्व अर्थात् किसीसे उनका रोका नहीं जाना इत्यादि स्वभाव जानना। 'माया' का अर्थ ज्ञान या संकल्प है। क्योंकि निघण्टु कोश में लिखा है "माया वयुनं ज्ञानम्"। भगवान् के प्रकट होने के विषय में श्रुति कहती है :—"अजायमानो बहुधा व्यजायत"। अर्थात् अजन्मा होकर भी बहुत बार बहुत प्रकार से जन्म लेता है। भगवान् के विग्रह वा स्वरूप के विषय में भी श्रुति इस प्रकार निर्णय करती है। "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः, आप्रणखात्सुवर्णः यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः, तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इत्यादि। अर्थात् जो आनन्द और अमृत रूप से प्रकाशित करता है। सूर्य के वर्ण वाला और प्रकृति से परे, स्वर्ण के समान केश वाला, स्वर्ण समान चमकीली दाढ़ी वाला और जिसका नखपर्यन्त समूचा शरीर स्वर्ण के तुल्य है। जैसा रूप भगवान् का है उसी रूप का उनका विग्रह भी है। भगवान् का रूप कैसा है? भगवान् ज्ञान और ऐश्वर्य्य रूप हैं। उस एक गोविन्द को जिसका विग्रह सत्, चित् और आनन्द रूप है हम नमस्कार करते हैं। ऐसा सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर मैं (भगवान्) अपने स्वरूप गुण शक्ति को बिना छोड़े अपने संकल्प

न मेऽसंभावितोक्तिरिति भावः। केचित्तु प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय मम वैष्णवीं त्रिगुणात्मिकां यस्या वशे सर्वं जगद्वर्त्तते तया मोहितः सन् स्वमात्मानं वासुदेवं न जानाति तां प्रकृतिं स्वात्ममायामधिष्ठाय वशीकृत्य सम्भवामि देहवानिव जात इव आत्मनो मायया न परमार्थतः, लोकवदिति व्याचक्षते। तदुक्तश्रुतिविरुद्धत्वात् 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः' इति वक्ष्यमाणभगवद्वाक्यविरोधाच्चोपेक्षणीयं त्रिगुणात्मिकमायाकृतजन्मकर्मणोर्दिव्यत्वासम्भवात्। किञ्चभगवद्विग्रहस्य त्रिगुणमायिकत्वांगीकारे भौतिकत्वं मिथ्यात्वं चाप्यंगीकृतं स्यात्। तथात्वे दोष उक्तो बृहद्वैष्णवे। 'यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः। स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः। मुखं तस्यावलोक्यापि स चैलं स्नानमाचरेत्' श्रीमद्भागवतेऽपि 'अस्यापि देववपुषोमदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपी'ति तस्माच्छ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिरोधायास्मदुक्तार्थ एवास्तिकैरंगीकार्य इत्यलं विस्तरेण।

से सत्, चित्, प्रकाश और आनन्द स्वरूप विग्रह के द्वारा प्रकट होता हूँ। इसमें कुछ असंभावना नहीं है।

कुछ लोगों का मत है कि 'प्रकृति' का यहाँ अर्थ त्रिगुणात्मिका वैष्णवी प्रकृति है जिसके वश में यह सारा जगत् है और जिससे मोहित हो भगवान् वासुदेव अपने आपको नहीं जानते। उसी प्रकृति वा माया को अधिष्ठान वा वश करके, उसका आश्रय लेकर, भगवान् भी साधारण शरीरी वा जीव के ऐसा पैदा होते हैं। पर ऐसी व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व में उद्धृत श्रुतियों के अर्थ से इसका विरोध पड़ता है। फिर भगवान् जो आगे यह कहते हैं कि "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत" अर्थात् मेरा जन्म कर्म दिव्य है। इस वाक्य से भी इस व्याख्या का विरोध पड़ेगा। क्योंकि त्रिगुणात्मिका मायाकृत जन्म और कर्म दिव्य नहीं हो सकते। किन्तु भगवान् विग्रह को त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न मानने से यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् का विग्रह भौतिक और इसलिये मिथ्या है। ऐसा मानने से बड़ा दोष होगा जैसा कि धर्म शास्त्र पुराणादि में लिखा है। बृहद्वैष्णव में लिखा है "यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥ स सर्वस्माद्बहिः कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः॥ मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलं स्नानमाचरेत्॥" अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा कृष्ण के शरीर को भौतिक जानता वा मानता है, वह श्रौतस्मार्त कर्म की सब विधियों से बाहर निकाल देने योग्य है और उसका मुख देखने पर भी सवस्त्र स्नान करना चाहिये। महाभारत में भी कहा गया है :—

"न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः॥" अर्थात् इस कृष्ण परमात्मा का शरीर पंच भौतिक नहीं है। श्रीभागवत में लिखा है :—"अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।" तात्पर्य्य कि मेरा शरीर स्वेच्छामय है, भौतिक नहीं है। इन सब श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण के वचनों से स्पष्ट सिद्ध है कि प्रथम लिखा हुआ ही अर्थ ठीक है क्योंकि पूर्वोक्त शास्त्र वचनों से विरोध नहीं पड़ता और इसी अर्थ को सब आस्तिकों को मानना चाहिये॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् । ७।।

भवतु तवानादित्वाद्विवस्वानाद्युपदेष्टृत्वं स्वेच्छया निर्विकारत्वेनैव जन्म चेति । तथाऽपि बहूनीत्युक्तत्वात् कदा कदा जन्मेत्यपेक्षायामाह—यदा यदेति । न मे जन्मकालनियमोऽस्ति यदा यदा हि यस्मिन्यस्मिन्नेव युगे धर्मस्य परमश्रेयप्राप्तिहेतुभूतस्य मद्भक्तिलक्षणस्य ग्लानिर्हानिर्भवति । तत्प्रतिपक्षस्य चाधर्मस्य अभ्युत्थानमभिवृद्धिर्भवति । तदा तदाऽहमुक्तप्रकारेणात्मानं सृजामि आविर्भवामीत्यर्थः । न चात्र धर्मशब्देन वेदोदितवर्णाश्रमनिबन्धनः सामान्यधर्मो विवक्षितः, कथमन्यथा व्याख्यायते ? इति वाच्यं, तदानीं सामान्यवर्णाश्रमधर्मस्य हान्यभावात् । किन्तु भगवद्भक्तिविरोध्यसुरराजन्यबाहुल्येन भागवतधर्मस्योच्छिन्नप्राय एवावतारः । एवमेव धरण्याह ब्रह्मवैवर्त्ते । 'कृष्णभक्तिविहीना ये ये च तद्भक्तनिन्दकाः । तेषां महापातकिनामशक्ता भारवाहने' इति । अतएव 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'ति । 'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्' इत्यादिनाबहुशो वक्ष्यमाणत्वात् । धर्मस्वरूपं स्वयमेवोक्तं श्रीभागवते 'सत्वाद्-

---

मान लिया कि आप अनादि होने के कारण विवस्वान् आदि के उपदेष्टा हैं और आप अपनी इच्छा ही से विकार रहित दिव्य जन्म ग्रहण करते हैं, पर यह जो आपने कहा कि मेरे बहुत जन्म हुए सो वे आपके जन्म कब कब हुये ? इस प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं :—

मेरे जन्म होने में काल का कोई नियम नहीं है । जिस जिस युग में परमश्रेय अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के कारणभूत मद्भक्तिलक्षणयुक्त भागवत धर्म की हानि होती है, और उसके विरोधी अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं पीछे के श्लोक में कही गई रीति से, अपने को सिरजता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ ।

यहाँ धर्म शब्द से वेद में कहे हुए वर्णाश्रम सम्बन्धी सामान्य धर्म को नहीं समझना चाहिये । क्योंकि जिस समय भगवान् ने अवतार लिया था उस समय वर्णाश्रम धर्म का अभाव नहीं था किन्तु भगवद्भक्त विरोधी राक्षस राजाओं के बढ़ जाने से भागवत धर्म के नष्ट होने ही से अवतार हुआ था । ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में पृथ्वी का भी ऐसा ही वचन है :—

'कृष्णभक्तिविहीना ये ये च तद्भक्तनिन्दकाः । तेषां महापातकिनामशक्ता भारवाहने' ।। अर्थात् कृष्ण भक्ति से हीन और उनके भक्तों के निन्दक महापातकियों के भार होने में मैं असक्त हूँ । इसी लिये भगवान् भी आगे कहते हैं "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" अर्थात् साधुओं की रक्षा और पापियों को नाश करने के लिये । फिर "अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्" अर्थात् जो अनन्य योग से मेरा ध्यान और मेरी उपासना करते हैं उनको मैं मृत्यु रूप संसार सागर से उद्धार करता हूँ । आगे और भी भगवान् के ऐसे कितने ही वचन हैं ।

वृद्धाद्भवेद्धर्मः पुंसो मद्भक्तिलक्षणः। धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त' इत्यादिना। 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसो विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' इत्यनेन भक्तिहीनस्य केवलधर्मस्याकिञ्चित्करत्वाभिधानात्।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

जन्मप्रयोजनमाह—परित्राणायेति। साधवः समदर्शिनो मद्भक्ताः, तथोक्तं भागवते यमेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां 'ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नास्तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यानि'त्यादिना। तेषां साधूनां प्रह्लादादीनां परित्राणाय सर्वतो रक्षणाय दुष्कृतां भक्तिविरोधिनां हिरण्यकशिपुकंसजरासन्धपौण्ड्रकचैद्यशाल्वादीनां विनाशाय च धर्मस्य भागवतस्य सम्यक् स्थापनाय युगे युगे संभवामि।

धर्म का स्वरूप भगवान् ने स्वयं श्रीमद्भागवत में कहा है :—यथा "सत्त्वाद्वृद्धाद्भवेद्धर्मः पुंसो मद्भक्तिलक्षणः। धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तः" अर्थात् सत्वगुण की वृद्धि से मेरी भक्ति लक्षण युक्त धर्म होता है। धर्म वही है जो मेरी भक्ति से युक्त होता है अर्थात् जिसमें मेरी भक्ति बने वही मुख्य धर्म है। फिर भगवान् ने धर्म को अकिञ्चित् कर अर्थात् बहुत तुच्छ फल वाला कहा है। यथा "धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसो विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदिरतिं श्रम एव ही केवलम्।" अर्थात् जिस धर्म के आचरण से विष्वक्सेन अर्थात् भगवान् की कथा में प्रेम नहीं उत्पन्न होता उस धर्म का आचरण करना केवल श्रम ही उठाना है ॥७॥

भगवान् अब अपने जन्म लेने का प्रयोजन कहते हैं :—प्रह्लाद इत्यादि साधुओं की सर्व प्रकार से रक्षा करने के लिये, भक्ति के विरोधी हिरण्यकशिपु, कंस शाल्व इत्यादि को नाश करने के लिये और भगवद्धर्म को संस्थापन करने के लिये मैं युग युग में अवतार लेता हूँ।

साधु उसको कहते हैं जो भगवद्भक्त और समदर्शी हो। श्रीमद्भागवत में यम ने अन्वय-व्यतिरेक वाक्यों से साधुओं का लक्षण यों कहा है :—

"ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्ना-
स्तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान् ॥
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥"

अर्थात् हे हमारे दूतो, जो साधु भगवान् के दास और समदर्शी हैं, उनको मत पकड़ो। वे भगवान् की गदा से रक्षित हैं। उनको हम वा तुम लोग दण्ड नहीं दे सकते। तुम लोग उन असत् अर्थात् दुष्टों को पकड़ लाओ जिन्होंने विष्णु की सेवा नहीं की है ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥९॥

एवंभूतस्वजन्मकर्मज्ञातुः फलमाह—जन्मकर्म चेति । सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य सर्वकारणस्य मे मम जन्म त्रिगुणमायाऽस्पृष्टनित्यसिद्धं सच्चिदानन्दविग्रहेण स्वेच्छयाऽऽविर्भावरूपं, कर्म च भक्तपरित्राणमभक्तविनाशनं च दिव्यमप्राकृतं तत्त्वतः परमार्थबुद्धया यो वेत्ति हे अर्जुन ! सः पुरुषः देहं स्थूलं तद्धेतुभूतं सूक्ष्मं च त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति, न प्राप्नोति । किन्तु मां मुक्तप्राप्यं सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं परब्रह्म भगवन्तं वासुदेवमेवैति प्राप्नोति मद्भावं प्राप्नोति ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

मामेतीत्युक्तं तत्र त्वत्प्राप्तौ त्वज्ज्ञाने च साधनान्तरमपेक्षितं न वा ? प्राप्तिः स्वरूपैक्येन भेदेन वा ? तादात्म्येन वेत्यपेक्षायामाह—वीतरागेति । रागः स्त्रीपुत्रादिस्नेहः, भयं भयानुबन्धि कर्म, क्रोधः किञ्चिद्वस्त्विच्छाविघातके चित्तविकारः । वीता विशेषतो गता रागभयक्रोधा येभ्यस्ते शुद्धदेहेन्द्रियमनस्का इत्यर्थः । एतेन ज्ञानसाधनमुक्तम् । अतो मन्मया मदात्मका वासुदेवात्मका वयमिति

भगवान् अपने जन्म और कर्म के ज्ञान के फल को कहते हैं :—

हे अर्जुन ! मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर और सर्वकारण का जन्म त्रिगुण माया से रहित नित्य सिद्ध है और सच्चिदानन्दरूप विग्रह के साथ अपनी इच्छा से होता है। भक्तों की रक्षा और अभक्तों वा दुष्टों का नाश करना मेरा कर्म है। ये मेरे कर्म दिव्य और अप्राकृत हैं। हमारे जन्म और कर्म का यथार्थ ज्ञान जिसको है वह स्थूल शरीर और उसके कारणभूत सूक्ष्म शरीर को छोड़ कर फिर जन्म नहीं लेता। किन्तु मुक्तप्राप्य, सत्य ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म भगवान् मुझ वासुदेव को प्राप्त होता है अर्थात् मेरे भाव को प्राप्त करता है ॥९॥

अब यहाँ ऐसी शंका करते हैं कि भगवान् ने जो कहा कि मुझको प्राप्त करता है सो आपकी प्राप्ति में और आपके ज्ञान में किसी दूसरे साधन की आवश्यकता है कि नहीं ? फिर प्राप्ति होने पर स्वरूप की एकता होती है वा भेद रहता है, अर्थात् जब आपकी प्राप्ति हो जाती है तो जीव और आपके स्वरूप में बिलकुल एकता हो जाती है वा भेद रहता है वा तादात्म्य होता है ? अर्थात् जीव आप ही के आत्मा वा प्रकृति वाला हो जाता है क्या ?

इन्हीं सब शंकाओं और प्रश्नों का उत्तर यहाँ भगवान् देते हैं :—

विशेष रूप से निकल गया है राग अर्थात् स्त्री, पुत्रादि से प्रेम, भय अर्थात् भय उत्पन्न करने वाला कर्म, क्रोध अर्थात् इच्छा में विघात पड़ने से उत्पन्न चित्तविभ्रम जिन लोगों का, सारांश कि राग, भय, क्रोध से जो बिलकुल रहित हैं याने जिनका देह, इन्द्रिय, मन इत्यादि शुद्ध हैं (इन गुणों से ज्ञान के साधन कहे गये हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के ये ही साधन हैं), उक्त कारणों से रागादि रहित वे

जातनिश्चयाः 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव चे'त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः । एवम्भूताः मामुपाश्रिताः उक्तस्वरूपं मामेवार्चनवन्दनध्यानैः सेवितवन्तः न तु देवान्तरभक्ताः । एतेन स्वप्राप्तिसाधनं सूचितम् । एवम्भूता बहवो भक्ताः ज्ञानतपसा यज्जन्मकर्मविषयकज्ञानमेव तपः, सर्वकर्मभर्जकं ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते'इति वक्ष्यमाणत्वात् । तेन पूता निरस्ताज्ञानतत्कार्यशुभाशुभवासनाः, सन्तो मद्भावमागताः, मम यो भावः अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दवत्त्वे सत्यप्राकृतप्रकाशानन्दविग्रहवत्त्वं, समागताः प्राप्ताः । स्वरूपभेदे सति 'सर्व ह पश्यः पश्यती'ति मुक्तौ सार्वज्ञ्योक्तेः,

---

ज्ञानी मनुष्य मन्मया अर्थात् मदात्मक होते हैं। तात्पर्य उनको यह पक्का निश्चय हो जाता है कि हम लोग वासुदेवात्मक हैं, या वासुदेव हम लोगों के आत्मा हैं। इस विषय में श्रुति स्मृति प्रमाण हैं यथा, "एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो !" अर्थात् यह सब जगत् भगवदात्मक है, वह सत्य है। वह (भगवान्) आत्मा हैं। वह (भगवान्) तुम हो अर्थात् वह तुम्हारा अन्तरात्मा है, हे श्वेतकेतु ! फिर—

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च॥"

अर्थात् इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, क्षेत्र अर्थात् भोग्य सहित ब्रह्माण्ड से आरम्भ कर शरीर तक के सभी अचेतन पदार्थ, काल इत्यादि और क्षेत्रज्ञ अर्थात् भोक्ता चेतन तत्त्व सभी वासुदेवात्मक हैं, अर्थात् वासुदेव उन सबों के आत्मा हैं।

मन्मया होने पर मनुष्य हमारी पूजा, वन्दना और ध्यान से मेरी सेवा करते हैं, अर्थात् अन्य देवताओं के भक्त नहीं होते। इससे भगवान् ने अपनी प्राप्ति का साधन कहा, अर्थात् मेरी सेवा मेरी प्राप्ति का साधन है यह बताया।

इस अवस्था को प्राप्त हुए बहुत से भक्त ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर अर्थात् सब कर्मों का भूंजने वाला मेरे जन्म कर्म का यथार्थ ज्ञान ही जिनका तप है क्योंकि, भगवान् आगे कहेंगे कि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को भस्म करता है। ऐसे तप से, अज्ञान के कार्य रूप, भक्तों की शुभ और अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वे पवित्र हो जाते हैं। ऐसा होने पर वे मेरे भाव को प्राप्त होते हैं। मेरे भाव से मतलब यह है कि उनका ज्ञान और आनन्द मेरे ही समान बिना सीमा का हो जाता है और ऐसा होने पर उनको हमारे शरीर के समान अप्राकृत, प्रकाश और आनन्द स्वरूप विग्रह की प्राप्ति हो जाती है। पर स्वरूप में भेद बना रहता है। स्वरूप भेद होने पर भी मुक्ति अवस्था में श्रुति जीव की सर्वज्ञता प्रतिपादन करती है। यथा :— "सर्व ह पश्यः पश्यति" अर्थात् द्रष्टा अर्थात् मुक्त जीव सबको देखता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

सार्वज्ञ्यादिधर्माविर्भावेन विग्रहसाम्येन चाभेदं तादात्म्यलक्षणं भेदाभेदं प्राप्ता इत्यर्थः। भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमिति भगवत्पतञ्जल्युक्तस्तादात्म्यलक्षणसमन्वयात्। एवं साधर्म्यवचनेन मुक्तौ स्वरूपैक्यवादः केवलभेदवादश्च बहुवचनेनात्मैक्यवादश्च स्पष्टं निरस्तः।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥११॥

ननु यदि ज्ञानतपसा पूतानां निष्कामभक्तानामेवात्मभावं ददासि, नान्येषां सकामभक्तानां तर्हि त्वय्यपि वैषम्यं स्यादित्याशंक्याह—ये यथेति। ये भक्ता यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया च मां प्रपद्यन्ते उपासते तांस्तथैव तदीप्सितफलदानप्रकारेण भजामि, अनुगृह्णामि। तत्रापि न केवलमात्मभक्तानेवापि तु अन्यदेवभक्तानप्यनुगृह्णामि। यतः सर्वशः सर्वप्रकारेण इन्द्रादिदेवानपि भजन्तो मनुष्या मम सर्वात्मभूतस्य वासुदेवस्य वर्त्म भजनमार्गमनुवर्त्तन्ते 'यमिन्द्रमाहुर्वरुणं यमाहुः स ब्रह्मा स शिवः

इसलिये सर्वज्ञता आदि धर्म के आविर्भाव होने से और दिव्य विग्रह की समानता होने से मुक्ति अवस्था में जीव और परमेश्वर में अभेद है और इस प्रकार जीव को भेद और अभेद वाला तादात्म्य लक्षण अर्थात् भेदाभेद सम्बन्ध प्राप्त होता है।

तादात्म्य किसे कहते हैं? भगवान् पतञ्जलि इसका उत्तर देते हैं कि "भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्" अर्थात् भेद को सहने वाले अभेद को तादात्म्य कहते हैं।

इस प्रकार साधर्म्य वचन से मुक्ति अवस्था में स्वरूप के ऐक्य का और केवल भेदवाद का और बहुवचन के व्यवहार से आत्मा के एकवाद का, खण्डन किया गया। सब कहने का सारांश यह निकला कि मुक्ति अवस्था में जब मेरे भक्त मेरे समान धर्म को प्राप्त होते हैं तो स्वरूप से तो उनमें भेद रहता है, क्योंकि वे अणु हैं, और हम परिच्छेद शून्य विभु हैं, पर इस बात से कि वे हमारे ही समान अप्राकृत शरीर वाले और अप्रतिहत वा बिना रुकावट के ज्ञान वाले हो जाते हैं हममें और उनमें यह अभेद भी है ॥१०॥

अब यहाँ शंका करते हैं कि यदि ज्ञान रूपी तप से पवित्र और कामना रहित भक्त ही को आप आत्म भाव देते हैं और कामना वाले भक्त को नहीं तो आप में भी विषमता दोष उपस्थित हो जायगा? इस शंका का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—

जो भक्त मेरी सेवा जिस प्रकार से, अर्थात् सकाम वा निष्काम भाव से, करता है मैं उसको वैसा ही मनवाञ्छित फल देकर उस पर अनुग्रह करता हूं। केवल अपने ही भक्तों पर नहीं, बल्कि अन्य देवताओं के भक्तों पर भी मैं कृपा करता हूँ चूंकि सर्व प्रकार से इन्द्रादि अन्य देवताओं की उपासना करने वाले मनुष्य भी मेरे ही भजन के मार्ग पर चलते हैं अर्थात् मेरी ही पूजा करते हैं क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ। इसलिए किसी भी देवता की उपासना करने वाले का कर्मफल दाता सर्वात्मा भगवान् वासुदेव मैं ही हूँ।

सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडि'त्यादिश्रुतेः 'यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्दिवौकसः। अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मका'इति विष्णवे। तस्माद्यं कश्चिदपि भजतां कर्मफलदाता सर्वात्मा भगवान्वासुदेव एवेति फलितं, 'फलमत उपपत्ते'रिति न्यायात्।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

एवं चेत्तर्हि सर्वे जना निष्कामा भूत्वा मोक्षार्थं साक्षात्त्वामेव कुतो नाश्रयन्ते इत्यत आह—कांक्षन्त इति। कर्मणां सिद्धिं धनस्त्रीपुत्रपश्वादिप्राप्तिरूपां सिद्धिं कांक्षन्त इति। कर्मणां सिद्धिं धनस्त्रीपुत्रपश्वादिप्राप्तिरूपां सिद्धिं कांक्षन्तो वाञ्छन्तः प्राय इह कर्माधिकारिणि मनुष्यलोके देवता इन्द्रादीनेव यजन्ते, नतु साक्षान्मां भजन्ते। कुतः ? हि यस्मात्कर्मजा सिद्धिः देवताराधनं कर्म क्षुद्रफलं क्षिप्रं शीघ्रं भवति। ज्ञानफलो मोक्षस्तु न शीघ्रं भवति तस्यानेकजन्मसाधनसिद्धिलभ्यत्वात्। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि'ति वक्ष्यति। अतस्तेषां मुमुक्षाभावात् क्षुद्रफलदा देवता एव यजन्ते, न साक्षान्मामाश्रयन्ते इति भावः।

भगवान् सब देवताओं के अन्तरात्मा हैं इसमें श्रुति प्रमाण है। यथा—"यमिन्द्रमाहुर्वरुणं यमाहुः सः ब्रह्मा सः शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" अर्थात् जिसको इन्द्र कहते हैं, जिसको वरुण कहते हैं, जिसको यम कहते हैं, वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर है, वही परम स्वतन्त्र है। फिर विष्णु पुराण में भी लिखा है :—"यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्दिवौकसः। अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः।" अर्थात् हे देवताओं, जो पृथ्वी ने कहा वह सब सत्य है। मैं, शिवजी और तुम सब नारायणात्मक हो अर्थात् नारायण ही हम लोगों के अन्तरात्मा हैं। इससे जो ऊपर कहा गया है उसका यह फल निकला कि किसी भी देवता के भजन करने वाले को उसके कर्म के फल देने वाले सबके अन्तरात्मा भगवान् वासुदेव ही हैं, इस विषय में "फलमत उपपत्तेः" यह व्यास सूत्र भी प्रमाण है ॥११॥

यदि ऐसी बात है तो सब लोग निष्काम होकर मोक्ष के लिये आप ही की शरण में क्यों नहीं आते हैं ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं :—

इस कर्माधिकारी मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि अर्थात् धन, स्त्री, पुत्र, पशु आदि की प्राप्ति के लिये लोग इन्द्रादि देवताओं की पूजा करते हैं, साक्षात् हमारी नहीं। क्योंकि, देवताराधन रूप कर्म से उत्पन्न क्षुद्र फल शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है, और ज्ञान का फल मोक्ष शीघ्र नहीं प्राप्त होता। मोक्ष की सिद्धि अनेक जन्म के साधन से प्राप्त होती है, जैसा कि आगे भगवान् कहेंगे। "अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्" अर्थात् अनेक जन्म के बाद ज्ञान सिद्धि होती है और तब परागति वा मोक्ष की प्राप्ति होती है। सारांश यह कि मनुष्यों को मोक्ष की इच्छा नहीं है, केवल क्षुद्र फल की इच्छा है। इस लिये वे मेरी शरण में नहीं आकर क्षुद्र फल के देने वाले देवताओं को भजते हैं ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

ननु केचिदेव साक्षात्त्वां भजन्ते ननु सर्वे, तर्हि तेऽन्यदेवताभक्ता विषमस्वभावाः केन सृष्टाः, कस्येदं वैषम्यमिति चेत्तत्राह—चातुर्वर्ण्यमिति । चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं स्वार्थे ष्यञ् । मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं, कथं ? गुणकर्मविभागशः गुणविभागेन कर्मविभागेन चेत्यर्थः । तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां सात्त्विकानि शमदमादीनि कर्माणि । सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजोयुद्धादीनि कर्माणि । तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च तादृशानि कृष्यादीनि कर्माणि । रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च तादृशानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणि । तस्य विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्त्तारमपि मामकर्त्तारं वैषम्य कर्तृत्वशून्यं विद्धि । कुतः ? यतोऽव्ययं स्वरूपगुणशक्ति-विग्रहान्यथाभावरहितं निर्विकारमित्यर्थः ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एतत्कुतस्तत्राह—न मामिति । कर्माणि विविधजगत्सृष्ट्यादीनि तन्निमित्तानुगुणकर्त्तारं सर्वज्ञं मां न लिम्पन्ति, तद्वैषम्यजन्यपुण्यपापानि न स्पृशन्तीत्यर्थः । अयं भावः, यथा व्रीह्याम्रकण्टक्यादीनां

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि कोई-कोई साक्षात् आपको भजते हैं सब नहीं, तब इन विषमस्वभाववाले दूसरे देवताओं के पूजकों को कितने सिरजा है ? अर्थात् इने गिने लोग तो आपको भजते हैं और बाकी सब मनुष्य अन्यदेव उपासक हैं इस विषमता का दोषी कौन है ? इस शंका का उत्तर देते हैं :—

चारों वर्णों को मैं (ईश्वर) ने ही गुण और कर्म का विभाग करके सिरजा है । अर्थात् जिनमें सतोगुण प्रधान हुआ वे ब्राह्मण हुये, और उनके शम, दम आदि सात्त्विक कर्म हुये सतोगुण कुछ दबा हुआ और रजोगुण प्रधानवाले क्षत्रिय हुये । और उनके वीर्य, तेज युद्धादिक राजसी कर्म हुये । तम कुछ दबा हुआ और रज प्रधानवाले वैश्य हुये और उनका काम भी वैसा ही हुआ, जैसे खेती, वाणिज्य इत्यादि करना । और रज कुछ दबा हुआ और तम प्रधानवाले शूद्र हुये और तीनों वर्णों की सेवा करना उनका कर्म हुआ । इन पृथक् स्वभाववाले चारो वर्णों का सृष्टिकर्त्ता मैं ही हूँ । पर मुझ में कर्त्तापन से विषमता नहीं है क्योंकि मैं अव्यय अर्थात् स्वरूप, गुण, शक्ति और विग्रह से विकारहीन हूँ । अर्थात् इस सृष्टि के कर्त्ता होने से मेरे स्वरूप, गुण, शक्ति और विग्रह में किसी प्रकार का व्यय व विकार नहीं पैदा होता, इसलिए मुझको इसके कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता और विषमता से शून्य जानो ॥१३॥

आप सृष्टि के कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता हैं, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर देते हैं । भाँति-भाँति के जगत् की सृष्टि आदि कर्म मुझको, जो उनके निमित्त गुणानुकूल जगत् का सिरजनेवाला और सर्वज्ञ हूँ नहीं छूता अर्थात् सृष्टचादि की विषमता और निर्घृणता का पाप पुण्य मुझ में नहीं सटता । ऐसा

विषमाणामुत्पत्तौ पर्जन्यस्यासाधारणकारणत्वेऽपि वैषम्यस्य तत्तद्बीजवृत्तित्वेन न पर्जन्ये तत्प्रसक्तिः। तथैवोत्तमाधमगुणकर्मविशिष्टसौम्यक्रूरस्वभावसुखिदुःखिविविधजीवसृष्टौ तत्फलदाने च वासुदेवस्य भगवतोऽसाधारणकारणत्वेऽपि वैषम्यस्य तत्तद्बीजात्मकानादिकर्मनिष्ठत्वेन परमेश्वरे भगवति न वैषम्यनैर्घृण्यप्रसक्तिरिति। तथा चाह भगवान्सूत्रकारः। 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादि'ति। तत्र हेतुमाह—नमे कर्मफले स्पृहेति। यथा आत्मबन्धुमित्राणां सुखस्पृहया सुखहेतुकं कर्मकुर्वन्ति, स्ववैरिदुःखस्पृहया तथाभूतं कर्म कुर्वन्ति, न तथोत्तमाधमसुखदुःखविशिष्टप्राणिसर्जनात्मककर्मणां मे फले स्पृहाऽस्ति, आप्तकामत्वात्। न किञ्चित्फलोद्देशेन करोमीत्यर्थः। इति उक्तप्रकारेण जगत्सृष्ट्यादेः कर्त्तारमकर्त्तारं तत्कर्मसंगरहितं च यो मां साक्षाज्जानाति स कर्मभिः क्रियमाणैर्न बध्यते।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

तस्मात्फलितमाह—एवमिति। यथा फलस्पृहाराहित्येन परमेश्वरो जगत्सृष्ट्यादीनि महान्त्यपि

कहने का भाव यह है कि जैसे जौ गेहूँ इत्यादि अन्न, आम केले इत्यादि फल और अनेक भाँति के काँटेदार वृक्षों की उत्पत्ति में वर्षा असाधारण कारण है, क्योंकि उसके बिना ये सब पैदा नहीं हो सकते, पर ऐसा होने पर भी उनकी विषमता के दोष का भागी जल नहीं हो सकता, क्योंकि विषमता तो उनके बीज में रहती है, उसी प्रकार उत्तम और अधम गुण और कर्म से युक्त, सुन्दर और क्रूर स्वभाव का, दुःखी और सुखी, और और प्रकार की विभिन्नतायुक्त, जीव की सृष्टि करने में और उन उनके कर्मानुसार फल देने में भगवान् वासुदेव असाधारण कारण हैं सही, पर विषमता का कारण अनादि कर्मरूप बीज में स्थित रहने से उस विषमता और निर्घृणता का दोष उनको नहीं छूता। भगवान् सूत्रकार व्यास ने भी कहा है यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।" इसका अर्थ ठीक वही है जो ऊपर लिखा गया है।

भगवान् कहते हैं कि ऐसा होने का कारण यह है कि जैसे साधारण जन अपने और बन्धु-बान्धवों के सुख के निमित्त सुखदेनेवाले कर्मों को करते हैं और अपने शत्रुओं को दुःख पहुँचाने की चेष्टा से उन्हें दुःख पहुँचानेवाले कर्मों को करते हैं वैसे हमारे कर्मों में हमको कुछ वाञ्छा या मनोरथ नहीं है। अर्थात् उत्तम अधम, सुखी दुःखी जीवों की सृष्टि करने में मुझे कोई फल की आकांक्षा नहीं है, क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ। कहने का तात्पर्य्य यह कि किसी फल के उद्देश्य से मैं कर्म नहीं करता। इस प्रकार जगत् का सृष्टिकर्ता होकर भी मैं अकर्त्ता हूँ और उस सृष्टिकर्म में आसक्तिहीन हूँ। ऐसा जो मुझको जानता है उस मनुष्य को वर्त्तमान में किये गये कर्म अर्थात् क्रियमाण कर्म नहीं बाँधते। (क्रियमाण इसलिए कहा कि प्रारब्धकर्म बिना भोगे नहीं छूटते ॥१४॥

जैसे फल की आकांक्षा से रहित होने के कारण जगत् सृष्टि आदि बड़ा कर्म करके भी

कर्माणि कुर्वन्न बध्यते, तथा कर्त्तृत्वाभिमानतत्फलेच्छाराहित्येन यथाऽधिकारं विधिना कृतं कर्म बन्धकं न भवतीत्येवं ज्ञात्वा पूर्वैरपि मुमुक्षुभिर्मनुजनकादिभिः कर्म कृतम् । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि मुमुक्षुः पूर्वैः कृतं पूर्वतरं शिष्टपरम्परागतं कर्मैव कुरु ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

ननु कर्मैव कर्त्तव्यं चेत्त्वद्वचनादेव करिष्यामि, परन्तु कर्मणि कश्चित्सन्देहोऽस्ति । किं ? यतः पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्युदाहरसीत्यत आह—किं कर्मेति । मुमुक्षुणाऽनुष्ठेयं कर्म किं स्वरूपं ? अकर्म च किमत्र कर्माकर्मज्ञानविषये कवयो विद्वांसोऽपि मोहितास्तन्निर्णयकर्त्तुमशक्ताः यथावन्न जानन्ति । यस्मात्कर्मादि ज्ञानं दुर्घटं, तत्तस्मात्ते तुभ्यं कर्म अकर्म च प्रवक्ष्यामि । यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा अशुभात्संसारान्मोक्ष्यसे ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

ननु शरीरेन्द्रियव्यापारः कर्म तदभावः क्रियाशून्यत्वमकर्मेति सर्वजनप्रसिद्धं, कथमत्र कवयोऽपि मोहिता इत्युक्तमिति चेत्तत्राह—कर्मण इति । हि निश्चयेन कर्मणः शास्त्रविहितस्य शरीरेन्द्रिय-व्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति । विकर्मणः प्रतिषिद्धस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति । अकर्मणः

परमेश्वर उस कर्म से बाँधे नहीं जाते, वैसे ही कर्त्तापन का अहंकार छोड़, फल की इच्छारहित होकर शास्त्रोक्त विधि से किया हुआ यथाधिकार कर्म बाँधनेवाला नहीं होता। ऐसा समझ मनु, जनक आदि पहले के मोक्षार्थी लोगों ने कर्म किये हैं। इसलिए तुम भी मुमुक्षुओं से पूर्व में किये गये और शिष्ट परम्परागत कर्मों को करो ॥१५॥

यदि कर्म करना ही है तो आपके कहने ही से कर्म करूँगा, पर कर्म में कुछ सन्देह मालूम होता है, क्योंकि कर्म के विषय में आपने यही कहकर छोड़ दिया कि जैसा पूर्व में शिष्टों ने किये हैं ऐसे ही कर्म करो। अर्जुन की इस शंका का उत्तर भगवान् देते हैं :—

मुमुक्षुओं से किये जाने योग्य कर्म का क्या स्वरूप है और अकर्म का क्या स्वरूप है ? इस कर्म और अकर्म के विषय को जानने में विद्वान् भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् कर्म और अकर्म का यथार्थरूप विद्वान् भी निर्णय नहीं कर सकते, चूंकि कर्म इत्यादि का ज्ञान दुर्घट है। इसलिए मैं तुमसे कर्म और अकर्म के विषय में कहता हूँ। इस कर्म अकर्म के स्वरूप को जानकर तुम अशुभ से अर्थात् संसार से छुटकारा पा जाओगे ॥१६॥

शरीर इन्द्रिय आदि के व्यापार को कर्म कहते हैं, और क्रिया शून्यता को अकर्म कहते हैं। यह तो सब कोई जानता है। इसमें विद्वानों को मोह क्यों होता है ? इसका उत्तर देते हैं :—

शास्त्रविहित शरीर, इन्द्रिय आदि व्यापार के तत्त्व को निश्चय रूप से जानना चाहिये।

क्रियाऽभावस्य तूष्णीमासीनस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति। यतो गहना कर्मणो गतिः कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणां तत्त्वं दुर्विज्ञेयमित्यर्थः।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

तदेव कर्मादीनां तत्त्वं कृपयाऽऽह—कर्मणीति। कर्मणि भगवदाराधनलक्षणे किञ्चिदंगवैगुण्येऽपि अकर्म प्रत्यवायापादकं कर्मेदं न भवतीति यः पश्येत्, तथाभूतस्य कर्मणः सत्त्वशुद्धिपूर्वकज्ञानद्वारेण मोक्षहेतुत्वाद्बन्धकत्वाभावादकर्मैव जानीयादित्यर्थः। 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते'-इत्युक्तत्वात्। अकर्मणि योग्यतायां सत्यां विहिताकरणे तूष्णीं भावे कर्म यः पश्तेत्, प्रत्यवायापादकत्वेन बन्धकं यः पश्येदित्यर्थः। 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्नि'त्यादिना मिथ्याचारः स उच्यते'इत्युक्तत्वात्। चकारेण केवलकर्मनिष्ठस्य यथा वृन्ताकमसूरादिभक्षणनिषिद्धाचरणे दोष एव। भगवदाराधकस्य कथं चित्केनचिद्दत्तभगवत्प्रसादमिश्रिततद्भक्षणं चेन्न दोष इति विकर्मणोऽपि तत्त्वं सूचितम्। तथा चोक्तं श्रीभागवते। 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथं चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट'इति। एवं कर्माकर्मादितत्त्वज्ञं स्तौति—स इति।

प्रतिषिद्ध कर्मों का भी तत्त्व जानना चाहिये। अकर्म अर्थात् क्रिया के अभाव अर्थात् चुप रहने का भी तत्त्व जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन अर्थात् दुर्बोध है (कर्म से यहाँ कर्म, विकर्म और अकर्म सबको समझना चाहिये) ॥१७॥

पूर्वोक्त कर्मादि का तत्त्व भगवान् कृपा कर कहते हैं :—जो मनुष्य भगवान् की आराधना रूप लक्षण वाले कर्म में कोई अंग वैगुण्य वा अंग का खण्डन होने पर भी अकर्म देखता है कि दोष उत्पन्न करने वाले कर्मों का इसमें अभाव है। भाव यह है कि ऐसे आराधना रूप कर्मों को सत्त्व शुद्धि पूर्वक ज्ञान द्वारा मोक्ष का हेतु समझ और उनमें बाँधने की शक्ति का अभाव देख उनको अकर्म ही समझता है, जैसा कि भगवान् पीछे कह आये हैं, "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते"। और अकर्म में अर्थात् योग्यता रहते हुए विहित कर्मों को नहीं करके चुप बैठने में जो कर्म देखता है, अर्थात् यह समझता है कि यह अकर्म वा चुप बैठना भी पाप वा दोष पैदा करने वाला होने के कारण बाँधने वाला है, जैसा भगवान् पीछे कह चुके हैं "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्", "मिथ्याचारः स उच्यते"। "च" का अर्थ यह है कि केवल कर्मनिष्ठ पुरुष को बैंगन, मसूर आदि को भक्षण करने में दोष होता है; पर भगवान् की आराधना करने वाले को कोई प्रसाद के साथ इन निषिद्ध अन्नों को दे दे और वह खाले तो कोई दोष नहीं होता। इससे विकर्म का तत्त्व सूचित किया। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है :—

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदिसन्निविष्टः॥"

यः कर्मादिस्वरूपतत्त्वज्ञः स पुरुषः मनुष्येषु सर्वेषु बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानवाञ्छ्रेष्ठ इत्यर्थः । किञ्च स युक्तः योगयुक्तः, स एव कृत्स्नकर्मकृत् । कृत्स्नफलहेतुकर्मकर्त्ता सर्वकर्मफलानां तत्रैवान्तर्भावादित्यर्थः ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

उक्तप्रकारेण कर्माकर्मादिज्ञातुर्बुद्धिमत्त्वं यदुक्तं तदेवोपपादयति यस्येति । यस्य मुमुक्षोः सर्वे समारम्भा नित्यनैमित्तिकभगवज्जन्मकर्मोत्सवादिसम्बन्धिनः सम्यगारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः, काम्यन्त इति कामाः फलानि तत्संकल्पवर्जिता भवन्ति, तं बुधाः पण्डितं ज्ञानिनमाहुः । यतो ज्ञानाग्नि-दग्धकर्माणम्, उक्तप्रकारैः कर्मभिर्निर्मलीभूतेऽन्तःकरणे जातो यो ज्ञानरूपोऽग्निस्तेन दग्धानि फलदान्यपि भर्जितान्नवत्फलोत्पादनानर्हीभूतानि कर्माणि यस्य तमित्यर्थः ।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

एतेन निष्कामस्य ज्ञानिनः पूर्वकर्मविनाश उक्तः । इदानीं क्रियमाणकर्मणामश्लेषमाह—त्यक्त्वेति । कर्मणि तत्फले च आसंगं फलकर्तृत्वाभिमानं त्यक्त्वा नित्येन स्वरूपानन्देन तृप्तः, निराश्रयः देहाद्यर्थ-

---

अर्थात् परेश हरि उन अपने भक्तों के हृदय में बैठ कर जो उनके चरणों की सेवा करते हैं, उनके प्रिय हैं और दूसरे देवताओं में भाव नहीं रखते, उनसे यदि किसी प्रकार विकर्म बन जावे तो उनके किये गये विकर्म को नाश कर देते हैं ।

अब कर्म अकर्म आदि जानने वालों की स्तुति करते हैं—कर्म अकर्मादि के तत्त्व का जानने वाला पुरुष सब मनुष्यों में बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् और श्रेष्ठ है । और वही योग युक्त है और वही सब कर्म का करने वाला है ॥१८॥

पीछे जो कर्म और अकर्म के तत्त्व को जानने वाले की बुद्धिमत्ता कही है उसीका यहाँ समर्थन करते हैं । जिस मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष के नित्य नैमित्तिक कर्म तथा भगवान् के जन्म और कर्म के उत्सव आदि से सम्बन्ध रखने वाले कर्म सम्यक् रूप से आरम्भ किये जाते हैं और फल संकल्प से शून्य हैं, अर्थात् फल की आकांक्षा से रहित हैं, उसी को पण्डित लोग ज्ञानी कहते हैं । क्योंकि उक्त प्रकार के कर्मों से अन्तःकरण निर्मल हो जाने पर जो ज्ञान रूप अग्नि उत्पन्न होती है वह फल देने वाले कर्मों को भी जला देती है । अर्थात् जो भूंजे हुए अन्न में से अंकुर नहीं निकलता और जले हुए वस्त्र से बंधन नहीं हो सकता वैसे ही इन ज्ञानियों को फल देने वाले कर्म भी फल नहीं उत्पन्न करते ॥१९॥

पीछे के श्लोक में यह कहा गया कि कामनाहीन ज्ञानियों के पूर्व में किये गये संचित कर्मों का विनाश होता है । अब यहाँ यह कहते हैं कि इन ज्ञानियों को क्रियमाण कर्म अर्थात् वर्त्तमान वा भविष्यत् में किये गये कर्म भी नहीं छू सकते अर्थात् इनमें दोष नहीं पैदा कर सकते या उनको बाँध

माश्रयणीयरहितो यः स शास्त्रीये लौकिके वा कर्मणि आभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि किञ्चित्कर्म न करोति, न तेन लिप्यते इत्यर्थः ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यद्येवं तर्हि—निराशीरिति । निर्गता आशिषः कामना यस्मात्स तथा यतं वशीकृतं चित्तमात्मा सेन्द्रियो देहश्च येन सः, त्यक्तः सर्वपरिग्रहः संग्रहो येन स, केवलं शारीरं शरीरसम्बन्धिमात्रं नित्यावर्जनीयं कर्म कुर्वन् किल्बिषं पापं नाप्नोतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥

ननु स्यादेवं केवलशारीरकर्मस्पर्शाभाव इति, यदि पुनः पूर्वाभ्यासेन कर्मविशेषं कुर्याच्चेत्तर्हि तेन बध्येतेति चेत्तत्राहयदृच्छेति । इच्छा प्रयत्नं विनैव येन केन चिदप्रेरिता या चित्तेन भोगप्राप्तिर्यदृच्छा तयैव यो लाभः स यदृच्छालाभः वस्त्राश्नादिस्तेन सन्तुष्टः, यदि न प्राप्नुयात्तदा द्वन्द्वातीतः, द्वन्द्वानि क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षादीनि अतीतस्तत्प्राप्तावकातरः । किञ्च विमत्सरः, परस्य भोजनादिप्राप्तौ स्वस्याप्राप्तौ चासहनताशून्यः । अत एव सिद्धावसिद्धौ च लाभालाभे च हर्षविषादरहितः । एवंवृत्तिर्ज्ञानावस्थितो विद्वान् स्वार्थं किञ्चित्कर्म न करोति, किन्तु केन चित्स्वहिताय याचितश्चेत्सर्वज्ञत्वात्परार्थं

नहीं सकते । कर्मों और उनके फलों में आसक्ति हीन होकर अर्थात् फल के कर्तृत्व में अभिमान छोड़ और अपने आत्म स्वरूप के आनन्द में तृप्त और देहादि के निर्वाह के लिए आश्रयहीन होकर जो मनुष्य शास्त्रोक्त वा लौकिक कर्म में प्रवृत्त होता है, वह कोई भी कर्म नहीं करता अर्थात् उसके किये गये कर्म उसको नहीं छूते, उन कर्मों से वह लिप्त नहीं होता ।.२०॥

यदि ऐसा है तब कामना रहित मनुष्य जिसने चित्त और आत्मा को, इन्द्रियों और शरीर को अपने वश में कर लिया और संग्रह करना जिसने छोड़ दिया वह केवल शरीर सम्बन्धी नित्य और अवर्जनीय कर्मों को करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता है, इसमें कुछ शंका करने की जगह नहीं है ॥२१॥

यदि ऐसी शंका हो कि केवल शरीर सम्बन्धी कर्म ऐसे मनुष्य को नहीं छूते पर पूर्व के अभ्यास से यदि कोई किसी कर्मविशेष को वह करे तो यह कर्म उसे जरूर बाँधेगा । इसका उत्तर यहाँ देते हैं—इच्छा के बिना ही, जैसे तैसे प्राप्त हुए अन्न वस्त्रादि भोगों से सन्तुष्ट और कोई भोग न मिलने पर द्वन्द्व से रहित अर्थात् भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, हवा, पानी इत्यादि से मुठभेड़ होने पर कातरताशून्य और मत्सर से रहित, अर्थात् किसी को कुछ भोजनादि मिल जाय और अपने को वह पदार्थ न मिले तो उस अवस्था में डाहशून्य और इन कारणों से सिद्धि असिद्धि में और लाभ अलाभ में हर्ष विषाद रहित जो ज्ञानी मनुष्य है, वह अपने स्वार्थ के लिए कोई काम नहीं करता है । किन्तु यदि कोई दूसरा

भगवत्सम्बन्धि यज्ञादिकं विशेषकर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते बन्धनं न प्राप्नोति। केचित्तु इमं श्लोकं त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेः शरीरस्थित्यर्थं याचनादिप्राप्तौ सत्यामयाचितादिना शरीरस्थितिं कुर्यादिति नियमपरतया व्याख्याय यतेरकर्तृत्वसाधनायां तेनैव किञ्चिद्भिक्षाटनादिकं कर्म करोति लोकव्यवहार-सामान्यदर्शने, ननु लौकिकैरारोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्त्ता भवति। स्वानुभवे तु शास्त्र-प्रमाणजनितेनाकर्त्तैव सः। एवं पराभ्यारोपितकर्तृत्वं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिकं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते। बन्धहेतोः कर्मणः सहेतुकस्य ज्ञानाग्निदग्धत्वादिति वदन्ति, तत्पौनरुक्तिदोषाद-संगतम्, तस्य पूर्वश्लोकेनैव सिद्धत्वाद्यतः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिकं कर्मेति पूर्वोक्त-शारीरान्न किञ्चिद्विशिष्यते। अस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत। किञ्च यतिपरत्वे उत्तरश्लोकद्वयसंगतिर्विरुध्येत। तत्र "यज्ञायाचरतः कर्म"त्युक्तत्वात्, यतेर्यज्ञादिकर्मानधिकारात्। तस्मान्न संन्यासिपरमिदं प्रकरणं वक्तुं शक्यमनुपपन्नत्वात्। किन्तु निष्कामज्ञानिभक्तपरमेवोपपद्यते, इत्यलं प्रासंगिकेन।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

अपने हित के लिए उससे यज्ञादि कर्म करने के लिए कहे, तो सर्वज्ञ होने के कारण यज्ञादि कर्म करके, अर्थात् परहित के लिए भगवत् सम्बन्धी यज्ञादि विशेष कर्मों को करके भी यह ज्ञानी मनुष्य बन्धन को नहीं प्राप्त होता।

कुछ लोग सब प्रकार से परिग्रह त्यागनेवाले यतियों अर्थात् संन्यासियों को शरीर धारण के लिए माँगने से भिक्षा आदि के मिलने पर भी अयाचित भाव से शरीर धारण करना चाहिये, इस नियम के अनुकूल इस श्लोक की व्याख्या करते हैं। लोक व्यवहार की दृष्टि में भिक्षाटन आदि कर्म संन्यासी करता है, पर वह कर्म का कर्त्ता नहीं समझा जाता। संसार जो उसे भिक्षाटन आदि कर्म का कर्त्ता मानता है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि शास्त्र प्रमाण से उत्पन्न अपने अनुभव में वह अकर्त्ता ही है। इस प्रकार दूसरे से कर्त्ता माने जाने पर भी केवल शरीर धारणमात्र के लिए भिक्षा आदि कर्म करने पर भी वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता। कहते हैं कि बन्धन का कारण जो सहेतुक कर्म है वह ज्ञान की अग्नि से दग्ध हो जाता है। यह कथन पुनरुक्ति होने से असंगत है। क्योंकि यह बात पूर्व के श्लोक से ही सिद्ध है। क्योंकि शरीर धारणमात्र के लिए भिक्षाटन आदि कर्म पूर्वोक्त शरीर सम्बन्धी कर्म से कुछ विशेषता नहीं रखता। इसलिए पूर्व श्लोक व्यर्थ हो जायगा। और भी इस श्लोक को यतिपरत्व लगाने से उत्तर के दो श्लोकों की संगति विरुद्ध हो जायगी। वहाँ 'यज्ञ के लिए कर्म' ऐसा कहा गया है और संन्यासी को यज्ञादि कर्म करने कराने का कोई अधिकार नहीं। इसलिए यह प्रकरण संन्यासी के लिए नहीं, किन्तु निष्काम ज्ञानी भक्त ही के लिए उपयुक्त है, इसलिये इस प्रसंग को अब बढ़ाना व्यर्थ है ॥२२॥

कृत्वाऽपि न निबध्यत इत्युक्तं तत्र हेतुमाह—गतसंगस्येति । कर्मणि स्वफलोद्देशरहितस्य अत एव मुक्तस्य अन्यै रागद्वेषविवर्जितस्य तथा ज्ञानेऽवस्थितं निश्चलं चेतो यस्य तस्य यज्ञाय विष्णुप्रीत्यर्थम् आचरतः सांगोपांगं विधिपूर्वकं कर्मानुष्ठानं कुर्वतः समग्रं निःशेषं प्रविलीयते तस्मै पुण्यदानायापि योग्यो न भवति । कुतस्तद्दुष्पुण्यजन्यप्रत्यवायाय भवेदित्यर्थः । यद्यपि "कर्ता कारयिता चैव प्रेरकश्चानुमोदकः । सुकृते दुष्कृते चैव चत्वारः समभागिन"इति कर्तुरपि समफलत्वमुक्तम् । तथापि फलोद्देशेनैव कुर्वतस्तत्सम्बन्धो नैवविधस्येति भावः ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

एवमुक्तविधस्य योगिनः समग्रकर्मप्रविलय उक्तस्तत्र कथमाकांक्षायां ज्ञानावस्थितचेतस इति पदस्य व्याख्यारूपं सांगस्य यज्ञस्य ब्रह्मात्मकतानुसन्धानप्रकारमाह—ब्रह्मार्पणमिति । अर्प्यते अनेनेति अर्पणं स्रुगादि मन्त्रादि च ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मैव । हविरग्नौ प्रक्षेपणीयं द्रव्यं ब्रह्मैव, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मभूतेऽग्नौ ब्रह्मणा कर्त्रा यजमानेन हुतं प्रक्षेपणक्रियापि ब्रह्मैव, तथार्पणसम्प्रदानभूतदेवताऽप्यनुसन्धेया । तथा च कर्त्ता कर्म करणमधिकरणं सम्प्रदानं क्रिया च सर्वं ब्रह्मैवेत्यर्थः । एवं ब्रह्मात्मकं कर्मणि

पीछे कहा गया है कि मत्सरहीन मनुष्य कर्म करके भी उससे नहीं बँधता । उसका कारण यहाँ बताते हैं :—

जिनको कर्म में अपने कोई फल का उद्देश्य नहीं है, अर्थात् कर्म के फल की प्राप्ति में आसक्ति नहीं है, और इसलिये रागद्वेष रहित हैं, और ज्ञान में जिनकी बुद्धि स्थित है और जो यज्ञ अर्थात् विष्णु की प्रीति के लिये विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग कर्मों को करते हैं, उनका सब कर्म विशेषरूप से विलीन हो जाता है, और जब उनको अपने कर्मों का पुण्यफल नहीं मिलता, तब कर्मों में विगुणता होने से जो पाप व दोष होता है उसके भागी ये कैसे हो सकते हैं ? यद्यपि नीचे लिखे स्मृति वाक्य के अनुसार किसी काम का कर्त्ता भी औरों के बराबर ही फलभागी होता है, पर फल के उद्देश्य से जहाँ कर्म नहीं किया जाता वहाँ यह नियम लागू नहीं होता । स्मृति वाक्य—"कर्त्ता कारयिता चैव प्रेरकश्चानुमोदकः । सुकृते दुष्कृते चैव चत्वारः समभागिनः ॥" अर्थात् भले या बुरे सब काम में करनेवाला, करानेवाला, प्रेरणा वा उत्साह देनेवाला और अनुमोदन करनेवाला ये चारों बराबर बराबर फलभागी होते हैं ॥२३॥

उक्त प्रकार के योगी के सब कर्म विलीन हो जाते हैं, यह कैसे होता है ? इसके उत्तर में "ज्ञानावस्थितचेतसः" की व्याख्यारूप अंगों के साथ यज्ञ की ब्रह्मात्मकता की रीति निरूपण करते हैं ।

स्रुवा और मन्त्रादि जिनसे हवन किया जाता है, वे ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्म ही हैं । हवि अर्थात् अग्नि में डालने की वस्तु ब्रह्म ही है । ब्रह्मभूत अग्नि में ब्रह्मभूत यजकर्त्ता से की गई प्रक्षेपण क्रिया भी ब्रह्म ही है । इसी प्रकार जिस देवता के निमित्त हवि दी जाती है वह भी ब्रह्म ही है । कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ के कर्त्ता, कर्म, करण, अधिकरण, सम्प्रदान और क्रिया सभी ब्रह्म ही हैं । ऐसे ब्रह्मात्मक

समाधिस्तत्त्वानुसन्धानं यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्त्यं फलं ननु स्वर्गादिनश्वर-फलमित्यर्थः ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

एवं सांगस्य यज्ञरूपकर्मणो ब्रह्मात्मकतानुसन्धानेनानुष्ठातुर्ब्रह्मप्राप्तिरूपफलमुक्त्वमिदानीं तस्यैव श्रैष्ठ्यप्रदर्शनाय अधिकारिभेदेनापरान्बहुविधान्यज्ञानाह—दैवमित्याचष्टभिः । केवला इन्द्रादयो देवा इज्यन्ते पूज्यन्ते यस्मिन्स दैवस्तं यज्ञमपरे योगिनो ज्ञानहीनाः केवल—कर्मनिष्ठाः पर्य्युपासते सम्यगनुतिष्ठन्ति । अपरे योगिनः किञ्चिज्ज्ञानविशिष्टकर्मनिष्ठा ब्रह्माग्नौ ब्रह्मरूपत्वेनाभिमतेऽग्नौ यज्ञं यज्ञद्रव्यं हविर्यज्ञेन यज्ञसाधनेन श्रुगादिना जुह्वति प्रक्षिपन्ति । अग्निमात्रे ब्रह्मबुद्धयस्ते, ननु कर्तृ कर्मादिकारककलापेऽस्तेषां पूर्वोक्तादब्रह्मार्पणादिबुद्धिमतोऽवरत्वमिति भावः ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

तेभ्यः श्रेष्ठानाह—श्रोत्रादीनीति । अन्ये निवृत्तिधर्मनिष्ठा ब्रह्मज्ञानाप्तिकामा ज्ञानपरिपन्थिभूतानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि तत्तत्संयमरूपेष्वग्निषु जुह्वति, इन्द्रियाणां विषयेभ्योनियमनपरास्तिष्ठन्ती-

---

कर्म में जिसकी समाधि वा तत्त्वानुसन्धान है, वह मनुष्य ब्रह्म ही को प्राप्त होता है। स्वर्गादि नश्वर फल उसको नहीं मिलते ॥२४॥

अङ्ग सहित यज्ञरूप कर्म को ब्रह्मात्मक समझ कर उसके करनेवाले को उस कर्म का फल-स्वरूप ब्रह्मप्राप्ति होती है। यह कहकर अब ऐसे यज्ञ की श्रेष्ठता दिखाने के लिये अधिकारी भेद से दूसरे बहुत प्रकार के यज्ञों का वर्णन आगे के श्लोकों से करते हैं—दूसरे योगी लोग जो ज्ञानहीन और केवल कर्मनिष्ठ हैं, वे दैवयोग अर्थात् जिन यज्ञों में केवल इन्द्रादि देवों की ही पूजा होती है, करते हैं और अन्य योगीलोग जो कुछ ज्ञानविशिष्ट होते हुए भी कर्मनिष्ठ ही हैं वे ब्रह्माग्नि में अर्थात् ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के साधन श्रुवा आदि आदि से हवि अर्थात् यज्ञद्रव्य को फेंकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि—केवल अग्निमात्र में इनकी ब्रह्मबुद्धि है, कर्त्ता, कर्म इत्यादि कारककलाप में नहीं। इसलिये पूर्व में कहे गये ज्ञानियों से ये अश्रेष्ठ हैं ॥२५॥

ऊपर कहे गये योगियों से श्रेष्ठ योगियों का वर्णन करते हैं—दूसरे योगी जो निवृत्ति धर्म में निष्ठ और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छावाले हैं, ज्ञानमार्ग के लुटेरे, कान, आँख आदि इन्द्रियों को संयमरूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकने में निरत रहते हैं। और दूसरे जो प्रवृत्ति धर्म में निष्ठ हैं और संतति बढ़ाने की इच्छावाले हैं, विषय भोग के समय शब्दादि विषयों

त्यर्थः । अन्ये प्रवृत्तिधर्मनिष्ठाः सन्ततिवृद्धिकामा विषयभोगसमये हविष्ट्वेन भावितान् शब्दादीन्विषयान-ग्नित्वेन भावितेषु इन्द्रियेषु जुह्वति, यज्ञरूपकेण विषयानुभवे वर्त्तन्त इत्यर्थः ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

तेभ्योऽपि श्रेष्ठाधिकारिण आह—सर्वाणीति । अपरे पूर्वमेव नियमितज्ञानेन्द्रियत्वाद्बाह्य-विषयासक्तिशून्याः योगिनः सर्वाणीन्द्रियकर्माणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानां कर्मेन्द्रियाणां वचनादान-गमनोत्सर्गानन्दाख्यानि कर्माणि प्राणकर्माणि च पञ्चप्राणानां कर्माणि तत्र प्राणस्योर्ध्वगमनम्, अपानस्याधोगमनं, व्यानस्य विष्वक्शरीरे गमनाकुञ्चनप्रसारणानि, उदानस्य पीताशिताम्नाद्युद्गार-करणं समानस्याशितपीताम्नादेः सर्वत्र शरीरे समीकरणम् । एतानि आत्मसंयमयोगाग्नौ आत्मनो मनसः संयमो वृत्त्यन्तरवैमुख्यपूर्वकमात्मप्रवणीकरणं ध्यानयोग्यतासम्पादनं स योग एव सर्वाशुभदाहकत्वा-दग्निस्तस्मिन् ज्ञानदीपिते ज्ञानेन प्रज्वलिते जुह्वति । ध्येयं सम्यङ्निश्चित्य तस्मिन्मनोनिश्चलीकर्तुं इन्द्रियप्राणकर्माणि त्याजयन्तीत्यर्थः ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

को हवि मानकर और इन्द्रियों को अग्नि समझ कर विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं। अर्थात् विषयानुभव को यज्ञरूप समझकर उसमें प्रवृत्त होते हैं ॥२६॥

ऊपर कहे गये योगियों से भी श्रेष्ठ अधिकारी का अब वर्णन करते हैं :—दूसरे योगी लोग जो पहले ही से ज्ञान इन्द्रिय को नियमन कर बाहर के विषयों में आसक्ति शून्य हो गये हैं, वे सब ईन्द्रियों और प्राणादि के कर्मों को, आत्म संयम रूपी योग की अग्नि में, उसको ज्ञान से प्रज्वलित कर, हवन कर देते हैं। आत्मा याने मन का संयम अर्थात् मन को वृत्तियों से हटा कर आत्मा की ओर लगाना अर्थात् ध्यान की योग्यता प्राप्त करना ही योग रूपी अग्नि है। अग्नि इसलिए कहा कि सब अशुभों को जलाने की इसमें शक्ति है। इसी अग्नि को ज्ञान से प्रज्वलित कर ऊपर कहे गये योगी उसमें सब इन्द्रिय और प्राणों के कर्मों को हवन करते हैं। तात्पर्य कि अपने ध्येय को सम्यक् रूप से निश्चय करके और उसी में अपने मन को निश्चल कर इन्द्रिय और प्राण के कर्मों को छोड़ देते हैं। इन्द्रियों के कर्म ये है :—वाक् का बोलना, हाथ का लेना-देना, पैर का चलना, पायु का मल त्याग करना, और उपस्थ का आनन्द अनुभव करना। प्राणादि के कर्म ये हैं :—प्राण वायु का ऊपर जाना, अपान वायु का नीचे आना, व्यान वायु का शरीर को फैलाना सिकुड़ना इत्यादि। उदान वायु का खाये पीये अन्न का डेकार होना, समान वायु का खाये पीये अन्नादि को शरीर में सब जगह बराबर रूप से पहुँचाना ॥२७॥

किञ्च—द्रव्ययज्ञा इति । केचिद्द्रव्ययज्ञाः स्वधर्मतो द्रव्यार्जनं कृत्वा पात्रे प्रतिपादनदेवार्चन-होमवापीकूपतडागादिषु प्रवृञ्जति ते द्रव्ययज्ञाः केचित्तपोयज्ञाः । कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव यज्ञो येषां ते तपस्विनः । तथाऽपरे योगयज्ञाः यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधय इत्यष्टांगो योग एव यज्ञस्तन्निष्ठाः । स्वाध्यायो वेदाध्ययनमेव यज्ञो येषां ते स्वाध्याययज्ञा, वेदवेदान्तार्थाभ्यासनिष्ठा ज्ञानयज्ञाः यतयः यत्नशीलाः संशितव्रताः सम्यक् शितानि तीक्ष्णीकृतानि दृढानि व्रतानि येषां ते व्रतयज्ञाः ।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

प्राणायामयज्ञमाह—अपान इति सार्धेन । अपानेऽधोवृत्तौ प्राणमूर्ध्ववृत्तिं जुह्वति पूरकं कुर्वन्ति । प्राणेऽपानमिति रेचकं कुर्वन्ति । किं कृत्वा प्राणापानयो गती रुद्ध्वा कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः । ननु पूरकान्तरं रेचकमिति भावः । एवं च पूरककुम्भकरेचकैः प्राणायामपरायणा अपरे योगिनः प्राणायामयज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । अपरे योगिनो नियताहारा आहारनियमाभ्यासनिष्ठाः सन्तो योगाभ्यासेऽन्तराय-करान्प्राणान् ज्ञानकर्ममयकानि द्विविधानीन्द्रियाणि प्राणेषु ऊर्ध्वाधोगतिनियमनेन मध्ये स्थिरीकृतेषु जुह्वति, कुंभक एव, न पृथक् ।

और भी भिन्न प्रकार के योगियों को कहते हैं :—दूसरे यत्नशील और दृढ़ व्रत वाले कोई योगी द्रव्य यज्ञ करते हैं, अर्थात् अपने धर्म से द्रव्य कमाकर सत्पात्र में दान करते हैं जैसे देवार्चन, कूआं, पोखरा इत्यादि खुदवाना, या हवन करना। कोई तप ही रूप यज्ञ करते हैं, अर्थात् कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों को करते हैं। दूसरे योग ही रूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारण और समाधि इन योग के आठों अङ्गों में निरत रहते हैं। कोई वेदाध्ययन रूप यज्ञ को करते हैं और किसी को वेद वेदान्त के अर्थ के अभ्यास में ही निष्ठा है, इनके लिए ज्ञान ही यज्ञ रूप है अर्थात् ये ज्ञानयज्ञ वाले हैं। कोई संशित व्रत योगी हैं अर्थात् जिन्होंने अपने व्रत को अच्छी तरह तीक्ष्ण नाम दृढ़ किया है ये व्रत यज्ञवाले हैं ॥२८॥

अब प्राणायाम यज्ञ कहते हैं :—दूसरे प्राणायाम में निष्ठ योगी प्राण वायु को अपान में हवन कर अर्थात् पूरक कर फिर अपान को प्राण में हवन करते हैं। अर्थात् रेचक करते हैं। और दोनों के बीच में प्राण और अपान दोनों की गति रोकते हैं अर्थात् कुम्भक करते हैं। कहने का प्रयोजन कि पहले पूरक करके तब कुम्भक करते हैं और अन्त में रेचक करते हैं। फिर दूसरे योगी आहार के नियम में अभ्यास निष्ठ होकर योगाभ्यास में अन्तराय वा अड़चन डालने वाले प्राणों को अर्थात् ज्ञान, इन्द्रिय और कर्म इन्द्रियों को प्राण वायु अर्थात् बाहर और भीतर जाने वाली वायु को रोक कर बीच में स्थिर किये गये प्राणवायु में हवन करते हैं अर्थात् उन इन्द्रियों की वृत्तियों को कुम्भक में रखकर उनका लय करते हैं। यह भी कुम्भक प्राणायाम यज्ञ ही है। दूसरा नहीं ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

एवमेते द्वादशयज्ञा दर्शिता इदानीमेषां यज्ञविदां फलमाह—सर्वेऽपीति । एते पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि यज्ञान् विदन्ति जानन्ति, विन्दन्ति लभन्त इति वा यज्ञविदो यज्ञज्ञातारः कर्तारो वा यज्ञैः पूर्वोक्तैः क्षपितं नाशितं कल्मषं यैस्ते यज्ञक्षपितकल्मषाः । यज्ञानुष्ठानानन्तरः कालो यज्ञशिष्टशब्दवाच्यस्तस्मिन्काले भोज्यं यदन्नादि तदमृतं भुञ्जते इति यज्ञशिष्टामृतभुजः, ते सर्वेऽपि सत्त्वशुद्धिपूर्वकज्ञानप्राप्तिद्वारेण सनातनं ब्रह्म यान्तीत्यवैष्णवपक्षे व्याख्यानम् । वैष्णवपक्षे तु पूर्वोक्तयज्ञैर्निष्कामतयाऽनुष्ठितैः क्षपितपूर्व-कल्मषा यज्ञो विष्णुस्तच्छिष्टं तद्भुक्तावशिष्टं विष्णुनिवेदितान्नमित्यर्थः । तदेवामृतं भुञ्जत इति यज्ञ-शिष्टामृतभुजस्ते सनातनं ब्रह्म यान्ति । तथोक्तं स्कान्दे नारायणेन ब्रह्माणम्प्रति । 'भोक्तव्यं मम चोच्छिष्टं मम भक्तिपरायणैः । पवित्रकरणं पुत्र ! पापिनामपि मुक्तिदम् । ममाशनस्य शेषं च यो भुनक्ति दिने दिने । सिक्थे सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशतं सुते'ति । अन्यथा दोषमाह तत्रैव 'अवशिष्टं

इस भाँति बारह प्रकार के यज्ञों को बतलाया। अब इन यज्ञों को जानने के फल को कहते हैं :—पूर्व में कहे हुए सभी योगी यज्ञों को जानते हैं वा यज्ञों को करते हैं—कहने का मतलब यह कि वे यज्ञ के जानने वाले वा करने वाले हैं। फिर पूर्व में कहे गये भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञों को करने से उन लोगों के पाप नाश हो गये हैं। यज्ञानुष्ठान के बाद समय को यज्ञ शिष्ट कहते हैं। इस काल में जो भोजनादिक किया जाता है वह अमृत ही है ऐसे यज्ञान्त काल में भोजन रूपी अमृत को खाने वाले, सत्व की शुद्धि होने से, ज्ञान प्राप्त कर सनातन ब्रह्म को लाभ करते हैं। इस श्लोक की यह व्याख्या अवैष्णव पक्ष में घटती है। वैष्णव पक्ष की व्याख्या यों है :—पूर्वोक्त प्रकार के यज्ञों को कामना रहित होकर करने से योगियों के सब पाप नाश हो जाते हैं और यज्ञ रूप विष्णु को निवेदन किये हुए अन्न (प्रसाद) को भोजन करने से वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

स्कन्द पुराण में नारायण ने ब्रह्मा के प्रति ऐसा ही कहा है :—

"भोक्तव्यं मम चोच्छिष्टं मम भक्तिपरायणैः ।
पवित्रकरणं पुत्र ! पापिनामपि मुक्तिदम् ॥
ममाशनस्य शेषञ्च यो भुनक्ति दिने दिने ।
सिक्थे सिक्थे भवेत् पुण्यं चान्द्रायणशतं सुत ! ॥"

अर्थात् हे पुत्र, हमारी भक्ति में परायण लोगों को मेरा उच्छिष्ट भोजन करना चाहिए। क्योंकि मेरा उच्छिष्ट भोजन पवित्र करने वाला और पापियों को भी मुक्ति देने वाला है। जो मनुष्य मेरे भोजन से बचे हुए प्रसाद को नित्य खाता है उसको, हे पुत्र, प्रति ग्रास में सौ चान्द्रायण व्रत करने का पुण्य होता है। मेरे अर्पण न किये हुए अन्न भोजन करने के दोष भी उसी स्थान पर कहे हैं :—यथा,

यथोच्छिष्टं भक्तानां भोजनद्वयम्। नान्यद्वै भोजनं तेषां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्। अनर्पयित्वा यो भुङ्क्ते अन्नपानादिकं च यत्। शुनो विष्ठासमं चान्नं पानं च मदिरासममिति। वक्ष्यति च भगवान्स्वयमपि। 'यत्करोषि यदश्नासी'त्यादिना। तत्फलं च 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैरि'ति। तस्माद्विष्ण्वनर्पितस्य भोज्यस्य कुतोऽमृतत्वं, कुतो वा तद्भुञ्जतां ब्रह्मप्राप्तिरिति सङ्क्षेपः।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥३१॥

एवं यज्ञानुष्ठाने गुणमुक्त्वा तदभावे दोषमाहार्धेन—नायमिति। पूर्वोक्तानां यज्ञानां मध्ये यस्य कोऽपि यज्ञो नास्ति, सोऽयज्ञस्तस्यायमल्पसुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति। कुतोऽन्यो विशिष्टसुखः परलोको हे कुरुसत्तमेति।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

उक्तयज्ञानां प्रमाणापेक्षायां वैदिकत्वमाह—एवमिति। एवमुक्तप्रकारेण बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे पूर्वकाण्डे विततां विस्तृताः। वेदद्वारेणैव ते ज्ञेयाः। वेदादेव वैदिकैः परम्परया-

---

"अवशिष्टं यथोच्छिष्टं भक्तानां भोजनद्वयम्।
नान्यद्वै भोजनं तेषां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
अनर्पयित्वा यो भुंक्ते अन्नपानादिकं च यत्।
शुनो विष्ठासमं चान्नं पानं च मदिरासमम्॥"

अर्थात्—भक्तों के लिए दो ही प्रकार का भोजन है, मेरे भोजन से बचा हुआ वा मेरा जूंठा। उनके लिए दूसरा भोजन नहीं है। दूसरा भोजन करके उनको चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। बिना मुझे अर्पण किये हुए जो अन्नपानादिक करता है, उसका अन्न कुत्ते विष्ठा के समान और पानी मदिरा के समान है। भगवान् स्वयं भी आगे इस विषय में "यत्करोषि यदश्नासि" इत्यादि श्लोक में कहेंगे और उसका फल "शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" के श्लोक में कहेंगे। संक्षेप में अर्थ यह हुआ कि विष्णु को नहीं अर्पण किये हुए भोजन में अमृतत्व कहाँ से आ सकता है और इसलिए उस भोजन करने वाले को ब्रह्म की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है अर्थात् कदापि नहीं हो सकती ॥३०॥

यज्ञ के अनुष्ठान के गुणों को कह कर अब यज्ञ न करने के दोषों को आधे श्लोक से दिखाते हैं :— हे कुरुओं में श्रेष्ठ, पूर्व में कहे गये यज्ञों में से किसी यज्ञ को भी जो मनुष्य नहीं करता वह अयज्ञ मनुष्य इस अल्प सुख वाले लोक को भी नहीं पाता अर्थात् नहीं भोगता। विशेष सुख वाले परलोक के प्राप्त करने की बात तो दूर रही ॥३१॥

पीछे कहे गये यज्ञों की प्रमाण स्वरूप वैदिकता दिखाते हैं :—पीछे कहे गये बहुत भाँति के यज्ञ ब्रह्म अर्थात् वेद के मुख में अर्थात् पूर्व काण्ड में जिसको पूर्व मीमांसा काण्ड कहते हैं विस्तृत हैं।

वगन्तव्या इत्यर्थः। तान्सर्वान् कर्मजान् कायिकवाचिकमानसकर्मसमुद्भवान् विद्धि जानीहीति। कर्मणामनित्यत्वेनात्मस्वरूपस्य च नित्यत्वान्न नित्यसम्बन्धः, इत्येव ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे कर्ममयसंसारादित्यर्थः।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप !।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

सर्वेषां तुल्यवन्निर्देशात् ज्ञानयज्ञस्यापि तदन्तर्गणनात्तत्साम्यापत्ति वारयन्नाह—श्रेयानिति। हे परन्तप ! द्रव्यमयाद्दैवादिरूपात्तदुपलक्षिताज्ज्ञानहीनादल्पफलकात्सर्वस्मायज्ञाज्ज्ञानयज्ञः श्रेयान् प्रशस्यतरः। तत्र हेतुः। सर्वं कर्म सांगोपांगमखिलं हेतुफलसहितं ज्ञाने तत्त्वंपदार्थस्वरूपगुणसम्बन्धविषयकानुभवे परिसमाप्यते, अन्तर्भवतीति 'सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश'इति श्रुतेः। श्रीभागवतेऽपि। 'तपस्तीर्थं जपो दान पवित्राणीतराणि च। नालंकुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृते'ति।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

एवम्भूतज्ञानप्राप्तिः केनोपायेन स्यादित्यपेक्षायामाह-तद्विद्धीति। तत्सर्वकर्मविलक्षणं सर्वफलदं

वेद ही के द्वारा वे जाने जा सकते हैं अर्थात् वैदिकों से परम्परा के रास्ते इनको जानना चाहिए। इन सब यज्ञों को कायिक, मानसिक, और वाचिक कर्मों से उत्पन्न जानो। कहने का भाव यह कि कर्म अनित्य है और आत्म स्वरूप नित्य है इसलिए नित्य आत्म स्वरूप का इन अनित्य कर्मों से नित्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जान कर तुम कर्ममय संसार से मोक्ष पा जाओगे ॥३२॥

पीछे सब यज्ञों की एक साथ ही गणना कर दी गयी। ज्ञान यज्ञ की भी उन्हीं में गणना हो गयी, इससे ज्ञान यज्ञ सभी के बराबर ही न समझा जाय इसलिए उसकी और यज्ञों से श्रेष्ठता दिखाते हैं।

हे अर्जुन ! द्रव्यमय आदि जितने यज्ञ हैं, वे ज्ञानहीन होने से अल्पफल के देने वाले हैं, इसलिए उन सब यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि हेतु और फल के साथ सब कर्मों का अन्त ज्ञान ही में होता है अर्थात् 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ (ब्रह्म और जीव) के स्वरूप और गुण सम्बन्धी अनुभव ही में सब कर्म अपने कारण और फल के साथ अन्त हो जाते हैं। श्रुति भी ऐसा ही कहती है यथा—"सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" अर्थात् देखने वाला (मुक्त) सबको देखता है और सब प्रकार से सबको पाता है। फिर श्रीमद्भागवत में भी लिखा है :—"तपस्तीर्थं जपोदानं पवित्राणीतराणि च। नालंकुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलयाकृता"॥ अर्थात् जितनी सिद्धि ज्ञान की एक कला से होती है, उतनी तप, तीर्थ, जप, दान या पवित्र कर्मों से नहीं होती ॥३३॥

इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति किस भाँति हो सकती है उसी को कहते हैं—

ज्ञानं विद्धि लभस्व, उत्तज्ज्ञानवतां प्रणिपातेन श्रद्धाभक्तिपूर्वकदण्डवत्प्रणामेन। ततश्च कोऽहं ? किंस्वरूपः ? कथं बद्धोऽस्मि ? कथं वा मुच्येयं ? को वा मे नियन्तेत्यादिपरिप्रश्नेन बहुविधसन्देह-विषयेण प्रश्नेन सेवया शुद्धभावेन शुश्रुषया च प्रसादाभिमुखा ज्ञानिनः शास्त्रजन्यपरोक्षानुभववन्तः, तत्त्वदर्शिनः शास्त्रार्थभूततत्त्वसाक्षात्काराश्रयास्ते तुभ्यं ज्ञानं जीवेश्वरस्वरूपयाथात्म्यमुपदेक्ष्यन्ति, समीचीनयुक्तिप्रमाणैः सन्देहनिवर्त्तनेन सम्पादयिष्यन्ति। तत्त्वदर्शिभिरेवोपदिष्टे ज्ञाने सर्वं कर्मान्तर्भवति, न त्वन्योपदिष्टे इत्यर्थः। एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इति श्रुत्यर्थो दर्शितः। बहुवचनं चात्र यद्येकस्माद्गुरोः सम्यग्ज्ञानालाभश्चेत्तर्ह्यन्यस्मात्तत्त्वदर्शिन उक्तरीत्यै-वोपादेयम्। तत्रापि सन्देहावशेषेऽन्यस्माद् ग्राह्यमित्येतदर्थम्। एकस्मादेव कृतार्थतायां नेतरापेक्षेति विवेकः।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव !।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

एवम्भूतमाहात्म्यस्य ज्ञानस्येहापि यत्फलं तद्दर्शयति—यदिति। यत्तत्त्वदर्शिभिरुपदिष्टं ज्ञानं ज्ञात्वा सम्यगवधार्य्य पुनर्मोहमन्तः करणविभ्रमम्, 'यानेव हत्वा न जिजीविषाम'इत्याद्युक्तप्रकारेण न

सब कर्मों से विलक्षण और सब फल को देनेवाले उस ज्ञान को प्राप्त करो। कैसे प्राप्त करो, सो बताते हैं—

उस ज्ञान के जाननेवालों को श्रद्धा भक्तिपूर्वक दण्डवत् प्रणाम करके, फिर उनसे इन सब सन्देह के विषयवाले प्रश्नों को पूछकर—"मैं कौन हूँ ? मैं कैसे बँधा हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मैं कैसे छूटूंगा ? मेरा नियन्ता कौन है ?" इत्यादि। शुद्ध भाव से सेवा के द्वारा प्रसन्न होने पर शास्त्र से उत्पन्न परोक्ष विषयों के अनुभववाले वे ज्ञानी पुरुष जिन्होंने शास्त्रार्थभूत तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, वे तुमको जीव और ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का उचित युक्ति और प्रमाण के साथ उपदेश करेंगे और इस बारे में तुम्हारे सन्देह को हटावेंगे। तत्त्वदर्शियों ही के द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान से कर्मों का अन्त होता है, दूसरे के उपदेश से नहीं।

इस श्लोक से नीचे लिखी श्रुति का अर्थ दिखलाया "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" अर्थात् परमात्मा के स्वरूप गुणादि को विशेष जानने के लिये और कुछ न बन पड़े तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाओ।

तत्त्वदर्शी शब्द में बहुवचन इसलिये व्यवहार किया है कि यदि एक गुरु से पूर्ण रीति से ज्ञान लाभ नहीं हो तो पूर्वोक्त रीति से दूसरे तत्त्वदर्शी गुरु के समीप जाय। उस पर भी सन्देह रह जाय तो तीसरे के पास जाय। अगर एक ही से ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाय तो दूसरे की अपेक्षा न करे ॥३४॥

ऐसे माहात्म्यवाले ज्ञान का यहाँ पर अर्थात् इस संसार में जो फल होगा उसको कहते हैं—

तत्त्व के जाननेवाले वा द्रष्टा से उपदेश किये गये ज्ञान को भलीभाँति धारण करके तुमको

यास्यसि प्राप्स्यसि । कुतस्तत्राह येन ज्ञानेन भूतानि बन्धुसुहृदादीनि अशेषेण देवमनुष्यतिर्यग्गतानि सर्वाणि आत्मनि स्वस्मदार्थे द्रक्ष्यसि । आत्मतुल्यतया ज्ञास्यसि । वैषम्यं तु प्रकृतिकार्यशरीरनिष्ठम् । आत्मा तु ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वत्र देहेषु सम एवातो न मत्तः कश्चिद्विलक्षणोऽस्तीति निश्चेष्यसीत्यर्थः । अथोऽनन्तरं मयि सर्वात्मनि तत्पदार्थे वासुदेवे भगवति सर्वाणि भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यसि । आत्मानां सर्वेषां मदात्मकत्वमदधीनत्वमद्व्याप्यत्वमदाधेयत्वादिना बन्धे मोक्षे च मत्तोऽन्यत्रावस्थित्यभावादित्यर्थः ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अन्यदपि ज्ञानमाहात्म्यं श्रुत्वित्याह—अपि चेदिति । अपिचेच्छब्दौ कदा चित्सम्भावनापरौ । ज्ञानमाहात्म्यद्योतनायाऽसम्भावितमप्यर्थमङ्गीकृत्योच्यते । यद्यपि सर्वपापेभ्यः पापकारिभ्यः पापकृत्तमस्त्वमसि, तथाऽपि सर्वं वृजिनं पापं ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानरूपोडुपेनैव सम्यक् तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

फिर ऐसा मोह वा अन्तःकरण का भ्रम नहीं होगा, जैसा कि "यानेव हत्वा न जिजीविषामः" इत्यादि कहकर तुमने प्रगट किया है । मोह क्यों नहीं होगा इसका कारण बताते हैं—इस ज्ञान से बन्धु, सुहृत् आदि, देव, मनुष्य, तिर्यक् पर्यन्त सभी को तुम अपने आत्मा वा स्वम्पदार्थ में देखोगे । अर्थात् सबों में आत्मा की तुल्यता को जानोगे और यह समझोगे कि एक दूसरे से विषमता वा पृथक्ता केवल शरीर से, जो प्रकृति का कार्य है, सम्बन्ध रखती है । तात्पर्य कि आत्मा में विषमता नहीं है । विषमता केवल प्रकृति के कार्यरूप शरीर में है । आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से सब देहों में बराबर ही है । इस वास्ते हमारे आत्मा में कुछ विलक्षणता नहीं है, ऐसा तुम निश्चय करके जानोगे । इसके अनन्तर सब भूतों को अशेष रूप से मुझ भगवान् वासुदेव में जो तत्पदार्थ हूँ, देखोगे : क्योंकि सब आत्मा (जीव) मेरे ही आत्मक हैं याने उन सबका अन्तरात्मा मैं ही हूँ । वे मेरे ही अधीन हैं, वे मुझसे ही व्याप्त हैं, वे मेरे ही आधार से स्थित हैं इसलिये बन्ध (संसार) और मोक्ष दोनों ही दशा में ये हम में ही हैं अर्थात् हमसे पृथक् नहीं हो सकते क्योंकि उनको मेरे बिना ठहरने को दूसरी जगह ही नहीं है ॥३५॥

और भी ज्ञान का माहात्म्य सुनो । ज्ञान का माहात्म्य दिखाने के लिये असम्भव बात को भी सम्भव कर कहते हैं—

यदि कदाचित् यह असम्भव बात भी सम्भव बात हो जाय कि तुम सब पाप करनेवालों से भी महापाप करनेवाले हो जावो तो भी इस ज्ञानरूपी नौका के द्वारा उन अपने सब पापों को सम्यक् रूप से पार कर जाओगे ॥३६॥

ननु यथा प्लवेन तरणे समुद्रनाशो न भवति, तथा ज्ञानप्लवेन कर्मणामपि नाशो न स्यादित्याशंक्याऽऽह—यथेति। यथा समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निः एधांसि काष्ठानि भस्मसात्कुरुते, हे अर्जुन तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि प्रारब्धभिन्नानि पापपुण्यरूपाणि भस्मसात्कुरुते।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। ३८॥

अतएव—न हीति। ज्ञानेन सदृश पवित्र पावनमिहजगति नहि विद्यते। एवंभूतज्ञानमाशु किनोपजायते इत्यत आह—तत्स्वयमिति। तज्ज्ञानं महता कालेन योगसंसिद्धः योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन यथाविध्यनुष्ठितेन संसिद्धः योग्यतामापन्नः पुरुषः स्वयमेवात्मनि स्वान्तर्विन्दति लभते।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

ननु कालेन योगसंसिद्धः स्वयमेवज्ञानं लभते चेत्तर्हि पूर्वोक्तगुर्वभिगमनप्रणिपातादेरप्रयोजकत्वं स्यादित्याशंकानिरासार्थं ज्ञानाधिकारिणं विशिनष्टि—श्रद्धावानिति। योगसंसिद्धः स्वयं ज्ञानं लभते इति सत्यं, तथाऽपि स किंगुणविशिष्टोऽभिप्रेतस्तं शृणु, श्रद्धावानिति। गुरुशास्त्रोक्तवाक्यार्थे एवमेवायमित्यास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा, तद्वान्। न चैतावत्स्वमेवापि तु तत्परः गुरूपासनशास्त्राभ्यासयोः सदोद्युक्तः।

नौका द्वारा समुद्र पार कर जाने पर भी समुद्र का नाश नहीं होता, वैसे ही ज्ञानरूपी नौका से कर्मरूपी समुद्र का नाश नहीं हो सकता ऐसी शंका का उत्तर यहाँ देते हैं—

जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म करता है, वैसे ही, हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्रारब्ध कर्मों को छोड़ और सब पाप पुण्यरूप कर्मों को भस्म कर देता है ॥३७॥

इसलिये ज्ञान के सरीखा पवित्र इस संसार में दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। तब ऐसा ज्ञान झट से क्यों नहीं पैदा हो जाता? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह ज्ञान बहुत काल में पूर्व कहे हुए कर्मयोग का यथाविधि अनुष्ठान करने से योग्यता प्राप्त किये हुए पुरुष को अपनी आत्मा में स्वयं प्राप्त हो जाता है ॥३८॥

कर्म योग के द्वारा योग्यता सम्पन्न पुरुष जब काल पाकर स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो गुरु के यहाँ जाना, उसको नमस्कार करना इत्यादि जो पीछे कह आये हैं, उनकी क्या जरूरत है? इस शंका का उत्तर देने के लिये यहाँ ज्ञानाधिकारी के विशेषणों को कहते हैं :—

कर्म योग से योग्यता सम्पन्न पुरुष स्वयं ज्ञान प्राप्त करता है यह सत्य है; पर उस पुरुष को किन किन गुणों से युक्त होना चाहिये। उसको सुनो। सबसे पहले उसको श्रद्धा वाला होना चाहिए, अर्थात् गुरु और शास्त्र के वाक्य में आस्तिक्य बुद्धि होनी चाहिए; जो बात गुरु और शास्त्र जैसा बतावें उसको बिना संकल्प विकल्प के वैसा ही ठीक जाने। दूसरा कि गुरु और शास्त्र में रत हो अर्थात्

तद्विरोधिनिरासार्थमाह—संयतेन्द्रिय इति। श्रद्धावत्त्वेऽपि इन्द्रियचाञ्चल्यं चेद्गुरुशास्त्रसेवादिपरता न स्यादतः सम्यग्यतानि वशीकृतानीन्द्रियाणि येन स एव ज्ञानं लभते, नान्यः। तस्मात्पूर्वं निष्कामकर्मयोगानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्धया श्रद्धादिसम्पत्त्या ज्ञानलाभः स्यादिति सर्वं निरवद्यम्। एवं साधनपरम्परया ज्ञानं लब्ध्वा प्राप्य विक्षेपहेतुकर्मात्मिकाविद्यानाशेन परां शान्तिं मुक्तिलक्षणामचिरेणैवाधिगच्छति प्राप्नोति।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

एवं श्रद्धाभक्तिमतः सद्गुरूपदेशाल्लब्धज्ञानस्य मोक्षफलमुक्त्वा तदभाववतोऽज्ञस्य विनाशमाह—अज्ञश्चेति। अज्ञो गुरूपदिष्टतत्त्वज्ञानशून्यः। तत्र हेतुः अश्रद्दधानः पूर्वोक्तलक्षणश्रद्धाशून्यः। तत्रापि हेतुः—संशयात्मेति। द्वौ च-शब्दौ पुनरर्थकौ तथा हि अज्ञोऽपि सद्गुरूपदिष्टेन केन चित्सुगमोपायेन मुच्येत। पुनरश्रद्दधानः श्रद्धाहीनत्वादुपायं नानुतिष्ठति, तदनुष्ठानाभावेऽपि हृदसत्संगेन कथं चिच्छ्रद्धीयेत। पुनः संशयात्मा संशयाः फलसाधनोपास्यधर्मगुरुशास्त्रादिविषयभेदेनानेकधा, तत्र परं

गुरु की उपासना और शास्त्र के अभ्यास में सदा ही उद्योगी हो। अब इन गुणों के विरोधी गुणों को हटाये रखने को कहते हैं :—ज्ञानाधिकारी पुरुष को संयतेन्द्रिय होना चाहिये। क्योंकि श्रद्धावान् होते हुए भी इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण वह गुरु और शास्त्र की सेवादि में तत्पर नहीं हो सकता। इसलिए इन्द्रियों को वश में करना ज्ञानाधिकारी पुरुष के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा ही पुरुष ज्ञान लाभ करता है, दूसरा नहीं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि पहले निष्काम कर्म करके अन्तःकरण की शुद्धि से श्रद्धादि सम्पत्ति को प्राप्त कर विक्षेप का कारण कर्मात्मिका अविद्या (अज्ञान) के नाश होने से मुक्ति लक्षण वाली परा शान्ति को अविलम्ब से प्राप्त कर लेता है ॥३९॥

इस प्रकार श्रद्धाभक्ति वाले को सद्गुरु के उपदेश से प्राप्त ज्ञान का फल मोक्ष मिलता है, ऐसा कहा। अब यह कहते हैं कि जिनको श्रद्धा भक्ति नहीं है, वे अज्ञ विनाश को प्राप्त करते हैं। जो अज्ञ हैं अर्थात् गुरु के द्वारा उपदेश किये गये तत्त्व ज्ञान से शून्य हैं और इसका कारण यह है कि वे पूर्व में कहे गये लक्षण वाली श्रद्धा से रहित हैं, और उनके श्रद्धा रहित होने का भी कारण यह है कि उनके आत्मा को संशय घेरे हुए है, ऐसे मनुष्य श्रेय मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। यहाँ "च" शब्द दो बार पुनः अर्थात् फिर के अर्थ में आया है। अज्ञ भी सद्गुरु के उपदेश से कोई सुगम उपाय पाकर बन्धन से छूट सकता है। फिर श्रद्धा हीन पुरुष श्रद्धा के अभाव से कोई उपाय नहीं करता, पर किसी उपाय के अनुष्ठान न करने पर भी यदि दृढ़ सत्संग हो जाय तो उसको कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। फिर, कितने मनुष्य संशय वा सन्देह से घिरे आत्मा वाले हैं, अर्थात् उनको फल, साधन, उपास्य, धर्म, गुरु शास्त्रादि विषय में संशय है, जैसे फल के बारे में जिनको यह संशय है कि परम फल मोक्ष है वा स्वर्ग ? साधन के विषय में जिनको यह सन्देह है कि श्रेय का साधन कर्म है वा ज्ञान ? उपास्य के विषय में यह सन्देह है कि

श्रेयः मोक्षः ? स्वर्गादि वा ? साधनं ज्ञानं कर्म वा ? तत्प्राप्त्यर्थं विष्णुराराध्य ? रुद्रेन्द्रविनायकशक्त्यादिर्वा ? धर्मो वैष्णवः श्रेष्ठः ? इतरो वा ? गुरुर्निष्किञ्चनो धनाढ्यो वा ? गुरुवचनं सत्यमसत्यं वा ? शास्त्रं वेदान्तमन्यद्वेत्यादिसंशयेष्वात्मा मनो यस्य, न त्वेकस्मिन्निश्चये, अतो न सत्संगनिष्ठो भवति, किन्त्वितस्ततो धावति । तस्मादेव विनश्यति, श्रेयोमार्गाद्भ्रश्यति । अतः संशयात्मनः पुरुषस्यायं मनुष्यलोको नास्ति, धर्मार्जनविवाहादौ सम्यक् प्रवृत्त्यभावात् । परलोकोऽपि नास्ति, तत्साधनधर्मानुष्ठानात् । न च सुखं कस्मिन्नपि निश्चयाभावात् । कुतो मोक्ष इति भावः । एवं चाज्ञस्येत्यादिविशेषणत्रयमेकस्यैव बोध्यमन्यथा "भिद्यते हृदयग्रन्थिरि"त्यादि श्रुतेः "अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवानि"ति स्मृतेश्च विरोधः स्यात् ।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥४१॥

एवं संशयात्मनोऽज्ञस्य सर्वार्थभ्रंशमुक्त्वा सदाचारानुवर्तिनो मुमुक्षोर्निश्रेयसाय संशयवारणार्थं पूर्वोक्तक्रमेण कर्मयोगज्ञानयोग (यो:) द्वयमेवोपदिशन्नुपसंहरति—योगेति द्वाभ्याम् । योगेन भगवदा-

---

फल की प्राप्ति के लिये विष्णु की आराधना करनी चाहिए वा रुद्र, इन्द्र, गणेश, शक्ति इत्यादि अन्य देव देवियों की ? धर्म के विषय में यह सन्देह है कि वैष्णव धर्म सर्वश्रेष्ठ है, वा और कोई धर्म ? गुरु के विषय में सन्देह है कि गुरु दरिद्र अच्छा है वा धनाढ्य और गुरु का वचन सत्य है वा मिथ्या ? शास्त्र के विषय में सन्देह है, कि शास्त्रों में वेदान्त श्रेष्ठ है वा और कोई शास्त्र ? इस प्रकार अनेक प्रकार के सन्देह जिनके मन को घेरे हुए हैं, उनको किसी एक में निश्चय नहीं होता । इसलिये उनकी सत्संग में भी निष्ठा नहीं होती और वे इधर उधर दौड़ते फिरते हैं । इसीलिए उनका नाश होता है अर्थात् वे श्रेय पथ अर्थात् कल्याण के मार्ग से गिर जाते हैं । संशय युक्त मन वाले मनुष्य को यह मनुष्य लोक नहीं होता, क्योंकि धर्म, अर्जन, विवाहादि सब चीज में संशय रहने के कारण उनकी उनमें पूरी प्रवृत्ति नहीं होती । ऐसे मनुष्य को परलोक भी नहीं होता क्योंकि संशय के कारण परलोक प्राप्ति के साधन धर्म का अनुष्ठान वह नहीं करता; और सबमें अनिश्चय रहने के कारण संशयात्माओं को सुख भी नहीं होता । कहने का भाव कि ऐसे लोगों को मोक्ष कैसे हो सकता है अर्थात् कदापि नहीं हो सकता । इस प्रकार अज्ञादि तीनों विशेषणों से एक ही मनुष्य का बोध होता है । पृथक्-पृथक् मनुष्य के विशेषण नहीं हैं । ऐसा नहीं मानने से नीचे लिखी श्रुति और स्मृति से विरोध पड़ेगा । श्रुति—"भिद्यते हृदयग्रन्थिः ।" स्मृति—"अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवान् ।" ॥४०॥

संशय से युक्त चित्त वाले अज्ञ का सर्वार्थ भ्रंश होता है, ऐसा कह कर अब सदाचार के पालन करने वाले मुमुक्षुओं के कल्याण के लिये और संशय को हटाने के लिये क्रम से पूर्व में कहे हुए कर्मयोग और ज्ञान योग दोनों का उपदेश दो श्लोकों में कर अध्याय को समाप्त करते हैं ।

राधनलक्षणेन संन्यस्तानि भगवत्यर्पितानि कर्माणि येन तं, तत एव ज्ञानसंशयं, भगवति कर्मार्पणादेव जातं यदात्मनो भगवदधीनत्वज्ञानं तेन छिन्नाः पूर्वोक्ताः संशया यस्य अत एवात्मवन्तं, तत्त्वविषयतयाऽवस्थितमनसं कर्माणि विधिप्राप्तानि स्वाभाविकानि वा न निबध्नन्ति, हे धनञ्जय।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥४२॥

यस्मादेवं तस्मादज्ञानात्सम्भूतं समुत्पन्नं हृत्स्थं "स्वान्तं हृन्मानसं मन"—इति कोशात्। हृदि मनसि स्थितं सर्वार्थभ्रंशहेतुत्वेन संशयम् आत्मनो ज्ञानाऽसिना मयोपदिष्टेनात्मविषयकज्ञानरूपखड्गेन छित्त्वा योगं मयोपदिष्टं निष्कामकर्म आतिष्ठ, यथाधिकारमाचर। भारतेति सम्बोधनेन भरतवंशोद्भवस्य क्षत्रियश्रेष्ठस्य तव युद्धमेव कर्मेति सूचितम्। तस्मादुत्तिष्ठ तदेव कुर्वित्यर्थः।

ज्ञानोपायतया ऽसङ्गकर्मनिष्ठा यथार्हतः।
हरिणा भक्तसंसारच्छेदायेहोपशिक्षिता ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

जिसने भगवान् की आराधना रूप लक्षण वाले योग के द्वारा अपने सब कर्मों को भगवान् में अर्पण कर दिया है और भगवान् में कर्मों को अर्पण करने से "मैं भगवान् के अधीन हूं," ऐसा ज्ञान जिसको उत्पन्न हुआ है और उस ज्ञान द्वारा जिसके सब संशय नाश हो गये हैं और इसीलिए जो आत्मवान् है अर्थात् जिसका मन तत्त्व विषय में स्थित है उसको, हे अर्जुन, विधि वा स्वभाव से किये गये कर्म नहीं बाँधते ॥४१॥

क्योंकि ऐसा है इसलिये हे क्षत्रिय श्रेष्ठ ! भरत कुल में उत्पन्न अर्जुन ! तुम अज्ञान से उत्पन्न मन में स्थित, इस संशय को मुझसे उपदेश किये गये आत्मज्ञान रूपी तलवार से काट कर निष्काम कर्म रूपी योग को जिसका मैंने उपदेश दिया है, करो। अर्थात् अपने अधिकार के अनुसार कर्मों को करो। "भारत" सम्बोधन करने का यह भाव है कि तुम भरत कुल में उत्पन्न हो, इसलिए युद्ध करना तुम्हारा प्रधान कर्म है। अतः तुम उठो अर्थात् वही करो ॥४२॥

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

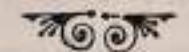

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सु निश्चितम् ॥१॥

पूर्वाध्याये कर्मयोगमवश्यकर्त्तव्यतयोक्त्वा ज्ञाननिष्ठस्य कर्मनिरपेक्षत्वमभिधायान्ते पुनः कर्मयोगमेव भगवानुपदिष्टवान् । तत्र मुमुक्षुणां कर्मज्ञानयोर्युगपदेकेनानुष्ठानासंभवात् द्वयोर्मध्ये किं श्रेयोऽनुष्ठानमिति सन्दिहानोऽर्जुन उवाच—संन्यासमिति । हे कृष्ण स्वभक्तपापकर्षक ! "निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह" इत्यादिना "श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ! सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इत्यादिना च कर्मणां संन्यासं सम्यङ् न्यस्यन्ते समाप्यन्ते कर्माणि यत्रेति संन्यासः ज्ञानयोगस्तं शंससि, "ज्ञानासिना संशयं छित्वा योगमातिष्ठेति" च पुनर्योगं कर्मानुष्ठानं । तथा चैकेन मुमुक्षुणा द्वयोरेकदाऽनुष्ठानं न संभवति विरुद्धत्वात् । अतस्तयोः कर्मज्ञानयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः श्रेष्ठं सुनिश्चितं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि ।

पूर्व के अध्याय में कर्म योग अवश्य करना चाहिये, ऐसा कह कर आपने यह कहा कि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को कर्मयोग की अपेक्षा नहीं रहती और अन्त में फिर कर्मयोग ही का आपने उपदेश दिया। अब क्योंकि मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही का अनुष्ठान एक साथ नहीं कर सकते, इसलिए इन दोनों में कौन अनुष्ठान श्रेष्ठ है ऐसा सन्देह करते हुए अर्जुन भगवान् के प्रति बोले :—

हे कृष्ण, अर्थात् हे अपने भक्तों के पाप हरने वाले, "निराशीर्यतचित्तात्मा व्यक्तसर्वपरिग्रहः" इत्यादि से और "श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !" "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते" इत्यादि से भी कर्मों के संन्यास अर्थात् ज्ञान योग की आपने बड़ाई की। फिर "ज्ञानासिना संशयं छित्वा योगमातिष्ठ" से योग अर्थात् कर्म योग की प्रशंसा की। पर एक मुमुक्षु के लिए ज्ञान योग और कर्म योग इन दोनों का अनुष्ठान एक संग असम्भव है क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। इसलिए कर्म और ज्ञान इन दोनों में जो निश्चित रूप से श्रेष्ठ हो उसको आप मुझसे कहें ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

इत्येवं प्रश्नस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच—संन्यास इति । संन्यासः ज्ञानयोगः कर्मयोगश्चेत्युभौ निःश्रेयसकरौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासाज्ज्ञानयोगात् कर्मयोगो विशिष्यते श्रेष्ठो भवति ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

उक्तार्थे हेत्वपेक्षायां कर्मयोगिनः संन्यासित्वं वदन्, तद्धर्मानुदिशति—ज्ञेय इति । य आत्मज्ञानाय कर्माणि कुर्वन् तद्व्यतिरिक्तं किञ्चिन्न काङ्क्षति । अत एव किमपि न द्वेष्टि, स नित्यसंन्यासी नित्यज्ञाननिष्ठो ज्ञेयः । हि यतो निर्द्वन्द्वः, रागद्वेषादिद्वन्द्वशून्यः । एवंभूतः सुखमनायासेनैव बन्धात्प्रमुच्यते ।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

ननु कर्मयोगी कथं संन्यासी स्यात्कर्मज्ञानयोः फलभेदात्स्वरूपभेदाच्च पृथगेव तावित्याशङ्क्याह—साङ्ख्ययोगाविति । साङ्ख्यं ज्ञानयोगः, योगः कर्मयोग इमौ पृथग्भूतौ भिन्नफलकाविति बाला अविद्वांसः प्रवदन्ति, ननु पण्डिताः । यतः सांख्ययोगयोर्मध्ये एकमपि सम्यगास्थितः उभयोः फलमात्मज्ञानं विन्दते लभते ।

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर भगवान् देते हैं :—

संन्यास (ज्ञान) और कर्म योग दोनों ही कल्याण के करने वाले हैं; पर इन दोनों में संन्यास अर्थात् ज्ञान योग से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है अर्थात् कर्म न करने से कर्म करना अच्छा है ॥२॥

ऊपर कहे हुए में हेतु बताने के लिए कर्मयोगी को ही संन्यासी कहते हुए उसके धर्म को बताते हैं—

कर्मयोगी अपने आत्म ज्ञान के लिये कर्मों को करता हुआ उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु की कांक्षा नहीं करता । इसलिए वह किसी से द्वेष नहीं करता । ऐसे कर्मयोगी को ही नित्य संन्यासी वा नित्य ज्ञाननिष्ठ समझना चाहिये क्योंकि वह राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित है । ऐसा पुरुष बिना परिश्रम के बन्धन से छूट जाता है ॥३॥

यहाँ यह शंका होती है कि कर्म योगी संन्यासी कैसे हो सकता है, क्योंकि दोनों के फल और स्वरूप में भी भिन्नता है इसलिए दोनों अलग अलग हैं । इस शंका का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—

सांख्य अर्थात् ज्ञान योग, योग अर्थात् कर्म योग पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् इनके फल दूसरे दूसरे हैं, ऐसा अनपढ़ लोग कहते हैं, विद्वान् ऐसा नहीं कहते । कारण कि सांख्य और योग में किसी एक के भी पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाने पर दोनों का फल जो आत्म ज्ञान है वह मिल जाता है ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति सः पश्यति ॥५॥

उक्तार्थं विवृणोति—यत्सांख्यैरिति । साङ्ख्यं ज्ञाननिष्ठैर्यत् स्थानं, स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थान-मात्मस्वरूपं प्राप्यते, तदेव योगैः कर्मयोगनिष्ठैरपि भगवदर्पणबुद्ध्याः कृतैः कर्मभिर्ज्ञानद्वारेण गम्यते । तस्मादेकफलत्वेनैकं साङ्ख्यं योगं च यः पश्यति स पश्यति । स एव पण्डितो न त्वन्य इत्यर्थः ।

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

ननु यदि कर्मयोगस्यापि ज्ञानयोगद्वारेणैवात्मस्वरूपप्राप्तिस्तर्हि प्रथमतो ज्ञानयोग एव कुतो नानुष्ठीयते इति चेत्तत्राह—संन्यासस्त्विति । संन्यासो ज्ञानयोगस्तु अयोगतः कर्मयोगानुष्ठानादृते दुखमाप्तुं प्राप्तुमशक्य इत्यर्थः । चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञाननिष्ठाया अपायसम्भवात् । योगयुक्तः निष्काम-कर्मयोगयुक्तः शुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः ब्रह्म नचिरेणाल्पकालेनैवाधिगच्छति प्राप्नोति । निर्दोषसमत्वादिना ब्रह्मसमानधर्मो भवतीत्यर्थः ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

ननु ब्रह्मणः सर्वत्र समत्वं जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि निर्लेपत्वं च शास्त्रसिद्धं, कर्मणि वर्त्तमानस्य

ऊपर कहे हुए को स्पष्ट करते हैं :—

ज्ञान योग से जो स्थान प्राप्त होता है अर्थात् जो आत्म स्वरूप ज्ञानयोग से मिलता है वही कर्म योग से भी मिलता है अर्थात् भगवान् में अर्पण बुद्धि से किये गये कर्मों से भी ज्ञान के द्वारा आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है । इसलिए एक फल वाले होने के कारण दोनों को अर्थात् ज्ञान योग और कर्म योग को जो एक ही देखता है वा जानता है वही यथार्थ रूप से जानता है, अर्थात् वही पण्डित है दूसरा नहीं ॥५॥

यदि कर्मयोग से भी आत्म प्राप्ति ज्ञान योग ही के द्वारा होती है तो ज्ञान योग का अनुष्ठान प्रथम ही से क्यों नहीं किया जाय ? इसका उत्तर भगवान् यहां देते हैं :—कि हे बड़े बाहु वाले अर्जुन ! बिना कर्म योग के अनुष्ठान किये हुये ज्ञान योग बड़े दुःख से प्राप्त होता है अर्थात् नहीं प्राप्त होता । कारण कि चित्त शुद्धि के अभाव में ज्ञान निष्ठा वाले मनुष्य का अपाय अर्थात् नाश हो सकता है । निष्काम कर्म योग युक्त मननशील पुरुष को उसका अन्तःकरण शुद्ध होने से ब्रह्म शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है । अर्थात् वह पुरुष निर्दोष होने से और उसमें समता इत्यादि के भाव होने से ब्रह्म के समान धर्म वाला हो जाता है ॥६॥

ब्रह्म का सर्वत्र सम होना और जगत की सृष्टि आदि का करने वाला होकर भी निर्लेप होना

जीवस्य कथं तत्समानधर्मत्वमिति चेत्तत्राह—योगयुक्त इति । फलसङ्कल्पशून्यं भगवदाराधनरूपं शास्त्रीयं कर्म योगशब्देनोच्यते, तेन युक्तः पुरुषो योगयुक्तस्तत एव विशुद्धात्मा रजस्तमोऽभिभवेन-सत्त्ववृद्धया विमलीकृत आत्मा मनो येन सः । अत एव विजितात्मा विशेषेण जितोऽभिभूत आत्मा अहंकारस्तत्कार्यभूतः क्रोधश्च येन सः । तत एव जितेन्द्रियः स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः । एतेभ्यो हेतुभ्यः सर्वसुहृत्सर्वात्मवल्लभो भवतीत्याह सर्वभूतात्मभूतात्मेति । सर्वभूतानां देवमनुष्यादीनामात्मभूत आत्म-वल्लभ आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा सर्वप्रियाचरण इत्यर्थः स सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न लिप्यते अतः सर्वभूतसमत्वं निर्लेपत्वं च ब्रह्मसमानधर्मत्वञ्च सिद्धम् । अन्यथा "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" । इति वक्ष्यमाणा ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभोक्ति-विरुध्येत । तस्मादुक्तार्थ एव साधुरित्यलम् ।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥

एवम्भूतः परमार्थदर्शी यावज्जीवः कथं वर्त्तेतेत्यपेक्षायां तद्विवेकबुद्धिं शिक्षयति—नैवेति

शास्त्रों से सिद्ध है; पर कर्म में वर्त्तमान जीव उनके समान धर्म वाला कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—

फल के संकल्प से शून्य भगवत् आराधन रूप शास्त्रीय कर्म को योग कहते हैं ऐसे योग से युक्त पुरुष विशुद्धात्मा वाला है । अर्थात् रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सतोगुण के बढ़ाने से उसका आत्मा (मन) विमल हो जाता है । इसलिये ऐसा पुरुष विजितात्मा होता है, अर्थात् वह अहंकार और उसके कार्यभूत क्रोध को जीत लेता है, इसलिये वह जितेन्द्रिय अर्थात् बाह्य इन्द्रियों को जीतने वाला होता है । इन कारणों से वह सर्वप्रिय और सर्ववल्लभ बन जाता है । वह सर्वभूतों का अर्थात् देव, मनुष्यादि का आत्म वल्लभ वा प्रिय आचरण करने वाला हो जाता है । तात्पर्य यह कि उसके आचरण सर्वप्रिय हो जाते हैं । ऐसा पुरुष सब कर्मों को करता हुआ भी निर्लेप रहता है । इस प्रकार वह सब जीवों में सम बुद्धि युक्त, निर्लेप और ब्रह्म के समान धर्म वाला सिद्ध हुआ । ऐसा नहीं मानने से आगे जो भगवान् कहेंगे कि "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥" अर्थात् ब्रह्मभूत पुरुष न सोचता है, न आकांक्षा करता है । सब भूतों में समता रखता हुआ व मेरी पराभक्ति पाता है; उससे इस भगवत् उक्ति का विरोध पड़ जायगा इसलिए यहाँ जो अर्थ कहा गया वही ठीक है ॥७॥

इस प्रकार का परमार्थ दर्शी जब तक जीता है तब तक कैसे वर्त्तता है इस प्रश्न की अपेक्षा में परमार्थदर्शी की विवेक बुद्धि को दो श्लोकों से बताते हैं :—

द्वाभ्याम्, युक्तः समाहितचित्तः तत्त्ववित्परमार्थदर्शी। चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिभिश्च दर्शनादिवचनादिश्वसनादिषु तत्तत्क्रियासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणि बाह्यान्तःकरणान्येव इन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् बुद्धया निश्चिन्वन्नहं नैव किञ्चित्करोमीति मन्येत जानीयात्। तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां व्यापाराः। गमनं पादयोः, प्रलापो वाचः, विसर्गः पायोः, सुखमुपस्थस्य, ग्रहणं हस्तयोरिति पञ्चकर्मेन्द्रियाणां व्यापाराः। श्वसनिति प्राणादि-पञ्चकव्यापारस्योपलक्षणम्। उन्मेषणनिमेषणे कूर्माख्यस्य प्राणस्य, स्वापोऽन्तःकरणस्येत्यर्थक्रमेण विवेकः। पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्। इमे व्यापारा मम स्वरूपनिरूपिता न भवन्ति। किन्तु प्रकृति-कार्यभूतेन्द्रियप्राणादीनामेवेति जानन्निरभिमानतयाऽवुःशेषं क्षपयेदिति भावः।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

भवत्वेवम्भूतस्य विशुद्धात्मनो जितेन्द्रियस्य कर्मनिर्लेपत्वम्, उक्तलक्षणहीनस्यान्यस्य कथं कर्मालेपः स्यादित्यत आह—ब्रह्मणीति। ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे आधाय समर्प्य संगं फलाभिलाषं त्यक्त्वा केवलं भगवदाज्ञापालनात्मकभजनबुद्धया यः कर्माणि करोति, स देहेन्द्रियवानपि तत्प्रयुक्त-कर्तृत्वाभिमानरूपेण बन्धहेतुना पापेन न लिप्यते। यथा पद्मपत्रमम्भसि स्थितमपि अम्भसा न लिप्यते, तद्वत्।

स्थिर वा सावधान चित्त युक्त परमार्थ का जानने वाला पुरुष अपनी बुद्धि से यह निश्चय कर कि आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों से, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों से, प्राणादि से दर्शन आदि, भाषण आदि और निस्स्वास आदि कर्मों को करती हुई इन्द्रियाँ बाहर और भीतर के करण हैं और अपने अपने विषय में रमती हैं, यह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता। देखना, सुनना, छूना, सूंघना, भोजन करना, आँख, कान, चमड़ा, नाक, रसना का व्यापार है। फिर चलना पैरों का, बोलना वाणी का, उत्सर्ग करना गुदा का, सुख अनुभव करना जननेन्द्रिय का, पकड़ना हाथों का व्यापार है। इसी प्रकार प्राणादि पञ्च वायुओं का व्यापार श्वास लेना आदि है। सोना अन्तःकरण का व्यापार है। आँखों की पपनियों को गिराना उठाना कूर्म नाम के प्राण का व्यापार है। वह परमार्थ का जानने वाला पुरुष यह समझता है कि ये व्यापार मेरे स्वरूप में नहीं है। ये प्रकृति के कार्यभूत इन्द्रियों और प्राणों के व्यापार हैं। ऐसा जान कर वह अभिमान रहित होकर अपने बचे हुये जीवन को शेष करता है ॥८+९॥

इस प्रकार के विशुद्ध आत्मा वाले और जितेन्द्रिय पुरुष को कर्म से निर्लेपता हो सकती है, पर इन लक्षणों से हीन पुरुष कर्म से अलेप कैसे रह सकता है? इसका उत्तर देते हैं :—

ब्रह्म में अर्थात् भगवान् वासुदेव में अर्पण करके और उनके फल की अभिलाषा छोड़ कर केवल भगवत् की आज्ञा का पालन समझ कर और भजन बुद्धि से जो कर्मों को करता है वह देह और इन्द्रिय

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

उक्तार्थमेव शिष्टाचारेण द्रढयति—कायेनेति । कायेन मनसा बुद्धया केवलैः स्वाभाविकविषयासक्तिशून्यैरिन्द्रियैरपि फलसङ्गं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये चित्तशुद्धयर्थं योगिनः कर्म कुर्वन्ति ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

फलासक्तिरेव बन्धहेतुरित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह—युक्त इति । युक्त ईश्वराज्ञायां निरतः कर्मणां फलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वन् नैष्ठिकीं शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति । अयुक्तः कर्मस्वीश्वरप्रीत्यर्थमेवेति बुद्धिशून्यः कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या मम फलसाधकमिदमहं करोमीति फले सक्तो निबध्यते । तैरेव कर्मभिः संसारे बन्धं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

एवमयुक्तः कर्मस्वभिमानाद्देहेन्द्रियकर्मभिर्बध्यते इत्युक्तं, ज्ञानी तु देहे वर्तमानोऽपि देहेन्द्रियकर्मभ्यो विलक्षण एवेत्याह सर्वकर्माणीति । वशी स्ववशीकृतचित्तेन्द्रियः नित्यनैमित्तिकादीनि सर्वाणि

वाला होकर भी उनसे उत्पन्न, बन्ध के कारण, कर्त्ता के अभिमान रूप पाप से नहीं लिप्त होता है, जैसे जल में रह कर भी कमल का पत्ता पानी से नहीं लिप्त होता ॥१०॥

ऊपर कहे हुए अर्थ को शिष्टों के आचार से दृढ़ करते हैं :—

योगी लोग चित्त की शुद्धि के लिए फल की आसक्ति छोड़ शरीर, मन, बुद्धि और स्वाभाविक विषयासक्ति शून्य इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं । भाव यह कि योगी आत्म शुद्धि के लिये, स्वर्गादि फल की कामना को छोड़, शरीर से साष्टांग प्रणामादि कर्म, मन से भगवत् के रूपादि का ध्यान आदिक, बुद्धि से तत्त्व निश्चयादिक और प्राकृत् विषय शून्य इन्द्रियों से श्रवण कीर्त्तनादि करता है ॥११॥

फल में आसक्ति ही बन्धन का कारण है, इसको अन्वय व्यतिरेक की रीति से बताते हैं :—

युक्त अर्थात् ईश्वर आज्ञा में निरत पुरुष, कर्मों के फल को छोड़ कर, उनको करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है । अयुक्त अर्थात् कर्म ईश्वर की प्रीति के लिये ही किये जाते हैं—इस बुद्धि से शून्य पुरुष काम में प्रवृत्त होकर, अर्थात् यह कर्म मुझको यह फल देगा, इसलिए मैं इसको करता हूं—ऐसी बुद्धि से कर्मों को करता हुआ उनके फल से बाँधा जाता है । अर्थात् ऐसे ही मनुष्य के कर्मों से संसार में बन्धन प्राप्त होता है ॥१२॥

इस प्रकार अयुक्त पुरुष कर्मों में अभिमान करने से देह और इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्मों से बाँधा जाता है, ऐसा ऊपर कहा । अब यह कहते हैं कि ज्ञानी देह में रह कर भी देह और इन्द्रियों के

कर्माणि अनादिकर्मात्मिकाऽविद्याकृतप्रकृतिसम्बन्धस्तज्जन्यदेहेन्द्रियनिमित्तकमिदं कर्तृत्वं, न केवल-स्वरूपप्रयुक्तमिति विवेकयुक्तेन मनसा संन्यस्य त्यक्त्वा नवद्वारे नेत्रकर्णनासिकामुखगायूपस्थात्मकनव-द्वारवति देहात्मके पुरे पुरवदहम्भावर्जिते देही देहाश्रयभूतोऽहमिति विवेकवान्न तु अज्ञवद्देहाभिन्नः सुखं यथा स्यात्तथाऽऽस्ते। सुखत्वे हेतुः—नैव कुर्वन्न कारयन्निति। इदमहं करोमीत्यहङ्काराभावात्स्वयं नैव कुर्वन्, अन्यत्र देहपर्यन्ते ममकाराभावान्नैव कारयन्नास्तेऽतो न बध्यते इति भावः।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

सनूक्तलक्षणो विवेकी कर्मभिर्न बध्यते। अज्ञस्तु कामकारेण शुभाशुभकर्मभिर्बध्यत इत्युक्तं, तत्र कस्य गुणः कस्य वा दोषः? प्रयोजककर्त्रीश्वरायत्तकर्तृत्वात्सर्वस्य लोकस्य। "एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते" इत्यादिश्रुतेः प्रयोजककर्तुरीश्वरस्यैव वैषम्यं, तस्यैव पुण्यपापसम्बन्धः स्यादित्याशङ्कावारणायाह—न

कर्म से विलक्षण है। जिसने चित्त और इन्द्रियों को वश में किया है वह, नित्य नैमित्तिक आदि सब कर्मों को, यह समझ कि अनादि कर्मात्मिका अविद्या से किये गये प्रकृति (माया) सम्बन्ध के कारण, देह और इन्द्रियों के निमित्त ये कर्तापन है, अर्थात् बद्धावस्था में जीव का कर्तापन माया के गुणों के संसर्ग से किया हुआ है केवल स्वरूप युक्त कर्तव्य नहीं है इससे ये मेरे स्वरूप से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते, ऐसे विवेक युक्त मन से छोड़ कर, नव द्वार वाले शरीर में सुख से रहता है। आँख, कान, नाक, मुख, गुदा और जननेन्द्रिय ये ही शरीर में नव दरवाजे हैं। इस शरीर में अहं भाव छोड़ कर और यह विवेक रखता हुआ कि मैं देह का आश्रयभूत हूँ और अज्ञों के ऐसा देह को अपने से अभिन्न नहीं मानता हुआ, जीव शरीर में सुख से रहता है। सुख से रहने का कारण बतलाते हैं। यह मैं करता हूँ, ऐसा अहंकार नहीं होने से वह स्वयं कुछ नहीं करता और देह तक में अपनापन नहीं रहने से वह किसी से कुछ कराता भी नहीं। भाव यह कि इसलिए वह कर्मों से बाँधा नहीं जाता ॥१३॥

उक्त लक्षण युक्त विवेकी पुरुष कर्मों से नहीं बाँधा जाता। अज्ञ पुरुष फल की आकांक्षा से किये गये शुभ और अशुभ कर्मों से बाँधा जाता है। इन दोनों में दोष किसका है और गुण किसका? सब मनुष्यों को कर्म में लगाने वाले तो ईश्वर ही हैं और इसलिए कर्मों का (कर्तृत्व) उन्हीं के अधीन है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है। यथा—"एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषते, एष एव चासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते॥" अर्थात् ईश्वर ही उनसे साधु (अच्छा) कर्म कराता है जिनको इस लोक से ऊपर ले जाने की इच्छा करता है। वही उनसे बुरा कर्म कराता है जिनको वह इस लोक से नीचे ले जाने की इच्छा करता है।

इस प्रकार कर्म के प्रयोजक कर्ता ईश्वर ही में विषमता है। उसीका पुण्य पाप से सम्बन्ध है।

कर्तृत्वमितिह्यस्याम्। प्रभुः परमेश्वरः लोकस्य जनस्य "लोकस्तु भुवने जने" इति कोशात्। कर्तृत्वं शुभाशुभानि कर्माणि च न सृजति। नापि कर्मफलसंयोगं सम्बन्धं सृजति। किन्तु लोकस्य स्वभावः, अनादिकर्मात्मिकाऽविद्यानिरूपितप्रकृतिः कर्तृत्वादिना प्रवर्त्तते, तदनुसारेणेश्वरः कर्मसु प्रवर्तयति। न त्वपूर्वं कर्तृत्वादिकमुत्पादयतीत्यर्थः।

नादत्ते कस्य चित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अत एव—नादत्त इति। विभुः परमेश्वरः कस्य चिज्जीवस्य पापं सुकृतं चैव नादत्ते। तयोः स्वभावानुसारेण कारयिताऽपि पापपुण्यभाङ्नभवतीत्यर्थः ननु जीवानां प्रयोजक ईश्वरो यदि कर्तृत्व-कर्माणि न सृजति, पापादि नादत्ते चेत्तर्हि कथं बन्धनहेतुकर्म कुर्वन्तीत्यत आह—अज्ञानेनेति। अनादि-कर्मात्मकाज्ञानेन स्वाभाविकं (धर्मभूतं) ज्ञानमावृतं, तेन हेतुना जन्तवो मुह्यन्ति। अज्ञानेनावृत-ज्ञानत्वाज्जीवा मोहमन्यथा ज्ञानं प्राप्नुवन्ति। अनिष्टे इष्टबुद्धया प्रवर्त्तन्ते। भगवति वैषम्यं पुण्यपापं च कल्पयन्तीत्यर्थ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

स्यादेतत्थाऽप्यनाद्यज्ञानावृतज्ञानाः सर्वेऽपि कुतो न मुह्यन्ति। यतो मोहहीना अपि के चिद्-

---

इस शंका का निवारण करने के लिये भगवान् कहते है कि परमेश्वर कर्त्तापन को और शुभाशुभ कर्मों को नहीं सिरजता है और कर्म फल के संयोग को भी नहीं सिरजता। यह मनुष्यों के स्वभाव से ही होता है। अनादि कर्मात्मिका अविद्या से निरूपित स्वभाव ही कर्त्तापन आदि के रूप में प्रवृत्त होता है। उस स्वभाव के अनुकूल ही ईश्वर कर्मों में प्रवृत्त कराता है। भाव यह कि ईश्वर अपूर्व कर्त्तापन इत्यादि नहीं पैदा करता। जिसका जैसा अनादि कर्मों से उत्पन्न स्वभाव होता है ईश्वर उसको स्वभावानुकूल ही कर्मों में लगाता है ॥१४॥

इसलिए भगवान् किसी जीव का पाप वा पुण्य नहीं ग्रहण करते हैं। अर्थात् जीवों के कर्मानुसार उनसे कर्म कराते हुए भी वे उन कर्मों के पाप पुण्य के भागी नहीं होते क्योंकि वे आप्त काम और परिपूर्ण हैं। अब यहाँ यह शंका होती है कि यदि ईश्वर जो जीवों का प्रयोजक है, कर्त्तापन नहीं सिरजता और पाप इत्यादि भी नहीं ग्रहण करता तो जीव कर्मों को, जो बन्धन के कारण हैं, क्यों करता है? इस शंका का उत्तर देते हैं अनादि कर्मात्मक अज्ञान से जीव का स्वाभाविक धर्मभूत ज्ञान ढक गया है, इसलिये जीव को मोह उत्पन्न होता है अर्थात् अन्यथा वा झूठा ज्ञान होता है। तात्पर्य कि स्वाभाविक ज्ञान के ढक जाने से जीव को अनिष्ट में इष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है और वह भगवान् में विषमता और पुण्य पाप की कल्पना करता है ॥१५॥

यदि ऐसी बात है तो अनादि अज्ञान से ज्ञान के ढके हुए होने के कारण सब लोग मोह को

दृश्यन्त इत्यपेक्षायां "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यत" इति पूर्वोक्तं ज्ञानं तत्र हेतुरित्याह—ज्ञानेनेति। अज्ञानेनावृतज्ञानेष्वपि सर्वात्मसु येषां भगवत्कृपाकटाक्षविषयभूतानां जीवात्मनां वेदान्ततत्त्वसाक्षात्कारवद्गुरूपसदनपूर्वकतदुपदिष्टशास्त्रार्थमननिदिध्यासनाभ्यासजनितेन आत्मनो देहेन्द्रियादिविविक्तात्मस्वरूपविषयेण मनोवृत्तिरूपेण ज्ञानेन तज्ज्ञानावरणमनादिकर्मसञ्चयरूपमज्ञानं नाशितं, तेषां तद्धर्मभूतं स्वाभाविकं ज्ञानं कर्तृपरं देहेन्द्रियादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणं चैतन्यं त्वम्पदार्थस्वरूपं कर्म आदित्यवदुदयमात्रेणैव प्रकाशयति। अस्मदीष्टानिष्टबन्धमोक्षहेतुभूतं सर्वं वस्तु प्रकाशयतीत्यतो न मुह्यन्तीत्यर्थः। अत्र तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयतीत्यज्ञाननाशानन्तरमप्यात्मनां बहुत्वाभिधानादुपाधिसम्बन्धगन्धस्यापि वस्तुपदार्थत्वादेकात्मवादिनः स्पष्टं भगवता निरस्ताः। "तेषामादित्यवज्ज्ञानमि"ति षष्ठ्या ज्ञानस्य स्वरूपाद्भेदनिर्देशात्तत्सम्बन्धाभिधानाच्च ज्ञातृज्ञानयोः प्रभाप्रभावतोरिव धर्मिधर्मभावसिद्धया स्वरूपातिरिक्तज्ञानानङ्गीकारिणो गुणगुणिनोरैक्याङ्गीकारिणश्च निरस्ता ज्ञेयाः। एतेन बद्धावस्थायां सङ्कुचितप्रभस्य घटावृतदीपस्येव कर्मनिर्मितस्थूलसूक्ष्मदेहेन धर्मभूतज्ञानस्यैव सङ्कोचः,

---

क्यों नहीं प्राप्त होते ? कितने मोह हीन भी देख पड़ते हैं। इसमें उनका ज्ञान कारण है, जिसके विषय में भगवान् ने पहले कहा कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते।" इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

सब आत्माओं वा जीवों का ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ होने पर भी उनमें से जिन जीवों पर भगवान् का कृपा कटाक्ष होता है वे वेदान्त के तत्त्व के साक्षात् करने वाले गुरु के पास पहुँच कर उनके किये गये (उपदिष्ट) शास्त्रार्थ का मनन और निदिध्यासन करते हैं और उस अभ्यास से उत्पन्न देह इन्द्रिय आदि से पृथक् आत्म स्वरूप विषयक मनोवृत्ति रूप ज्ञान के द्वारा उस ज्ञान के आवरण करने वाले अनादि कर्म संचय रूप अज्ञान का नाश करते हैं। उनका यह धर्मभूत स्वाभाविक ज्ञान, देह इन्द्रिय आदि से अत्यन्त विलक्षण, कर्त्ता और चैतन्य त्वं पदार्थ को, अर्थात् आत्मा के स्वरूप को सूर्य के ऐसा प्रकाशित करता है और बन्ध और मोक्ष के कारणभूत सब वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। भाव यह कि इस कारण से ऐसे लोग मोह को नहीं प्राप्त होते हैं। यहाँ भगवान् ने "तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति" अर्थात् उनका ज्ञान सूर्य के ऐसा प्रकाश करता है, यह कहकर अज्ञान के नाश होने पर भी आत्माओं का बहुत होना बताया। अज्ञान के नाश और ज्ञान के प्रकाश के बाद उपाधि के सम्बन्ध का गन्ध मात्र भी नहीं रहता है अर्थात् आत्माओं की बहुलता उपाधि भेद से है ऐसी बात की यहाँ चर्चा भी नहीं है। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट रूप से एकात्मवाद का खण्डन किया। फिर "तेषामादित्यवज्ज्ञानम्" में षष्ठी का व्यवहार कर यह बताया कि ज्ञान का आत्मा के स्वरूप से भेद है और उस से सम्बन्ध भी है और इसलिए जैसे प्रभा और और प्रभावाले में धर्म और धर्मी भावका सम्बन्ध है उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञान वाले (आत्मा) में धर्म धर्मी भाव का सम्बन्ध है। ऐसा कहने से आत्म स्वरूप से अतिरिक्त ज्ञान की स्थिति नहीं मानने वालों का, और गुण गुणी की एकता हो जाती है, ऐसा मानने वालों का खण्डन हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जैसे

न त्वात्मस्वरूपान्यथाभावः। मोक्षदशायां घटात्मकावरणध्वंसे दीपप्रभाप्रकाशवत् सकारणलिङ्ग-शरीरध्वंसे धर्मभूतज्ञानस्यैव विकाशो, नतु स्वरूपान्तरापत्तिरित्यपि सूचितम्। "यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः। यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते।

तद्बुद्धस्य तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

आत्मस्वरूपप्रकाशे सति—तद्बुद्धय इति। तस्मिन्नात्मस्वरूपे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्येषां ते तथा तदात्मानः विषयान्तरनिरासेन तत्प्रवणमनसः तन्निष्ठास्तच्चिन्तनाभ्यासनिरताः, तत्परायणास्तत्पदार्थस्वरूपमेव परमयनमाश्रयो येषां ते, तेन ज्ञानेन निर्धूतकल्मषा निःशेषेण ध्वस्तानादिपापाः सन्तोऽपुनरावृत्तिं यथा प्रागज्ञानावृतत्वेन संसारे वर्त्तन्ते, न तथा पुनः संसारे वर्तन्ते। अपि तु विषमाकारेऽशेषदोषवत्यपि संसारे परिशुद्धात्मदर्शनेन संसारधर्मैरस्पृष्टस्वभावा एव भवन्तीत्यर्थः।

घड़े से छिपाये हुए दीप की प्रभा केवल संकुचित हो जाती है, उसी प्रकार बद्धावस्था में कर्म से निर्मित स्थूल सूक्ष्म देह से आत्मा के केवल धर्मभूत ज्ञान का संकोच हो जाता है। उसके आत्म स्वरूप में कोई अन्यथा भाव वा परिवर्त्तन नहीं होता। फिर जैसे घड़े के फूट जाने पर दीप की प्रभा प्रकाश करने लगती है, उसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में कारण सहित लिङ्ग वा सूक्ष्म शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा के धर्मभूत ज्ञान का विकाश होता है, उसके शरीर में रूपान्तर नहीं होता। कहा भी है :— "यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम् ॥ सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भव कुतः ॥ यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः ॥ तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ॥ प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनोहि ते ॥" अर्थात् जलाशय खोदने से कोई नया जल नहीं उत्पन्न किया जाता। सत् ही से कोई चीज प्रकट होती है, असत् से प्रकट होना कैसे सम्भव हो सकता है? जैसे मणि के मल के धोने से उसमें चमक पैदा नहीं की जाती, वैसे ही हेय गुणों के नाश होने से अच्छे गुण पैदा नहीं किये जाते, वे केवल प्रकाशित किये जाते हैं। आत्मा में वे नित्य रहते हैं क्योंकि वे आत्मा के नित्य धर्मभूत गुण हैं ॥१६॥

आत्म स्वरूप के प्रकाश होने पर क्या होता है? उसका वर्णन करते हैं। आत्म स्वरूप में निश्चयात्मिका बुद्धि वाले, मन को अन्य विषयों से हटा कर आत्म स्वरूप में लगाने वाले, उसी आत्म स्वरूप की चिन्ता में सदा लगे हुए और आत्म स्वरूप तथा पदार्थ में परायण और आत्म ज्ञान के द्वारा सब पापों से छूटे हुये मनुष्य संसार के आवागमन से, जो पूर्व में अज्ञान से ढके रहने के कारण होता था, छूट जाते हैं और इस विषम आकार और अगणित दोष वाले संसार में रहते हुए भी आत्म दर्शन प्राप्त कर लेने के कारण, संसार के धर्म से अछूत स्वभाव वाले होते हैं अर्थात् संसार के धर्म उनको नहीं छूते ॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

एतदेवोपपादयति—विद्येति । विद्या शास्त्रार्थज्ञानं विनयं विनीतत्वं ताभ्यां संपन्ने ब्राह्मणे सात्त्विके सर्वप्राण्युत्तमे, गवि पशौ धेन्वां वृषभे वा संस्कारहीने मध्यमे राजसे हस्तिनि, तामसे शुनि च श्वपाके चाण्डाले चात्यन्ततामसेऽत्यन्ताधमे चेत्यादिष्वत्यन्तविषमाकारेष्वपि पण्डितास्तत्त्वयाथात्म्यविदः समदर्शिनः, सममात्मस्वरूपं पश्यन्त्येव शीलाः । उत्तमाधमादिवैषम्यं प्रकृतिकार्यदेहनिष्ठं, न त्वात्मसु । आत्मनां स्वरूपं तु ज्ञानस्वरूपत्वेन सदा सर्वत्र दोषास्पृष्टतया सममित्येवं दर्शनशीला भवन्तीत्यर्थः ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

ननु कज्जलागारस्थस्य कज्जलस्पर्शावश्यकत्ववत्संसारे स्थितानां तद्धर्मस्पर्शावश्यम्भावात्कथं विषमाकारसंसारसम्बन्धाभाव इति चेत्तत्राह—इहैवेति । तैः पुरुषैरिहैव संसार एव प्रारब्धशेषेण वर्त्तमानत्वेऽपि सर्गः संसारो जितः तिरस्कृतः । स्वात्मसु स्पष्टुमनर्हः कृतः इति यावत् । तैः कैः येषामुक्तप्रकारेण सर्वात्मसाम्ये स्थितं मनः । हि यस्माद्यिर्दोषं समं ब्रह्म यथा सर्वचेतनाचेतनेषु तदन्तर्यामितया वर्त्तमानमपि ब्रह्म निर्दोषं तद्धर्मास्पृष्टमेवात एव समं, तथोत्तममध्यमाधमदेहेषु वर्त्तमानमपि

ऊपर कहे हुए विषय को फिर बताते हैं :—

शास्त्रार्थ ज्ञान और विनय से युक्त, और सब प्राणियों में उत्तम, सात्विक ब्राह्मण में, गौ वा बैल में, संस्कार हीन राजस गुण वाले हस्ती में, तामस स्वभाव वाले और अत्यन्त नीच में, यद्यपि ये एक दूसरे से बिलकुल विषम आकार वाले हैं, तो भी यथार्थ तत्त्व को जानने वाले पण्डित एक ही दृष्टि रखते हैं अर्थात् सबों में आत्मा की समानता जान कर एक ही दृष्टि से सबको देखते हैं। वे समझते हैं कि उत्तम, अधम आदि रूप विषमता प्रकृति के कार्य रूप देह में स्थित है आत्मा में नहीं। ज्ञान स्वरूप होने के कारण सब काल में और जगह में ये दोष आत्मा को छू नहीं सकते इसलिये आत्मा का स्वरूप बराबर समान है, ऐसा ये पण्डित लोग समझते हैं ॥१८॥

काजल की कोठरी में स्थित मनुष्यों को काजल अवश्य लगता ही है। उसी प्रकार संसार में स्थित मनुष्य को संसार के धर्म का स्पर्श होना आवश्यक ही है। तब विषम आकार वाले संसार से सम्बन्ध का अभाव कैसे हो सकता है ? भगवान् इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

उन पुरुषों से यहाँ ही अर्थात् संसार में प्रारब्ध शेष रहने पर भी संसार जीता गया अर्थात् तिरस्कृत किया गया है। मतलब यह कि उनके आत्माओं को संसार नहीं छू सकता। किन पुरुषों को संसार के हेय धर्म नहीं छू सकते हैं ? उत्तर देते हैं-कि उनको जिन्होंने ऊपर कही हुई रीति से सर्वात्माओं की समता को अपने मन में निश्चय कर लिया है। कारण कि जिस प्रकार दोष रहित और समतायुक्त ब्रह्म चेतन और अचेतन सबों के अन्तर्यामी रूप से स्थित रह कर भी निर्दोष और उनके गुणों से अछूत

देहधर्मास्पृष्टमेकात्मरूपं दूरस्थत्वान्निर्दोषम्। "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा" त्यादिश्रुतेः "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इति वक्ष्यमाणवाक्याच्च निर्दोषत्वादेव सर्वत्र समम्। यस्माद्ब्रह्मवदात्मनां स्वरूपं समं, तस्मात् साम्ये ये स्थिता ब्रह्मण्येव ते स्थिताः। एतेन विषमाकारदर्शिनामेव संसारधर्मभागित्वं, न तु ब्रह्मभूतात्मस्वरूपदर्शिनामिति समाधानमुक्तम्। ब्रह्मणि स्थितिर्हि संसारजयः, राजान्तिके स्थितस्य चौरादिजयवदिति भावः।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

एवं समस्वरूपात्मदर्शनरूपा ब्रह्मस्थितिः संसारजयहेतुरिति निर्णीतमिदानीं मुमुक्षुणा तदर्थमेव यतितव्यमित्युपदिशति न प्रहृष्येदिति। संसारजयमिच्छुर्यः कश्चिन्मुमुक्षुः प्रियं स्वमनोऽनुकूलं भोजनाच्छादननिवासवचनादि प्राप्य न प्रहृष्येत्, अहो भाग्यमिति प्रफुल्लितो न भवेदित्यर्थः। तथाऽप्रियमननुकूलं पूर्वोक्तं प्राप्य नोद्विजेत्, विषादं न कुर्यात्। ततश्च स्थिरबुद्धिः शनैः शनैरात्मज्ञानद्वारेण संसारदुःख

अर्थात् समता युक्त बना रहता है उसी प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम देहों में स्थित भी आत्मा उन देहों के धर्म से अछूत रहता है और कूटस्थ होने के कारण निर्दोष है। श्रुति भी यही कहती है यथा :—"अविनाशी वा अरेऽमयमात्माऽनुच्छित्ति धर्मा" अर्थात् यह आत्मा नाश होने वाला नहीं है। इसके धर्म का भी नाश नहीं होता। स्वयं भगवान् ने भी इस आत्मा के विषय में आगे कहा है कि—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते" अर्थात् यह अक्षर अर्थात् अविनाशी जो आत्मा है वह कूटस्थ है। इन सब वचनों से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा निर्दोष होने से सबमें बराबर है। क्योंकि ब्रह्म के ऐसा आत्मा का भी स्वरूप सम है इस लिए साम्य में जो स्थित हैं, अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि आत्मा सब देहों में सम है, वे ब्रह्म में ही स्थित हैं। इससे यह समाधान किया कि संसार में विषम आकार के देखने वाले ही संसार के धर्म के भागी होते हैं, आत्म स्वरूप को ब्रह्म भूत देखने वाले नहीं। पूर्वोक्त कही हुई रीति के अनुसार ब्रह्म में स्थित रहना ही संसार को जय करना हुआ जैसे राजा के समीप में स्थित हो जाना ही चोर आदि को जय करने के समान है ॥१९॥

यह निर्णय कर चुके कि आत्मा सम है और सम स्वरूप आत्म दर्शन रूप जो ब्रह्म में स्थित है वही संसार के ऊपर जय पाने का कारण है। अब यह उपदेश देते हैं कि मुमुक्षुओं को उसी के लिये यत्न करना चाहिए। संसार के ऊपर जय पाने की इच्छा वाले किसी मुमुक्षु को अपने प्रिय पदार्थ को, अर्थात् मन के अनुकूल भोजन, कपड़ा (वस्त्र), रहने का घर, वचन इत्यादि पाकर खुश नहीं होना चाहिये, अर्थात् यह कह कर कि "वाह रे मेरा भाग्य" प्रफुल्लित नहीं होना चाहिये। उसी प्रकार अप्रिय अर्थात् मन के प्रतिकूल पूर्व में कही हुई वस्तुओं को पाकर, उद्विग्न नहीं होना चाहिये, अर्थात् दुःख नहीं करना चाहिये। उसके बाद बुद्धि को इस बात में दृढ़ करना चाहिए कि आत्म ज्ञान के रास्ते धीरे धीरे मैं संसार दुःख को पार करूँगा, अर्थात् ऐसा अपना विश्वास दृढ़ करना चाहिये। इसलिये

तरिष्यामीति दृढव्यवसायः। अत एवासम्मोहः, दुःखपरिणामकेऽनात्यवस्तुनि सुखहेतुरिदमित्यन्तःकरण-विभ्रमो मोहस्तद्रहितः। ततस्तत्त्वज्ञोपदेशेन ब्रह्मविद्भूत्वा ब्रह्मणि स्थितः, ब्रह्मवन्निर्दोषसमस्वरूपे आत्मनि निरतो भवेदिति भावः।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

ननु सर्वजनेप्सितशब्दरूपर्शादिविषयसुखासक्तस्य ब्रह्मणि स्थितिर्न सम्भवति, बाह्यसुख-विमुखाच्चेद् ब्रह्मणि रतः किं सुखं विन्देतेति चेत्तत्राह—बाह्यस्पर्शेष्विति। श्रोत्रादीन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पृशाः शब्दादिविषयास्ते बाह्येन्द्रियविषयत्वाद्बाह्यास्तेष्वसक्तात्मा अनासक्तचित्तो विगततृष्ण इति यावत्। आत्मनि अन्तःकरणे यदुपशमरूपमनन्तसुखं शास्त्रे उक्तं तद्विन्दति लभते। तदुक्तं मोक्षधर्मे। "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलामि"ति। ततश्च प्रकृतिवियुक्तपरिशुद्धात्मस्वरूपे ब्रह्म तस्य योगो निरन्तरचिन्तनाभ्यासस्तत्र युक्त आत्मा मनो येन स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा। अथवा ब्रह्म परमात्मा तेन योगः प्रत्यगात्मनस्तादात्म्यसम्बन्धस्तत्र युक्तस्तदनुसन्धानाभ्यासे नियुक्त आत्मा अन्तःकरणं येन स तथा अक्षयसुखमश्नुते प्राप्नोति। "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेदि"ति श्रुतेः।

मोह रहित हो जाय, अर्थात् दुःखदायी अनित्य वस्तु सुख के कारण हैं, ऐसा जो अन्तःकरण में भ्रम स्थित है, उससे मुक्त हो जाय। उसके बाद तत्त्व को जानने वाले, गुरु के उपदेश से ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही में स्थित हो जाय। कहने का भाव यह कि ब्रह्म के समान निर्दोष और समरूप वाले आत्मा में सदा निरत होवे ॥२०॥

सब लोगों से इच्छित शब्द स्पर्शादि विषय सुख में आसक्त पुरुष को ब्रह्म में स्थिति नहीं हो सकती। यदि बाहरी सुख से विमुख होकर वह ब्रह्म में रत हो तो उसको कौन सुख मिलेगा? इसीका उत्तर देते हैं :—

बाह्येन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विषयों में जिनका चित्त आसक्त नहीं है अर्थात् जो उनमें तृष्णा रहित हैं, उनको अपने अन्तःकरण में वह अनन्त सुख मिलता है, जिस उपशम रूपी (विषय के विराग से उत्पन्न) सुख का उल्लेख शास्त्रों ने किया है, यथा मोक्ष धर्म—"यच्चकाम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्॥ तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम्॥" अर्थात् जो संसार में कामना का सुख है, और जो स्वर्ग में दिव्य महासुख है वह तृष्णा के नाश से जो सुख उत्पन्न होता है उसके सोलहवें भाग के भी बराबर नहीं है। यह महाभारत के मोक्ष पर्व का वचन है।

जिसने प्रकृति से वियुक्त, परिशुद्ध आत्म स्वरूप ब्रह्म के निरन्तर चिन्तन के अभ्यास में मन को लगाया है अर्थात् जिसने ब्रह्म से योग अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से तादात्म्य (भेदयुक्त अभेद) सम्बन्ध के अनुसन्धान के अभ्यास में अन्तःकरण को लगाया है, वह पुरुष अक्षय सुख को प्राप्त करता

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ननु बाह्यविषयानासक्तिपूर्वकात्मन्यक्षयसुखमश्नुते इति सत्यं, तथाऽपि प्रथमतो बाह्यविषयानासक्तिरेव कथं स्यादित्याशङ्क्य तेषु दोषदर्शनादित्याह—ये हीति । हि यस्मात् ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसम्बन्धजा भोगा ऐहिकामुष्मिकास्ते सर्वेऽपि दुःखयोनयः परिणामे दुःखहेतवो भवन्ति । तथाभूता अपि न स्थिराः, किन्त्वाद्यन्तवन्तः । तस्मात् हे कौन्तेय ! तेषु बुधो विवेकी न रमते, तेषु प्रीतिं न कुरुते इत्यर्थः ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

एवमक्षयसुखहेतुशुद्धात्मनिष्ठायां दृढीकरणाय विषयसुखस्य दुःखहेतुत्वमभिधाय मुमुक्षवनुग्रहाय पूर्वोक्तमपि श्रेयोमार्गे प्रधानप्रतिपक्षं स्मृत्वा तन्निवारणाय पुनर्निर्दिशति शक्नोतीति । दर्शनश्रवणादिना गुणबुद्धया हृद्यतिसक्तशब्दस्पर्शरूपादिमद्वस्तुविषयकप्रीत्यतिशयात्मकोऽभिलाषः कामः, तथा प्रतिकूलदर्शनश्रवणादिना दोषबुद्धया हृद्यरूढाप्रियवस्तुविषयकद्वेषविशेषनिमित्तकोऽभिज्वलनात्मकोऽन्तःकरणपरिणामः क्रोधस्ताभ्यामुद्भवो नदीवेगवदनिवार्यो देहेन्द्रियविकारो वेगस्तं शरीरविमोक्षणात्प्राक्

है । श्रुति कहती है :—"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।" अर्थात् यदि आत्मा को यह ऐसा है, इस प्रकार जान जाय तो पुरुष किस इच्छा से और किस काम के लिये अपने शरीर को तपावे ॥२१॥

यह बात ठीक है कि बाहर के विषयों में अनासक्ति होने से आत्मा वा अन्तःकरण में अक्षय सुख अनुभूत होता है पर बाहर के विषयों में अनासक्ति हो कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में विषय सुख के दोषों को दिखाते हैं :—क्योंकि विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न इस लोक और परलोक के सभी भोग अन्त में दुःख पैदा कर करते हैं और आरम्भ और अन्त वाले हैं, अर्थात् स्थिर नहीं हैं, इसलिए हे अर्जुन ! पण्डित लोग वा विवेकीजन उसमें प्रीति नहीं करते ॥२२॥

अक्षय सुख के कारण शुद्ध आत्म निष्ठा में दृढ़ करने के लिये विषय सुख को दुःख का कारण बताया । अब मुमुक्षुओं पर कृपा दर्शाने के लिए कल्याण के मार्ग की रुकावट को बता उनको हटाने का उपदेश देते हैं :—

दर्शन श्रवणादि के द्वारा गुण बुद्धि से शब्दादि विषयों में जो अतिशय अभिलाषा हृदय में उत्पन्न होती है उसी को काम कहते हैं । प्रतिकूल दर्शन श्रवणादि द्वारा दोष बुद्धि से अप्रिय वस्तुओं में जो द्वेष उत्पन्न होकर अन्तःकरण में अभिज्वलनात्मक या जलाने वाला परिणाम उपस्थित होता है उसी को क्रोध कहते हैं । इन काम, क्रोध से उत्पन्न, नदी के वेग के समान अनिवार्य देहेन्द्रियों के विकार

यावच्छरीरपातमिहैव साधनावस्थायामेव यः सोढुं निवर्त्तयितुं शक्नोति समर्थो भवति, स युक्तः, उक्तात्मज्ञानयुक्तः। स सुखी, स एव नरः पुरुषार्थार्हः। नान्यस्तद्वेगे पतित्वाऽत्मानमुद्धर्त्तुं समर्थ इत्यर्थः।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अथ कामक्रोधवेगसहनानन्तरमात्मसाक्षात्कारं प्रति यदन्तरङ्गसाधनं तदाह—य इति। योऽन्तःसुखोऽन्तरात्मानुभव एव सुखं यस्य सोऽन्तःसुखः, न तु विषयानुभवे, अन्तरेवारामः क्रीडा यस्य, नतु बहिः पुत्रकलत्रादिषु, तथाऽन्तर्ज्योतिर्दृष्टिः प्रकाशो वा यस्य, न तु बाह्यविषयेषु इन्द्रियैर्वा, स योगी ध्यानयोगसम्पन्नः ब्रह्मभूतः मायादोषशून्यः सन् ब्रह्मनिर्वाणं विक्षेपशून्यं परिशुद्धात्मस्वरूपमधिगच्छति प्राप्नोति।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

उक्तसाधनप्रक्रियया बहवो विवेकिनः स्वरूपं प्राप्नुवन्तीत्याह—लभन्त इति। प्रथमतो निष्कामकर्मानुष्ठानेन क्षीणं कल्मषं येषां ते, छिन्नं द्वैधं संशयो येषां ते यतात्मानः आत्मन्येव नियमितमनसः। ततश्च सर्वभूतानां हिते रताः कृपालवः ऋषयः सूक्ष्मदर्शिनः मन्त्रद्रष्टारो वा यथोक्तं ब्रह्म निर्वाणं लभन्ते।

वा वेग को जो शरीर छूटने के पहले यहां ही अर्थात् साधना अवस्था ही में, सह सकता है अर्थात् उसको निवारण कर सकता है, वही पुरुष पीछे कहे हुए आत्म ज्ञान से युक्त है, वही सुखी है, और वही मोक्ष पाने के योग्य है। कहने का मतलब यह कि दूसरा कोई काम क्रोध के वेग में पड़कर उससे अपने को नहीं निकाल सकता है ॥२३॥

काम क्रोध के वेग को सहने के बाद आत्म साक्षात्कार का जो अन्तरङ्ग साधन है, उसको बताते हैं :—

जिसको अन्तरात्मा के अनुभव में सुख है, विषयों के अनुभव में नहीं, जो अन्तरात्मा ही में क्रीड़ा करता है, बाहर के स्त्री पुत्र आदि विषयों में नहीं और जिसकी अन्तर्दृष्टि है बाहर के विषयों में नहीं वा जिसके भीतर ही से प्रकाश होता है, इन्द्रियों के द्वारा नहीं, वह योगी, अर्थात् ध्यान योग सम्पन्न पुरुष, माया दोष शून्य होकर, विक्षेप रहित, परिशुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है ॥२४॥

कहे गये साधन प्रक्रिया के द्वारा बहुत से विवेकी पुरुष स्वरूप को प्राप्त करते हैं, इसी को यहां कहते हैं :—

पहले निष्काम कर्म करने से जिनका पाप क्षीण हो गया है, और संशय नष्ट हो गया है, और जो आत्मा ही में मन लगाये रहते हैं, और सब प्राणियों के हित करने वाले अर्थात् कृपालु हैं, ऐसे सूक्ष्म दर्शी एवं मन्त्र को देखने वाले ऋषि लोग ऊपर कहे हुए ब्रह्म निर्वाण को अर्थात् परिशुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

तेभ्योऽपि केचिद्विशिष्टाः शीघ्रफलभाज इत्याह—कामक्रोधवियुक्तानामिति । उक्तस्वरूपाभ्यां कामक्रोधाभ्यां वियुक्तानां तत्परित्यागिनामत एव यतीनां यत्नशीलानां संयतचित्तानां विदितात्मनां ज्ञातात्मतत्त्वानामभितः साक्षादिहैव ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्त्तते ।

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

पूर्वं मोक्षान्तरङ्गोपायतया "स योगी ब्रह्मनिर्वाणमि"त्यनेन सूचितं ध्यानयोगं विस्तरेण निरूपयितुं सफलमिह सूत्रवत्सङ्क्षिप्याऽऽह—स्पर्शानिति द्वाभ्याम् । स्पर्शान् स्पर्शोपलक्षितान् शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धान् पञ्चविषयान्बाह्यान्बहिर्भवान् श्रोत्रचक्षुरादिद्वारेणान्तःप्रविष्टान् पुनस्तच्चिन्तनपरित्यागेन बहिरेव कृत्वा चक्षुश्च दृष्टिम्भ्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा अत्यन्तनिमीलने हि निद्रात्मको लयो भवेत् । प्रसारणे तु बाह्यविषयसंसर्गेण विक्षेपो भवेत् । एतद्दोषद्वयपरिहाराय किञ्चिन्निमीलनेन दृष्टि नासाग्रे विन्यस्य उच्छ्वासनिः श्वासगतिभ्यां नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ उभयगतिनिरोधेन समौ कृत्वा

ऊपर कहे हुए ऋषियों से भी शीघ्र फल पाने वाले कोई-कोई विशेष पुरुष होते हैं । उन्हीं के विषय में यहाँ कहते हैं :—

पीछे कहे लक्षण वाले काम क्रोध से वियुक्त अर्थात् काम क्रोध को छोड़ने वाले, संयत चित्त वाले और आत्म तत्त्व को जानने वाले यतियों अर्थात् यत्नशीलों को साक्षात् यहाँ ही मोक्ष मिल जाता है । अर्थात् उनके लिये यहाँ ही मोक्ष है ॥२६॥

मोक्ष के अन्तरङ्गोपाय में "स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्" से ध्यान योग की सूचना दी । उस योग को विस्तार रूप से कहने के लिए यहाँ उसको उसके फल के साथ सूक्ष्म रूप से सूत्र के जैसे दो श्लोकों से कहते हैं :—

आँख, कान, नाक आदि द्वारा भीतर आये हुए बाहर के स्पर्श, श्रवण आदि विषयों के चिन्तन को छोड़ और इस प्रकार उनको बाहर ही निकाल कर, आँखों को भौंहों के बीच में रख कर, (बीच में रखना इसलिये कहा है कि वैसा करने से आँखें न बिलकुल प्रसारित रहती हैं जिससे बाहरी विषयों के संसर्ग से विक्षेप उत्पन्न हो और न बिलकुल बंद ही रहती हैं जिससे निद्रात्मक लय उपस्थित हो) इस प्रकार आँखों को कुछ कुछ खुला रख कर नाक के अग्र भाग पर लगाना कहा । उच्छ्वास, (सांस फेंकना) निश्वास (सांस लेना) के रूप में नासिकाओं के भीतर चलने वाले प्राण और अपान दोनों वायु

कुम्भकेन वशीकृत्येत्यर्थः। अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य, मोक्ष एव परमयनं प्राप्यं यस्य अत एव विगतेच्छाभयक्रोधः य एवम्भूतो मुनिः स यदा फलकाल इव साधनकालेऽपि मुक्त एव, संसारदोषास्पृष्ट एवेत्यर्थः।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

एवमुक्तानां यज्ञादिकर्मतपोज्ञानयोगानां समरूपात्मदर्शनं संसारधर्मासङ्गत्वं च फलमुक्तं, तच्च न स्वातन्त्र्येणापि तु सर्वफलदातुरीश्वरेश्वरस्य भगवतस्तत्त्वज्ञानद्वारेणेत्याह—भोक्तारमिति। यज्ञानां तपसां च श्रद्धाप्रीतिपूर्वकं समर्पितानां भोक्तारं पालनाभ्यवहारकर्तारं, सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकानां लोकेश्वराणामपीश्वरं, सर्वभूतानां प्राणिनां सुहृदं हितेच्छुं मां ज्ञात्वा शान्तिं संसारबन्धात्मकविक्षेप-निवृत्तिरूपां दशामृच्छति प्राप्नोति। स्वस्वरूपज्ञानप्रकारं तु पञ्चदशेऽध्याये सम्यग्वक्ष्यति।

साधनं कर्म ज्ञानादि कृपया हरिणोदितम्।
समदर्शी यतो भूत्वा पराज्ञाने ततोऽर्हति ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

को कुम्भक से रोक कर अर्थात् वश में कर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का जिसने संयम किया है और जिसका मोक्ष ही परम साधन है और जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह मुनि सदा अर्थात् साधन काल में भी फल काल के समान मुक्त है अर्थात् संसार के दोष उसको नहीं छूते ॥२७+२८॥

यज्ञादि कर्म, तप, ज्ञान, योग सबों का फल समरूप आत्मदर्शन और संसार के धर्म से असंग रहना कहा। अब यह कहते हैं कि यज्ञादि कर्मों को या तप, ज्ञान, योग इत्यादि को स्वतन्त्र रूप से फल देने की शक्ति नहीं है। सबके फल देने वाले और ईश्वरों के भी ईश्वर जो भगवान् हैं उनके यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही ये फल वे सकते हैं, इसी को कहते हैं :—

श्रद्धा, और प्रीति पूर्वक समर्पित यज्ञ और तपों के भोक्ता अर्थात् पालन और व्यवहार करने वाले हम ही हैं। सब लोकों के ईश्वरों के भी ईश्वर हम ही हैं। सब प्राणियों के हितेच्छु हम ही हैं। ऐसा जो मुझको जानता है वह शान्ति को अर्थात् संसार के बन्धात्मक विक्षेप से निवृत्ति दशा को प्राप्त होता है। अपने स्वरूप ज्ञान की रीति को पन्द्रहवें अध्याय में पूर्ण रूप से कहेंगे ॥२९॥

इस पाँचवें अध्याय में श्रीभगवान् ने कृपा कर आत्म ज्ञान प्राप्ति के साधन कर्म, ज्ञानादि का उपदेश किया। इसके अनुष्ठान से जीव समदर्शी हो परमात्मा के ज्ञान का अधिकारी होता है।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

पञ्चमेऽध्याये कर्मयोगो ज्ञानयोगश्च तत्प्रशंसं निरूपितः । तदन्तरङ्गो ध्यानयोगस्तदन्ते सङ्क्षेपेण द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां निरूपितः । तद्विस्तारार्थं षष्ठाध्यायारम्भः । तत्र तावत् "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते" इत्यादिना सर्वकर्मत्यागेन संन्यासाख्यज्ञानयोगविधानाद्धीनत्वेन कर्म त्याज्यमिति शङ्का-वारणाय कर्मयोगस्य संन्यासरूपत्वेनोपादेयतामभिधास्यन् श्रीभगवानुवाच अनाश्रित इति । कर्मणो फलं स्वर्गादिकमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः सन् कार्यमवश्यकर्त्तव्यतया विहितं कर्म नित्यनैमित्तिकरूपं यः करोति, स संन्यासी च ज्ञानयोगनिष्ठश्च । योगी च कर्मयोगनिष्ठश्च । अत एव न निरग्निः, अग्नि-साध्यकर्मत्यागी न भवति । न चाक्रियः, अग्निनिरपेक्षक्रियाहीनश्च न भवति । अथवा निरग्निरक्रियश्च संन्यासी योगी च न मन्तव्यः किन्तु सर्वकर्मफलत्यागपूर्वककर्मानुष्ठान्येव संन्यासी योगी च मन्तव्यः । तस्योभयनिष्ठा सिद्धिरिति भावः ।

पंचम अध्याय में प्रशंसा के साथ कर्म योग और ज्ञान योग का निरूपण किया, और उनके अन्तरङ्ग ध्यान योग को अन्त में दो श्लोकों से संक्षेप में कहा । अब इस छठे अध्याय में ध्यान योग का विस्तार से वर्णन करेंगे । "सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते" इत्यादि सर्व कर्म त्याग द्वारा संन्यास नामक ज्ञान योग का विधान किया । इससे ऐसी शंका हो सकती है कि कर्म योग उससे हीन है और इसलिए छोड़ देने योग्य है । इसी शंका को हटाने के लिए कर्म योग का संन्यास रूप से ग्रहण करने का वर्णन करते हुये भगवान् कहते हैं ।

कर्मों के स्वर्गादि फलों में अनाश्रित वा अनपेक्ष होकर जो अवश्य कर्त्तव्य और इसलिये विहित, नित्य, नैमित्तिक रूप कर्मों को करता है, वह संन्यासी है, अर्थात् ज्ञान योग निष्ठ है, और वही योगी अर्थात् कर्म योगनिष्ठ भी है इसलिये वह अग्नि से साध्य कर्मों को छोड़ने वाला नहीं होता और उन क्रियाओं से भी हीन नहीं होता, जिनके करने में अग्नि की आवश्यकता नहीं होती । अथवा इसका यह मतलब कि अग्नि से साध्य कर्मों को छोड़ने से और दूसरे कर्मों को छोड़ने से कोई संन्यासी या योगी

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ! ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

उक्तार्थमेवोपपादयति—यं संन्यासमिति । "प्रकर्षेणाहुः न्यास एवात्परे च यदि"त्याद्याः श्रुतयः । तं योगं फलकर्तृत्वाभिमानत्यागपूर्वकविहितकर्मानुष्ठानं विद्धि हे पाण्डव ! एवम्भूतं कर्मैव संन्यासं जानीहीत्यर्थः । कुत ? इत्यपेक्षायां हि यस्मात् । असंन्यस्तसङ्कल्पः, न संन्यस्तः त्यक्तः सङ्कल्पो येन सः कश्चन कश्चिदपि योगी न भवतीत्यर्थः ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

एवं चेत्तर्हि यावज्जीवं कर्मैव कर्त्तव्यतयाऽभिप्रेतं किमित्यत आह—आरुरुक्षोरिति । योगं ज्ञानयोगमारुरुक्षोः आरोढुं प्राप्तुमिच्छोर्मुनेरुक्तस्वरूपं कर्म तत्प्राप्तौ कारणमुच्यते । ज्ञानयोगारूढस्य तस्यैव शमः कर्मनिवृत्तिर्ध्यानपरिपाके कारणमुच्यते । यावदात्मसाक्षात्कारान्तरङ्गस्य योगस्य प्राप्तिस्तावत्कर्म कार्यमित्यर्थः ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

कर्माणरस्कदा योगारूढो भवतीति चेच्छृणु—यदा हीति । यदा यस्मिन्काले इन्द्रियार्थेषु

नहीं माना जा सकता; पर कर्मों के फल को छोड़ कर्म करने वाला ही संन्यासी और योगी माना जा सकता है; क्योंकि ऐसे पुरुष की दोनों ही निष्ठा अर्थात् ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा सिद्ध होती हैं ॥१॥

ऊपर में कहे हुये का समर्थन करते हैं :—

हे अर्जुन ! जिसको शास्त्रों ने संन्यास कहा है उसी को योग अर्थात् फल और कर्त्तापन का अभिमान छोड़ कर विहित कर्मों का अनुष्ठान जानो । अर्थात् ऐसे ही कर्म को संन्यास जानो । इसका कारण यह है कि वह पुरुष जिसने संकल्प नहीं छोड़ा है, कभी योगी नहीं हो सकता ॥२॥

यदि ऐसी बात है तो क्या यह मतलब है कि जन्म भर कर्म करता रहे ? इसका उत्तर देते हैं :—

ज्ञान योग की प्राप्ति की इच्छा वाले मुनि के लिये निष्काम कर्म ज्ञान योग की प्राप्ति का कारण कहा गया है । ज्ञान योग को प्राप्त किये हुए मुनि के लिये, कर्म की निवृत्ति, ध्यान के परिपक्व होने में, कारण कही गई है । कहने का मतलब यह है कि आत्म साक्षात्कार के अन्तरङ्ग उपाय, ध्यान योग की जब तक प्राप्ति न हो, तब तक कर्म करना चाहिए । ध्यान योग की प्राप्ति हो जाने पर कर्मों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ध्यान योग में वे विक्षेप डालने वाले हैं ॥३॥

कर्मों को करता हुआ पुरुष कब योगारूढ होता है ? उसी को कहते हैं ।

शब्दादिविषयेषु तत्साधनभूतेषु कर्मसु च न सज्जते, ममैते भोग्या एतदर्थं मया प्रयतितव्यमित्यभिनिवेशं न करोति । हि यस्मात्सर्वसङ्कल्पसंन्यासी सर्वे (सङ्कल्प) फलभोगविषयांस्तत्साधनकर्मविषयांश्च सङ्कल्पान् संन्यसितुं त्यक्तुं शीलं यस्य स तदा योगारूढ उच्यते ।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

एतेन विषयासक्तिस्तद्विरक्तिश्च संसारपाततदुद्धरणहेतुभूते इति बुद्ध्वा स्वहितं कुर्यादित्याह—उद्धरेदिति । आत्मना विषयाननुसक्तेन मनसा आत्मानं जीवं समुद्धरेत् । विषयासक्त्या संसारे पतन्तं दोषबुद्धया तत्परित्यागेनोद्धर्वं नयेदित्यर्थः । नावसादयेत्-विषयासक्त्या संसारसमुद्रे न मज्जयेत् । हि यस्मादात्मैव मन एवात्मनो बन्धुर्हितकारी संसारादुद्धारकः, नान्यो भ्रात्रादिः । आत्मैव मन एवात्मनो रिपुरहितकारी, नान्यः ।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

कथम्भूतस्यात्मन आत्मा बन्धुः, कथम्भूतस्यात्मन आत्मारिपुरित्युच्यते—बन्धुरिति । येन पुरुषेणात्मनैव स्वेनैवात्मा स्वमनो विषयेभ्यो जितो निवर्त्तितः तस्यात्मा मन एव बन्धुर्हितकारी ।

जिस समय शब्दादि विषयों में और उनके साधनभूत कर्म में वह मनोयोग नहीं करता, अर्थात् प्रवृत्त नहीं होता और वह यह नहीं समझता कि ये मेरे भोग्य हैं और उनको प्राप्त करने का मुझे यत्न करना चाहिये, और वह इसलिये कि उसने सब फल भोग विषय सम्बन्धी और उनके साधनभूत कर्म विषय सम्बन्धी संकल्पों को छोड़ दिया है, तब वह योग को प्राप्त किया हुआ कहा जाता है एवं समझा जा सकता है ॥४॥

इससे विषय में आसक्ति को संसार में पतन का और विषय से विरक्ति को संसार से उद्धार का कारण जान बुद्धि द्वारा अपनी हित की बात करे । इसी को कहते हैं ।

विषय से विराग युक्त मन के द्वारा आत्मा अर्थात् जीव का उद्धार करे अर्थात् विषय में आसक्ति होने से संसार में गिरना होता है इस दोष बुद्धि से विषयासक्ति को छोड़, अपने को ऊपर ले जावे । विषय में आसक्ति कर आत्मा को संसार समुद्र में नडुबोवे । कारण कि मन ही आत्मा का हितकारी है अर्थात् संसार से उद्धार करने वाला है, दूसरे भाई, पुत्रादि नहीं, और मन ही अपना शत्रु भी है दूसरा नहीं ॥५॥

कैसे आत्माओं का आत्मा (मन) बन्धु है और कैसे आत्माओं का आत्मा (मन) शत्रु है ? इसी को कहते हैं :—

जिस पुरुष ने अपने से अपने मन को जीता है, अर्थात् विषयों से हटाया है, उसी आत्मजित् पुरुष का मन उसका बन्धु वा हितकारी है और जिस पुरुष ने अपने मन को नहीं जीता, उसका विषय

अनात्मनोऽजितमनसः पुरुषस्यात्मैव विषयासक्तं स्वकीयं मन एव शत्रुवत् स्वस्य शत्रुत्वे संसारबन्धहेतुत्वे वर्त्तेत। तदुक्तं श्रीपराशरेण। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्"ति।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जितमनसः पुरुषस्य स्वबन्धुत्वं प्रतिपाद्य तत एव यैर्धर्मैर्विशेषैर्योगारूढता सम्पद्यते तद्विशिष्टं प्रतिपादयन्पूर्वोक्तं योगारूढत्वं स्मारयति—जितात्मन इति द्वाभ्याम्। प्रागुक्तेन्द्रियानासक्तस्य शीतोष्णसुखदुःखेषु मनस उद्वेगहेतुषु सत्स्वपि तथा हर्षक्षोभहेत्वोर्मानापमानयोः सतोरपि जितात्मनः विकारशून्यमनसः। अत एव प्रशान्तस्य सुखदुःखादिहेतुषु पुरुषेषु रागद्वेषवर्जितस्य परमात्मा मनोबुद्ध्यादिभ्यः परमः स्वयम्प्रकाशस्वरूप आत्मा सम्यगाहितः सुखरूपेणावस्थितो भवति। अथवा उक्तप्रकारेण प्रशान्तस्य परं केवलमात्मा समाहितो भवति, नान्यस्य।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ततश्च ज्ञानेति। ज्ञानं शास्त्रोपदेशजन्यं, विज्ञानमुपदिष्टार्थस्य मनननिदिध्यासनाभ्यासेन

में आसक्त मन उसके शत्रु के समान, उसको संसार के बंधन में डालने में निरत रहता है। श्री पाराशर जी ने भी ऐसा ही कहा है :—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥"

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है, विषय में आसक्त मन बन्ध का कारण है, और विषय से रहित मोक्ष का कारण है ॥६॥

जिस मनुष्य ने मन को जीता है उसका मन अपना बन्धु है, ऐसा प्रतिपादन कर वह मनुष्य जिस विशेष धर्म द्वारा योग की सीढ़ी पर चढ़ता है उस धर्म को विशेषता दिखाते हुए पूर्वोक्त योगारूढता का दो श्लोकों से स्मरण कराते हैं।

पीछे कहे गये इन्द्रियों में आसक्तिहीन पुरुष, मन के उद्वेग के कारण, गर्मी, सर्दी, सुख, दुःख के होने पर भी, तथा हर्ष और क्षोभ के कारण, मान और अपमान के होने पर भी, विकार शून्य मन वाले होते हैं, अर्थात् उनके मन में विकार पैदा नहीं होता। इसीलिये वे प्रशान्त चित्त वाले होते हैं, अर्थात् उनके सुख, दुःख के कारण जो पुरुष हैं उनके प्रति उनका राग द्वेष नहीं होता। ऐसे पुरुषों का परमात्मा अर्थात् मन, बुद्धि आदि से श्रेष्ठ और स्वयं प्रकाश रूप आत्मा सदा सुख से रहता है, अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि—परम अर्थात् केवल प्रशान्त चित्त वाले का ही आत्मा सुख से रहता है, दूसरों का नहीं ॥७॥

शास्त्र के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान द्वारा और उस उपदेश के मनन और निदिध्यासन के अभ्यास

भ्रमनिरासपूर्वकयथाऽवस्थितात्मस्वरूपानुभवः, ताभ्यां तृप्तः बाह्यार्थनिराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य (तथा) सः। कूटस्थो यस्यां कस्यामप्यवस्थायां यथा कथञ्चित् यदृच्छया सङ्गे जातेऽपि निर्विकारः। अत एव विजितेन्द्रियः देहधारणहेतुभूतान्नपानाच्छादनादिमिष्टकटुस्निग्धरूक्षमृदुकठिनादिषु प्राप्तेषु प्रीतिद्वेषाभावाद्विनिवर्त्तितानीन्द्रियाणि येन सः, अत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनः। समानि मृत्पिण्डपाषाणसुवर्णानि यस्य स तथा तेषु हेयोपादेयबुद्धयभावात् स योगी युक्तो योगारूढ इत्युच्यते।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

एतस्मादपि विशिष्टो भवतीत्याह—सुहृदिति। सुहृत् स्वसम्बन्धोपकाराद्यनपेक्ष्य हितासंगी, मित्रं स्नेहेन हितोपकारकः, अरिः सनिमित्तं निर्निमित्तं वाऽपकारकर्त्ता, उदासीनः हिताहितानकाङ्क्षकः, मित्रारिभावर्जितो वा, विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षको वा, मध्यस्थो विविदमानयोर्हिताकाङ्क्षी, द्वेष्यः स्वभावतोऽनिष्टेप्सुः, बन्धुः सम्बन्धापेक्षोपकारकः, साधवः सदाचाराः, पापा दुराचारा, एतेषु समा रागद्वेषशून्या बुद्धिर्यस्य स विशिष्यते, पूर्वोक्तादपि विशिष्टो भवति।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

से भ्रम रहित, तथा अवस्थित आत्म स्वरूप अनुभव रूप विज्ञान द्वारा, और बाहर के विषयों की आकांक्षा से हीन, आत्मबल वाला पुरुष, जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान से ही तृप्त रहता है, जो कूटस्थ है, अर्थात् किसी भी संगति में पड़ जाने पर वा किसी भी अवस्था में रहने पर विकार रहित रहता है और इसी कारण से जिसने इन्द्रियों पर विजय पाई है, अर्थात् देह धारण के हेतुभूत, वस्त्रादि के अच्छा बुरा होने या कड़ा मुलायम होने पर और अन्न पानादि के मीठा तीता होने से, प्रीति वा द्वेष भाव जिसको नहीं होता, और इससे जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर ही है, वही योगी योगारूढ अर्थात् योग के रास्ते पर पहुँचा हुआ कहा जाता है ॥८॥

ऊपर कहे हुए योगी से भी अधिक विशेषतायुक्त योगी का वर्णन करते हैं।

जो सुहृत में अर्थात् उस पुरुष में जो सम्बन्ध और उपकार की अपेक्षा न करके ही हित करता है, मित्र में अर्थात् स्नेह से हित करने वाले में, अरि में, अर्थात् मतलब बेमतलब अपकार करने वाले में, उदासीन में अर्थात् उस पुरुष में जो न हित ही चाहता है न अहित ही और जो शत्रुता और मित्रता दोनों भाव से रहित है, मध्यस्थ में अर्थात् उस पुरुष में जो झगड़ा करने वाले दोनों दल की उपेक्षा करता है वा दोनों के हित की आकांक्षा करता है, द्वेषी में अर्थात् स्वभाव से ही बुराई करने की इच्छा वाले में, बन्धु अर्थात् सम्बन्ध के कारण हित करने वाले में, सदाचारियों में और दुराचारियों में समबुद्धि अर्थात् राग द्वेष से शून्य बुद्धि रखता है, वह पूर्व में वर्णित योगी से भी विशिष्ट (श्रेष्ठ) समझा जाता है ॥९॥

एवं योगारूढस्य लक्षणमुक्तमिदानीं तस्य साङ्गं योगं विवक्षुः—योगी युञ्जीतेत्यारभ्य स योगी परमो मत इत्यन्तेन ग्रन्थेन । योगी योगारूढः सततमहरहर्योगसमये आत्मानं मनो युञ्जीत, युक्तं कुर्वीत स्वस्वरूपानुभवार्थं समाहितं कुर्यादित्यर्थः । रहसि विक्षेपहेतुजनवर्जिते गिरिगुहादौ देशे स्थितः, एकाकी जनान्तरवर्जितः, यतचित्तात्मा । यतं चित्तमात्मा देहश्च येन निराशीर्वस्त्वन्तरमात्रे निस्पृहः, अत एवापरिग्रहः संग्रहशून्यः ।

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र तावत्सदुपयोग्यासनमाह—शुचाविति द्वाभ्याम् । शुचौ अशुचिभिर्म्लेच्छादिभिः संसर्गवर्जिते अशुचिवस्तुभिरस्पृष्टे च स्वभावसंस्कारादिना शुद्धे देशे आत्मनः आसनं प्रतिष्ठाप्य प्रकर्षेण स्थापयित्वा, कथम्भूतं स्थिरमचलं नात्युच्छ्रितं, नात्युच्चं, न चातिनीचं, चैलं शुद्धवस्त्रम्, अजिनं मृगादिचर्म, ते कुशेभ्य उत्तरे यस्मिन् तत्, भूमौ कुशमयं, तदुपरि मृगचर्म, तदुपरि वस्त्रमित्येवं रूपमित्यर्थः । तत्र तस्मिन्नासने उपविश्य एकाग्रं विक्षेपरहितं मनः कृत्वा यताः संयता उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया येन सः । आत्मविशुद्धये बन्धविमुक्तये योगं युञ्ज्यात् अभ्यसेत् ।

समं कायशिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

योगारूढ़ का लक्षण कह चुके । अब अङ्गों के साथ योग को कहते हैं ।

योग के पथ पर चढ़ा हुआ पुरुष सदा प्रतिदिन योग करने के समय अपने मन को आत्म स्वरूप के अनुभव में युक्त करे अर्थात् लगावे । बाधा डालने वाले मनुष्यों से वर्जित, पहाड़ की कन्दरा इत्यादि एकान्त स्थान में रह कर, अकेले जहाँ कहीं दूसरा न हो, चित्त और शरीर को काबू में ला, और दूसरी वस्तुओं में स्पृहा हीन होकर और इसी कारण संग्रह से शून्य हो योग में लगे ॥१०॥

अब योग के उपयुक्त आसन को दो श्लोकों में कहते हैं :—

म्लेच्छादिकों के संसर्ग से वर्जित, अपवित्र वस्तुओं के स्पर्श से रहित, और स्वभाव संस्कारादि से शुद्ध देश में, अपने आसन को ठीक रीति से जमावे । यह आसन हिलने डुलने वाला न हो, न अधिक ऊँचा हो और न नीचा हो और पृथ्वी पर कुश, उसके ऊपर मृग चर्म और उसके ऊपर शुद्ध वस्त्र बिछा हो । ऐसे आसन पर बैठ कर मन को विक्षेप रहित करके और चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत करके, आत्मा की शुद्धि के लिये अर्थात् बन्ध से आत्मा को छुड़ाने के लिये योग का अभ्यास करे ॥११+१२॥

एवमासनमुक्त्वा ध्यानोपयोगिशरीरधारणप्रकारमाह—समामिति । कायोऽत्र देहमध्यभागो विवक्षितः, शिरोग्रीवेति पृथग्ग्रहणात् । कायशिरोग्रीवं सममवक्रमचलमकम्पं धारयन्, स्थिरः दृढः सन् स्वकीयं नासाग्रं सम्प्रेक्ष्य दिशश्चानवलोकयन्नासीतेत्युत्तरेणान्वयः ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥१४॥

प्रशान्त आत्मा चित्तं यस्य, विगतभीरकुतश्चिद्भयः । ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्ये स्थितः । उपस्थस्य संयमो ब्रह्मचर्यं, तच्चाष्टविधमैथुनत्यागादष्टविधं—तच्चोक्तं "स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेव प्रकीर्त्तितमि"ति । तस्मिन् स्थितः सन्मनः संयम्य विषयेभ्यस्तद्वृत्तीः प्रत्याहृत्य, मय्येव चित्तं यस्य स मच्चित्तस्तथा मत्परः, अहमेवानन्दघनः परः पुरुषार्थो यस्य स मदेकविषयचित्तवृत्तिभिर्युक्त आसीतोपविशेत् ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

एवं योगमभ्यसतो योगिनः फलमाह—युञ्जन्नेवमिति । एवमुक्तप्रकारेण परमात्मनि भगवति मयि सदाऽऽत्मानं मनो युञ्जन्समाहितं कुर्वन् । नियतं निरुद्धं मानसं वृत्तिनिरोधेन मन एव निरुध्यतेऽनो

आसन के विषय में कह कर अब योग के उपयोगी शरीर धारण की रीति को कहते हैं :—

शिर, ग्रीवा और शरीर के बीच के भाग को सीधा और अचल रख, दृढ़ होकर, नाक के अगले भाग को देखता हुआ और दूसरी दिशाओं को नहीं देखता हुआ, स्थिर हो बैठे ॥१३॥

बिलकुल शान्त चित्त, भय से रहित, ब्रह्मचर्य* में स्थित, मन की वृत्ति को विषयों से फेर कर मुझ में चित्त लगा, और मुझ आनन्दघन को ही अपना परम पुरुषार्थ समझ युक्त हो, अर्थात् मेरे ही में अपने चित्त की वृत्ति को लगा कर बैठे ॥१४॥

ऐसे योग के अभ्यास करने वाले योगी के लाभ को कहते हैं। उक्त प्रकार से मुझ परमात्मा भगवान् में अपनी आत्मा (मन) को सदा लगाता हुआ और मन की वृत्तियों को विषयों से रोकता

नोट :—जननेन्द्रिय के संयम को ब्रह्मचर्य कहते है। यह संयम आठ प्रकार की क्रियाओं को छोड़ने से आठ प्रकार का है। शास्त्रों में आठ प्रकार के मैथुन को इस प्रकार गिनाया है :—

"स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्, संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः, विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेव प्रकीर्त्तितम् ॥

स्त्री का चिन्तन, स्त्री के मुख अङ्गादि की वा उसके बोलचाल की प्रशंसा करना, हँसी दिल्लगी करना, प्रेम भाव देखना, गुप्त बातें करना, संभोग की प्रतिज्ञा करना, उसका उपाय करना और संभोग करना, इन्हीं को पंडितों ने मैथुन के आठ अङ्ग कहे हैं, इन्हीं से रहित होना ब्रह्मचर्य कहलाता है।

नियतमानसः सन् शान्तिं संसारोपरतिरूपां निर्वाणपरमां निर्वाणं मोक्षः परमो यस्यां तां मत्संस्थां मच्निष्ठामधिगच्छति प्राप्नोति ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

एवं महाफलं योगमभिधाय तस्साधनावशिष्टमाहारनियममाह—नात्यश्नत इति द्वाभ्याम् । अत्यश्नतः अत्यन्तमधिकं भुञ्जानस्य योगो ध्याननिष्ठा न भवति । एकान्तमत्यन्तमनश्नतोऽभुञ्जानस्यापि योगो नास्ति । तथाऽतिनिद्राशीलस्याऽतिजाग्रतश्च योगो नास्ति ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

तर्हि कीदृशस्य योगो भवतीत्यपेक्षायामाह—युक्तेति । आहारो भोजनं, विहारो विक्रमणं, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य तस्य । तथोक्तं योगशास्त्रे "द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदि"ति । तथा युक्ता नियता कर्मसु चेष्टा यस्य, तथा युक्तौ स्वप्नावबोधौ निद्राजागरौ यस्य तस्य दुःखनाशको योगो निष्पन्नो भवति ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

हुआ योगी संसार से विराग रूप मेरे में निष्ठा वाली शान्ति प्राप्त करता है जिसका परम फल मोक्ष है, अर्थात् ऐसा योगी मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१५॥

इस प्रकार महा फल वाले योग को कह कर उसके अवशिष्ट साधन, भोजनादि को, दो श्लोकों से कहते हैं।

बहुत भोजन करने वाले को योग अर्थात् ध्यान निष्ठा नहीं होती बिलकुल नहीं खाने वाले को भी ध्यान निष्ठा नहीं होती। बहुत सोने वाले को और बिलकुल नहीं सोने वाले को भी योग नहीं होता ॥१६॥

तब किस प्रकार के पुरुष को योग अर्थात् ध्यान निष्ठा होती है उसी को कहते हैं। जिसका आहार विहार नित्य परिमाण से होता है। योग शास्त्र में कहा है :—

"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥"

अर्थात् दो भागों को अन्न से भरे, एक भाग को पानी से भरे, और वायु के चलने के लिये चौथे भाग को खाली छोड़ दे। फिर जिस पुरुष की कर्म में चेष्टा नियत मात्रा से है और जिसका सोना जागना भी उपयुक्त है अर्थात् नियत परिमाण में है उसी को दुःख को नाश करने वाला योग सिद्ध होता है ॥१७॥

एवंनियमवान्पुरुषः कदा निष्पन्नयोगो भवतीत्यपेक्षायामाह—यदेति। यदा यस्मिन् काले नियतं विषयान्तरवृत्तिशून्यतया विशेषेण संयतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते निश्चलं भवति, तदा सर्वकामेभ्यो निस्पृहः सन्युक्तः निष्पन्नयोग इत्युच्यते। योगज्ञैरिति शेषः।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

एवं सिद्धयोगयुक्तस्य लक्षणमुक्त्वेदानीं समाधिस्थस्य तस्योपमाऽह—यथेति। निवातस्थो वातरहिते देशे स्थितो दीपो यथा नेङ्गते न चलति सोपमा स्मृता चिन्तिता योगविद्भिः। कस्य यतचित्तस्य योगिनः संयतान्तःकरणस्य योगं युञ्जतोऽनुतिष्ठत आत्मन आत्मस्वरूपस्य निवातस्थनिश्चयसुप्रकाशदीपवन्निवृत्तविक्षेपतया निश्चलयुप्रकाशज्ञानात्मा भासते इत्यर्थः।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

एवमेतावता योगसाधनमासनाहारादियोगयुक्तस्य लक्षणोपमे चाभिधायेदानीं सफलं सिद्धयोगं लक्षयति—यत्रेत्यादि सार्धैस्त्रिभिः। यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे योगसेवया योगाभ्यासेन निरुद्धं चित्तमुपरमते इतरस्मात्। यत्र चावस्थाविशेषे आत्मना शुद्धेन मनसा आत्मानं पश्यन्नन्यनिरपेक्ष आत्मन्येव तुष्यति।

ऐसा नियम वाला पुरुष योग से युक्त कब होगा? उसीको कहते हैं :—

जिस समय दूसरे विषयों में वृत्ति शून्य होने से पुरुष का चित्त संयत होकर आत्मा में ही स्थित होता है, तब सब अभिलाषाओं से इच्छा हीन होकर वह पुरुष युक्त अर्थात् योग सम्पन्न कहा जाता है, अर्थात् योग के जानने वाले तब उस पुरुष को योग सम्पन्न कहते हैं ॥१८॥

सिद्ध योग युक्त पुरुष का लक्षण कह कर अब समाधिस्थ पुरुष को उपमा देते हैं। वायु रहित देश में जैसे दीप हिलता डुलता नहीं है, वैसे अन्तःकरण को संयत करते हुए और योग में लगे हुए योगी के आत्म स्वरूप को भी वही उपमा दी गई है। भाव यह है, कि जैसे वात रहित देश में रखा हुआ दीप खूब निश्चल और तेज प्रकाश देता है, वैसे ही विक्षेपों के निवृत्त हो जाने से तेज युक्त ज्ञान वाला निश्चल आत्मा चमकने लगता है ॥१९॥

यहाँ तक योग के साधन, आसन, आहारादि और योग युक्त पुरुष के लक्षण और उपमा के विषय में कहा गया। अब आगे के साढ़े तीन श्लोकों से सिद्ध योग को, उसके फल के साथ, दिखलाते हैं :—

जिस अवस्था विशेष में योग के द्वारा चित्त और विषयों से रुक जाता है और जिस अवस्था में योगी शुद्ध मन से अपनी आत्मा को निरपेक्ष भाव से, अर्थात् और दूसरी वस्तुओं से विरक्त होकर, देखता हुआ अपनी आत्मा ही में संतोष लाभ करता है, उसी को सिद्ध योग अवस्था कहते हैं ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

आत्मन्येव तोषे हेतुमाह—सुखमिति । यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे यत्तदतीन्द्रियमिन्द्रियनिरपेक्षं बुद्ध्यैकग्राह्यम्, आत्यन्तिकं नित्यं सुखं योगी वेत्ति अनुभवति । यत्र यस्मिन्सुखे च स्थितः तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥

अचलनमेव हेतुनोपपादयति—यमिति । यं स्वरूपानुभवसम्बन्धिसुखरूपं लाभं लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न मन्यते, तस्यैव निरतिशयत्वज्ञानात् । यस्मिंश्च सुखानुभवार्हे आत्मसक्तमनसोऽवस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महताऽपि शीतोष्णादिदुःखेन न विचाल्यते न च्याव्यते इत्यर्थः ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥२३॥

एवं यच्छब्दाभ्यासेन सामान्येनोक्तो योऽवस्थाविशेषस्तं तच्छब्देन परामृश्य दर्शयति—तं विद्यादिति । दुःखशब्देन दुःखोदर्कं विषयेन्द्रियजन्यं सुखमपि गृह्यते, तथा च दुःखसंयोगेन स्पर्शमात्रेणापि

अपने ही में संतोष को लाभ करता है इसका कारण बताते हैं :—

जिस अवस्था विशेष में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखने वाले और केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य, नित्य सुख को योगी अनुभव करता है और जिस सुख में स्थित हो वह योगी आत्मा स्वरूप से नहीं डिगता वही सिद्धयोग अवस्था है ॥२१॥

आत्म स्वरूप में अचल क्यों होता है, अब इसका कारण बताते हैं :—

जिस स्वरूप वा आत्मानुभव सम्बन्धी सुख रूप लाभ को प्राप्त कर उससे और भी कोई बड़ा लाभ है, ऐसा वह योगी नहीं मानता, क्योंकि उसको ज्ञान है कि यह सुख निरतिशय है अर्थात् इससे श्रेष्ठ सुख और कोई नहीं है, यही सबसे भारी सुख है। फिर जिस सुख अनुभव करने योग्य और आत्मा में आसक्त मन वाली अवस्था में स्थित होकर वह योगी ठंड, गर्मी आदि बड़े दुःखों से भी वहां से विचलित नहीं किया जाता उसी को सिद्ध योग अवस्था कहते हैं अर्थात् इस अवस्था में स्थित योगी को बड़े-बड़े दुःख भी वहां से डिगा नहीं सकते ॥२२॥

जिस अवस्था विशेष के विषय में पीछे सामान्य रूप से कह आये हैं उसी को विशेष रूप से अब दिखाते हैं :—

जिस अवस्था में दुःख के स्पर्श मात्र से भी वियोग है अर्थात् दुःख छू तक नहीं गया है उसी आत्मसिद्धि रूप चित्त की अवस्था विशेष को योग शब्द से वाच्य समझना चाहिये, अर्थात् उसी अवस्था

वियोगो यस्मिन्तमात्मनिवृत्तिकं चित्तावस्थाविशेषं योगसञ्ज्ञितं योगशब्दवाच्यं विद्यात् जानीयात्। एवम्भूतो योगो मुमुक्षुणा दृढविश्वासेनानुष्ठेय इत्याह—स इति। स योगो निश्चयेन उक्तलक्षणेन विश्वासेन योक्तव्यः अभ्यासनीयः। तत्सिद्धौ विलम्बेसति। योगाभ्यासे सिद्धिसन्देहात्प्रयत्नशैथिल्यं निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा योक्तव्य इत्यर्थः।

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

पूर्वं योगयुक्तलक्षणे "निस्पृहः सर्वकामेभ्यः" इत्येन सर्वकामत्यागपूर्वकध्याननिष्ठा निर्दिष्टा। इदानीं योगविरोधिप्रधानभूतान् कामान् सहसा त्यक्तुमशक्यान् स्मृत्वा पुनस्तत्यागप्रयत्नमुपदिशति—सङ्कल्पेति द्वाभ्याम्। रूपादिमद्वस्तुनो दर्शनादिनाऽज्ञानेन सुखहेतुत्वकल्पनं सङ्कल्पः, ततः प्रभवन्ति ते सङ्कल्पप्रभवा ये कामा विषयाभिलाषा इदं मे भूयादिदं मे प्राप्नुयादित्येवमादिरूपास्तान्योगविरोधिनस्तथात्वेऽविचारजन्यदुःखहेतुत्वबुद्धया सवासनांस्त्यक्त्वा ततो विषयविमुखीभूतेन मनसैवेन्द्रियग्राम रूपादिविषयाभिमुख्यस्वभावं चक्षुरादिकरणसमूहं समन्ततः सर्वेभ्यस्तत्तद्विषयेभ्यो विनियम्य प्रत्याहृत्य शनैरभ्यासक्रमेण नतु सहसा उपरमेत् निश्चेष्टो भवेत्। उपराममेव दर्शयति—बुध्येति। धृतिर्दुःख

को योग कहते हैं। यहाँ दुःख शब्द से इन्द्रिजन्य सुखों का भी, जो दुःख के ही गढ़े हैं, और जिनमें वास्तविक सुख नहीं है बोध होता है।

ऐसे योग का अनुष्ठान मोक्षार्थियों को दृढ़ विश्वास के साथ करना चाहिये। योग की सिद्धि में विलम्ब होने से प्रयत्न में शिथिलता नहीं लानी चाहिए, अर्थात् योग के अभ्यास की सिद्धि में सन्देह होने से प्रयत्न की शिथिलता से रहित चित्त से योग का अभ्यास करना चाहिए ॥२३॥

योग युक्त पुरुष के लक्षण को दिखाते हुए पीछे कह आये हैं कि "निस्पृहः सर्वकामेभ्यः" अर्थात् ध्यान निष्ठा सब कामनाओं को छोड़ने से ही होती है। अब यह याद कर कि कामनाऐं, जो योग की प्रधान विरोधी हैं, झट से नहीं छूट सकतीं, उनके त्याग के लिये प्रयत्न करने का उपदेश दो श्लोकों से देते हैं।

अज्ञान से, रूप, रस, गन्धादि वाली वस्तुओं को, देखना, सूंघना इत्यादि कर्मों द्वारा सुख का कारण कल्पना करने को सङ्कल्प कहते हैं। सङ्कल्प से उत्पन्न सब कामनाओं को अर्थात् विषय की अभिलाषाओं को, चाहे इस लोक की हों वा परलोक की, जैसे कि 'हमको यह हो, हमको यह मिले' योग की विरोधी और यथार्थ में दुःख को ही उत्पन्न करने वाली समझ, उनको उनकी वासनाओं के साथ छोड़े। फिर उसके बाद विषय से विमुख हुए मन के द्वारा, रूपादि विषयों की ओर अभिमुख होने वाले आँख, कान आदि इन्द्रिय समूहों को सब तरफ से, अर्थात्, उनके अपने २ विषयों से, खींच कर,

प्राप्तेऽपि स्वनिष्ठायामनिर्वेदेन स्थितिस्तया गृहीता अवश्यकर्तव्यतायां दृढीकृता या बुद्धिः योगः कदाचित्प्राप्स्यत्येवेति व्यवसायरूपा तया आत्मसंस्थमात्मन्येव सम्यक् स्थितं निश्चलं मनः कृत्वा बाह्यं किञ्चिदपि न चिन्तयेत् ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

निगृह्यमाणं मनो यदि चलेत्तर्हि किं कर्तव्यमिति चेत्तदाह—यत इति । यतो यतः शब्दादि-विषयाद्धेतोश्चञ्चलस्वभावतयाऽस्थिरं सत् मनो निश्चरति, यतो यतो यं यं विषयं प्रति निश्चरति निर्गच्छति, ततस्तत एतन्मनो नियम्य आत्मन्येव वशं नयेत् निरुन्ध्यात् ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

एवं विषयेभ्यः प्रत्याहृत्यात्मनि वशीकृतमनसो यत्फलं स्यात्तदाह—प्रशान्तमनसमिति । पुनः पुनर्विरोधेन प्रशान्तमात्म(नि)निश्चलं मनो यस्य तम् । तत्र हेतुगर्भितविशेषणद्वयम्—शान्तरजसम् । शान्तं सर्वकामनामूलं रजो यस्य तत एवाकल्मषं निर्गतसमस्तपापमत एव ब्रह्मभूतं निर्दोषसमरूपमेनं योगिनमुत्तमं सुखमुपैति प्राप्नोति ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

धीरे-धीरे अभ्यास के रास्ते, निवृत्त हो जावे । अब निवृत्ति प्राप्ति को दिखाते हैं । दुःख प्राप्त होने पर भी अपनी निष्ठा में अनिर्वेद अर्थात् प्रयत्न की शिथिलता नहीं करने को धृति कहते हैं । ऐसी धृति से गृहीत बुद्धि के द्वारा, अर्थात् यह विश्वास कर कि योग मुझे कभी न कभी मिलेगा ही और वह मेरा अवश्य कर्तव्य है आत्मा में मन को निश्चल कर, बाहर के विषयों के बारे में कभी नहीं सोचे ॥२४+२५॥

विषयों से रोक कर आत्मा में लगाया हुआ मन यदि इधर उधर भागे तो क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

शब्दादि विषयों के कारण चञ्चल स्वभाव वाला मन स्थिर न होकर जिन-जिन विषयों के प्रति दौड़े, उन-उन विषयों से उसको खींच कर आत्मा ही की तरफ ले आवे ॥२६॥

विषय से मन को खींच उसको आत्मा के वश में करने के फल को अब कहते हैं :—

बार-बार निरोध करने से आत्मा में निश्चल मन वाला, इसी से शान्त रजोगुण वाला अर्थात् रजोगुण, जो सब अभिलाषाओं की जड़ है जिसमें शान्त हो गया है, इससे सब पापों से रहित और इसीलिये ब्रह्म के समान निर्दोष समरूप वाला योगी उत्तम सुख को प्राप्त करता है ॥२७॥

तदभ्यासवतो निरतिशयसुखमाह—युञ्जन्निति । एवमुक्तप्रकारेण सदाऽऽत्मानं युञ्जन्विगतकल्मषः विशेषेण गतं समस्तप्राचीनकल्मषं यस्य स तथा सन् योगी ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मानुभवरूपमत्यन्तं सुखं सुखेनानायासेन अश्नुते प्राप्नोति ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

अथ सिद्धयोगस्य योगिनो योगविपाकदशाभेदेन चतुर्धा दर्शनमाह—सर्वभूतस्थमित्यादि चतुर्भिः श्लोकैः । योग आत्मयाथात्म्यविचारस्तस्मिन्युक्त आत्मा मनो यस्य सः । सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु स्थितमात्मानं सर्वाणि च भूतानि आत्मनि स्वस्वरूपे ईक्षते पश्यति । भूतेष्वात्मन आत्मनि च भूतानां दर्शनानुपपत्तिशङ्कानिवारणाय हेतुगर्भितविशेषणमाह—सर्वत्र समदर्शन इति । सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु परस्परं विषमेष्वपि भूतेषु वैषम्यकारिणीभूतप्रकृतिकार्यदेहादिभ्यो विविक्तं ज्ञानस्वरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वेन च समं विशेषरहितं यदात्मनां स्वरूपं तद्विषयकं दर्शनं ज्ञानं यस्य सः, तथा च स्वात्मनोऽन्येषां च देहादिविलक्षणशुद्धस्वरूपस्य विशेषाभावादेकस्मिन्नात्मनि ज्ञाते सर्वस्य वस्तुनो ज्ञानं समत्वाद्भवेदेवेत्यर्थः । देहानामपि प्राकृतत्वाविशेषेण समत्वमविरुद्धम् । एवं च सर्वभूतेषु समत्वेन स्थितमात्मानमात्मनि च स्थितानि सर्वाणि भूतानि पश्यतीति सूपपन्नम् ।

योग के अभ्यास करने वाले को निरतिशय सुख प्राप्त होता है । इसीको कहते हैं :—

इस प्रकार अपने को योग में लगाता हुआ और समस्त प्राचीन पापों से विशेष रूप से मुक्त हुआ योगी ब्रह्मानुभव रूप परम सुख को बिना प्रयास ही प्राप्त कर लेता है ॥२८॥

योग विपाक की दशा-भेद से सिद्ध योग योगी के चार प्रकार के देखने को चार श्लोकों से कहते हैं :—

योग अर्थात् आत्मा के याथात्म्य विचार में मन लगाने वाला योगी अपने आत्मा को सब जीवों में स्थित और सब भूतों को अपने आत्मा वा स्वरूप में स्थित देखता है ।

आत्मा में सब भूतों का और सब भूतों में आत्मा का दर्शन करना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी शंका को हटाने के लिये सहेतुक विशेषण कहते हैं :—

वह योगी सर्वत्र समदर्शी है अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब जीवों में, यद्यपि वे एक दूसरे से पृथक् हैं, तो भी यह समझ कर कि उनकी देहादि सम्बन्धी विषमता प्रकृति का कार्य रूप है, पर उनका आत्मा जो उस विषमता से परे हैं, ज्ञान स्वरूप और ब्रह्मात्मक होने से सबमें विशेषता रहित अर्थात् सम है, आत्मा के स्वरूप का दर्शन पाता है वा आत्मा को सब में देखता है । कहने का मतलब यह है कि अपने आत्मा और दूसरों के आत्मा को देहादि से विलक्षण, शुद्ध स्वरूप और विशेषता से रहित जानता है । इसलिये एक आत्मा का ज्ञान हो जाने से सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि आत्माएँ सब समान हैं । देहादि भी इस बात में विशेषता रहित समता रखते हैं कि वे

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

केवलात्मसमत्वदर्शिनः सकाशात्सर्वत्र परमात्मदर्शिनः श्रेष्ठत्वमाह—य इति । यो योगारूढस्तत्त्वदर्शी सर्वत्र ब्रह्मादिपशुकीटान्तेषु प्राणिमात्रेषु वासुदेवं भगवन्तं सर्वस्यान्तर्नियन्तारं पश्यति । सर्वं च ब्रह्मादिप्राणिजातं मयि आधारभूते स्वतन्त्रे च आधेयतया नियम्यतया आयत्ततयाऽवस्थितं पश्यति, तस्यैवम्भूतस्य मद्दर्शिनोऽहं न प्रणश्यामि अदृश्यो न भवामि । स च मे न प्रणश्यति, स विद्वान् मम वासुदेवस्य भगवतो न प्रणश्यति न परोक्षीभवति । अहं कृपया तज्ज्ञानविषयो भूत्वा तं सदा स्वदर्शनयोग्यं करोमीत्यर्थः ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

ततोऽप्यधिकां योगारूढदशामाह—सर्वभूतस्थितमिति । सर्वेषुभूतेषु प्राणिषु परिच्छिन्नेषु स्थितमपरिच्छिन्नतया व्याप्यावस्थितं मां भगवन्तं वासुदेवं व्यापकाद्व्याप्यस्य पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वादेकत्वमभेदमास्थितः सन्सर्वं मदभेदेन पश्यन् यो भजते, सर्वत्र मदात्मकत्वबुद्धिं करोतीत्यर्थः । तथोक्तं

सभी प्रकृति के कार्य हैं । इस प्रकार सब भूतों का समत्व सिद्ध होने से अपने में सब भूतों को और सब भूतों में अपने को योगी का देखना ठीक ही है ॥२९॥

केवल आत्मा को सब भूतों में समान देखने वाले योगारूढ़ पुरुष से वह योगी श्रेष्ठ है जो सबमें परमात्मा को देखता है । इसीको यहां कहते हैं :—

जो योगारूढ़ तत्त्वदर्शी सब जगह, ब्रह्मा से लेकर कीट पतङ्ग आदि प्राणी मात्र में, सबके भीतर के नियन्ता, मुझ वासुदेव भगवान् को देखता है और सब ब्रह्मादि प्राणि मात्र को मुझमें, जो उनका आधार हूं और स्वतन्त्र हूं देखता है और समझता है कि सब प्राणी आधेय, नियम्य और आयत्त रूप से मुझ भगवान् में स्थित हैं, अर्थात् उनका आधार, नियामक और आश्रय मैं भगवान् वासुदेव ही हूं, ऐसे योगी से मैं कभी अदृश्य नहीं होता, अर्थात् वह सदा मुझको देखता और वह योगी भी मुझ भगवान् वासुदेव से परोक्ष नहीं होता। कहने का मतलब कि मैं कृपा करके उसके ज्ञान का विषय होकर उसको सदा अपने दर्शन के योग्य बनाता हूं ॥३०॥

ऊपर वर्णित योगी से भी श्रेष्ठ योगारूढ़ योगी के विषय में कहते हैं :—

सब प्राणियों में, अर्थात् परिच्छिन्न या पृथक्-पृथक् प्राणियों में अपरिच्छिन्न (व्यापक) रूप से स्थित मुझ भगवान् वासुदेव को यह समझ कर कि व्यापक से व्याप्य की पृथक् स्थिति प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार दोनों एक ही हैं, मुझमें और मुझसे व्याप्य प्राणि मात्र में अभेद मानता हुआ, और इस भांति एकत्व में स्थित जो मुझको भजता है, अर्थात् सब जगह मदात्मकत्व (भगवान् ही सबके आत्मा हैं) बुद्धि करता है वह योगी किसी भी प्रकार से रहता हुआ भी, अर्थात् ध्यान योग करता हुआ, कर्म

विष्णुपुराणे प्रह्लादेन "मय्यन्यत्र तथाशेषभूतेषु भुवनेषु च। तवैव व्याप्तिरैश्वर्यगुणसूचकी प्रभो!। सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थित" इति। स योगी सर्वथा वर्तमानोऽपि ध्यानयोगेन कर्मणा वा कर्मत्यागेन वा स्वेच्छया येन केन प्रकारेण वर्तमानोऽप्यखण्डेन मदनुभवेन मय्येव वर्तते, न मतो वियुज्यत इत्यर्थः।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

उक्तेभ्यः सर्वेभ्यः श्रेष्ठयोगिनमाह—आत्मौपम्येनेति। आत्मनः स्वस्योपमा तस्या भाव आत्मौपम्यं तेन स्वसादृश्येन सर्वत्र प्राणिमात्रे सुखं वा यदि वा दुखं समं तुल्यं यः पश्यति, स्वस्यानिष्टं यथा नेच्छति नोत्पादयति च तथा परस्याप्यनिष्टं नेच्छति नोत्पादयति च रागद्वेषाभावात्। स योगी आत्मज्ञः परम श्रेष्ठो मतः। अथवा आत्मन अन्येषां आत्मनां ज्ञानस्वरूपत्वेन च साम्यं भगवद्भावापत्तिरेव सर्वेषां परमपुरुषार्थ इत्यनाद्यज्ञानावृतज्ञानत्वेन सर्वे न जानन्ति, भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकीभूतपुण्यपापकर्मप्रवाहपतितत्वात्। तेषु कदाचिन्निर्हेतुककृपाकटाक्षविषयीभूतो यो जीवः स तु प्रवृत्तिमार्गे ग्लानिबुद्धिः सत्सङ्गपूर्वकसदाचार्योपसत्त्या तदुपदिष्टमोक्षसाधनक्रमेण शुद्धान्तःकरणः सन् ध्यानयोगे

को छोड़ता हुआ वा अपनी इच्छा से किसी प्रकार से वर्तता हुआ, मेरे अखण्ड अनुभव के द्वारा, मेरे ही में रहता है अर्थात् मुझसे उसका वियोग नहीं होता। सब जगह भगवान् की व्याप्ति के विषय में विष्णु पुराण में प्रह्लाद का यह वचन है :—

मय्यन्यत्र तथाशेषभूतेषु भुवनेषु च।
तवैव व्याप्तिरैश्वर्य्यगुणसूचकी प्रभो!॥
सर्वगतत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः॥

अर्थात् हे प्रभो! मुझ में तथा अन्यत्र सब जगत में और अशेष जीवों में ऐश्वर्य गुण प्रकट करने वाली आप ही की व्याप्ति है, क्योंकि आप अनन्त हैं और इसीसे सब जगह हैं, उन्हीं में मैं भी एक हूं ॥३१॥

अब ऊपर कहे हुये सब योगियों से श्रेष्ठ योगी को कहते हैं :—

हे अर्जुन! जो अपने समान सब प्राणियों में दुःख वा सुख को बराबर ही समझता है, अर्थात् जैसे अपने दुःख नहीं चाहता, न उत्पन्न करता, वैसे ही दूसरों को भी दुःख नहीं चाहता है, न पैदा करता, क्योंकि वह राग द्वेष से रहित है, वह योगी अर्थात् आत्मा को जानने वाला, परम श्रेष्ठ माना जाता है।

अथवा भगवत् प्राप्ति में रुकावट डालने वाले पुण्य पापरूपी प्रवाह में गिरने के कारण, अनादि अज्ञान से ज्ञान ढक जाने से सब कोई यह नहीं जानता कि मेरा और दूसरों का आत्मा ज्ञान स्वरूप और ब्रह्मात्मक होने से समान है, और भगवत् भाव की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। जिस पर बिना किसी कारण के भगवान् का कृपा कटाक्ष हो जाता है वह प्रवृत्ति मार्ग से उदास होकर सत्संग पूर्वक

प्रवृत्तस्तत्परिपाकलब्धात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानेन नष्टसञ्चितक्रियमाणकर्मा प्रारब्धमात्रं भुञ्जान इदं विचारयति, पुण्यपापकार्ययोः सुखदुःखयोरुभयोरपि भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकत्वं सुखभोगे पुण्यक्षयो दुःखभोगे पापक्षयो भवति। तथा स्तुतिनिन्दयोर्हर्षविषादद्वारेण पुण्यपापक्षयहेतुत्वं, तस्मान्मे स्तुतिनिन्दाकारिणो जना न मित्रशत्रुभावेन विषमा भवन्त्यपि तु पुण्यपापरूपसंसारबन्धक्षयहेतुत्वेन सर्वेऽपि हितकारिणः यथा पादशृङ्खलयोः काञ्चनायसयोर्बन्धने विशेषाभावात्ततो मोचकः सर्वेऽपि समा एवेति पश्यति, अत एव सर्वत्रात्मतुल्यत्वेन यथा मम सुख दुःखं पुण्यपापक्षयकरं तथा सर्वस्येति समं पश्यति।

अर्जुन उवाच।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन!।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

उक्तस्य समत्वदर्शनलक्षणस्य योगस्यासम्भावितत्वं मन्वानोऽर्जुन उवाच—योऽयं सर्वत्र समदर्शनरूपः परमो योगः साम्येन वैषम्यहेतुरागद्वेषादिनिराकरणेन त्वया सर्वज्ञेन गुरुणोक्तः, हे मधुसूदन दुर्जनविनाशेन सद्धर्मस्थापक! एतस्य त्वदुक्तस्य मनोनिरोधलक्षणस्य योगस्य स्थिरां स्थितिं दीर्घकालस्थायिनीं न पश्यामि, न सम्भावयामि। तत्र हेतुमाह चञ्चलत्वादिति मनस इति शेषः।

गुरु के समीप जाता है, और उनके उपदेश के अनुसार मोक्ष साधन क्रम से अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर ध्यान योग में प्रवृत्त होता है। उस ध्यान योग के परिपाक वा पूर्णता से आत्मा और परमात्मा का याथात्म्य ज्ञान प्राप्त कर, और उसके द्वारा संचित और क्रियमाण कर्मों को नष्ट कर, और प्रारब्ध को भोगता हुआ ऐसा विचार करता है कि पुण्य और पाप कर्मों के फल, सुख और दुःख, दोनों ही भगवान् की प्राप्ति में रुकावट डालने वाले हैं, क्योंकि सुख भोग से पुण्य का क्षय और दुःख भोग से पाप का क्षय होता है; और ये स्तुति तथा निन्दा, हर्ष तथा विषाद के कारण बन कर, पुण्य और पाप दोनों के नाशक हैं, इसलिये मेरी स्तुति और निन्दा करने वाले लोग, मित्र और शत्रु भाव से भिन्न भिन्न नहीं हैं, बल्कि पुण्य और पाप रूप संसार के बन्धन के नाशक होने से दोनों समान रूप से हितकारी हैं। जैसे पैरों की बेड़ी काटने वाले चाहे वह बेड़ी सोने की हो वा लोहे की, समान रूप से बन्धन से छुड़ाने वाले होते हैं। इसलिए सब के आत्मा को समान समझने के कारण जैसे मेरे सुख दुःख मेरे पाप पुण्य के क्षय करने वाले हैं वैसे ही सबों के सुख दुःख उनके पाप पुण्य के नाशक हैं, ऐसा जो योगी समझता है वह परम श्रेष्ठ है ॥३२॥

समत्व दर्शन लक्षण वाले योग को असम्भव मानते हुए अर्जुन बोले—

विषमता के हेतु, राग द्वेष को हटाकर समता के द्वारा प्राप्त सर्वत्र समदर्शन रूप यह योग, जिसको आपने, जो सर्वज्ञ मेरे गुरु हैं, कहा, वह, हे मधुसूदन! अर्थात् दुष्टों का नाशकर सद्धर्म के संस्थापक! मन के चञ्चल होने के कारण, बहुत दीर्घकाल तक ठहरने वाला नहीं दीखता। अर्थात् वह योग बहुत देर तक नहीं ठहर सकता, क्योंकि मन बड़ा चञ्चल है ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

उक्तं मनसश्चञ्चलत्वं सर्वजनप्रसिद्धमेवेति स्फुटयति चञ्चलमिति । चञ्चलं चपलस्वभावं मनः हि प्रसिद्धमेवैतत् । हे कृष्णेति सम्बोधनेन स्वभक्तपापकर्षकस्त्वं ममेदं प्राप्तं मनोनिग्रहरूपदुःखं निरासयेति सूचितम् । पुनः कीदृशं मनः प्रमाथि प्रमथनशीलं देहेन्द्रियाणां क्षोभकं, किञ्च बलवत् अभीष्टविषयाभिमुखं सत् ततो निवर्त्तयितुमशक्यम् । किञ्च दृढं विविधविषयवासनानुबद्धतया भेत्तुमशक्यम् । तथा च चञ्चलस्य प्रमाथिनो दृढतया बलवत्तरस्य मनसो निग्रहं दुष्करमहं मन्ये । यथाऽऽकाशे दीव्यमानस्य प्रबलस्य वायोर्घटादिषु निरोधनमशक्यं तथा मनसोऽपीत्यर्थः ।

श्रीभगवानुवाच ।
असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अथार्जुनवचनोक्तार्थाङ्गीकारपूर्वकं मनोनिग्रहोपायं श्रीभगवानुवाच—असंशयमिति । तत्र तावत्सामान्यजनेन यत्कर्त्तुमशक्यं तत् प्रयत्नवता पुरुषविशेषेण कर्त्तुं शक्यमित्यभिप्रायेण सम्बोधयति हे महाबाहो शत्रुनिग्रहणे महान्तौ बाहू यस्यैवम्भूतस्त्वं मनोरूपशत्रुनिग्रहे समर्थो भविष्यसीति भावः । हे कौन्तेय ! चञ्चलत्वादिना वायुवन्मनो दुर्निग्रहं दुःखेनापि गृहीतुमशक्यमिति यदुक्तवानसि तदसंशयं

मन की चञ्चलता सब मनुष्यों को मालूम है इसीको कहते हैं :—

मन चञ्चल स्वभाव वाला है यह सब को ही विदित है, हे कृष्ण ! कृष्ण सम्बोधन करने का यहाँ यह भाव है कि आप अपने भक्तों के पाप एवं दुःखों को खींचनेवाले हैं मेरे इस मन के अनिग्रहरूप दुःख को भी हटाइये । फिर मन कैसा है ? प्रमाथी है अर्थात् देह और इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला है, बलवाला है अर्थात् इच्छित विषय की ओर जब झुकता है तब उसका रोकना दुष्कर है; और दृढ़ है, अर्थात् विविध विषय वासनाओं से बँधे हुए होने के कारण, तोड़ा नहीं जा सकता । इसलिए ऐसे मन का निग्रह अर्थात् रोकना वैसा ही दुःष्कर है जैसे आकाश में बहती हुई प्रबल वायु को घड़े आदि में भर कर रोक रखना ॥३४॥

भगवान् अर्जुन के ऊपर कहे हुए वचन को अङ्गीकार करते हुए मन के निग्रह करने के उपाय बताते हैं :—

हे विशाल बाहु वाले अर्जुन ! (महाबाहो कहने का मतलब यह है कि जिस काम को साधारण मनुष्य नहीं कर सकता, उसको प्रयत्न करने वाला विशेष पुरुष कर सकता है और इसलिऐ तुम बड़े बाहु वाले होने से मनरूपी शत्रु को वश में करने में समर्थ होगे) चञ्चल, बलवान् दृढ़ इत्यादि होने के कारण मन, जैसा कि तुम कहते हो, वायु के समान कठिनता से वश आने वाला है; पर कायरता को छोड़ प्रयत्न के द्वारा उसको रोकना चाहिए । "तु" शब्द का मतलब यह है कि प्रयत्न में ढीलापन नहीं

नास्त्यत्र संशयस्तथाऽपि कातरतां विहाय प्रयत्नेन निग्राह्यमित्याह—अभ्यासेनेति । तुशब्दः प्रयत्नशैथिल्यव्यावृत्तिपरः । अभ्यासेन मनोवृत्तेः शनैः शनैर्विषयवैमुख्यकरणपूर्वकमात्माभिमुखीकरणमभ्यासस्तेन विषय-वैमुख्यकरणेऽपि हेतुः—वैराग्येण चेति । आत्मव्यतिरिक्तेषु विषयेषु दोषबुद्धयुत्पादनेन तदुपेक्षणं वैराग्यं, तेन च गृह्यते वशीक्रियते ।

असंयतात्मना योगो दुःप्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्यथाऽन्यस्य न योगप्राप्तिरित्याह—असंयतात्मनेति । असंयतो विषयेभ्यो न निगृहीत आत्मा मनो येन सः, असंयतात्मा तेन पुरुषेण योगः पूर्वोक्तयोगः समत्वदर्शनलक्षणो दुःप्रापः प्राप्तुमशक्य इति मे मतिर्मम सम्मतिः । वश्यात्मना तु, अभ्यासवैराग्याभ्यां वशत्वं प्रापित आत्मा मनो येन स वश्यात्मा तेन यतता प्रयत्नं कुर्वता उपायत उक्तोपायेन योगोऽवाप्तुं शक्यः ।

अर्जुन उवाच ।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥३७॥

एवं युञ्जन्नेवमित्यादिनाऽत्यन्तसुखानुभवरूपं सदा परमात्मदर्शनं च योगफलमभ्यासवैराग्याद्युपायेनैव तत्प्राप्तिं च भगवतः संश्रुत्य तच्चैवमेवेति निश्चित्य तल्लक्षणे योगे तदुपाये च श्रद्धया प्रवृत्तोऽपि शिथिलप्रयत्नश्चित्तस्याभ्यासाभावेन योगे न सिद्धचेत्ततः परागतिः कुतः स्यादिति सन्दिहानोऽर्जुन उवाच—अयतिरिति । यो मुमुक्षुः श्रद्धयोपेतः श्रद्धापूर्वकं योगे प्रवृत्तोऽपि अयतिरल्पयत्नः शिथिलप्रयत्न

करना चाहिए । हे कुन्ती के पुत्र ! मन की वृत्ति को धीरे २ विषय से फेर और आत्मा की ओर लगाने का अभ्यास करने से मन वश में हो जायगा । विषय से मन कैसे फिरेगा ? इसका उत्तर देते हैं । वैराग्य के द्वारा अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त और सब वस्तुओं में दोष बुद्धि पैदा कर, अर्थात् उनमें दोष समझ कर उनकी उपेक्षा करने से मन उनकी ओर से फिर जायगा ॥३५॥

योग दूसरे प्रकार से किसी को नहीं प्राप्त हो सकता, इसीको कहते हैं :—

जिसने विषय से अपने मन को नहीं रोका है वह पूर्व में कहा हुआ समत्वदर्शन लक्षण वाला योग नहीं प्राप्त कर सकता है यह मेरा विचार है । पर वह पुरुष जिसने अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अपने मन को वश में किया है, यत्न के द्वारा, ऊपर कहे हुए उपाय से, योग प्राप्त कर सकता है ॥३६॥

"युञ्जन्नेवं" इत्यादि श्लोकों से आपके द्वारा यह सुन कर कि अत्यन्त सुखानुभव रूप परमात्मा का दर्शन योग का फल है और अभ्यास और वैराग्य रूप उपाय के द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है और उसको वैसा ही निश्चय मान जो पुरुष उस योग और उसके उपाय में श्रद्धा के साथ लगता है, पर प्रयत्न की शिथिलता से अभ्यास का अभाव हो जाने के कारण यदि उसका योग नहीं सिद्ध हुआ तो उस पुरुष की परागति कैसे होगी ? ऐसा सन्देह करते हुए अर्जुन पूछते हैं :—

इत्यर्थः, तथा योगाच्चलितमानसः, अन्तकाले योगादात्मैकाग्र्याच्चलितं मानसं मनो यस्य विषयाभिमुखमना इत्यर्थः, स योगसंसिद्धिं योगस्य संसिद्धिं योगफलं सम्यगात्मदर्शनमप्राप्य हे कृष्ण ! कां गतिं गच्छति ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

एतत्प्रश्नाभिप्रायं स्वयमेव विवृणोति—कच्चिदिति । कां गतिं गच्छतीति कस्ते सन्देह इति चेच्छृणु, प्रथमं योगाय फलाभिसन्धिरहितकर्मानुष्ठानात्स्वर्गादिप्राप्तिसाधनभूतयथावद्यज्ञादिकर्मानुष्ठानाभावान्न स्वर्गादि किमपि फलं प्राप्नोति, अतोऽप्रतिष्ठो निराश्रयः ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढस्तत्साधनभूताद्योगाच्युतः एवमुभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टः कच्चिन्नश्यति । तत्र दृष्टान्तः—छिन्नाभ्रमिव । यथा वायुना छिन्नं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरं महान्तं मेघमप्राप्तमभ्रखण्डं मध्य एव विनश्यति, तथा योगभ्रष्टः पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्नमुत्तरं ज्ञानमार्गमप्राप्तः सन् कर्मफलं च प्राप्तुमयोग्यो विनश्यति किमिति संशयः ।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

उक्तसंशयच्छेदनाय भगवन्तं प्रार्थयते—एतदिति । हे कृष्ण स्वभक्तकश्मलनाशक ! एतन्मे

जो मोक्षार्थी श्रद्धा पूर्वक योग में प्रवृत्त होकर भी शिथिल प्रयत्न होने से अन्तकाल में योग से, अर्थात् आत्मा की एकाग्रता से हट जाता है और उसका मन विषय की ओर झुक जाता है वह योग की सिद्धि वा फल को अर्थात् आत्मदर्शन को प्राप्त न करके किस गति को पाता है ? ॥३७॥

अपने प्रश्न का मतलब अर्जुन स्वयं साफ कर कहते हैं । कौन गति होती है, इसमें जो मेरा सन्देह है, सो सुनिये :—

हे बड़े बाहु वाले भगवान् ! पहले तो उस पुरुष ने योग के निमित्त फल की इच्छा छोड़ निष्काम कर्म का अनुष्ठान किया और इसलिये स्वर्गादि प्राप्त कराने वाले, यज्ञादि कर्मों को नहीं किया और इस तरह स्वर्गादि फल से वंचित हुआ, अर्थात् वे उसे नहीं मिलेंगे । उधर से तो निराश हुआ ही और इधर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग, ज्ञान में भी मूढ़ ठहर गया, अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के साधनभूत योग से च्युत हो गया । अब यह दोनों ओर से अर्थात् कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग दोनों ही से भ्रष्ट हुआ । अब क्या इस पुरुष का बादल के टुकड़े के ऐसा नाश न हो जायगा अर्थात् जैसे पूर्व में किसी मेघ से बिछुड़ा हुआ बादल का टुकड़ा फिर किसी बड़े मेघ से मिलने के प्रथम ही आकाश में विलीन हो जाता है, वैसे ही क्या यह पुरुष भी पहिले कर्म मार्ग से बिछुड़, पीछे ज्ञान मार्ग को भी न प्राप्त कर और इस प्रकार दोनों के फल के पाने में अयोग्य होकर नष्ट न हो जायगा ॥३८॥

अपने संशय को दूर करने के लिये अर्जुन प्रार्थना करते हैं :—

संशयमशेषतस्त्वं छेत्तुमपनेतुमर्हसि । यतस्त्वदन्यः त्वत्तः परमेश्वरात्सर्वज्ञात्परमसुहृदोऽन्यः कश्चिदपि ऋषिर्वा देवो वाऽस्य संशयस्य छेत्ता सम्यगुत्तरदानेन नाशयिता न ह्युपपद्यते, न सम्भवति । जीवत्वेना-सर्वज्ञत्वादिति भावः ।

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥४०॥

एवमर्जुनस्य संशयनिरासाय प्रश्नस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच—पार्थेत्यादिभिः । हे पार्थ ! तस्य त्वदुक्तस्य त्यक्तस्वर्गादिसाधनकर्मणो यथाशक्त्याऽनभिसंहित फलकर्मानुष्ठातुर्योगे प्रवृत्तस्याभ्यासवैराग्य-शैथिल्याद्योगाद्भ्रष्टस्य मुमुक्षोरिह लोकेऽमुत्र परलोके वा विनाशो नैव विद्यते, सकामेतरजनवद्दुर्गतिर्न सम्भवति । यथा सकामस्य देवाद्याराधने प्रवृत्तस्य तत्कर्मफलमनवाप्यादावेव कर्मणो भ्रष्टस्येह लोकेऽपकीर्तिभोगानवाप्तेर्विनाशः । मृतस्य च परत्र पश्वादियोनिप्राप्तिरूपा दुर्गतिर्भवति, न तथाऽस्य योगिन इत्यर्थः । एतत्कुतस्तत्राह—न हीति हि यस्मात्कल्याणकृत् शुभाचरणः कश्चिदपि दुर्गतिमुक्तरूपां लोकद्वयहानिं न गच्छति । अयं तु शास्त्रविहितशुभकारी सर्वोत्कृष्टो न गच्छति । अयं तु शास्त्रविहित-शुभकारी सर्वोत्कृष्टो न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । तनोत्यात्मानमिति तत् स एव तातः पिता तद्रूपत्वात्पुत्रोऽपि तात उच्यते शिष्यस्य पुत्रस्थानीयत्वाभिप्रायेण तातेति सम्बोधनं कृपाविशेषद्योतनाय ।

हे कृष्ण ! अर्थात् भक्तों के पाप के नाशक । यही मेरा सन्देह है । इसको पूर्ण रीति से हटाने के आप योग्य हैं, क्योंकि आपको छोड़ इस संशय को दूर करने वाला दूसरा हो ही नहीं सकता, कारण कि आप परमेश्वर, सर्वज्ञ और परम सुहृत हैं । ऋषि, देवता आदि अन्य हमारे संशय को दूर नहीं कर सकते क्योंकि जीव होने के कारण वे सर्वज्ञ नहीं है ॥३९॥

अर्जुन के संशय को हटाने के लिये भगवान् उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

हे पार्थ ! उस मुमुक्षु पुरुष का, जिसके बारे में तुमने कहा है, और स्वर्गादि के साधन कर्मों को छोड़ यथा शक्ति निष्काम कर्मों का, अनुष्ठान करता है और योग में प्रवृत्त हो अभ्यास और वैराग्य की शिथिलता के कारण योग से भ्रष्ट हो जाता है, उस योगी का इस लोक में वा परलोक में विनाश नहीं होता । कामनावाले इतर पुरुषों की ऐसी उसकी दुर्गति संभव नहीं है । मतलब कि जैसे कामनायुक्त पुरुष, देवादि की आराधना में प्रवृत्त हो, उस कर्म के फल को नहीं पाने से कर्म भ्रष्ट होते हैं, और इस संसार में उनकी अपकीर्ति होती है, और कर्म फल भोग नहीं पाना उनका विनाश समझा जाता है तथा मरने पर भी ऐसे पुरुष पशु आदि योनि प्राप्ति रूप दुर्गति भोगते हैं, वैसी दुर्गति इस योगी की नहीं होती जिस योगी के बारे में तुम पूछ रहे हो । इसका कारण यह है कि शुभ आचरण करने वाले किसी भी पुरुष की ऊपर कही हुई दुर्गति रूप दोनों लोक की हानि नहीं होती । और यह योगी तो सबसे उत्कृष्ट है क्योंकि शास्त्र विहित शुभ कर्मों का कर्त्ता है इसलिए इस के दोनों लोक की हानि नहीं होगी, इसमें

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

यदि योगभ्रष्टो मृतो दुर्गतिं न गच्छति तर्हि कां गतिं गच्छतीत्यपेक्षायामाह—प्राप्येति । श्रद्धया योगे प्रवृत्तः केन चिददृष्टेन यादृशभोगाकाङ्क्षया योगाद्भ्रष्टो मृतो योगी सोऽल्पकालाभ्यस्तस्यापि योगस्य प्रभावात्पुण्यकृतामतिपुण्यकारिणां लोकान्प्राप्य तत्र तद्योग्यान्कल्याणतमान्भोगान्यथेष्टं भोक्तुं शाश्वतीः समाः बहून्सम्वत्सरानुषित्वा वासं कृत्वा तत्सुखभोगे तृप्तस्ततः शुचीनां सदाचारयुक्तानां श्रीमतां धनाढ्यानां गेहे जन्म प्राप्नोति ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

इयमुत्तमभोगाकाङ्क्षया योगभ्रष्टस्य गतिरुक्ता । इदानीं भोगानपेक्षकस्य बह्वभ्यस्तयोगस्य कथञ्चिद्भ्रंशे ततोऽप्यतिश्रेष्ठं जन्म भवतीति पक्षान्तरमाह—अथवेति । शास्त्रज्ञानदार्ढ्येन विषयभोग-वासनाशून्यो ज्ञानवैराग्यादिगुणाढ्यः कथञ्चिद्योगाभ्यासाच्चलितश्चेद्भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य योगिनां योगाभ्यासवतामेव प्रमादकारणधनहीनानामेव शुचीनां श्रीमतां ज्ञानिनां ब्राह्मणानां कुले भवति जायते । नतु श्रीमतां कर्मिणां ब्राह्मणानां राज्ञां वा कुले, यद्यपि शुचीनां श्रीमतां राज्ञां ब्राह्मणानां

पूछना क्या है ? तात पिता को कहते हैं । पिता रूप होने से पुत्र भी तात कहलाता है । शिष्य पुत्र स्थानीय है इसलिये अर्जुन पर कृपा विशेष दिखाने के लिये उसको यहाँ भगवान् ने 'तात' कह कर संबोधन किया है ॥४०॥

यदि योग भ्रष्ट पुरुष की मरने के बाद दुर्गति नहीं होती तो उसकी कौन सी गति होती है ? इसी का उत्तर देते हैं :—

श्रद्धायुक्त हो योग में प्रवृत्त, किसी अदृष्ट के फेर से भोग की अभिलाषा होने से उस योग से भ्रष्ट हुआ पुरुष मरने के बाद थोड़े ही समय तक के अभ्यास से किये हुए योग के प्रभाव से भी पुण्य करने वालों के लोक को प्राप्त करता है और अपने योग्य कल्याणतम भोगों को भोगने के लिए वहाँ बहुत वर्षों तक निवास कर और वहाँ के सुख भोग से तृप्त होने बाद सदाचार युक्त धनाढ्यों के घर में जन्म लेता है ॥४१॥

ऊपर के श्लोक में उत्तम भोग की आकांक्षा से भ्रष्ट हुए योगी की गति कही गयी। अब यह कहते हैं कि जो मनुष्य भोगों की नहीं इच्छा करता हुआ भी और योग का बहुत अभ्यास करके भी योग से थोड़ा भ्रष्ट हो जाता है तो उसको और भी श्रेष्ठ जन्म मिलता है ।

शास्त्र के ज्ञान की दृढ़ता से विषय भोग में वासना शून्य और ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से युक्त पुरुष, यदि योग के अभ्यास से कुछ विचलित हो जाय तो भोग की वासना से रहित होने के कारण पुण्य करने वालों के लोक को प्राप्त कर, वह धन से हीन, योगाभ्यासी और ज्ञानी, पवित्र ब्राह्मण के

वा कुलेऽपि जन्म दुर्लभं बहुसुकृतसाध्यत्वाज्ज्ञानमार्गाविरोधित्वाच्च, तथाऽपि सात्त्विकानां धनहीनानां ज्ञानिनां योगाभ्यासवतां ब्राह्मणानां कुले यज्जन्म एतद्धि लोके दुर्लभतरमतिशयेन दुष्प्रापं, सर्वप्रमाद-कारणशून्यत्वेन मोक्षान्तरङ्गत्वात् ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

उक्तस्य जन्मद्वयस्य दुर्लभत्वं यतस्तद्दर्शयति—तत्रेति । तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदैहिकं सुप्तप्रबुद्धवत्तमेवात्मपरमात्मध्यानविषयकबुद्धिसंयोगं लभते । ततस्तल्लाभानन्तरं भूयोऽधिक-संसिद्धौ यतते । यथा पुनरन्तरायहतो न भवति, तथा यत्नं कुरुते ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

ननु योगिनां कुले जातस्य भोगस्यव्यवधानाभावाद्भवतु सुप्तप्रबुद्धवत् झटिति योगे प्रवृत्तिः । श्रीमतां गृहे जातस्य तु बहुभोगजन्यप्रमादसम्भवात्कथं पौर्वदैहिकबुद्धियोगलाभेन योगे प्रवृत्तिरिति चेत्तत्राह—पूर्वाभ्यासेनेति । पूर्वजन्मनि कृतोऽभ्यासः पूर्वाभ्यासस्तज्जन्यसंस्कारेण स योगभ्रष्टोऽवशोऽपि बहुकाल-भोगान्तरायात्स्वयमनिच्छन्नपि ह्रियते, बलात्कारेण स्ववशीक्रियते । भोगवासनाया निवर्त्य योग एव

कुल में जन्म लेता है; धन से युक्त, कर्म योग में प्रवृत्त, ब्राह्मणों और राजाओं के कुल में नहीं । यद्यपि पवित्र धनिक राजाओं वा ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेना भी दुर्लभ ही है, क्योंकि ऐसा जन्म बड़े पुण्य के फल से ही होता है जो ज्ञान मार्ग का विरोधी नहीं है, तथापि सात्त्विक, धन हीन, योगाभ्यासी और ज्ञानी ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेना इस संसार में बड़ा ही दुष्प्राप्य है कारण कि ऐसे कुल में प्रमाद के कारण विद्यमान नहीं रहते हैं, इस लिए ऐसे कुल में जन्म मोक्ष का अन्तरङ्ग अर्थात् समीपी होता है ॥४२॥

दोनों प्रकार के जन्म दुर्लभ क्यों हैं उसको कहते हैं :—

दोनों प्रकार के जन्म लेने पर, पूर्व देह में स्थित, आत्म परमात्म ध्यान विषयक बुद्धि को, सोकर जगे हुए की भाँति, वह प्राप्त करता है । फिर वह उससे अधिक सिद्धि वा प्राप्ति के लिये यत्न करता है । जिसमें फिर कोई अन्तराय वा बखेड़ा न खड़ा हो, ऐसा उपाय वह करता है ॥४३॥

मान लिया कि जिसका योगियों के कुल में जन्म हुआ है वह योग के बाधक रूप भोगों के नहीं रहने के कारण, झट से सोकर जगे हुये की भाँति योग में प्रवृत्त हो जाता है; पर जिनका जन्म धनवानों के कुल में होता है, उन को तो बहुत भोग से उत्पन्न प्रमाद होना संभव है, वे कैसे पूर्व देह में स्थित बुद्धि योग की प्राप्ति के द्वारा योग में प्रवृत्त हो सकते हैं ? इस शंका का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं ।

पूर्व जन्म में किये गये अभ्यास के संस्कार से योग भ्रष्ट पुरुष बहुत काल तक भोगरूपी रुकावट पड़ने से योग की इच्छा न करता हुआ भी उसकी ओर बलात्कार खींचा जाता है, अर्थात् भोग वासना

प्रवर्त्यते । अतो योगस्य जिज्ञासुरपि योगस्वरूपं ज्ञातुमिच्छुरपि ननु प्राप्तयोगः, तथाभूतोऽपि प्राग्जन्मार्जितयोगस्योद्बुद्धज्ञानसंस्कारादिह जन्मनि शब्दब्रह्मातिवर्त्तते, कर्मप्रतिपादकवेदपूर्वभागमतिवर्त्तते वेदोक्तकर्मफलमतिक्रम्य वर्त्तते । कर्माधिकारमुपेक्ष्य ज्ञानाधिकार एव निष्ठां करोतीत्यर्थः ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

किं तर्हि कर्मप्रतिपादकवेदातिवर्त्तनात्तस्मिन्नेव जन्मनि सिद्धयोगी भूत्वा मुच्यते जन्मान्तरे वेत्यपेक्षायामाह—प्रयत्नादिति । पूर्वमभ्यासवैराग्यशैथिल्याद्योगभ्रंशात्पुनर्जन्मजातमिदानीं पुनर्जन्म यथा न स्यात्तथा यतितव्यमिति व्यवसायं कृत्वा प्रयत्नात्पूर्वकृतयत्नादपि प्रकर्षेणाधिकं यतमानोऽतिप्रयत्नं कुर्वन् योगी पूर्वाभ्यस्तयोगसंस्कारवान् तेनैव योगे प्रयत्नविशेषजन्यपावनत्वेन संशुद्धकिल्बिषः सम्यक् शुद्धानि धौतानि किल्बिषाणि योगप्रतिबन्धकान्यनेकजन्ममलानि यस्य सः, अत एवानेकैर्जन्मभिः कृतयोगाभ्यासाच्चरमजन्मनि संसिद्धः सम्यक् सिद्धध्यानसम्पन्नः, ततस्तदनन्तरमेव परां गतिं मुक्तिरूपामुत्कृष्टां गतिं फलं याति, प्राप्नोति ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥४६॥

अतः सर्वसाधनेभ्यो योग एवाधिकतरः श्रेयोऽर्थिनोपादेय इत्याह—तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः

से निवृत्त हो योग में प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये योग के स्वरूप के जानने की इच्छा करने वाला भी पूर्व जन्म में अर्जित योग के जगे हुये ज्ञान के संस्कार से इस जन्म में शब्द ब्रह्म से, अर्थात् कर्म के प्रतिपादक वेद के पूर्व भाग से अलग हो जाता है, अर्थात् वेद से कहे गये कर्म के फलों को त्याग देता है। कहने का मतलब कि कर्माधिकार की उपेक्षा कर ज्ञानाधिकार में निष्ठा करता है ॥४४॥

ऐसा योगी कर्म प्रतिपादक वेद के पूर्व भाग को पार कर उसी जन्म में योग की सिद्धि प्राप्त कर मुक्त हो जाता है वा दूसरे जन्म में ? इसी प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं।

यह योगी पूर्व में अभ्यास और वैराग्य की शिथिलता से योग भ्रष्ट हुआ और उसको फिर जन्म लेना पड़ा। अब फिर जिसमें जन्म लेना न पड़े वैसा उद्योग करना चाहिये, ऐसा दृढ़ निश्चय कर पूर्व में किये हुये यत्न से भी बहुत अधिक यत्न करता हुआ यह योगी, पूर्व में अभ्यस्त योग के संस्कार के कारण प्रयत्न विशेष करने से, अनेक जन्मों के योग के प्रतिबन्धक मलों से रहित हो जाता है और इसलिए अनेक जन्मों के योगाभ्यास के बाद आखिरी जन्म में पूर्ण रूप से ध्यान की सिद्धि लाभ कर, मुक्ति रूप श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है ॥४५॥

कल्याण के चाहने वालों के लिये सबसे अधिक उपयोगी योग ही है, इसीको कहते हैं।

कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव पुरुषार्थसाधनं विद्यते येषां ते तथा तेभ्यो योगी अधिकः श्रेष्ठः, ज्ञानं शास्त्रजन्यं परोक्षं तद्वद्भ्योऽपि योगी अधिको मतः। कर्मिभ्यः अग्निहोत्रादिकर्मकर्तृभ्यश्च योगी अधिको मतस्तस्मात्त्वं योगी भव हे अर्जुन !।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

तपस्व्यादिभ्यो योगिनः श्रेष्ठत्वमुक्त्वेदानीं सर्वयोगिभ्य उत्कृष्टं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति—योगिनामिति। तपस्विकर्मादिभ्यो योगी श्रेष्ठः, योगिनामपि आत्मसमाधिपराणां हिरण्यगर्भरुद्रेन्द्रादित्याद्याराधनलक्षणयोगवतां च सर्वेषामपि मध्ये जन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यसञ्चयलब्धसद्गुरूपदेशजनितसर्वज्ञसर्वशक्तिसर्वकारणसर्वकर्मफलप्रदातृेश्वरपरमात्मपुरुषोत्तमादिशब्दाभिधेयमद्वितीयदेवफलसाधनादिष्वतिफल्गुबुद्धिपूर्वकानन्यत्वभावनया मयि परमानन्दघने भगवति वासुदेवे निरतिशयप्रीतिवशाद्गतेन निविष्टेनान्तरात्मना चित्तेन श्रद्धावान् गुरुशास्त्रोक्तः सर्वाभीष्टप्रदोऽयमेवेति सर्वात्मना मया भजनीय इति विश्वासवान् यो मामीश्वरेश्वरं ज्ञानबलशक्त्यादिवात्सल्यकारुण्यदयाद्यनन्तकल्याणगुणाब्धिं सर्वशरण्यं प्रणतार्तिहरं स्वभक्तकामपूर्त्यर्थमेव यदुकुलेऽवतीर्णं वसुदेवसूनुं भजते, अर्चनवन्दनध्यानादिना सततं सेवते स मे युक्ततमः, सर्वेभ्यो युक्तेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्ततमोऽत्यर्थं समाहितचित्तः श्रेष्ठतमः मे मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतः निश्चितः। अतस्त्वमपि मदनन्यभक्तो भवेति भावः।

कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपरूपी पुरुषार्थ के साधन करने वाले तपस्वियों से यह योगी श्रेष्ठ है। शास्त्र जन्य परोक्ष ज्ञान वालों से भी यह योगी श्रेष्ठ माना जाता है। अग्निहोत्र आदि कर्म को करने वालों से भी यह योगी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन ! तुम भी ऐसे ध्यान सम्पन्न योगी होओ ॥४६॥

तपस्वी आदि से योगी श्रेष्ठ है, ऐसा कह अब सब योगियों में उत्कृष्ट योगी का वर्णन करते हुये अध्याय को समाप्त करते हैं।

तपस्वी और कर्मी आदि से योगी श्रेष्ठ है। आत्म समाधि में निरत योगी हिरण्यगर्भ, अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि की पूजा रूप लक्षण योग वाले योगी से श्रेष्ठ है, और सब प्रकार के समाहित चित्त वाले योगियों से वह योगी श्रेष्ठ है जो सहस्रों जन्म के अर्जित पुण्य संचय के प्रताप से प्राप्त, सद्गुरु के उपदेश से उत्पन्न, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, सर्व कर्मफल के देने वाले, ईश्वर, परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि नामों से पुकारे जाने वाले, परमानन्दघन मुझ वासुदेव में, मेरे अतिरिक्त और देवताओं के फल साधन में तुच्छ बुद्धि पूर्वक, अनन्त भावना से निरतिशय प्रीति के कारण अपने चित्त को निवेशित करके, गुरु तथा शास्त्र के वचन से भगवान् ही सब अभीष्ट के देने वाले हैं और वे ही सेवनीय हैं, ऐसा विश्वास करता हुआ, मुझ वासुदेव को, जो ईश्वरों का ईश्वर हूं, ज्ञान, बल, शक्ति आदि, वात्सल्य, कारुण्य, दया आदि, अनन्त कल्याण गुणों का समुद्र हूं, सबका शरण्य हूं, प्रणत पुरुष के दुःख का हरने वाला हूं और अपने भक्तों की कामना की पूर्ति ही के लिये यदुकुल में अवतार लिये

तदेवं भगवत्प्राप्त्यन्तरङ्गोपायभगवदनन्यभक्तस्वरूपयुक्ततमत्वलाभाय त्वम्पदार्थभूतप्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपज्ञानं तदङ्गभूतनिष्कामकर्मप्रकारभेदवैराग्येन्द्रियमनोनिग्रहपूर्वकध्यानयोगाभ्यासोपदेशेनाध्यायषट्कं समापितम् ।

कर्मोपशमवैराग्यपूर्वकं योगमुक्तवान् ।
अध्याये भगवानस्मिन्परमागतिसाधनम् ॥१॥
त्वम्पदार्थो भगवता साधनक्रमयोगतः ।
अस्मिन्नध्यायषट्के वै भक्तोत्कर्षश्च वर्णितः ॥२॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्गिजयि श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

॥ इति प्रथमषट्कम् ॥

हुआ है, भजता है, अर्थात् अर्चन, वन्दन, ध्यान आदि से मेरी ही सेवा करता है। इसलिये तुम भी मेरा अनन्य भक्त होवो ॥४७॥

इस प्रकार भगवत्प्राप्ति के अन्तरङ्ग उपाय, भगवान् में अनन्य भक्तिरूप पूरी योग्यता प्राप्त करने के लिये, त्वं पदार्थभूत, प्रकृति से पृथक्, आत्म स्वरूप का ज्ञान, और अंगभूत नाना प्रकार के निष्काम कर्म, वैराग्य, इन्द्रिय, मन निग्रह पूर्वक ध्यान योग के अभ्यास के उपदेश पूर्वक पहला षट्क छः अध्याय समाप्त हुए।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।
मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

सर्वेश्वरं हरिं कृष्णं भक्तिगम्यं परात्परम् ।
वन्दे भक्तिप्रदं नित्यं मायाध्वान्तनिवारकम् ॥१॥

तदेवं मुमुक्षूणां भगवद्भावापत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थं तत्प्राप्त्युपायभूतं तदनन्यभक्तियोगं च वक्तुं तत्साधनभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनस्तत्पदार्थस्य ज्ञानं निष्कामकर्मोपशमवैराग्ययोगादिसाधनैः प्रथमेनाध्यायषट्केन निरूपितम् । इदानीं भगवद्भक्तियोगं भजनीयं गुणशक्त्यैश्वर्यादिविशिष्टं तत्पदार्थं परब्रह्मभूतवासुदेवस्वरूपं च भक्तभेदांश्च तत्प्रतियोग्यभक्तभेदांश्च निरूपयितुं मध्यमषट्कमारभ्यते । तत्रापि भजनीयस्वरूपं भक्तांश्च निरूपयितुं सप्तमाध्यायारम्भः । तत्र तावत्पूर्वाध्यायान्ते "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः" इत्युक्तम्, तत्र कीदृशं ते स्वरूपं कथं च भक्तस्त्वां ज्ञात्वा त्वद्गतान्तरात्मा भूत्वा त्वां भजेदिति प्रष्टव्यं, तदर्जुनेनापृष्टमपि स्वयमेव कृपया

मोक्षार्थियों के भगवद्भावापत्तिलक्षण परम पुरुषार्थ या मोक्ष और उसकी प्राप्ति के उपायभूत अनन्य भक्ति योग के विषय में कहने के लिये प्रथम षटक् में भगवान् ने अनन्य भक्ति योग के साधनभूत प्रत्यगात्मा अर्थात् त्वं पदार्थ के ज्ञान को, निष्काम कर्म, निवृत्ति, वैराग्य योगादि साधनों से निरूपित किया । अब इस बीच के षटक् में भगवद्भक्ति योग, गुण शक्ति ऐश्वर्यादिकों से युक्त, तत् पदार्थ, परब्रह्मभूत, भजनीय वासुदेव के स्वरूप को और भक्तों और अभक्तों के भेद को कहेंगे । इस सातवें अध्याय में भजनीय भगवान् का और भक्तों का निरूपण करते हैं ।

पीछे के अध्याय में भगवान् ने यह कहा :—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

अब अर्जुन यहां पूछ सकते हैं कि—आपका स्वरूप कैसा है ? आप को जान कर और आप में

निरूपयितुं श्रीभगवानुवाच :—मय्यासक्तमना इति । मयि दोषगन्धास्पृष्टमहिम्नि अनन्तकल्याणगुण-शक्त्यैश्वर्याश्रये भगवति वासुदेवे आसक्तं दृढं निबद्धं मनो येन स मय्यासक्तमनाः, पार्थेति सम्बोधनेन पृथाया मद्भक्तायाः पितृस्वसुः पुत्रस्त्वं मेऽनुग्राह्योऽसीति सूचितं, योगं युञ्जन्मनः समाधानं कुर्वन् मदाश्रयः अहमेवेश्वरेश्वर आश्रयो न तु देवमनुष्याद्यन्यः कश्चित्कस्मैचिदर्थाय समाश्रयणीयो यस्य स त्वमेवम्भूतः सन्नसंशयं निःसंशयं यथा स्यात्तथा समग्रं समस्तविभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिसहितं मां यथा ज्ञास्यसि, येन ज्ञानेन ज्ञास्यसि तज्ज्ञानं मयोच्यमानं शृणु ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

तदेव ज्ञानं श्रोतारमभिमुखीकरणाय स्तौति—ज्ञानमिति । इदं ज्ञानं शास्त्रीयं सविज्ञानं विज्ञानं स्वानुभवस्तत्सहितमशेषतस्ते तुभ्यमहं वक्ष्यामि । न हीदं साकाङ्क्षमित्याह—यज्ज्ञानं ज्ञात्वा इह श्रेयोमार्गे स्थितस्य मुमुक्षोर्ज्ञातव्यं नावशिष्यते, ज्ञातव्यान्तरनिरपेक्षमित्यर्थः ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

वक्ष्यमाणं ज्ञानमतिदुर्लभमित्याह—मनुष्याणामिति । मनुष्याः शास्त्रीयाधिकारयोग्यास्तेषां सहस्रेषु कश्चिदेकः सिद्धये आत्मतत्त्वज्ञानाय यतते । यततां यतमानानां सहस्रेषु कश्चिदात्मानं यथा-

---

ही अपने अन्तरात्मा को निवेशित कर भक्त किस प्रकार आपका भजन करे ? पर बिना अर्जुन के पूछे ही भगवान् कृपा कर इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं :—

हे पार्थ, (अर्जुन को यहाँ पार्थ सम्बोधन कर भगवान् ने यह सूचित किया कि मेरे पिता की बहिन पृथा के तुम लड़के हो, और दोष के गन्ध मात्र से रहित, महिमा युक्त और अनन्त कल्याण गुण, शक्ति और ऐश्वर्य के आश्रय युक्त मुझ वासुदेव भगवान् में दृढ़ रूप से मन लगाने वाले हो) इसलिये मेरा अनुग्रह तुम पर होना उचित है । तुम अपने मन को समाधान करते हुए और मुझको ही अपना आश्रय समझ कर अर्थात् यह जान कर कि ईश्वरों के ईश्वर भगवान् ही मेरे आश्रय हैं और इनसे अन्य कोई देवता मनुष्य आदि किसी भी प्रयोजन के लिये मुझे आश्रयणीय नहीं है, ऐसे मुझ को, निःसंशय और समस्त विभूति, बल, शक्ति, ऐश्वर्य आदि के साथ जिस ज्ञान से जानोगे, उसको सुनो। अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मेरे स्वरूपादि का ज्ञान प्राप्त करोगे वह मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥१॥

अर्जुन को इस ज्ञान की ओर अभिमुख करने के लिये उस (ज्ञान) की प्रशंसा करते हैं :—

इस समग्र शास्त्रीय ज्ञान को, विज्ञान, अर्थात् अपने अनुभव के साथ मैं तुमसे कहूँगा । जिस ज्ञान को जान कर श्रेय मार्ग में स्थित मोक्षार्थी को और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता, अर्थात् इस ज्ञान को जान कर और किसी जानने योग्य बात की उपेक्षा नहीं रह जाती ॥२॥

अब यह कहते हैं कि जो ज्ञान हम कहेंगे वह बड़ा दुर्लभ है । शास्त्रीय अधिकार के योग्य

वेद्वेत्ति। तादृशानां ज्ञानसिद्धानामपि सहस्रेषु कश्चिन्मां परमात्मानं वेत्ति। मद्विदामपि सहस्रेषु कश्चिदेव मां तत्त्वतः यथाऽवस्थितस्वरूपं वेत्ति। पराभक्तिं विना तत्त्वतो ज्ञानासम्भवात्। "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः" इति वक्ष्यमाणत्वात्।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

समग्रं मां यथा ज्ञास्यसीति पूर्वमुक्तं, तदेव वक्तुं तावत्प्रकृतिशब्दवाच्यपरापरशक्तिद्वयस्वरूपमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम्। भूम्यादिपञ्चशब्दैस्तत्कारणभूतानि गन्धादिपञ्चतन्मात्राणि। गृह्यन्ते, न स्थूलभूतानि। तेषां विकारत्वेन प्रकृतित्वाभावात्। मनःशब्देन तत्कारणभूताहङ्कारो गृह्यते। बुद्धिशब्देन समष्टिबुद्धिर्महत्तत्त्वं गृह्यते। अहङ्कारशब्देन तत्कारणं माया। इत्येवमष्टधा भिन्नेयमाकाशादिपञ्चमहाभूतदशेन्द्रियमन इति षोडशविकारादिचराचरस्य जगतः प्रकृतिरुपादानभूता मे मदीया शक्तिरिति विद्धि।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥५॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि अर्थात् आत्म तत्त्व ज्ञान के लिये यत्न करता है। ऐसे सहस्रों यत्न करने वालों में किसी एक को आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे सहस्रों ज्ञान सिद्ध अर्थात् आत्म तत्त्व को यथार्थ जानने वाले मनुष्यों में से कोई एक मुझ परमात्मा को जानता है। मुझको जानने वाले सहस्रों में से कोई एक मेरे यथार्थ स्वरूप को जानता है। कारण कि बिना मेरी पराभक्ति के मेरा यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता, अर्थात् वास्तव में मैं जैसा हूँ वैसे मेरे स्वरूप को भक्ति से ही जान सकता है। जैसा कि भगवान् आगे कहेंगे। यथा :—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।" ॥३॥

पूर्व में मैंने यह कहा कि जिस प्रकार तुम मुझको सम्पूर्ण रूप से जानोगे, वह मैं तुमसे कहूँगा। अब उसी को कहने के अभिप्राय से प्रकृति शब्द से वाच्य, परा और अपरा नाम की अपनी दो शक्तियों के स्वरूप को दो श्लोकों से पहिले कहता हूँ।

भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश से उनके कारणभूत गन्धादि पाँच तन्मात्राओं को ग्रहण करना चाहिए, स्थूलाकार भूमि जल आदि को नहीं, क्योंकि ये तन्मात्राओं के विकार होने से प्रकृति नहीं कहे जा सकते, अर्थात् इन स्थूल रूप जल आदि में प्रकृतित्व का अभाव है। मन शब्द का यहाँ अर्थ है मन का कारण भूत अहङ्कार। बुद्धि शब्द से समष्टि बुद्धि, जो महत्तत्त्व है, उसको ग्रहण करना चाहिये और अङ्कार शब्द का अर्थ है माया, जो अहङ्कार का कारण है। इस भाँति मेरी प्रकृति आठ प्रकार से विभाजित है। अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ और सोलहवाँ मन, इन विकारों से युक्त, चर और अचर जगत की उपादानभूत, प्रकृति मेरी शक्ति है, ऐसा तुम जानो ॥४॥

अष्टधा या प्रोक्ता प्रकृतिः सेयमपराः निकृष्टा जगत्वात्तदर्थत्वाच्च। इतस्त्वचेतनभूतायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणां स्वरूपतः स्वभावतश्चात्यन्तविजातीयां परां तस्याः भोक्तृतया प्रकृष्टां जीवभूतां चेतनां प्रकृतिं शक्तिं मे मदीयां मदात्मिकां विद्धि। यया जीवभूतया चेतनया क्षेत्रज्ञाख्ययाऽनादिकर्मवशादन्तःप्रविष्टया इदं शरीरादिरूपं क्षेत्रसञ्ज्ञकं जडजातं जगद्धार्य्यते। उभयोर्विष्णुशक्तित्वं विष्णुपुराणे स्पष्टमुक्तम् "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरे"ति।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

स्वकीयप्रकृतिद्वयकार्यत्वात्सर्वं जगतः स्वकार्यत्वमाह एतदिति। एते जडचेतने क्षेत्रक्षेत्रज्ञसञ्ज्ञके प्रकृती योनी कारणभूते येषां तान्येतद्योनीनि चराचराणि सर्वाणि भूतानि प्राणवन्ति शरीराणि इत्युपधारय, जानीहि। तत्राचेतनप्रकृतिः स्वरूपपरिणामेन चेतनरूपा तु स्वकर्मणा निमित्तेन तेषु प्रविश्य भोक्तृत्वेनाधारत्वेन च योनिः। न हि जीवं विना देहानां स्थितिर्वृद्धिश्च सम्भवति, ते च मदीये शक्तिरूपे, शक्तेः शक्तिमतः पृथक् स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वात् मदधीने, शक्तिकार्यं शक्तिमत्येव पर्य्यवस्यति।

आठ प्रकार की प्रकृति जो मैंने कही, वह जड़ और दूसरे के अर्थ में आने वाली होने के कारण, निकृष्ट है। इस अचेतनभूत प्रकृति से बिलकुल विलक्षण अर्थात् स्वरूप तथा स्वभाव से अत्यन्त विजातीय मेरी परा प्रकृति, भोक्ता होने के कारण, मेरी श्रेष्ठ प्रकृति है। वह जीवभूत अर्थात् चेतन स्वरूप है। इस प्रकृति को मेरी वा मदात्मिका शक्ति जानो। इसी जीवभूत, चेतन स्वरूप, क्षेत्रज्ञ नाम वाली और अनादि कर्म के वश भीतर पैठी हुई, शक्ति से ही शरीरादिरूपी क्षेत्र नाम वाला जड़मय जगत् धारण किया जाता है। दोनों ही को विष्णु की शक्ति होने की बात स्पष्ट रूप से विष्णु पुराण में वर्णित है। यथा :—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।

अर्थात् विष्णु की दो शक्तियां कही गयी हैं, क्षेत्रज्ञ नाम की परा शक्ति और दूसरी अपरा शक्ति ॥५॥

सम्पूर्ण जगत् भगवान् की ऊपर कही गयी दोनों प्रकृतियों का कार्य है इसलिये समूचे जगत् को उन्हीं भगवान् का कार्य समझना चाहिए। इसीको यहाँ कहते हैं :—

सब चर और अचर तथा प्राण वाले शरीर इन्हीं जड़ और चेतन, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नाम वाली दोनों प्रकृति से उत्पन्न हैं, ऐसा तुम जानो, अर्थात् दोनों प्रकृतियाँ ही सब भूतों के कारण हैं। इनमें अचेतन प्रकृति स्वरूप परिणाम द्वारा और चेतन प्रकृति अपने कर्म के वश होने के कारण, उनमें (भूतों में) प्रवेश कर, उनका भोक्ता और आधार होने से उनकी योनि वा कारणभूत है, क्योंकि, जीव के बिना देह की स्थिति वा वृद्धि नहीं हो सकती।

ये दोनों प्रकृतियां मेरी शक्ति हैं और शक्ति की स्थिति और प्रवृत्ति शक्तिमान वा शक्ति वाले

अतोऽहमेव कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः, प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः परमकारणमित्यर्थः । तथा प्रलयः प्रलीयते-अस्मिन्ननेनेति वा प्रलयः संहारस्थानं, संहारको वा कर्त्ता संहर्त्ता चाहमेवेत्यर्थः ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

सर्वजगद्योनिभूतप्रकृतिद्वयाधिष्ठातृत्वादात्मनः सर्वोत्तमत्वं सर्वाधारत्वं चाह—मत्त इति । यतः सर्वजगद्योनी भूते चेतनाचेतने मदाश्रये, तस्मान्मत्तः सर्वेश्वरात्परतरं श्रेष्ठं जगत्कारणभूतं स्वतन्त्रं किञ्चिदपि वस्तु नास्ति हे धनञ्जय ! "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । स कारणं कारणाधिपाधिपः, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, स विश्वकृद्विश्वकृदात्मयोनिः, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश" इत्यादिश्रुतिभ्यः "कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरमि"ति स्मृतेश्च । सर्वस्याश्रयोऽप्यहमेवेत्याह—मयीति । सर्वमिदं चिज्जडजातं जगत् सर्वस्यात्मतयाऽवस्थिते मयि प्रोतमाश्रितम् । तत्र

से पृथक् नहीं हो सकती । इसलिये ये शक्तियां मेरे अधीन हैं । शक्ति के कार्य शक्तिमान ही के कारण पूर्ण होते हैं । इसलिये मैं समूचे जगत् का परम कारण हूँ, और प्रलय भी हूं । अर्थात् मुझमें ही वा मुझसे ही जगत् का प्रलय होता है । कहने का तात्पर्य यह कि यह जगत् मेरी शक्ति परा और अपरा प्रकृति से उत्पन्न है, इसलिए इस जगत् का परम कारण वा कर्त्ता और संहारक मैं ही हूँ ॥६॥

सब जगत् के योनिभूत, दोनों प्रकृति के अधिष्ठाता होने के कारण अब यहाँ भगवान् अपनी सर्वोत्तमता और सबका आधार होना बताते हैं :—

हे अर्जुन ! सब जगत् की योनि, चेतन और अचेतन प्रकृति, मेरे ही आश्रित है, इसलिये मुझ सर्वेश्वर से श्रेष्ठ जगत् में कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् हमसे परे जगत् का कारणभूत और स्वतन्त्र कुछ नहीं है । श्रुति और स्मृति भी इस बात की पुष्टि करती है । यथाः—श्रुतिः—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च-दृश्यते" । "स कारणं कारणाधिपाधिपः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" । "स विश्वकृत् विश्वकृदात्मयोनिः", प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, इत्यादि" । (अर्थात्—उन (भगवान्) के समान वा उनसे अधिक कोई नहीं देखा जाता । वे कारणाधिपाधिपों के भी कारण हैं । सब कोई उनके वश में है । सबके वे मालिक हैं । विश्व के स्वयं कर्त्ता और अपना स्वयं कारण हैं । प्रकृति और क्षेत्रज्ञ वा जीव के पति और गुणों के स्वामी हैं ।)

स्मृति :—"कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ॥"

अर्थात्, इस जगत् के कृष्ण ही कर्त्ता और संहर्त्ता हैं । यह चराचर जगत् उन्हीं का बनाया हुआ है ।

अब भगवान् कहते हैं कि सबका आश्रय भी मैं ही हूँ । यह समूचा चेतन और जड़ जगत् मुझ में ही स्थित है क्योंकि मैं सबका आत्मा हूँ । इसको उदाहरण द्वारा समझाते हैं । जैसे मणियों की

दृष्टान्तः—सूत्रे मणिगणा इवेति । यथा मणीनां स्थितिप्रवृत्ती सूत्राधीने तथा सर्वस्य स्थितिप्रवृत्ती मदधीने । "यच्चकिञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित"इति श्रुतेः । "बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या । चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितमि"ति स्मृतेश्च ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

एवं सर्वात्मत्वादात्मनः सर्वरूपतां दर्शयितुं सर्ववस्तुसाररूपतामाह—रसोऽहमित्यादिपञ्चभिः । हे कौन्तेय ! अप्सु सारभूतो रसो रसतन्मात्रारूपेणात्मानमयोऽहं स्थितः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभाऽहमस्मि, तयोः प्रकाशरूपेण स्थितः । सर्ववेदेषु वैखरीरूपेणाविर्भूतेषु तन्मूलभूतः प्रणव ओंकारोऽहमस्मि । नृषु पुरुषेषु पौरुषं पुरुषसारभूतं यतः पुरुषत्वख्यातिः सोऽहमित्यर्थः ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पुण्यः सुरभिरविकृतो गन्धः सर्वपृथिव्याः सारभूतो गन्धतन्मात्रारूपः पृथिव्यां व्याप्तोऽहं, चकारोऽवादिषु पुण्यरसादिसमुच्चयार्थः किञ्च विभावसौ वह्नौ यत्तेजः स्वाभाविकसर्वदहनप्रकाशन-

---

स्थिति और प्रवृत्ति सूत्र वा डोरे के अधीन है उसी प्रकार सब जगत् की भी स्थिति और प्रवृत्ति मेरे ही अधीन है। इसमें श्रुति और स्मृति के वचन प्रमाण हैं।

श्रुति :—"यच्चकिञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपिवा ।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः ॥"

अर्थात् इस जगत् में जो कुछ देखा वा सुना जाता है उन सबों में बाहर और भीतर से व्याप्त हो करके नारायण विराजमान हैं।

स्मृति :—"बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥"

अर्थात् बुद्धि, मन, महत्, तत्त्व, वायु, अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और चारों प्रकार के जीव, (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, योनिज ये चार प्रकार के जीव हैं) सभी कृष्ण में प्रतिष्ठित हैं ॥७॥

सबकी आत्मा होने के कारण भगवान् सर्वरूप हैं। अब अपनी सर्वरूपता दिखाने के लिये, वे यहाँ यह कहते हैं कि सब वस्तुओं का साररूप मैं हूँ।

हे अर्जुन ! जल के सारभूत रस का आश्रय रसतन्मात्रा रूप से मैं हूँ। फिर सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा मैं हूँ अर्थात् प्रकाश रूप से उनमें मैं स्थित हूँ। संस्कृत रूप से आविर्भूत सब वेदों का मूल ओंकार मैं हूँ। आकाश में स्थित शब्द, शब्दतन्मात्रा रूप से मैं हूँ। मनुष्यों का पौरुष, जिससे वे पुरुष कहे जाते हैं, मैं हूँ ॥८॥

पृथ्वी में उसका सारभूत विकार रहित जो गन्ध है, वह गन्ध तन्मात्रा रूप से मैं हूँ, अर्थात् मैं

सामर्थ्यं तदप्यहमस्मि । सर्वभूतेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुस्तदप्यहमस्मि । तपस्विषु तपःप्रधानेषु वानप्रस्थादिषु यत्तपः शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनसामर्थ्यं तदहमस्मि ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

किञ्च बीजमिति । सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां भूतानां बीजं कारणं सनातनं नित्यं सर्वकार्येष्वनुस्यूतं हे पार्थ ! मां विद्धि, मद्विभूतिं जानीहीत्यर्थः । तथा बुद्धिस्तत्त्वविवेचनरूपा प्रज्ञा तद्वतां सा बुद्धिरहमस्मि, तदभावे पशुत्वाविशेषात् । "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः" इति सनत्सुजातवचनात् । तेजस्विनां यत्तेजः पराभिभवननसामर्थ्यं तदहमस्मि ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥११॥

किञ्च बलमिति । कामोऽप्राप्ते वस्तुनि इदं मे भूयादिति तत्प्राप्त्यभिलाषः, अभिलषितेऽर्थे प्राप्तेऽपि इदं सदा तिष्ठेन्न कदापि क्षीयतामिति राजसश्चित्तरञ्जनात्मको रागस्ताभ्यां वर्जितं बलवतां सात्त्विकं स्वधर्मानुष्ठानरूपं बलमहमस्मि । धर्मो वेदविहितः सदाचाररूपस्तेनाविरुद्धोऽनुकूलो भूतेषु प्राणिषु कामः शास्त्रसम्मतः स्त्रीपुत्रवित्तादिविषयो योऽभिलाषः सोऽहमस्मि हे भरतर्षभ ! ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

गन्ध रूप से पृथिवी में व्याप्त हूँ। "च" से जल का सारभूत पुण्य रसादि का बोध होता है। अग्नि में तेज अर्थात् उसकी स्वाभाविक सबको जलाने और प्रकाश करने की शक्ति भी मैं हूं। सब प्राणियों का जीवन अर्थात् प्राण धारण वा आयु भी मैं हूँ। तप करने वाले वानप्रस्थादिकों का जो तप अर्थात् जाड़ा, गर्मी, भूख, प्यास इत्यादि द्वन्द्वों को सहने की शक्ति है, वह भी मैं हूं ॥९॥

हे कौन्तेय ! स्थावर और जङ्गम जीवों का नित्य, सनातन, और सब कार्यों में पैठा हुआ कारण मुझको जानो। मतलब कि इन सब जीवों को मेरी विभूति समझो। बुद्धिमानों की जो तत्त्व विवेचनी बुद्धि है, जिसके अभाव में मनुष्य पशु के समान जाना जाता है, जैसा कि सनत्सुजात का वचन है कि "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः" अर्थात् ज्ञान से हीन पशु के समान है, वह बुद्धि मैं हूं। तेजस्वियों में तेज अर्थात् दूसरों के पराभव करने की शक्ति मैं हूँ ॥१०॥

अप्राप्त वस्तु हमको मिले, इस प्रकार की अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की अभिलाषा को काम कहते हैं। अभिलषित वस्तु प्राप्त होने पर, वे सदा ठहरें, उनका कभी नाश नहीं हो, इस प्रकार का जो चित्त में उनके प्रति भाव होता है उसको राग कहते हैं। ऐसे काम और राग से रहित बलशालियों का बल अर्थात् सात्त्विक स्वधर्मानुष्ठान रूप बल मैं हूँ। फिर धर्म नाम वेद विहित, सदाचार रूप धर्म के अनुकूल, प्राणियों में जो स्त्री पुत्रवित्तादि विषय का शास्त्र सम्मत नाम अभिलाषा) है, सो मैं हूँ ॥११॥

किं बहुना सर्वभावानामहमेव कारणमित्याह—ये चेति। ये चान्येऽपि सात्त्विका भावाश्चित्त-परिणामाः शमदमादयः, ये च राजसा हर्षादयः, ये च तामसाः शोकमोहप्रमादादयः, प्राणिनां स्वानादि-कर्मवशाज्जायन्ते तान्सर्वान्मत्त एव जातानीति विद्धि, तत्तत्कर्मानुसारादिमदनुभावितान्विद्धीत्यर्थः। ननु हेतुभूतस्य त्वयि ते स्युरिति चेन्नेत्याह—न त्वहमिति। तु शब्दो वैलक्षण्यद्योतनार्थः। तेषां मत्तो जातत्वेऽपि अहं तु तेषु न वर्त्ते जीववत्तदधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः ते तु मयि मदधीनतया मयि वर्त्तन्ते। अथवा सात्त्विका भावा देवा राजसा मनुष्यास्तामसास्तिर्यगादयो मत्त एव जातास्तेषु नाहं वर्त्ते, कार्यार्थं लीलार्थं वा तेषु कृतावतारोऽप्यहं अजहद्गुणशक्तिमत्वात्तत्सजातीयो न भवामीत्यर्थः। ते तु मदधीनस्थितिकत्वात्सदा मयि वर्त्तन्ते इत्यर्थः। अतश्चेतनाचेतनात्मकमखिलं जगन्मत्त एवोत्पद्यते मय्येव प्रलीयते मय्येवावतिष्ठते च। कारणावस्थायां कार्यावस्थायां च कारणत्वेनाश्रयत्वेन स्वतन्त्रत्वेन चाहमेव परतरो न मत्तोऽन्यत्किमपि वस्तु गुणशक्त्यादिभिः परमस्तीति सिद्धम्।

विशेष कहाँ तक कहा जाय, सब भावों का कारण मैं ही हूँ। इसी बात को यहाँ पर भगवान् समझाते हैं :—

जो दूसरे शम, दम आदि चित्त परिणाम स्वरूप सात्विक भाव, हर्ष शोक आदि राजस भाव और शोक, मोह, प्रमाद आदि तामस भाव अपने अनादि कर्म के वश प्राणियों में उत्पन्न होते हैं, वे सब हमसे ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा मानो अर्थात् इन भावों को उनके अनादि कर्मानुसार मैं ही पैदा करता हूं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि ये सात्विक, राजस और तामस भाव आपसे ही उत्पन्न हैं तो ये सब भाव उनके कारणभूत आपके भी हो सकते हैं, अर्थात् आप भी इनके वश में आ सकते हैं। इस शंका का भगवान् निराकरण करते हैं :—

'तु' शब्द विलक्षणता जताता है अर्थात् मैं उन भावों का कारण होता हुआ भी उनमें नहीं हूं। अर्थ यह कि जीवों के समान मैं उन भावों के अधीन नहीं हूँ। वे मेरे अधीन होने के कारण मुझमें स्थित हैं। इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है। यथा :—

सात्विक भाव वाले देवता, राजस भाव वाले मनुष्य, और तामस भाव वाले तिर्यक् आदि योनि वाले जीव सब ही मुझसे उत्पन्न हैं; मैं उनमें नहीं हूँ। भाव यह कि कार्य वा लीला के लिये उनमें अवतार लेकर भी, अपने गुण और शक्ति को नहीं छोड़ने के कारण, उनका सजातीय नहीं होता हूँ; पर चूंकि उनकी स्थिति मेरे अधीन है, इसलिये वे मुझमें रहते हैं। अतएव चेतनात्मक और अचेतनात्मक समूचा जगत् मुझसे ही उत्पन्न होता है, मुझमें ही प्रलय होता है और मुझमें ही स्थिर रहता है। कारण और कार्य दोनों अवस्थाओं में अपने कारणत्व, आश्रयत्व और स्वतन्त्रता के कारण मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूं। गुण, शक्ति आदि में मुझसे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है, यह बात सिद्ध हुई ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

नन्वेवं सर्वेश्वरं सर्वनियन्तारं सर्वकारणं दोषास्पृष्टं स्वतन्त्रं त्वामयं जनः कुतो न जानाति, जानाति चेत्कथं संसारी भवतीत्यपेक्षायामाह—त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोक्तैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्गुणमयैर्भावैः सत्त्वादिगुणकार्यभूतैर्बुद्धीन्द्रियशरीरैर्हर्षलोभकामक्रोधादिभिश्च सर्वमिदं जगत् जीवजातं मोहितमाच्छादितज्ञानं सत् मां नाभिजानाति, सर्वेषां प्रवर्तकः स्वतन्त्रः कश्चिदीश्वरोऽस्तीति सामान्यतया जानदपि साक्षात्परब्रह्मैव परवैकुण्ठाधिपः स्वभक्तहितायावतीर्णो वासुदेव इति मां न जानाति । कथं भूतं मामेभ्यो गुणमयभावेभ्यः परं तेभ्यो विलक्षणं तैरस्पृष्टमित्यर्थः । अत एवाव्ययं व्ययरहितं कदाचिदपि गुणशक्त्याद्यन्यथाभावशून्यमित्यर्थः । एवम्भूतगुणशक्त्यादिमतो मम साक्षाज्ज्ञानाभावाच्चोक्तत्रिगुणमयभावहेतुमायाऽतिक्रमस्ततः एव न संसारोपरम इति भावः ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

ननु "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी । सितासिता च रक्ता चे"त्यादिश्रुतेर्मायायागुणप्रवाहस्यानाद्यनन्तत्वाभिधानात्तन्मोहितानां जीवानामस्वातन्त्र्येण तत्परिहर्तुमशक्यत्वान्न कदाऽपि कस्यापि मायाऽतिक्रमः स्यादित्याशङ्क्याऽसाधारणं मायातरणोपायमाह—दैवीति । "एको देवः सर्वभूतेषु

ऐसे सबके नियन्ता, सबके कारण, सब दोषों से रहित और स्वतन्त्र आपको मनुष्य क्यों नहीं जानता ? और यदि आपको जानता है तो संसारी क्यों हो जाता है ? इस प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं :—

पूर्व में कहे तीनों प्रकार के गुणमय भावों से, अर्थात् सत्वादि गुणों के कार्यभूत बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर, हर्ष, लोभ, काम, क्रोधादिकों से यह समूचा जगत्, जीव समूह मोहित है अर्थात् उसका ज्ञान आच्छादित है । इसी कारण यह मुझको नहीं जानते । सबों का प्रवर्त्तक और स्वतन्त्र कोई ईश्वर है, ऐसा साधारण ज्ञान रखता हुआ भी यह जगत् मुझको ऐसा नहीं जानता कि मैं साक्षात् परब्रह्म और पर वैकुण्ठ का मालिक हूँ और मैंने अपने भक्तों के हित के लिए वासुदेव का पुत्र होकर अवतार लिया है । यह जगत् मुझको, इन गुणमय भावों से परे अर्थात् विलक्षण वा उनसे अस्पृष्ट, और अव्यय अर्थात् मेरे गुण शक्ति कभी मुझसे विलग नहीं होते, ऐसा नहीं जानता । कहने का भाव यह कि गुण शक्ति आदि से युक्त, मेरे साक्षात् ज्ञान के अभाव से उक्त त्रिगुणमय भाव के हेतु, माया को, जीव पार नहीं कर सकता, इसलिये वह संसारी बना रहता है ॥१३॥

"गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी सितासिता च रक्ता च" इस वेद के वचन से माया के गुणों के प्रवाह को आदि और अन्त से हीन कहा गया है । इस कारण उससे मोहित जीव स्वतन्त्रता

गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चे"ति श्रुति-प्रतिपादितस्य देवस्य स्वतो द्योतमानस्य चिदानन्दघनस्य कर्मनियन्तुः सर्वव्यापकत्वेऽपि चेतनाचेतन-जगद्गुणदोषसम्बन्धवर्जितस्यातिशयसाम्यशून्यस्य भगवतो नियम्यभूता दैवी एषा त्रिगुणमय-कार्यद्वारा सर्वप्रत्यक्षा गुणमयी, सत्त्वरजस्तमोगुणमयात्मिका मम परमेश्वरस्य सर्वशक्तेः सर्वकार्योत्पादनशक्तिर्मायाशब्दवाच्या । "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमि"तिश्रुतेः । दुरत्यया ममानुग्रहमन्तरेणोपायसहस्रैरपि दुस्तरा, हि निश्चितमेतत्तथापि 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तद्योयोदेवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामि'त्यादि-श्रुतिभ्योऽनन्ता एव जीवास्तेषां मध्ये ये केचिन्मामेव सर्वेश्वरं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं मायानियन्तारं प्रपद्यन्ते स्वपुरुषार्थाभिमानं साधनान्तरं च विहाय साधनसाध्यरूपं निश्चित्य सर्वात्मना भजन्ते, आनुकूल्य-

---

रहित होने से उसको छोड़ने में असमर्थ हो उसको कभी पार नहीं कर सकता । ऐसी शंका होने के कारण भगवान् माया तरने का असाधारण उपाय बताते हैं ।

जिस देव के विषय में श्रुति यह कहती है :—"एको देवः सर्व भूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" अर्थात् वह देव एक, सब जीवों में निविष्ट, सर्वव्यापी, सब जीवों का अन्तरात्मा, कर्म का अध्यक्ष, सब जीवों का अधिष्ठान, साक्षी, चेतन, केवल अर्थात् अद्वितीय और निर्गुण है ऐसे स्वयं प्रकाशमान, चित्, आनन्दघन, कर्म के नियन्ता, सबमें व्यापक होकर भी चेतन और अचेतन जगत् के गुण दोष से रहित, और अपने से बढ़कर या समानता रखने वाले से रहित, एक सर्वज्ञ और शक्तिशाली परमेश्वर की वशवर्त्तिनी यह दैवी, त्रिगुण-मय कार्य द्वारा प्रत्यक्ष होने वाली और इसलिये सत्व, रज, तम, गुणमयात्मिका शक्ति, जो सब कार्य को उत्पन्न करने वाली है, माया कही जाती है । इसमें श्रुति का प्रमाण है । यथा :—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" अर्थात् माया को प्रकृति और भगवान् को मायी अर्थात् माया वाला वा माया का स्वामी जानो । इस माया को मेरे अनुग्रह के बिना सहस्रों दूसरे उपायों के द्वारा पार करना दुष्कर है । ऐसा होने पर भी अर्थात् इस माया को पार करना दुष्कर है, ऐसा होने पर भी अनन्त जीवों* में जो कोई मुझ सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और माया के नियन्ता की शरण में आ जाता है अर्थात् अपने पुरुषार्थ के अभिमान और दूसरे साधनों को छोड़ कर और मुझ को ही साधन और

---

* ऊपर टीका में जीव अनन्त है, ऐसा कहा गया इसमें श्रुति प्रमाण है :—

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तद्धीरा ये देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥"

अर्थात् नित्य (जीवों) में नित्य, चेतन (जीवों) में चेतन, बहुतों में एक, जो कामनाओं को पूर्ण करता है, देव, ऋषि और मनुष्यों में से जिस किसी ने ब्रह्म साक्षात्कार किया वही ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ । इन श्रुतियों से आत्मा का अनेक होना और ब्रह्म का एक होना प्रमाणित होता है ।

सङ्कल्पादिकार्पण्यां तां षड्विधां शरणागतिं मयि कुर्वन्तीत्यर्थः। त एवैतां मम मायां तरन्ति वर्जयन्तीत्यर्थः। न त्वन्ये, अत्र हारस्योभयत्र सम्बन्धात्—

ये प्रपन्ना हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नानां त्राता त्वं जनार्दन"इति

भीष्मपर्वणि वचनं, वामने प्रह्लादश्चाह "ये संश्रिता हरिमनन्तममध्यमाद्यं नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम्। शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं ते धर्मराजभवनं न विशन्ति धीराः"इति।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

यद्येवं तर्हि सर्वेऽपि शास्त्राचार्यद्वारेण सर्वानर्थहेतोर्मायायास्तारकं भगवन्तमेव निश्चित्य किन्न प्रपद्यन्ते इत्यपेक्षायां दुष्कृतयोगादित्याह—न मामिति। दुष्कृतिनोऽनादिपापसञ्चयवत्त्वान्मां न प्रपद्यन्ते, ईश्वरेश्वरं ज्ञात्वा सर्वात्मना न भजन्ते। ते च दुष्कृततारतम्यात्चतुर्विधाः मूढा नराधमा माययापहृत-

---

साध्य समझ कर भजता है, तात्पर्य्य यह कि आनुकूल्य संकल्पादि, कार्पण्यान्त छः प्रकार की शरणागति मुझ में करता है वही मेरी इस माया को तरता है अर्थात् छोड़ता है, दूसरा नहीं। श्लोक में 'हि' और 'एव' ये दो अवधारण हैं इनका भाव यह है कि जो मायापति भगवान् की शरणागति ग्रहण करते हैं भगवान् कृपा कर उनसे ही माया का सम्बन्ध छुड़ा देते हैं, औरों से नहीं। इसके प्रमाण में भीष्म पर्व का वचन है :—

"ये प्रपन्ना हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नानां त्राता त्वं जनार्दन।"

अर्थात् जो भगवान् की शरण में आ जाते हैं वे मनुष्य मोह को नहीं प्राप्त होते। बड़े भारी भय में डूबे हुये की जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं। वामन पुराण में प्रह्लाद का भी ऐसा ही वचन है। यथा :—

"ये संश्रिता हरिमनन्तममध्यमाद्यं नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम्।
शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं ते धर्मराजभवनं न विशन्तिधीराः॥"

अर्थात् जो धीर पुरुष अनन्त एवं मध्य रहित, आदिभूत, नारायण, देवताओं के गुरु, शुभदाता, वरेण्य, शुद्ध, गरुड़गामी, कमलालय के ईश भगवान् को शरण में जाते हैं उनको धर्मराज के भवन में नहीं जाना पड़ता ॥१४॥

यदि ऐसी बात है तो शास्त्र और आचार्य के द्वारा आप ही को माया से, जो सब अनर्थों का कारण है, छुड़ाने वाला निश्चय कर आप ही की शरण में लोग क्यों नहीं आते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—अनादि पाप सञ्चय के कारण वे दुष्कर्मी मेरी शरण में नहीं आते हैं अर्थात् मुझको ईश्वरों का ईश्वर समझ मेरा सब प्रकार से भजन नहीं करते हैं। दुष्कर्म के तारतम्य से मनुष्य

ज्ञाना—आसुरं भावमाश्रिता इति। तत्र शास्त्रप्रतिपादितमपि भगवत्तत्त्वं बुद्धिमान्द्याज्ज्ञातुमनर्हाः प्राकृतेष्वेव देहेन्द्रियेषु रता मूढाः। ये च शास्त्रप्रतिपादितं भगवत्तत्त्वं श्रोतुं ज्ञातुं बुद्धिमन्तोऽपि मदाश्रयणेऽश्रद्दधानाः प्राकृतविषयासक्तास्ते नराधमाः, सम्यक्शास्त्रनिर्णीतमपि मत्स्वरूपगुणैश्वर्यविषयं ज्ञानं दुष्कृतबाहुल्यान्मय्यसम्भावना विपरीतभावना जनिता तद्विपरीतार्थप्रतिपादकयुक्तिरूपा कपटपर्यायो माया, तयाऽपहृतं नाशितं ज्ञानं येषां ते मायया ऽपहृतज्ञानाः। ये चानादितो मद्विमुखा मत्स्वरूपगुणैश्वर्य-विषयं सुदृढतरमपि ज्ञानं नाङ्गीकुर्वन्ति, प्रत्युत मां मद्भक्तांश्च बुद्धिपूर्वकं द्विषन्ति ते आसुरं भाव-माश्रिताः त एते उत्तरोत्तरं पापबहुलाः।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥१६॥

ये तु पुण्यकर्माणस्ते श्रद्धाप्रीतियुक्ता मां भजन्त इत्याह—चतुर्विधा इति। सुकृतिनः पूर्वजन्म-सुकृतसञ्चयो विद्यते येषु ते जना मां भजन्ते, तेऽपि सुकृततारतम्याच्चतुर्विधाः, हे अर्जुन ! तत्र शत्रु-व्याध्याद्यापदा ग्रस्त आर्त्तः। स यदि पूर्वं कृतपुण्यश्चेत्तर्हि तदार्त्तिनिवृत्तिमिच्छन्मां भजते, अन्यथा दुर्गारुद्रविनायकभैरवादीन्भजते। आर्त्तो यथा जरासन्धकारागृहनिगृहीतो राजसमूहः द्यूतसभायां वस्त्रा-

---

चार प्रकार के होते हैं, यथा—मूढ़, नराधम, माया से अपहृत ज्ञान वाले और आसुरी भाव वाले। मूढ़ वे हैं जो शास्त्र से प्रतिपादित भी भगवत्तत्व को बुद्धिमान्द्य के कारण जानने में अयोग्य हैं और प्राकृत देह, इन्द्रिय आदि में सदा रत हैं। नराधम वे हैं जो शास्त्र से प्रतिपादित भगवत्तत्व को सुनने जानने में बुद्धिमान होकर भी मेरी शरण में अश्रद्धा करते हैं और प्राकृत विषयों में आसक्त हैं। तीसरे वे हैं जो शास्त्र से पूर्णतया निर्णीत भी मेरे स्वरूप, गुण और ऐश्वर्य विषयक ज्ञान को दुष्कृति की अधिकता से मुझमें सब असम्भव मानते हैं और उल्टी बात को साबित करने के लिये विपरीत भावना से उत्पन्न युक्ति रूप कपट करते हैं। इसी कपट को माया कहते हैं और इसी माया ने उनके ज्ञान को नष्ट किया है। और चौथे वे हैं जो अनादि काल से मुझसे विमुख हैं। ये मेरे स्वरूप, गुण और ऐश्वर्य विषयक दृढ़तर ज्ञान को भी अङ्गीकार नहीं करते बल्कि मुझसे और मेरे भक्तों से द्वेष करते हैं। ये आसुरी वा राक्षसी भाव को प्राप्त हुए हैं। इन चारों में उत्तरोत्तर पाप की अधिकता है ॥१५॥

जो पुण्य कर्म वाले हैं, वे मुझको श्रद्धा और प्रीतिपूर्वक भजते हैं। इसी बात को भगवान् यहाँ कहते हैं।

जिन लोगों को पूर्व जन्म का सुकृत सञ्चित है, वे मुझको भजते हैं। हे अर्जुन ! वे अपने सुकृत के तारतम्य से चार प्रकार के हैं। पहले तीन अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी कामना वाले हैं और चौथा ज्ञानी कामना रहित और एक निश्चय वाला है।

शत्रु, व्याधि आदि दुःख से त्रस्त हैं, वे आर्त्त कहलाते हैं। ऐसा पुरुष, यदि उसने पूर्व में पुण्य किया है तो अपने दुःख से निवृत्ति के लिये मुझको ही भजता है और यदि पूर्व पुण्य नहीं किया है तो

कर्षणे द्रौपदी, ग्राहगृहीतो गजेन्द्रश्च वृकासुरात्पलायमानो रुद्रश्च । जिज्ञासुस्तत्त्वज्ञानार्थी मुमुक्षुः, यथा विदेहरहूगणबदुमुचुकुन्दादिः । अर्थार्थी भोगैश्वर्यविशिष्टपदभ्रष्टस्तल्लिप्सुर्वा भजते । यथेन्द्रो ध्रुवः सुग्रीवो विभीषणश्च । एते त्रयोऽपि स्वाभीष्टं प्राप्य मद्भजनात्क्रमेण मायां तरन्ति । ज्ञानी च सम्यङ्-निर्णीतात्मपरमात्मतत्त्वविवेकज्ञः, स च निष्काम एव तीर्णमायः सन् मामेव परमप्राप्यं जानन् भजते । यथा सनकादिर्नारदशुकप्रह्लादभीष्मोद्धवादिः ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषां मध्ये ज्ञानी श्रेष्ठ इत्याह—तेषामिति । तेषां चतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्विशिष्यते, सर्वोत्कृष्टो भवतीत्यर्थः । कुतः ? यतो नित्ययुक्तः मयि भगवति सदाऽविच्छेदेनावेशितचेताः । किञ्च यथा सकामः पुरुषः स्त्रीपुत्राद्यात्मीयवर्गे नित्यावेशितमना अपि राजाद्यन्यं भजते, न तथाऽयं कञ्चिदन्यं भजते । किन्तु—एकभक्तिरिति । देवान्तरसाधनान्तरफलान्तरसम्बन्धान्तरनिरासेन सर्वदैव-साधनफलसम्बन्धरूपे एकस्मिन् समाभ्यधिकशून्ये भगवति चिदानन्दघने मय्येव मद्विषयिकैव भक्तिरर्चन-

---

दुर्गा, रुद्र विनायक, भैरव आदि को भजता है । ऐसे आर्तों के उदाहरण ये हैं—जरासन्ध के कारागृह में बन्दी हुए राजागण, जुए की सभा में वस्त्र खींची जाती हुई द्रौपदी, ग्राह से गृहीत गजेन्द्र, वृकासुर के डर से भागते हुए रुद्र ।

जिज्ञासु वह मोक्षार्थी है, जो तत्त्व ज्ञान के जानने का इच्छुक है । जैसे जनक, रहूगण, यदु, मुचुकुन्द आदि ।

अर्थार्थी वह है जो भोग ऐश्वर्य से युक्त पद से भ्रष्ट हो उस पद को चाहता है और इसलिये मुझको भजता है । जैसे इन्द्र, ध्रुव, सुग्रीव, विभीषण आदि । ये तीनों अपने अभीष्ट को प्राप्त कर मेरे भजन से माया को पार कर जाते हैं ।

ज्ञानी वह है जिसने पूर्व रीति से निर्णीत आत्म-परमात्म-तत्त्व के विवेक की जानकारी प्राप्त की है । वह कामना रहित हो माया को पार करता हुआ और हमको ही परम प्राप्य समझ कर मेरा भजन करता है, जैसे सनकादिक, नारद, शुक, प्रह्लाद, भीष्म, उद्धव आदि ॥१६॥

इन चारों में ज्ञानी श्रेष्ठ है, इसीको कहते हैं :—

इन चारों में तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी सर्वोत्कृष्ट है । क्योंकि, वह नित्य युक्त है अर्थात् अविच्छिन्न रूप से मुझ भगवान् में अपने चित्त को लगाये रहता है, और जैसे सकामी पुरुष अपने पुत्र, स्त्री आदि आत्मीय वर्ग में नित्य मन लगाये हुए रहने पर भी राजा आदि की सेवा करता है, वैसा यह ज्ञानी नहीं करता है । वह एक भक्ति वाला होता है, अर्थात् दूसरे देव, दूसरे साधन, दूसरे फल और दूसरे सम्बन्ध से हट कर सब देव, साधन, फल और सम्बन्ध रूप एक मुझ चिदानन्दघन भगवान्, में

वन्दनकीर्तनध्यानादिभजनं यस्य सः "भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनःकायकर्मभिः । भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ॥ तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी"ति स्मृतेः । हि यस्माज्ज्ञानिनोऽहमत्यर्थं प्रियः, अनवधिकप्रीतिविषयः । तथैवोक्तं विष्णुपुराणे प्रह्लादेन "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु" । श्रीपराशरोऽप्याह "स त्वासक्तमतिः कृष्णे दंश्यमानो महोरगैः । न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः" इति । स च ज्ञानी तथैव ममाप्यतिप्रियः । "यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणैः सह । यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रिय" इतिश्रुतेः । "नास्य भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते" इति मोक्षधर्मे नारायणवचनाच्च ।

जिससे बड़ा या जिसके समान दूसरा नहीं है, भक्ति करता है । भक्ति करने का मतलब है कि वह मेरा अर्चन, वन्दन, कीर्त्तन, ध्यान आदि करता है । स्मृति का वचन है कि—

"भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ॥
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ताः भक्तिशब्देन भूयसी ॥"

अर्थात् वचन, मन, शरीर और कर्म से भजन करने को भक्ति कहते हैं । भज धातु का अर्थ जिससे भक्ति शब्द बना है, सेवा करना है । इसलिए भक्ति शब्द का अर्थ पण्डित लोग सेवा करना ही बताते हैं जिस प्रकार मैं ज्ञानियों को अति प्रिय हूँ अर्थात् मुझसे बढ़ कर प्रीति उनको दूसरे विषय में नहीं है इसी प्रकार का विष्णु पुराण में प्रह्लाद का वचन है :—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु ॥"

अर्थात् विषय में जो गाढ़ी प्रीति अविवेकियों को होती है वैसी गाढ़ी प्रीति आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदय से न निकल जाय अर्थात् आप में बनी रहे ।

पारासरजी ने भी विष्णु पुराण में प्रह्लाद के विषय में कहा है कि—

"स त्वासक्तमतिः कृष्णे दंश्यमानो महोरगैः ।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः ॥"

अर्थात् यह प्रह्लाद कृष्ण में आसक्तमति था, इससे बड़े भारी सांप से काटे जाने पर भी भगवान् के स्मरण के आह्लाद में निरत रहने से अपने शरीर को नहीं जाना । अर्थात् सांप का काटना और उससे होने वाले दुःख को उसने नहीं जाना । श्रुति कहती है :—

"यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणैः सह ।
यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः ॥"

अर्थात् जैसे तुम (ब्रह्मा) अपने पुत्रों के साथ, रुद्र अपने गणों के साथ और मैं लक्ष्मी के साथ युक्त (प्रेम में पगा) रहता हूँ वैसे ही मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

एवं चेत्तर्हि किमार्त्तादयस्त्रिविधा भक्तास्तेऽप्रिया अधमा इति चेत्तत्राह—उदारा इति । एते आर्त्तादयः सर्व एव उदारा वदान्याः, जन्मान्तरेषु बहुपुण्यानि कृतवन्तः । न ह्यल्पपुण्यैर्मद्भक्ता भवन्ति । "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते" इति वचनात् । अन्यथा मद्भक्ता न भवेयुः, किन्तु रुद्रादित्यविनायकादिदेवभक्ता भवेयुस्तदपेक्षया मम भक्ताः सकामा अपि श्रेष्ठा मद्भजनादेव शनैर्निष्कामा भूत्वा मोक्षार्हा भवन्ति । "न मे भक्तः प्रणश्यति, तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् । ज्ञानी तु आत्मैव मनो देहो वेति मे मम मतं सम्मतं, न ह्यात्मनोऽधिकः कश्चिदपि प्रियो भवति । हि यस्मात्स युक्तात्मा एकान्ती भक्तो मामेवानुत्तमां न ह्युत्तमां विद्यते यस्यास्तामनुत्तमां गति गम्यते इति गतिः प्राप्यं फलमास्थितः सर्वात्मनाश्रित इत्यर्थः ।

फिर मोक्ष धर्म में नारायण का वचन है, यथा :—

"नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते" अर्थात् भगवान् को इस जगत् में अपने भक्त से अधिक प्यारा और कोई वस्तु नहीं है ॥१७॥

यदि ऐसी बात है तो क्या आर्त्त, जिज्ञासु अर्थार्थी ये तीनों प्रकार के भक्त तुम्हारे अप्रिय और अधम हैं ? भगवान् उत्तर देते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है । आर्त आदि सब ही उदार अर्थात् श्रेष्ठ हैं और ये जन्मान्तर में बहुत पुण्य किये हुये हैं, कारण कि अल्प पुण्य करने से कोई मेरा भक्त नहीं हो सकता । कहा भी है :—

"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥"

अर्थात्, सहस्रों जन्म के तप, दान, समाधि से जब मनुष्यों का पाप क्षीण हो जाता है, तब कृष्ण में उनकी भक्ति उपजती है । तथएव पूरा पुण्य नहीं होने से, मनुष्य मेरा भक्त नहीं होता, किन्तु रुद्र, सूर्य्य, गणेश आदि देवों का भक्त होता है । इन अन्य देव भक्तों से मेरा सकाम भक्त भी श्रेष्ठ है, क्योंकि मेरे भजन से धीरे २ निष्काम होकर वह मोक्ष के योग्य हो जाता है । भगवान् आगे कहेंगे कि— "न मे भक्तः प्रणश्यति" "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥" अर्थात्—मेरे भक्त का नाश नहीं होता । सदा युक्त होकर प्रीति पूर्वक भजन करने वाले को मैं बुद्धि योग देता हूँ जिससे वह मुझको प्राप्त करता है । पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा वा मन वा देह ही है, यही मेरा मत है । और आत्मा से अधिक किसी को कोई दूसरी चीज प्रिय नहीं होती । इसका कारण यह है कि वह मेरा एकान्त भक्त मुझको ही अपनी सबसे श्रेष्ठ गति (फल) समझ कर मेरा ही भरोसा करता है और मुझको ही अपना परम प्राप्य फल समझता है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

ज्ञानी भक्तस्यतिदुर्लभ इत्याह—बहूनामिति । न ह्यल्पसुकृतजन्मना मत्प्रपत्तिनिष्ठा भवति, किन्तु बहूनां पुण्याचारविशिष्टजन्मनामन्ते चरमजन्मनि ज्ञानवान्तन्मां प्रपद्यते साधनफलसम्बन्धरूपं निश्चित्य निरतिशयप्रेम्णा भजते । ज्ञानस्य स्वरूपमाह—वासुदेवः सर्वमितीति । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते"ति श्रुतेर्यथा तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात्सर्वस्य जगतो ब्रह्मत्वं तथा "योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः । स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान् । सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थित"इत्यादिवाक्येभ्यो वासुदेवस्य सर्वगतत्वात्सर्वरूपत्वमित्येवम्भूतज्ञानवान्स महात्मा महाविवेकसम्पन्न आत्मा बुद्धिर्यस्यातः सुदुर्लभः, मनुष्याणां कोटिष्वपि कश्चिदेव स्यादिति भावः । तथोक्तं श्रीभागवते "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने !"इति ।

ज्ञानी भक्त बहुत दुर्लभ है । इसी को कहते हैं ।

थोड़े जन्मों के पुण्य से मेरी शरण में निष्ठा नहीं होती । बहुत जन्मों तक पुण्य करने पर अन्त में अर्थात्, चरम जन्म में ज्ञानी पुरुष मेरी शरण में आता है अर्थात् मुझको ही साधन, फल और सम्बन्ध रूप निश्चय कर निरतिशय प्रेम से मेरे को ही भजता है ।

अब ज्ञान का स्वरूप कहते हैं । समूचा जगत् वासुदेव ही है ।श्रुति कहती है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत" अर्थात् यह सब ब्रह्म है, क्योंकि, उसीसे उत्पन्न होता है, उसी में लय होता है और उसी में स्थित है । शान्त हो मुमुक्षु इस प्रकार उपासना करे । जैसे इस श्रुति वाक्य में ब्रह्म ही से उत्पन्न, ब्रह्म ही में लय और ब्रह्म ही से उसकी चेष्टा होने के कारण सब जगत् को ब्रह्म कहा है, वैसे ही नीचे लिखे स्मृति वाक्यों से सर्वगत होने के कारण वासुदेव को सर्वरूप कहा है :—

स्मृतिवाक्य :—"योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः ।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान् ॥
सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ॥"

हे देव ! तुम्हारे समीप जो यह देवतागण आये हैं वह तुम ही हो क्योंकि, जगत के सृष्टा आप सर्वगत हैं । अनन्त भगवान् के सर्वगत होने से हम वही हैं ।

वासुदेव के विषय में ऐसा ज्ञान सम्पन्न महा विवेकी महात्मा दुर्लभ है । अर्थात् करोड़ों मनुष्यों में कहीं एक पाया जाता है । श्रीमद्भागवत में भी यही बात कही गयी है :—

यथा :—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ।" अर्थात्—हे महामुने, करोड़ों मुक्तसिद्धों में भी नारायणपरायण और प्रशान्त आत्मा वाला मनुष्य पाना दुर्लभ है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

तदेवमार्तादिचतुर्विधभक्तेषु ज्ञानिनो दुर्लभत्वकथनादुत्कर्षं उक्तः । इतरेषां त्रयाणामपि क्रमेण निष्कामत्वपूर्वकज्ञानद्वारा क्रमेण मोक्षभागित्वमुक्तमिदानीं स्वभक्तानामेवोत्कर्षद्योतनाय ये राजसतामसबहुलाः सुकृतहीनाः प्राचीनक्षुद्रकामवासनानिबद्धहृदयास्ते भगवद्व्यतिरिक्तदेवताराधनपरा भूत्वा संसरन्तीत्याह—कामैरिति चतुर्भिः । तैस्तैरनादिवासनानुसारिभिः स्त्रीपुत्रवित्तवशीकरणमोहनस्तम्भनशत्रुमारणोच्चाटनादिविषयैः कामैरभिलाषैर्हृतमपहृतं भगवतः सर्वेश्वराद्वैमुख्योत्पादनपूर्वकं तत्तदभिलाषपूरकत्वेनाभिमतान्यदेवताऽभिमुखीकृतं ज्ञानं ज्ञानकरणमन्तष्करणं येषां तेऽन्यदेवताः श्रीभगवतो वासुदेवादन्याः स्वतः शुद्धिहीनाः कालबिभ्रता रजस्तमःप्रधानाः तं तं नियमं तत्तद्देवतासम्बन्धिनियमं व्रतदीक्षाचिह्नविधारणतन्मन्त्रस्तोत्रजपादिरूपं तत्तत्तन्त्रेऽभिहितमास्थाय दृढबुद्धयाऽऽश्रित्य प्रपद्यन्ते, अर्चनस्तवनप्रदक्षिणनमस्कारादिलक्षणभजनेन तदाश्रिता भवन्तीत्यर्थः । तत्रापि स्वया स्वकीयया प्रकृत्या पूर्वाभ्याससंस्कारजन्यस्वभावेन नियता वशीकृता इत्यर्थः ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

ननु "सर्वदेवमयो हरिरि"ति वचनात्सर्वदेवमयस्य हरेरेव सर्वदेवतामूर्त्तयस्तासां मध्ये यां

आर्त्त आदि चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी की दुर्लभता कह कर उसका उत्कर्ष दिखलाया। फिर यह भी कहा कि तीनों प्रकार के भक्त धीरे २ निष्काम पूर्वक ज्ञान द्वारा मोक्ष के भागी होते हैं। अब अपने सब भक्तों का उत्कर्ष दिखाने के लिए चार श्लोकों से यह कहते हैं कि जो राजस-तामस-प्रधान और सुकृतहीन पुरुष हैं और प्राचीन क्षुद्र कामवासनाओं से जिसका हृदय बँधा हुआ है वे हमको छोड़ और देवताओं के आराधन में तत्पर होकर संसार-यात्रा करते हैं।

अनादि वासना के अनुसार स्त्री, पुत्र, धन, वशीकरण, मोहन, स्तम्भन, शत्रुमारण, उच्चाटन आदि अभिलाषाओं से जिन मनुष्यों का ज्ञान, अर्थात् ज्ञान का कारण अन्तःकरण, अपहृत हो गया है अर्थात् ये कामनाएँ जिनके अन्तःकरण को सर्वेश्वर मुझ भगवान् से विमुखता पैदा कर उन २ अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए अन्य देवताओं के अभिमुख करती हैं, ये मनुष्य मुझ भगवान् को छोड़ दूसरे स्वतः शुद्धि हीन, काल के भय से भागते हुए, रज और तम प्रधान देवताओं के नियमों में अर्थात् उनके तन्त्रों में कहे गये व्रत, दीक्षा, चिह्नधारण, मन्त्र, स्तोत्र, जप आदि में दृढ़ बुद्धि से स्थित होकर उनकी शरण में हो जाते हैं। भाव यह कि उन्हीं के अर्चन, स्तवन, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि रूप भजन द्वारा उनके आश्रित होते हैं, क्योंकि वे भी अपने पूर्व अभ्यास के संस्कार से उत्पन्न स्वभाव के वशीभूत रहते हैं ॥२०॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस वचन के अनुसार कि "सर्वदेवमयो हरिः" अर्थात् भगवान्

काञ्चिदपि देवतामूर्त्तिं भजतस्तद्द्वारेण हरिभक्तिः स्यादिति नाशासनीयमित्याह—यो यो यामिति। अन्यदेवताभक्तानां मध्ये यो यो भक्तः यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया अर्चितुमर्चयितुमिच्छति, तदर्थं प्रवर्त्तते तस्य तस्य कामिनो भक्तस्य तामेव देवताविषयां श्रद्धां पूर्ववासनानुरूपामचलां दृढां विदधामि सादयामि तत्रैव नियोजयामि, नतु स्वविषयां श्रद्धां कारयामीत्यर्थः।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

ततश्च स कामी भक्तस्तया मद्विहितया देवताविषयया श्रद्धया युक्तस्तस्या देवतातन्त्रा राधनमाराधनमीहते करोति। ततो देवतातन्त्राः सकाशात्कामानभिलषितान्विषयान्पूर्वं सङ्कल्पितांल्लभते च। ननु स्वेदितरदेवताभक्तस्य तत्प्रसादात्स्वेष्टसिद्धौ तस्या देवतायाः स्वातन्त्र्यं सिद्धं, तर्हि किं ते वैशिष्ट्यं ? यतस्तवाराधनस्यैव श्रैष्ठ्यं स्यादिति चेत्तत्राह—मयैव विहितानिति। सर्वकर्मफलप्रदात्रा तत्तद्देवतान्तर्यामिणा मयैव विहितास्तदाराधनानुसारं निर्मितान् नहि देवतानां स्वातन्त्र्येण फलदाने शक्तिः। हि प्रसिद्धमेतच्छास्त्रे "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवास" इति वेदे "एकस्त्वमस्य लोकस्य स्रष्टा संहारकस्तथा। अध्यक्षश्चानुमन्ता च गुणमायाविवर्जितः। लोकयात्राप्रसिद्ध्यर्थं स्रष्टब्रह्मादिरूपिणे।

सर्व देवमय हैं सब देवताओं की मूर्त्ति हरि ही की मूर्त्ति है और इसलिये किसी भी देवता के भजन करने से भगवान् की भक्ति हो सकती है। इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि ऐसी आशा करनी व्यर्थ है। क्योंकि अन्य देवताओं के भक्तों में जो जो जिस जिस देवता की मूर्त्ति की श्रद्धा के साथ पूजा की इच्छा करता है और उसमें प्रवृत्त होता है उस २ कामनायुक्त भक्त की उसी २ देवता विषयक पूर्व वासनानुरूप श्रद्धा को मैं दृढ़ करता हूँ। मतलब यह कि मैं उसी २ देवता में उसको लगाता हूं। अपने विषय में उसकी श्रद्धा मैं नहीं करता ॥२१॥

यह कामनायुक्त भक्त मुझसे विहित उस श्रद्धा से युक्त होकर उसी देवतामूर्त्ति की आराधना करता है और उसीसे पूर्व में संकल्पित अभिलषित पदार्थ को पाता है।

अब यहाँ यह शंका है कि यदि दूसरे देवताओं के भक्त उनके प्रसाद से अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तो ये देवता स्वतन्त्र हैं तब आप की विशेषता क्या रही और आपकी आराधना करने में कौन सी श्रेष्ठता है ? इसी शंका को दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं कि ये देवता कर्म के फल देने में स्वतन्त्र शक्ति वाले नहीं हैं। मुझसे विहित फलों को अर्थात् जिन फलों का उन देवताओं की आराधनानुसार मैंने निर्माण किया है, वे ही फल दे सकते हैं क्योंकि मैं उनका अन्तर्यामी होने के कारण सर्व कर्म फल का दाता हूँ। यह बात वेद में भी प्रसिद्ध है। यथा :—"कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः" अर्थात् भगवान् कर्म के अध्यक्ष और सब जीवों में स्थित हैं। शास्त्र इस बात को अनुमोदन करता है यथाः—"एकस्त्वमस्य लोकस्य स्रष्टा संहारकस्तथा। अध्यक्षश्चानुमन्ता च गुणमायाविवर्जितः॥ लोकयात्रा प्रसिद्ध्यर्थं स्रष्टब्रह्मादिरूपिणे। इज्य फलात्मने तुभ्यम्।" अर्थात् आप एक ही इस लोक के स्रष्टा,

इज्यफलात्मने तुभ्यमि"त्यादिसात्वततन्त्रे "सकलफलप्रदो हि विष्णुरि"त्यादिशास्त्रे भगवत एव फलप्रदत्वं प्रसिद्धम् ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

स्यादेतदन्यदेवभक्ता अपि स्वदत्तानेव कामान्देवेभ्यो लभन्त इति । एवमपि न तेषां काऽपि क्षतिः फलसिद्धेरविशेषादतस्तेभ्यस्त्वद्भक्तानां को विशेष इति चेतत्राह—अन्तवदिति । तु शब्दो महद्विशेषं दर्शयति । अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन तत्त्वविवेचनेऽकुशलानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तदेव विशेषाराधनजं फलं तदध्यक्षेण मया दत्तमपि साक्षान्मदाराधनाभावादन्तवद्विनाश्येव भवति । कुतः ? यतो देवानिन्द्रादीन्ये यजन्ते ते देवयजस्तानेवान्तवतः कालविद्रुतान् देवान्यान्ति प्राप्नुवन्ति । यद्युपास्यभूता देवा एवान्तवन्तस्तर्हि तद्दत्तं फलमन्तवद्भवेदिति किमु वक्तव्यमिति भावः । मद्भक्तास्तु अपिशब्दात्प्रथमं मत्प्रसादात्कामानपि प्राप्नुवन्ति पश्चान्मद्भजनप्रभावान्निष्कामा भूत्वा मामनन्तस्वरूपगुणमहिमानं यान्ति प्राप्नुवन्ति । अतः सकामा अपि मद्भक्ता अन्यदेवताभक्तवन्न संसरन्तीति महान्विशेषः ।

संहारकर्त्ता, अध्यक्ष और अनुमन्ता हैं । गुण और माया से वियर्जित हैं । लोक यात्रा के लिए सिरजे गये ब्रह्मा आदि रूप और अन्न के फल स्वरूप हैं । सात्वततन्त्र में भी लिखा है कि "सकलफलप्रदो हि विष्णुः" अर्थात् सकल फल के देने वाले विष्णु हैं इस प्रकार भगवान् ही सकल फल के दाता हैं यह शास्त्र में प्रसिद्ध है ॥२२॥

यह बात हो कि अन्य देवता के भक्त भी आपके ही दिये हुए फलों को उन देवताओं से पाते हैं; पर इसमें उनको क्षति कौनसी हुई, क्योंकि फल सिद्धि तो उनकी होती है और आपके भक्तों की उनके भक्तों से विशेषता क्या रही ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् देते हैं । "तु" शब्द के व्यवहार से भगवान् ने अन्य देवता के भक्त में और अपने भक्त में महत् विशेषता बतायी ।

मन्द बुद्धि होने के कारण तत्त्व के विवेचन में अकुशल अन्य देवता भक्तों को अपने २ देवता के आराधन से उत्पन्न फल मेरे द्वारा पा लेने पर भी साक्षात् मेरी आराधना के अभाव से वे फल विनाशी होते हैं अर्थात् चिरस्थायी नहीं होते । इसका कारण यह है कि इन्द्रादि देवों की पूजा करने वाले उन्हीं अन्त होने वाले और काल के भय से भागने वाले देवों को प्राप्त करते हैं और जब उनके उपास्यभूत देवता ही लोग अन्त वाले हैं अर्थात् काल में उनका अन्त वा नाश हो जाता है तब उनका दिया हुआ फल भी अन्त वाला वा नाशवान होगा, इसमें कहना ही क्या है ? मेरे भक्त इन अन्य देव-भक्तों से विलक्षण हैं । वे मेरे प्रसाद से अपनी अभिलाषाओं को भी प्राप्त करते हैं । पीछे मेरे भजन के प्रभाव से निष्काम होकर वे मुझको, जो अनन्त स्वरूप गुण वाला हूं, पाते हैं । (अपि शब्द का यही भाव है) । मतलब यह कि कामनायुक्त भी मेरा भक्त अन्य देवभक्तों के समान संसार के चक्कर में नहीं पड़ता । यही उसकी विशेषता है ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

यद्येवं त्वदाराधनमेव सर्वोत्तमं चेत्तर्हि सर्वोऽपि लोको देवान्तरं हित्वा अनन्तफलदं देवदेवं सर्वेश्वरं त्वामेव निश्चित्य किमिति न भजतीत्यत आह—अव्यक्तमिति । "यं न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः । जानन्ति परमेशाख्यं तद्विष्णोः परमं पदमि"ति वचनात् ब्रह्मशिवाद्यगोचर ईश्वरेश्वरः सर्वैर्ब्रह्मादिभिः स्वाभीष्टलाभाय कर्मभिराराधितः परमकारुण्यादाश्रितवत्सलत्वाच्च सर्वलोकहिताय जहत्स्वस्वरूपगुणशक्तिरेवाहं वसुदेवगृहेऽवतीर्ण इत्येवमव्ययं परं सर्वोत्कृष्टमत एवानुत्तमं मम भावं प्रादुर्भावमजानन्तोऽबुद्धयः सद्गुर्वाश्रयणाभावान्मज्ज्ञानार्हबुद्धिहीना इतः पूर्वमव्यक्तमनभिव्यक्तमिदानीं कर्मविशेषाद्वसुदेवगृहे व्यक्तिमापन्नं जन्म प्राप्तं क्षत्रियसजातीयं कञ्चिज्जीवविशेषं मन्यन्ते, ननु परमेश्वरमतो न मां कर्मभिराराधयन्ति । किन्तु मनुष्यबुद्धया मां विहायेन्द्रादिदेवानेवाराधयन्तीत्यर्थः ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

ननु सर्वयोनिध्येयस्य दिव्याप्राकृताद्भुताविष्कृतरूपस्य शङ्खचक्रगदादिदिव्यायुधधारिणश्चतुर्भुजस्य श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाकिरीटकुण्डलादिदिव्यलक्ष्मवतो ब्रह्मरुद्रादिजयिनो मन्मथगर्वापहारिणो

यदि आपकी आराधना ही सर्वोत्तम है तो मनुष्य अन्य देवों को छोड़ आप ही को, अनन्त फलदाता, देवों का भी देव और सर्वेश्वर निश्चयकर, आपकी पूजा क्यों नहीं करते ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं। "यं न देवा न मुनयो न चाहं न च शंकरः । जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्", जिसको न देवता, न मुनि, न शंकर और न हम अर्थात् ब्रह्मा जानते हैं, उसी परमेश विष्णु का वह परमपद वा स्थान है। ऐसा, ब्रह्मा शिवादि से अगोचर, ईश्वरों का ईश्वर, ब्रह्मादिक सबों से अपनी अभीष्ट प्राप्ति के लिये आराधित, मैं, परम करुणा के वश हो, आश्रितों पर वत्सलता के कारण और सब लोक के हित के लिये अपने स्वरूप गुण शक्ति को बिना छोड़े हुए ही वसुदेव के गृह में अवतार लिया हूँ। ऐसा जो मेरा अव्यय, सर्वोत्कृष्ट और अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) भाव अर्थात् जन्म है उसको नहीं जानते हुए मूढ़ लोग, सद्गुरु के आश्रय के अभाव से, मुझको जानने योग्य बुद्धि से हीन हो, ऐसा समझते हैं कि इस समय के पूर्व में मैं अव्यक्त (अप्रगट) था और कर्मविशेष के वश में होकर वसुदेव के घर में अब जन्म लिया है। मुझको वे क्षत्रियों का सजातीय कोई जीवविशेष ही मानते हैं, मुझको परमेश्वर नहीं समझते। इसीलिये कर्मों द्वारा मेरी आराधना नहीं करते हैं। मुझ में मनुष्य बुद्धि होने के कारण वे, मुझको छोड़ इन्द्रादि देवों की ही पूजा करते हैं ॥२४॥

सब योनियों के ध्येय, दिव्य, अप्राकृत रूपवाले, शंख, चक्र, गदादि दिव्य आयुधों को धारण करनेवाले, चतुर्भुज, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, किरीट, कुण्डल आदि दिव्य चिह्नों से युक्त, ब्रह्म रुद्रादि को जय करनेवाले, कामदेव के गर्व को हरनेवाले, युद्ध में शिव इन्द्रादि को जीतनेवाले,

युद्धे त्रिनयनसहस्राक्षादिजेतुर्नरकासुरजरासन्धपौण्ड्रकचेदिपादिसंहर्त्तुः सर्वदेवासुरमनुष्येष्वसम्भावितपराक्रमस्य सर्वेश्वरस्य तव ज्ञानं सर्वेषां कुतो न जायते, इत्यपेक्षायामाह। सर्वजीवविजातीयस्वरूपगुणैश्वर्योऽप्यहं सर्वस्य लोकस्य जनस्याहं न प्रकाशः, अप्राकृतेन स्वेन रूपेण प्रकटो न भवामि। किन्तु कस्य चिदेव स्वानन्यभक्तस्य प्रकटो भवामि। तथोक्तं नारायणीयाख्याने श्वेतद्वीपपतिना नारदं प्रति—

"एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः॥
न च मां ते ददृशिरे नतु द्रक्ष्यति कश्चन।
ऋते त्वेकान्तिकं चैषां त्वं चैवैकान्तिको मम"॥

तत्र हेतुमाह—योगमायासमावृत इति। योगो मत्सङ्कल्पस्तदधीना माया योगमाया मनुष्यसमानरूपता, तया अयमभक्तलोको मां यथावस्थितदिव्याप्राकृतरूपं न जानात्विति मदिच्छावशवर्त्तिन्या मायारूपजवनिकया समावृतः सम्यगाच्छन्नः न दर्शनमुपगच्छामि। तया योगमायया मूढ आवृतज्ञानोऽयं मद्भक्तव्यतिरिक्तः सर्वोऽपि लोको मामजं जीववत्कर्मनिमित्तजन्मशून्यं स्वेच्छया लीलार्थमाविर्भूतमव्ययमजहत्स्वरूपगुणशक्तिकं नाभिजानाति, साक्षात्परमेश्वरोऽयमिति न जानाति। किन्तु मनुष्यविशेषमेव मन्यते।

नरकासुर, जरासन्ध, पौण्ड्रक, शिशुपाल आदि को मारनेवाले, सब देव, राक्षस मनुष्यों से पराक्रम को पाह न लगनेवाले, सब ईश्वरों के ईश्वर आपका ज्ञान सबको क्यों नहीं होता? इसी प्रश्न को लक्ष करके भगवान् कहते हैं।

सबसे विजातीय स्वरूप, गुण और ऐश्वर्यवाला भी मैं सब लोगों के सामने अपने अप्राकृत (दिव्य) रूप से प्रगट नहीं होता हूँ किन्तु किसी अपने अनन्य भक्त ही के सामने अपने अप्राकृत रूप को प्रगट करता हूँ। नारायणी आख्यान में नारदजी के प्रति श्वेतद्वीपपति का ऐसा ही वचन है :—

"एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः॥
न च मां ते ददृशिरे न तु द्रक्ष्यति कश्चन।
ऋते त्वैकान्तिकं चैषां त्वं चैवैकान्तिको मम॥"

अर्थात् एकत्, द्वित् और त्रित् महर्षि लोग मेरे पास आये, पर वे मुझको नहीं देख सके, कोई भी मुझको नहीं देख सकेगा। केवल वही मुझको देख सकेगा जो मेरा एकान्त भक्त है। तुम्हीं मेरे एकान्त भक्त हो। ऐसा होने का कारण बताते हैं। योग अर्थात् मेरा संकल्प और उसके अधीन जो माया (योगमाया) अर्थात् मनुष्य की समानरूपता, उससे अभक्त लोग मेरे यथार्थ दिव्य और अप्राकृत स्वरूप को नहीं जानते। उस प्रकार की मेरी इच्छा के वशवर्त्ती मायारूपी परदे से पूर्णरूप से आच्छादित होने के कारण मैं लोगों के दर्शन का विषय नहीं होता हूँ। उस योगमाया ने मूढ़ बनकर अर्थात् ज्ञानाच्छादित होकर मेरे भक्तों को छोड़ और सभी लोग मुझ अजन्मा को जीवों के समान

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ! ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

योगमायासमावृतोऽहं लोकस्य न प्रकाश इत्युक्तमिदानीं मायाया नियन्तुर्मम तया कथञ्चित्कदाचिदपि न ज्ञानावरणं किन्तु तदधीनामेवेत्यतो मां न जानन्तीत्याह—वेदाहमिति । अहं परमेश्वरः स्वयोगमायया सर्वान् जीवान् व्यामोहयन्नपि स्वयं सर्वदाऽप्रतिबद्धज्ञानः समतीतानि बहुकालतो विनष्टानि वर्त्तमानानि च भविष्याणि चेति कालत्रयवर्त्तीनि भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाणि वेद, जानामि हे अर्जुन ! अतोऽहं सर्वदाऽखण्डज्ञानत्वात्सर्वज्ञः । मां तु सर्वदा सर्वत्र विद्यमानमपि मायावश्यः कश्चन कोऽपि मद्भक्तिवर्जितो न वेद, अतो मायामोहितत्वान्मां न प्रायेण भजत इत्यर्थः ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥२७॥

तदेवं जीवानां भगवत्तत्त्वज्ञानाभावे मायाया हेतुत्वमुक्तं, पुनस्तदज्ञानदार्ढ्ये तत्कार्यस्य हेतुत्वमाह—इच्छाद्वेषसमुत्थेनेति । इच्छाऽनुकूलविषये रागः, द्वेषः प्रतिकूलविषयेऽप्रीतिस्ताभ्यां पूर्वपूर्वजन्मन्य-

---

कर्मनिमित्त जन्म से शून्य, स्वइच्छा से लीला के लिये अवतरित और अनन्तस्वरूप, गुण, शक्तियुक्त नहीं जानते अर्थात् मुझे साक्षात् परमेश्वर नहीं समझते । वे यही जानते हैं कि ये कृष्ण भी एक मनुष्य विशेष है ॥२५॥

योगमाया से मेरे घिरे रहने के कारण मुझको लोग नहीं देख सकते यह बात पीछे के दो श्लोकों में कह आये हैं । अब यहाँ यह कहते हैं कि माया के नियन्ता होने के कारण उस माया से मेरे ज्ञान का कभी भी और तनिक भी आवरण नहीं होता, पर माया के अधीन रहनेवाले जीवों का ज्ञानावरण होता है । इसी से जीव मुझको नहीं जानते ।

अपनी योगमाया से सब जीवों को मोहता हुआ भी मैं स्वयं सर्वदा ज्ञानावरणहीन हो बहुकाल से विनष्ट, वर्तमान और भविष्य में जो होंगे अर्थात् भूत, भविष्य, वर्त्तमान, तीनों काल में स्थित सब स्थावर जङ्गम आदि जीवों को जानता हूँ । हे अर्जुन ! इसलिये सर्वदा अखण्डज्ञान होने के कारण मैं सर्वज्ञ हूँ ।

मैं सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हूँ, पर तौभी माया के वश में होने के कारण मेरी भक्ति से शून्य कोई भी जीव मुझे नहीं जानता । मतलब यह कि माया से मोहित होने के कारण मुझे लोग प्रायः नहीं भजते हैं ॥२६॥

जीवों के भगवत्तत्व के न जानने में माया (भगवत्संकल्प) ही कारण है, ऐसा कहा । अब यह कहते हैं कि उस अज्ञान को दृढ़ करने में उसी माया के कार्य ही कारण हैं ।

अनुकूल विषय में राग को इच्छा कहते हैं और प्रतिकूल विषय में अप्रीति को द्वेष कहते हैं ।

भ्यस्ताभ्यां समुत्थेन सम्यगुत्पन्नेन शीतोष्णसुखदुःखादिरूपद्वन्द्वनिमित्तेन मोहेन अहं सुखी अहं दुःखीत्यादिविपर्ययरूपेण सर्वभूतानि प्राणिनः सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां सम्मोहं विभ्रमं सुखदुःखादिविशिष्टे नश्वरे देहे एवात्माभिमानं यान्ति प्राप्नुवन्ति । ननु देहाद्यतिरिक्तमात्मानं जानन्ति, कुतो मां सर्वान्तर्यामिणं हे परन्तप ! अतो रागद्वेषजन्यसम्मोहाभिभूतान्तःकरणाः प्राणिनो मां सर्वेश्वरं न जानन्त्यतो न भजन्ते ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

ननु यदि सर्ग एव सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति केचित्त्वां भजन्तो दृश्यन्त इत्यत आह :—येषामिति । येषां तु पूर्वजन्मसुकृतपुण्यकर्मणां जनानां सुकृतकार्यभूतोत्तमजन्मवतां पूर्वजन्मकृतपुण्यबलाज्जन्मत एव ज्ञानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमन्तमवसानं प्राप्तं नष्टमित्यर्थः । ते निष्पापाः सन्तो रागद्वेषनिमित्तेन द्वन्द्वमोहेन विपर्ययज्ञानेन निर्मुक्ता निःशेषेण मुक्तास्तत्त्वज्ञानार्हा दृढव्रताः सन्तो मां सर्वज्ञं सर्वकारणं सर्वेश्वरं सर्वकर्मफलप्रदातारमाश्रितवात्सल्यजलधिं भजन्ते, सर्वात्मना सेवन्ते ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

ततस्ते भगवन्तं भजमाना ज्ञातव्यविशेषान्विज्ञाय कृतार्था भवन्तीत्याह—जरामरणेति ।

पूर्व जन्मों में अभ्यास किये गये इच्छा द्वेषों के द्वारा उत्पन्न, ठंडा गरम, सुख दुःख आदि रूप द्वन्द्व के लिये मोह, अर्थात् मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, ऐसा विपर्यय, सब जीवों को, स्थूल देह की उत्पत्ति होने पर, विभ्रम पैदा करता है । अर्थात् जीव को सुख दुःख से युक्त नाश होनेवाले शरीर में आत्माभिमान हो जाता है । वह अपने को अर्थात् अपने आत्मा को देह से पृथक् नहीं जानता और जब अपने आत्मा ही को नहीं जानता तो मुझको, जो सबका अन्तर्यामी हूं क्या जानेगा ? इस प्रकार राग द्वेष से उत्पन्न मोह से अभिभूत अन्तःकरणवाले जीव मुझ सर्वेश्वर को नहीं जानकर मेरा भजन नहीं करते हैं ॥२७॥

यदि संसार में सब जीव मोह ही को प्राप्त होते हैं तो कुछ लोग आपका भजन करते हुए कैसे देख पड़ते हैं ? भगवान् इसका उत्तर देते हैं ।

जो लोग पूर्व जन्म में सुकृत किये हुए हैं और उसके बल से उत्तम जन्म पाये हैं, और ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप जिनके नाश हो गये हैं वे ही पापरहित पुरुष, राग द्वेष से उत्पन्न द्वन्द मोह से छूट और इस प्रकार तत्वज्ञान के योग्य बन, दृढ़व्रत होकर सर्वज्ञ, सबके कारण, सबके ईश्वर, सबके कर्म के फलदाता और आश्रितों के लिये वात्सल्य के समुद्र, मुझको भजते हैं अर्थात् सर्व प्रकार से मेरी सेवा करते हैं ॥२८॥

ऐसे लोग भगवान् का भजन करते हुए जानने योग्य बातों को जानकर कृतार्थ होते हैं । इसी को यहाँ कहते हैं :—

जरामरणयोर्मोक्षाय निरासाय मां भजतां यथेष्टफलदातारमाश्रित्य शरणं गत्वा ये यतन्ति यतन्ते फलाभिसन्धिशून्यानि मत्प्रीणाय कर्माणि कुर्वन्ति, ते शुद्धान्तःकरणाः सन्तः तद्ब्रह्म विदुः, कृत्स्नमध्यात्मं च विदुः। कर्म चाखिलं विदुः।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अन्यानपि वेत्तव्यान्समुच्चीय तद्वेदनफलं वदन्नध्यायमुपसंहरति—साधिभूताधिदैवमिति। अधिभूतेनाधिदेवेन च तथा अधियज्ञेन च सह मां येऽर्थार्थिनो ज्ञानिनो वा विदुः, ते सर्वे प्रयाणकालेऽपि मरणसमयेऽपि स्वप्राप्यफलानुगुणं मां विदुः। ब्रह्माध्यात्माधिभूतादिशब्दानामर्थमनन्तराध्यायेऽर्जुनप्रश्नपूर्वकं श्रीभगवानेव वक्ष्यति।

स्वैश्वर्यं भक्तश्रेष्ठत्वं च बन्धमोक्षादिकारणम्।
स्वभक्तकृपयैवेह सप्तमे हरिणोदितम् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

जरा और मरणावस्था से मोक्ष पाने के लिये मुझको, जो भजनेवालों को यथेष्ट फल का दाता है, आश्रय करके अर्थात् मेरी शरण में आकर जो फल की आकांक्षा से शून्य और मेरी प्रीति के लिये कर्मों को करते हैं वे शुद्धान्तःकरण हो उस ब्रह्म को, सब अध्यात्म (वेदान्त) को और सब कर्म को जानते हैं ॥२९॥

दूसरी जानने योग्य वस्तुओं का भी उल्लेख कर और उनके जानने के फल को कहते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ मुझको जो अर्थार्थी वा ज्ञानी जानते हैं वे सब मरणकाल में भी अपने प्राप्य फल के अनुरूप ही मुझको जानते हैं।

ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, आदि शब्दों का अर्थ अर्जुन से पूछे जाने पर भगवान् ही आगे के अध्याय में कहेंगे ॥३०॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

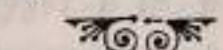

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म ? किमध्यात्मं ? किं कर्म ? पुरुषोत्तम ! ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं ? किमुच्यते ॥१॥

पूर्वाध्यायान्ते यथाधिकारिज्ञेया ब्रह्माध्यात्मादिसप्तपदार्था भगवता निर्दिष्टास्तद्व्याख्यारूपोऽयमष्टमाध्याय आरभ्यते । तत्र निर्दिष्टमात्रान्मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यान् ब्रह्माध्यात्मादिपदार्थान् बुभुत्सुरर्जुन उवाच—किं तद्ब्रह्मेति द्वाभ्याम् । जरामरणमोक्षाय भगवन्तं त्वामाश्रित्य यतमानानां ज्ञातव्यतयोक्तं तद्ब्रह्म किं ? किमध्यात्मम्, आत्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्नाधान्यतया तिष्ठत्यध्यात्मं किं विवक्षितं ? तथा कर्म चाखिलमित्यत्र कर्म किं कीदृशं विवक्षितं ? त्वं सर्वज्ञो जानासि नान्य इति सम्बोधयति—पुरुषोत्तम इति । अधिभूतं च किं प्रोक्तं भूतान्याकाशादीन्यधिकृत्य यत्कार्यं तदधिभूतशब्देनोच्यते किं वाऽन्यत् ? अधिदैवं किमुच्यते देवानामधिष्ठातृ इन्द्रादि किमन्यद्वा ? ।

पूर्व अध्याय के अन्त में भगवान् ने डेढ़ श्लोकों से यथाधिकार पुरुषों द्वारा जानने योग्य अध्यात्म आदि सात पदार्थों को संक्षेप से कहा । इस आठवें अध्याय में उन्हीं पदार्थों की व्याख्या करते हैं ।

पीछे जिन ब्रह्म, अध्यात्म आदि पदार्थों का भगवान् ने केवल निर्देश किया, मुमुक्षुओं के जानने योग्य, उन पदार्थों को अच्छी रीति से जानने के लिये अर्जुन ने भगवान् से पूछा । पहले दो श्लोकों में अर्जुन के प्रश्न हैं ।

हे पुरुषोत्तम ! (पुरुषोत्तम कह के भगवान् को सम्बोधन करने का अर्थ यह है कि आप सर्वज्ञ हैं और हमारे प्रश्नों का उत्तर आप ही दे सकते हैं और दूसरा नहीं) आपका आश्रय करके यत्नशील पुरुषों को जरा मरण से छुटकारा पाने के लिये जिस ब्रह्म को जानना चाहिये वह ब्रह्म क्या है ? जो आत्मा अर्थात् शरीर पर अधिकार कर उसमें प्रधानता से स्थित है वह अध्यात्म क्या है ? यत्नशील पुरुषों द्वारा जानने योग्य कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? आकाशादि भूतों पर अधिकार कर जो कार्य होता है वही अधिभूत कहा जाता है वा दूसरा कोई ? अधिदैव किसे कहते हैं ? देवताओं पर अधिकार करनेवाले इन्द्रादिकों को ही अधिदैव कहते हैं वा दूसरे किसी को ? ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेस्मिन्मधुसूदन ! ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अधियज्ञः यज्ञेऽधिकृतः यदुद्देशेन यज्ञो निर्वर्त्यते स तत्सम्प्रदानभूतोऽत्रास्मिन्यज्ञाधिकारिजने क इन्द्रादिदेवविशेषो वा सर्वाधिष्ठाता सर्वात्मा परमेश्वरो वा ? परमेश्वरश्चेत्सोऽस्मिन्देहे तद्बहिर्वा ? स चाधियज्ञः कथं केन प्रकारेण तस्याधियज्ञतेत्यर्थः। दैत्यराजनाशकस्य तवैतत्संशयनिवारणं कियदित्याशयेन सम्बोधयति—मधुसूदनेति। प्रयाणकाले मरणसमये नियतात्मभिः संयतचित्तैः कथं ज्ञेयोऽसि।

श्रीभगवानुवाच।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ॥३॥

अर्जुनप्रश्नानामुत्तरं क्रमेण त्रिभिः श्लोकैः श्रीभगवानुवाच, तत्र तावत्त्रयाणामुत्तरमेकेनाह—अक्षरमिति। अक्षरं न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञसमष्टिरूपं "अविनाशी वाऽरेऽयमात्मे"ति श्रुतेः। "अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते"इत्यादिश्रुतेश्चाक्षरशब्दवाच्यं बद्धक्षेत्रज्ञस्वरूपं निर्दिष्टं, परममक्षरं तु प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं ब्रह्मशब्दार्थतयाऽत्र ज्ञेयं, प्रकृतिवियुक्तस्य धर्मभूतज्ञानविकासाद्ब्रह्मवत्सार्वज्ञ्ययोगादित्यर्थः। यद्यपि "एतद्वैतदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ती"त्यादिश्रुतौ

हे मधुसूदन ! (मधुसूदन सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है कि आप मधु नाम के दैत्यराज को मारनेवाले हैं इसलिये मेरा संशय दूर करना आपके लिये कोई मुश्किल बात नहीं है।) जिनके उद्देश्य से यज्ञ किया जाता है वह यज्ञ का सम्प्रदान अधिकारी कौन है ? इन्द्रादि कोई खास देवता यज्ञाधिकारी हैं वा स्वयं सर्वात्मा परमेश्वर ही ? यदि स्वयं परमेश्वर ही अधियज्ञ हैं तो यज्ञकर्त्ता के शरीर के भीतर अन्तर्यामीरूप से हैं वा बाहर ? फिर उनकी अधियज्ञता किस प्रकार की है ? जिन्होंने अपने चित्त को जीत लिया है, वे प्राण छूटने के समय अपने आपको कैसे जान सकते हैं ? ॥२॥

भगवान् अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर क्रम से तीन श्लोकों में देते हैं। इस श्लोक में अर्जुन के पहले तीन प्रश्नों का उत्तर है।

जीव की समष्टि वा समूह को अक्षर कहते हैं क्योंकि उसका नाश नहीं होता। आत्मा के अविनाशी होने में श्रुति प्रमाण है, यथा "अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा" अर्थात् यह आत्मा अविनाशी है। पर श्रुति ने "अक्षर" शब्द से बद्ध जीव का निर्देश किया है (यथा "अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते" अर्थात् प्रकृति अक्षर वा बद्धजीव में लीन होती है और अक्षर तम (अन्धकार) में लीन होता है), इसलिये इसे श्लोक में "परमं अक्षरं" कहा। परम अक्षर कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति-सम्बन्ध से छुटकारा पाये हुए शुद्ध आत्मस्वरूप ही को ब्रह्म कहते हैं, बद्धजीव समूह को नहीं। प्रकृति-वियुक्त होने से शुद्ध आत्मस्वरूप के धर्मभूत ज्ञान का विकाश हो जाता है और इसलिये वह ब्रह्म ही के समान सर्वज्ञता आदि गुणवाला हो जाता है। यद्यपि "अक्षर" शब्द से श्रुति परमात्मा का भी बोध

अक्षरशब्देन परमात्माऽपि निर्दिष्टस्तदाऽप्यत्र परमात्मा नोच्यते "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत"-इत्यादिना भगवता स्वयमेवाक्षरात्परमात्मनो भेदेन वक्ष्यमाणत्वात्। स्वभावः प्रकृतिः आत्मानं जीवात्मानमधिकृत्य कार्यकारणकर्तृत्वादिहेतुत्वेन वर्त्तमानोऽध्यात्मशब्देनोच्यते "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" इति वक्ष्यमाणवचनात्। बुद्धीन्द्रियभूतसूक्ष्मरूपेण परिणतः प्रकृत्याख्यः स्वभाव-श्चेतनाधिष्ठितोऽध्यात्मशब्दवाच्य इत्यर्थः। तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। भूतानां स्थावरजङ्गमादिभेदनिष्ठानां भाव उत्पत्तिः उद्भवो वृद्धिस्तौ भावोद्भवौ करोति यो विसर्ग इन्द्रादिदेवतोद्देशेन द्रव्यत्यागलक्षणो यज्ञदानादिरूपः स कर्मसञ्ज्ञितः "अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजे"ति स्मृतेः। सोऽपि पुनरावृत्तिहेतुत्वाद्धेयतया मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यः।

कराती है, यथा "एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" अर्थात् ब्राह्मण लोग इस अक्षर ब्रह्म को प्रतिपादन करते हैं तथापि यहाँ पर इसका अर्थ परमात्मा नहीं है, क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् स्वयं कहेंगे कि परमात्मा अक्षर से भिन्न है, यथा "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"॥ अर्थात् लोक में दो पुरुष प्रसिद्ध हैं, एक क्षर और दूसरा अक्षर। सब भूतों को क्षर कहते हैं और सब भूतों में अचलरूप से स्थित आत्मा को अक्षर कहते हैं। और इन दोनों से विलक्षण जो उत्तम पुरुष है उसको परमात्मा कहते हैं।

अध्यात्म किसको कहते हैं? अब इसका उत्तर भगवान् देते हैं। स्वभाव (प्रकृति) को अध्यात्म कहते हैं क्योंकि स्वभाव ही कार्य कारण और कर्तृत्व (कर्त्तापन) आदि का हेतु होकर जीवात्मा पर अधिकार करके स्थित है। भगवान् ही के वचन इसमें प्रमाण है क्योंकि आगे चलकर भगवान् ने स्वयं कहा है कि "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" अर्थात् कार्य कारण और कर्त्तापने का हेतु प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही है। कहने का भाव यह कि बुद्धि और इन्द्रिय का सूक्ष्मरूप धारण कर स्वभाव सब जीवों पर अधिकार किये हुए है और इसी से इसको अध्यात्म (अधि+आत्म) कहते हैं। इन दोनों अर्थात् परम अक्षर और अध्यात्म में पहला ग्रहण करने योग्य और दूसरा छोड़ने योग्य है ऐसा मुमुक्षुओं को जानना चाहिये।

जो यज्ञ इन्द्रादि देवों के लिये अग्नि में द्रव्यादिकों को डालकर वा दान देकर किये जाते हैं और जिनसे स्थावर जङ्गम आदि भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है उन्हीं को कर्म कहते हैं। इसमें स्मृति प्रमाण है, यथा "अग्नौप्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥" अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। यह कर्म संसार में बार-बार लानेवाला है। इसलिये मोक्ष के चाहनेवालों को इसको हेय अर्थात् छोड़ने के योग्य समझना चाहिये।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ! ॥४॥

ततस्त्रयाणां प्रश्नानामुत्तरमाह—अधिभूतमिति । अधिभूतशब्दनिर्दिष्टः क्षरो भावः, क्षरतीति क्षरो विनाशी यो भावः, त्रियदादिभूतपरिणामविशेषस्तदाश्रयः शब्दस्पर्शादिर्गुणाश्च ऐहिक आमुष्मिकश्च सर्वोऽपि क्षरणस्वभावः । भूतमात्रमधिकृत्य भवत्यधिभूतमित्युच्यते । पुरुषो हिरण्यगर्भः समष्टिजीवात्मा सर्वजीवाभिमानी—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तते"इति श्रुतेः ॥

दैवतानि दिग्वातार्कवरुणाश्विनाख्यानि अधिकृत्यः सर्वेषां श्रोत्रादिकरणान्यनुगृह्णातीत्यधिदैवतमुच्यते । अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता सर्वकर्मप्रवर्त्तकः अत्रास्मिन्यजमानदेहेऽन्तर्यामितया वर्त्तमानोऽहमेवाधियज्ञ-शब्दनिर्दिष्टः । यज्ञो हि देहनिर्वर्त्त्यत्वेन देहायत्तो दृष्टचरः, देहश्च सजीवो मदायत्तस्थितिप्रवृत्ति-कत्वान्मत्प्रवर्त्त्यस्तस्मादहमधियज्ञः । अथवाऽधियज्ञः सर्वयज्ञाधिष्ठाता सर्वयज्ञफलदाता चात्रास्मिन्यज्ञा-

---

अर्जुन के चौथे, पाँचवें और छठें प्रश्नों का उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं।

हे देहभृताम्वर ! अर्थात् देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन (अर्जुन को इस प्रकार सम्बोधन करने का अर्थ यह कि तुम देहधारियों में श्रेष्ठ होने के कारण मुझको, जैसा मैं अपने को यहाँ पर कहूँगा, जानने के योग्य हो)। क्षर भाव को अर्थात् नाश होने के स्वभाव को अधिभूत कहते हैं क्योंकि आकाशादि पंचभूत के परिणाम अर्थात् कार्य और उनके शब्द, स्पर्शादिगुण नश्वर हैं, चाहे ये इस लोक के हों या परलोक (स्वर्ग) के। कहने का मतलब यह कि इस क्षर भाव का अधिकार भूतमात्र पर है इसलिये यह अधिभूत (भूतों पर अधिकार करके स्थित रहनेवाला) कहलाता है।

जीव समष्टि (समूह) का अभिमानी हिरण्यगर्भ, सूर्य-मण्डलमध्यवर्ती ब्रह्मा को पुरुष कहते हैं (श्रुति प्रमाण—"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तते ॥" अर्थात् ब्रह्मा ही सबसे पहले हुए; उन्होंने ही सबसे पहले शरीर धारण किया, वही सब जीवों के आदि कर्त्ता हैं, उन्हीं को पुरुष कहते हैं।) यही ब्रह्मा अधिदैवत कहलाते हैं क्योंकि दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमारादि नामवाले देवताओं पर अधिकार कर सब जीवों के आँख, कान आदि इन्द्रियों को अपने अपने काम की शक्ति प्रदान करते हैं। कहने का भाव कि उन सब पर इनका अधिकार है इसलिये यही अधिदैवत हैं।

यज्ञकर्त्ता यजमान के शरीर में, यज्ञ का मालिक सब कर्मों का करानेवाला और अन्तर्यामि-रूप से स्थित मैं ही अधियज्ञ हूँ। भगवान् का अधियज्ञ होना दो प्रकार से जाना जा सकता है। एक तो यह कि सब यज्ञ देह के आधीन हैं क्योंकि बिना देह के यज्ञ हो ही नहीं सकता और जीवयुक्त देह भगवान् के आधीन है क्योंकि उसकी स्थिति प्रवृत्ति उन्हीं पर अवलम्बित है और इस प्रकार भगवान्

भिमानीन्द्रादिदेवताऽदेहेऽन्तर्यामितया वर्त्तमानः सर्वयज्ञफलप्रदाता तद्भोक्ता चाहमेवेति हे देहभृतांवर ! सर्वप्राणिश्रेष्ठ त्वमा मेवं बोद्धुमर्हसीति सम्बोधनाभिप्रायः। इत्यैश्वर्यार्थिनां ज्ञातव्यतयाऽधिभूतादि-पदार्था व्याख्याताः।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। ५॥

सप्तमप्रश्नस्योत्तरमाह—अन्तकाले चेति। अन्तकाले प्राणवियोगसमये मामेव वासुदेवं भगवन्तं सर्वाभिलाषपूरकं स्मरन्सन् कलेवरं मुक्त्वा यः प्रयाति स मद्भावं याति, मम यो भावो यथोक्ताधि-यज्ञादिरूपस्तं सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं, वा यथा मामनुसन्धत्ते तथाविधाकारं प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो नास्ति। एतेनान्तकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरं व्याख्यातम्।

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः॥६॥

अन्तकाले न केवलं मामेव स्मरतो मत्प्राप्तिः, किन्तु यं कञ्चिदस्मरतस्तत्प्राप्तिरेव नियतेत्याह—यं यमिति। यं यं भावं देवराजादिविशेषं वा अन्यदपि यत्किञ्चिद्वा स्मरंश्चिन्तयन्नन्ते प्राणत्यागकाले

अधियज्ञ हुए। दूसरा कि यज्ञ के अभिमानी अर्थात् जिनके निमित्त यज्ञ किया जाता है, इन्द्रादि देवों के शरीर में अन्तर्यामिरूप से भगवान् ही स्थित हैं और इस प्रकार वे ही सब यज्ञों के फल देनेवाले एवं भोक्ता हैं और इसी भाँति वे अधियज्ञ ठहरे।

ऐश्वर्य के चाहनेवालों के लिये भगवान् ने अधिभूतादि पदार्थों की व्याख्या की। इनमें अधिभूत का जानना संसार से वैराग्य के लिये अधिदैव का जानना कर्म की शुद्धि और अधियज्ञ का ज्ञान निरअभिमानता के लिये है॥४॥

अर्जुन के सातवें अर्थात् अन्त के प्रश्न का, कि अन्त समय में आप कैसे जाने जाते हैं, उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं।

जो मनुष्य प्राण छूटने के समय सब अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाले मुझ भगवान् वासुदेव को स्मरण करता हुआ अपने शरीर को छोड़ता है वह मेरे भाव को प्राप्त करता है इसमें कुछ भी संशय नहीं। कहने का भाव यह कि पीछे कथित अधियज्ञादिरूप को वा सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप को वा मेरे जिस प्रकार के स्वरूप को स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त करता है॥५॥

अन्तकाल में केवल मेरा ही स्मरण करनेवाले को मेरी प्राप्ति होती है यह बात नहीं, किन्तु जिस किसी भाव को अन्त समय में स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है उसको उसी भाव (रूप-आकार) की प्राप्ति होती है। अब इसी को कहते हैं। जिस-जिस भाव अर्थात् इन्द्रादि विशेष का अथवा और किसी

कलेवरं त्यजति, तं तमेव स्मर्य्यमाणं भावमेति प्राप्नोति। तत्तत्स्मरणे हेतुमाह—सदा तद्भावभावित इति। सदा सर्वस्मिन्काले तस्य भावस्य भावो भावना अनुचिन्तनं तेन भावितो वासितान्तःकरणः।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

एवं सामान्यविषयभावनाविशेषात्तत्तत्प्राप्तिनियतेरयतो मत्प्राप्त्यर्थं मुमुक्षुस्त्वं मत्स्मरणमेव कुर्वित्याह—तस्मादिति। यस्मात्सर्वकालाभ्यस्तविषय एवान्त्यकाले मनोनिष्ठा भवति, तस्मात्सर्वेषु मां सर्वेश्वरं सर्वाभीष्टप्रदं निरन्तरमनुस्मर, अनुचिन्तय। मत्स्मरणविरोधिपापनिरासाय युध्य च। श्रुतिस्मृतिविहितं वर्णाश्रमोचितं युद्धादिकं नित्यनैमित्तिकं कर्म च कुर्वित्यर्थः। एवं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाशुद्धिक्षयान्मयि सर्वेश्वरे अर्पिते मनोबुद्धी येन त्वया स त्वं सर्वदा मच्चिन्तनपरः सन्मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि। असंशयो नास्त्यत्र संशयः।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

तदेवमर्जुनप्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा प्राप्तिप्रकारं चाभिधायेदानीं योगिन उपासनप्रकारं वक्तुं तत्तदनुगुणं प्राप्यमाह—अभ्यासेति। अभ्यासोऽहरह उचितेषु सर्वेषु कालेषु उपास्यस्वरूपगुणादेर्मनसा सशीलनम्, स एव योगः समाधिस्तेन युक्तेन तत्रैवाभिनिविष्टेन अत एव नान्यगामिना स्वध्येयान्नान्यं

दूसरे विषय का, मरने के समय, स्मरण करते हुए जो शरीर छोड़ता है वह उसी स्मरण किये हुये भाव को प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि सदा उसी विषय की चिन्ता से उसका अन्तःकरण वैसा ही हो जाता है और इसीलिये वह उसी भाव को प्राप्त करता है ॥६॥

सामान्य विषयों के भावनाविशेष से उस उस विषय की प्राप्ति निश्चित है इसलिए मोक्ष की इच्छावाले तुमको, हे अर्जुन! मुझको प्राप्त करने के लिये सदा मेरा ही स्मरण करना चाहिये। इसी को कहते हैं।

मरने के समय सदा से अभ्यस्त विषय में ही मन की निष्ठा होती है इसलिये सब समय में मुझको ही स्मरण करो, क्योंकि मैं सबका ईश और सब अभिलषित पदार्थों का देनेवाला हूँ। हमारे स्मरण के विरोधी पापों को निर्मूल करने के लिए लड़ो भी, अर्थात् श्रुतिस्मृतिविहित अपने वर्णाश्रम के अनुसार युद्ध आदि नित्य नैमित्तिक कर्मों को भी करो। इन कर्मों के करने से तुम्हारे पापों का नाश होगा और तब तुम अपना मन बुद्धि मुझ सर्वेश्वर में अर्पण कर सकोगे, और सदा मेरी ही चिन्ता करते हुए मुझको जरूर पा जाओगे। इसमें कुछ संशय नहीं ॥७॥

अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर दे और अपनी प्राप्ति का रास्ता बता भगवान् अब योगियों की उपासना की रीति और उसके अनुकूल प्राप्य विषय को कहते हैं।

प्रतिदिन यथोचित काल में अपने उपास्य देव के स्वरूप, गुण आदि का मन से चिन्तन करने के

विषयं गन्तुं शीलमस्य तेन चेतसा परमं पुरुषं परमेश्वरं दिव्यं द्योतनात्मकमादित्यमण्डलमध्यस्थमनुचिन्तयन् हे पार्थ ! याति प्राप्नोति ।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

पुनस्तमेव प्राप्य पुरुषं विशिनष्टि द्वाभ्याम्—कविमिति । कविं सर्वज्ञं, पुराणं पुरातनम्, अनुशासितारं सर्वस्य जगतो नियन्तारम्—अणोरणीयांसम् । अणुपरिमाणकाञ्जीवादेरपि तद्व्यापकत्वात्सूक्ष्मतरमित्यर्थः । सर्वस्य धातारम्-सर्वस्य जगत आधारं पोषकञ्च । अचिन्त्यरूपम् । अचिन्त्यमहिमत्वादि यदित्थमित्थमेवं चिन्तितुमनर्हं रूपं यस्य तम्, आदित्यवत्सकलजगत्प्रकाशो वर्णः प्रकाशो यस्य तं, तमसः परस्तात् । तमःशब्दवाच्यप्रकृतिकालाभ्यां परस्तादत्यन्तभिन्नमित्यर्थः ।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ॥
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्, स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

एवम्भूतं पुरुषं प्रयाणकाले भक्त्या युक्तो योगबलेन समाधिबलेन च युक्तः सम्यक् सुषुम्णामार्गेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य अत एवाचलेन निश्चलेन चेतसा योऽनुस्मरेत्स तं परं पुरुषं दिव्यं प्रकाशरूपमुपैति प्राप्नोति ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

सामान्यं योगमुक्त्वेदानीं योगशिरोयोगं वक्तुं प्रतिजानीते—यदक्षरमिति । यदक्षरं वेदविदो

अभ्यासरूप योग वा समाधि में लगा हुआ और अपने ध्येय से अन्यत्र नहीं जानेवाले निश्चल चित्त से दिव्य अर्थात् सूर्य मण्डलमध्यस्थ प्रकाशमय परमपुरुष परमेश्वर को चिन्तन करानेवाला योगी उसको प्राप्त करता है ॥८॥

फिर दो श्लोकों से उसी प्राप्त करने योग्य परपुरुष के विशेषणों को बताते हैं ।

वह परमेश्वर सर्वज्ञ, पुरातन, सब जगत् का शासक, अणुपरिमाणवाले जीवों के भी भीतर व्यापक होने के कारण अणु से भी सूक्ष्म या छोटा, सारे संसार का आधार और पोषक, अचिन्त्यरूप अर्थात् जिसकी महिमा के विषय में यह नहीं कहा जा सके कि वह ऐसा ही वा इतना ही है अथवा अन्य वस्तुओं की उपमा देकर जो नहीं समझा जा सके, सूर्य के समान सकल जगत् को प्रकाश करनेवाले तेज से युक्त, और तम अर्थात् प्रकृति और काल से बिलकुल भिन्न, ऐसे परपुरुष को, मरने के समय भक्ति और समाधिबल से युक्त हो और प्राणों को सुषुम्णा मार्ग से भौंहों के बीच रखकर और इस कारण निश्चल मन से जो मनुष्य स्मरण करता है वह उस प्रकाशरूप दिव्य परमेश्वर को प्राप्त करता है ॥९।१०॥

पीछे के श्लोकों में सामान्य योग का वर्णन कर अब यहाँ श्रेष्ठयोग को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

ब्राह्मणा वदन्ति । "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमित्यादिवचनैः प्रतिपादयन्ति । यत् वीतरागा निवृत्तसर्वविषयस्पृहा यतयो यत्नशीला विशन्ति, स्वस्यात्मानं नियामकं परमाधाररूपं साक्षादनुभूय प्रकृतिसम्बन्धविनिर्मुक्ताः सन्तस्तदात्मीयतन्नियम्यतद्व्याप्यतदाधेयतया पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हास्तिष्ठन्ति । यदिच्छन्तो यज्ज्ञातुमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् पदं गम्यते इति पदं प्राप्यं ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये, तत्प्राप्त्युपायं कथयिष्यामीत्यर्थः ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

तमेव प्रतिज्ञातमुपायं साङ्गमाह द्वाभ्याम्—सर्वेति । सर्वद्वाराणि श्रोत्रचक्षुरादीन्द्रियद्वाराणि संयम्य बाह्यविषयग्रहणायोग्यानि कृत्वा मनश्च हृदि निरुध्य बाह्यविषयसङ्कल्पशून्यं सम्पाद्य सर्वबाह्यक्रियाहेतुं प्राणं मूर्ध्नि भ्रूमध्यादुपरि ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्णामार्गेणावेश्य आत्मनो योगधारणां समाधिस्थैर्यमास्थितः सन् ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

ओमित्येकमक्षरं ब्रह्मवाचकत्वाद्ब्रह्म व्याहरन्नुच्चरन् तद्वाच्यभूतं परं ब्रह्म मामनुस्मरन् मूर्ध्न्या नाड्या देहं त्यजन् यः प्रयाति प्रकर्षेणार्चिरादिमार्गेण याति, स परमामुरनिपत्प्रतिपाद्यां गतिं प्राप्य यथोपासनं मां प्राप्नोति ।

वेदज्ञ लोग जिसे अक्षर कहते हैं अर्थात् नीचे लिखे और दूसरे अनेक वचनों से जिसका प्रतिपादन करते हैं, यथा—"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्," अर्थात् हे गार्गि ! वेद के जानने वाले ब्राह्मण लोग इस अक्षर को यह (ब्रह्म) न स्थूल है न अणु, नह्रस्व है, न दीर्घ कहते हैं । ऐसे फिर जिस अक्षर वा ब्रह्म में, सब विषयों की इच्छा से रहित यत्नशील पुरुष प्रवेश करते हैं अर्थात् ऐसे यत्नशील पुरुष अपने आत्मा (अन्तरात्मा), नियामक, व्यापक, परमाधार रूप भगवान् का साक्षात् अनुभव कर, प्रकृति के सम्बन्ध से छूट जाते हैं और तब अपने को भगवान् का आत्मीय, नियम्य, व्याप्य और आधेय समझ भगवान् से पृथक अपनी स्थिति प्रवृत्ति के न होने के अनुभव में स्थित रहते हैं । फिर जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उसी को प्राप्त करने योग्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय मैं तुमसे संक्षेप में कहूँगा ॥११॥

अब दो श्लोकों से प्रतिज्ञात उपायों को साङ्गोपाङ्ग कहते हैं । नाक, कान, आँख आदि सब इन्द्रिय द्वारों को संयम कर अर्थात् बाहर के विषयों को ग्रहण करने में अयोग्य बना, मन को हृदय में रोक कर, अर्थात् बाहर के विषयों में संकल्प रहित कर और सब बाहरी क्रियाओं के कारण रूप प्राण को सुषुम्ना मार्ग से भौंहों के बीच के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में लाकर और समाधि में स्थिरता लाभ कर ओम् इस एक अक्षर को जो ब्रह्म का वाचक होने से ब्रह्म ही है जपता हुआ और मुझ परब्रह्म को, जो

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

एवं सामान्ययोगिनो गतिरुक्ता । इदानीं भगवदनन्यभक्तस्य योगिनः प्राप्तिप्रकारमाह—अनन्यचेता इति । नान्यस्मिन् चेतो यस्य सोऽनन्यचेता यः सततं निरन्तरमतिशयप्रेम्णा निरतिशयप्रियं मां स्मरति, तस्य नित्ययुक्तस्य नित्यं मद्योगं काङ्क्षमाणस्य निरतिशयमत्प्रियस्य योगिनोऽहमन्यैरचिन्त्यस्वरूपगुणैश्वर्योऽपि वात्सल्यकारुण्यसौहार्दादिगुणपरवशतया स्वभक्तदुःखविषोगाद्यसहमानः सुलभः सुखेनैव प्राप्यः । एतेन मदनन्यभक्तिहीनानां सर्वोपायवतामपि ब्रह्मलोकादिमत्समानैश्वर्यावधिफलावाप्तियोग्यत्वेऽपि नाहं सुलभो, भवत्येकवश्यस्वभावत्वात् "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वामि"ति श्रुतेः "भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिरेवैनं वर्द्धयति । भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी"त्यादेश्च ।

ओंकार का वाच्य हूँ, स्मरण करता हुआ जो मनुष्य मूर्धनाड़ी द्वारा शरीर को छोड़ता है वह अर्चिरादि मार्ग से जाकर उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य परम गति को, अर्थात् मुझको, अपनी उपासना के अनुसार परधाम में प्राप्त करता है ॥१२।१३॥

ऊपर के श्लोकों में साधारण योगी की गति कही गई। अब इस श्लोक में भगवान् के अनन्य भक्त योगी की गति कही जाती है अर्थात् ऐसा योगी भगवान् को किस प्रकार पाता है वह कहते हैं।

हे अर्जुन ! जिसका मन अनन्य भाव से मुझमें ही है और जो सदा मुझको ही अपना सबसे अधिक प्यारा समझ मेरा प्रेम से स्मरण करता है, ऐसे अपने अतिशय प्रेमी योगी को मैं सर्वदा सुलभ हूँ क्योंकि वह मुझसे नित्य योग वा मिलन चाहता है। कहने का मतलब यह कि अचिन्त्य रूप, गुण, ऐश्वर्य वाला होने पर भी वात्सल्य, कारुण्य, सौहार्द आदि गुणों के वशीभूत होने के कारण मैं अपने भक्तों का वियोग और दुःख आदि नहीं सह सकता और इसीलिये मैं उनको झट सुलभ हो जाता हूँ। इसलिए मेरी अनन्य भक्ति से विहीन पुरुष सब उपाय करने पर भी मुझको नहीं प्राप्त कर सकता। उनको ब्रह्म लोक आदि तक के मेरे समान ऐश्वर्य वाले लोकों को प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है सही, पर मैं उसको सुलभ नहीं होता। इसका कारण यह कि मैं केवल एक भक्ति ही से वश में हो सकता हूँ और दूसरे उपायों से नहीं। इसमें श्रुति प्रमाण है, यथा—

*"शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ।" "भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिरेवैनं वर्द्धयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी ।" अर्थात् भक्ति ही इस (परब्रह्म) को दिखाती है। भक्ति ही इसको बढ़ाती है। पुरुष परब्रह्म भक्ति ही के वश में है इसलिए भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है ॥१४॥

---

* इस श्रुति का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

ननु यथा त्वदनन्यभक्तस्य भवान्सुलभस्तथाऽन्यदेवादिभक्तानामन्येऽपि सुलभाः "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति"त्युक्तत्वात् । एवं चेत्तर्ह्यन्यदेवादिफलप्राप्तेभ्योऽन्यभक्तेभ्यस्त्वद्भक्तानां को विशेष इति चेत्तत्राह—मामिति । मां सर्वेश्वरमानन्दघनं प्राप्य पुनरखिलगर्भवासादिदुःखालयं दुःखगृहमशाश्वतमस्थिरं जन्म प्राकृतदेहसम्बन्धं नाप्नुवन्ति । यतो महात्मानः महाविवेकसम्पन्नान्तःकरणा अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मत्प्रसादकारणानि मदेकाराधनानि कर्माणि कृत्वा मदनुग्रहादेव परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मद्भावात्मिकां मुक्तिं गता प्राप्ताः ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

मदनन्यभक्तिहीनास्तु विविधधर्मानुष्ठानाद्ब्रह्मलोकपर्यन्तं प्राप्ता अपि पुनरावर्तन्त इत्याह—आब्रह्मेति । आब्रह्मभुवनात् ब्रह्मणो भुवनं ब्रह्मलोकस्तमभिव्याप्य सर्वे लोकास्तत्रस्था जनास्तद्भोगावसाने पुनरावर्तिनो भवन्ति हे अर्जुन ! । तेभ्यः स्वभक्तानां तु शब्देन महद्वैलक्षण्यं द्योतयति । मां सर्वेश्वरं सत्यसङ्कल्पं निखिलजगदुत्पत्तिकारणं दोषास्पृष्टमाहात्म्यं भगवन्तमुपेत्य प्राप्य ये निर्वृत्ता हे कौन्तेय ! तेषां जन्म न विद्यते ।

जैसे अपने अनन्य भक्तों को आप सुलभ हैं वैसे ही दूसरे देवताओं के भक्तों को वे दूसरे देवता सुलभ हैं क्योंकि आपने ही कहा है कि "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति ।" यदि ऐसी बात है तो अन्य देव भक्तों से आपके भक्तों की क्या विशेषता रही ? इसी शंका का उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं ।

मुझ सर्वेश्वर और आनन्दघन को प्राप्त कर लेने पर मेरे भक्तों को फिर सारे गर्भवास आदि आदि दुःखों का घर और विनाशी जन्म नहीं लेना पड़ता है अर्थात् उनका फिर से प्राकृत देह से सम्बन्ध नहीं होता । इसका कारण यह है कि महात्मा लोग अर्थात् महाविवेक से भरे हुए अन्तःकरण वाले पुरुष मुझको अपना अत्यन्त प्रिय जान मेरी ही आराधना सम्बन्धी कर्मों को कर मेरे अनुग्रह से ही परम श्रेष्ठ भगवद्भावात्मक मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं ॥१५॥

जो मेरे अनन्य भक्त नहीं हैं वे विविध प्रकार के धर्मानुष्ठानों के द्वारा ब्रह्मलोक तक भी पहुँच कर फिर लौट आते हैं अर्थात् उनको फिर जन्म लेना पड़ता है । इसी बात को यहाँ कहते हैं ।

हे अर्जुन ! ब्रह्म के लोक तक पहुँचे हुए मनुष्य भी वहाँ के भोग के अन्त हो जाने पर फिर संसार में लौट आते हैं । (इस श्लोक में "तु" शब्द का व्यवहार कर भगवान् ने अपनी भक्ति से हीन पुरुषों से अपने भक्तों की महत् विलक्षणता दिखलायी ।) पर जो (मेरे भक्त) सर्वेश्वर, सत्य-संकल्प, सकल जगत् के कर्त्ता और दोषों के स्पर्श से रहित, मुझको प्राप्त करते हैं वे फिर जन्म नहीं धारण करते ॥१६॥

सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्मभुवनावधिगतानां लोकानां पुनरावृत्तित्वे हेतुं कालपरिच्छिन्नत्वं दर्शयति—सहस्रयुगपर्यन्तमिति । सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् ब्रह्मणो यदहस्तत्त्वं विदुः, तथा युगसहस्रमन्तो यस्यास्तां रात्रिं च ये विदुस्ते जना अहोरात्रविदः, बहुज्ञाः कालज्ञत्वात् । ये तु दिवाकरगत्यैवाहरादि जानन्ति, न ते तथाऽहोरात्रविदः, अल्पज्ञा इत्यर्थः । अयम्भावः मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानामहोरात्रं भवति, तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण द्वादशभिर्वर्षसहस्रैः ससन्ध्यं चतुर्युगं भवति । तथाविधं चतुर्युगसहस्रं ब्रह्मणोऽहर्दिनं भवति, तत्परिमाणिका च रात्रिस्तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणो द्विपरार्द्धसञ्ज्ञकं परमायुर्भवति । अतः कालपरिच्छिन्नत्वेन तस्याप्यनित्यत्वात्तल्लोकगतानां पुनरावृत्तिर्युक्तैव । तथा तदधस्तान्महर्लोकादिगतानां पुनरावृत्तिर्वोध्या ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥१८॥

एवं कालपरिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मलोकादिमहर्लोकान्तवर्त्तिनां पुनरावृत्तिर्निरूपिता । इदानीं

जो मेरे अनन्य भक्त नहीं हैं वे ब्रह्मलोक तक भी जाकर फिर लौट आते हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्मलोक तक सभी लोक काल से परिच्छिन्न हैं अर्थात् काल के अधीन हैं। इसीको कहते हैं।

ब्रह्मा के सहस्र युग की अवधि वाले दिन और उतनी ही अवधि वाली रात्रि को जो जानते हैं वे अहोरात्रविद् (दिन रात के जानने वाले) कहे जाते हैं, अर्थात् काल के जानने वाले होने से वे बहुज्ञ हैं। सूर्य की गति से होने वाले दिन रात को जो जानते हैं वे किसी भी प्रकार के कालज्ञ नहीं हैं अर्थात् वे अल्पज्ञ हैं। इस श्लोक का भाव यह कि मनुष्यों का वर्ष देवताओं के एक दिन रात के बराबर होता है। ऐसे (देवताओं के) दिन रात से बने हुए पक्ष, महीना आदि क्रम से बारह सहस्र वर्ष का संन्ध्यासहित चार युग होते हैं। ऐसे चार सहस्र युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने ही परिमाण की उनकी रात होती है। इसी प्रकार के दिन रात से बने हुए, पक्ष, महीना आदि क्रम से सौ वर्ष की द्विपरार्ध्य संज्ञक ब्रह्मा की परम आयु है। इस भाँति ब्रह्मा और उनका लोक काल के अधीन हैं अर्थात् उनका भी एक न एक दिन निश्चित आयु पूरी होने पर अन्त होगा। और जब ब्रह्मा ही और उनके लोक का अन्त है तो उनके लोक को पहुँचे हुए लोगों को फिर लौट आना पड़ेगा, इसमें कहना ही क्या है ? अर्थात् ऐसा होना युक्ति युक्त ही है। और जब ब्रह्मा के लोक को पहुंचे हुए लोगों की यह दशा है तो इस लोक के नीचे के महः आदि के लोकों को पहुँचे हुए पुरुषों का वहाँ से लौट आना तो निश्चय ही है ॥१७॥

ऊपर यह निरूपण किया गया कि ब्रह्मा के लोक से लेकर महर्लोक तक के सब लोक काल के

स्वर्गादिलोकत्रयस्य ब्रह्मणोऽहर्निशयोरुत्पत्तिप्रलयावाह—अव्यक्तादिति । इहाव्यक्तशब्देन प्रकृतिपरिणामरूपं ब्रह्मणः शरीरमभिधीयते, अहरागमे ब्रह्मणः प्रबोधसमये अव्यक्ताद् ब्रह्मणो देहात् व्यक्तयः जीवानां देहेन्द्रियभोग्यभोगस्थानरूपाः प्रभवन्ति । तत्तत्कर्मफलभोगायाभिव्यज्यन्ते । रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले यतोऽव्यक्तात्समभूतास्तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके प्रजापतिशरीरे प्रलीयन्ते ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

ननु ये प्राणिनः प्रलीयन्ते तेषां कृतकर्महानिः स्यात्, ये चोत्पद्यन्ते तेषामकृताभ्यागमः स्यादित्याशङ्क्य वारयन् जन्ममरणादिदुःखात्मकेन संसारेणालमिति वैराग्यजननायाह—भूतग्राम इति । भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहो यः पूर्वस्मिन्कल्पे आसीत्स एवायमेतस्मिन्कल्पेऽहरागमे भूत्वा भूत्वा पुनः पुनर्देवमनुष्यादिपूत्पद्य रात्र्यागमे प्रलीयते, हे पार्थ ! पुनरवशः कर्मतन्त्रोऽहरागमे प्रभवति, प्रकर्षेण जायते प्रतिकल्प न तस्य भेद इत्यर्थः । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वरि"ति श्रुतेः । एवमुपरितना ब्रह्मलोकपर्यन्ता लोका ब्रह्मा च ब्रह्मणो वर्षशतात्म-

---

अधीन हैं और इसलिये उन लोकों तक पहुंचे हुए मनुष्यों को फिर लौट कर संसार में आना पड़ता है। अब इस श्लोक में यह कहेंगे कि स्वर्गादि तीनों लोकों की उत्पत्ति और प्रलय ब्रह्मा के दिन और रात के आरम्भ में होता है।

यहां अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रकृति का परिणाम स्वरूप ब्रह्मा का शरीर है। ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अर्थात् उनके जागने के समय उनके शरीर से जीवों के देह, इन्द्रियां, भोग्य और भोग्यस्थान पैदा होते हैं, अर्थात् उनके कर्म फल के भोग के लिये आविर्भूत (प्रगट) होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस जीव का जैसा कर्म होता है, उसको उस कर्म का फल भोगने के लिए वैसा ही शरीर धारण करना पड़ता है। फिर ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में, अर्थात् उनके शयन काल में सब जीव उनके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् जिस ब्रह्मा के शरीर से वे प्रकट होते हैं, उसी में उनका प्रलय हो जाता है ॥१८॥

यहां यह शंका हो सकती है कि जिन जीवों का प्रलय होगा उनके किये कर्मों का नाश हो जायगा और जो जीव पैदा होंगे उनको बिना किये हुए कर्मों का भोग भोगना पड़ेगा। इस शंका को हटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! पहले कल्प में जिन जीवों का समूह था वही जीव समूह इस कल्प में ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर फिर पैदा होता है, अर्थात् देव, मनुष्य आदि के रूप को धारण करता है और ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में उसका प्रलय हो जाता है। फिर पूर्वकालीन कर्म के वश होने के कारण ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में पैदा होता है। इस प्रकार प्रत्येक कल्प में जीव समूह का भेद नहीं होता। इसमें श्रुति प्रमाण है, यथा—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा

काऽप्युषोऽन्ते महाप्रलये पृथिव्यादिलयक्रमेण सर्वे परमात्मनि मय्येव लीयन्ते। सुबालोपनिषद्याम्नायते पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ प्रलीयते, वायुराकाशे प्रलीयते, आकाश इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ प्रलीयन्ते, भूतादिर्महति, महानव्यक्ते अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकी भवती"ति। तस्मात्परमात्मलोकव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य लोकस्योत्पत्ति-प्रलयदत्त्वात्तत्तल्लोकं प्राप्तानां हरिभक्तिहीनानां पुनरावृत्तिरवर्जनीया। भगवन्तं प्राप्तानां तु न पुनरावृत्तिश्चङ्काऽपीति सिद्धम्।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं तु जन्ममरणादिभाववर्जितं हिरण्यगर्भादपि श्रेष्ठं तत्प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्न भवतीत्याह—पर इति द्वाभ्याम्। तस्मात्पूर्वोक्ताच्चराचरभूतग्रामकारणाद्धिरण्यगर्भाख्यादव्यक्तात्प्रकृतिसंसृष्टात्परः प्रकृतिवियुक्ततयोत्कृष्टो भावोऽन्यो भिन्नः अव्यक्तः, शास्त्रमन्तरेण

पूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः" अर्थात् ब्रह्मा ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक को जैसे ये पूर्व काल में थे वैसा ही बनाया।

इस प्रकार ऊपर के ब्रह्म लोक तक के सभी लोक और ब्रह्मा भी अपनी सौ वर्ष की आयु पूरी कर महा प्रलय के समय में पृथिवी आदि के लय के क्रम से मुझ परमात्मा में लीन हो जाते हैं। सुबालोपनिषद् में भी यही बात कही गई है, यथा "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसिप्रलीयन्ते, तेजो वायौ प्रलीयते, आकाश इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणिभूतादौ प्रलीयन्ते, भूतादिर्महति, महानव्यक्ते, अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एको भवति" अर्थात् पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ भूतादि में, भूतादि महत् में, महत् अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, और अक्षर तम में लीन होता है। और तम अपने में लीन हुए सबके साथ परब्रह्म में लीन होता है। इसलिए परमात्मा के लोक को छोड़ और सभी लोकों की उत्पत्ति और प्रलय होता है। इसलिए हरि भक्ति से हीन मनुष्यों का, जो उन लोकों को प्राप्त करते हैं फिर लौट आना अर्थात् जन्म लेना अनिवार्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् को प्राप्त किये मनुष्यों को फिर लौट आने अर्थात् जन्म धारण करने की कुछ भी शंका नहीं की जा सकती ॥१६॥

प्रकृति से रहित शुद्ध आत्म स्वरूप, जन्म, मरण इत्यादि भावों से रहित होने के कारण हिरण्यगर्भ, अर्थात् ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ है, और जो लोग ऐसे आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं वे इस संसार में फिर नहीं लौटते इसी बात को दो श्लोकों से कहते हैं।

चराचर भूत समूहों का कारण, प्रकृति सम्बन्ध युक्त हिरण्य गर्भ नामक अव्यक्त से भिन्न, और प्रकृति वियुक्त होने के कारण उससे श्रेष्ठ जो अन्य भाव अर्थात् शुद्ध आत्म स्वरूप है वह शास्त्रों को छोड़ और किसी प्रमाण द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसलिए इसको अव्यक्त कहते हैं। वह भाव

केनचित्प्रमाणेन न व्यज्यत इत्यव्यक्तः, सनातनः सदैकरूपतया नित्यः। नित्यत्वमेव साधयति—य इति। एतादृशो यो भावः स सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु नश्यत्सु न विनश्यति विनाशमभावं न प्राप्नोति।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

योऽव्यक्तोऽतीन्द्रियो भावोऽक्षर इत्युक्तः "अक्षरं ब्रह्म परमि"त्यत्र मयैवोक्तः। "ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते, कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यादौ वक्ष्यमाणश्च। तं वेदविदः परमां गतिमाहुः। प्रकृतिसंसृष्टाज्जीवात्परमामुत्कृष्टां स्वस्वरूपत्वाद्गतिं प्राप्यभूतामाहुः "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिना। यमक्षरं प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं प्राप्य पुनर्न निवर्तन्ते। संसारायेति शेषः। तच्छुद्धात्मस्वरूपं मम परमं धाम निवासस्थानं, यद्यपि प्रकृतिसंसृष्ट आत्माऽपि मम मूर्त्तेर्निवासस्थानं तदनुग्रहार्थैव। "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि व्यवस्थितः, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरमि"त्यादिश्रुतिभ्यः, "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट"इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। तथाऽपि प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं ततः श्रेष्ठं नित्यं धाम गृहमित्यर्थः।

पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

नित्य है और सदा एक रूप से स्थित रहता है क्योंकि सब स्थावर जंगमादि भूतों के नाश होने पर भी उस अव्यक्त भाव का नाश नहीं होता ॥२०॥

जिस अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय से परे भाव को अक्षर कहा गया है यथा, "अक्षरं ब्रह्म परमं" फिर आगे के अध्यायों में भी भगवान् ने जिस भाव को अक्षर कहा है यथा "ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। कूटस्थोऽक्षर उच्यते" उस भाव को वेद के जानने वाले श्रेष्ठ गति कहते हैं। अर्थात् प्रकृति में बँधे जीव से यह भाव परम श्रेष्ठ है क्योंकि इस भाव में जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जैसा श्रुति कहती है "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" अर्थात् (जीव) अपने रूप को पा जाता है।

प्रकृति से वियुक्त जिस आत्म स्वरूप को पाकर जीव फिर संसार में नहीं लौटता, वह शुद्ध आत्म स्वरूप मेरा परम श्रेष्ठ निवास स्थान है। यद्यपि प्रकृति से युक्त आत्मा भी मेरी मूर्ति के रहने का स्थान है क्योंकि मैं उस पर अनुग्रह करना चाहता हूँ [इसमें श्रुति प्रमाण—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोमध्य आत्मनि व्यवस्थितः। यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो। यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरम्" अर्थात् अंगूठा के समान छोटा पुरुष आत्मा के मध्य में स्थित है। जो आत्मा में स्थित भी आत्मा से पृथक् है। जिसको आत्मा नहीं जानती है। जिसका आत्मा शरीर है। आगे के अध्याय में भी भगवान् कहेंगे कि "सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टः" अर्थात् सबके हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ हूँ] तथापि प्रकृति से वियुक्त आत्मा ही मेरा परम श्रेष्ठ और नित्य निवास स्थान है ॥२१॥

एवमक्षरशब्दाभिहितस्य क्षेत्रज्ञस्य परमगतित्वाभिधानात्परमात्मनैक्यशङ्का मा भूदित्येतदर्थं "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। अक्षरात्परतः परः, तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। भेदव्यपदेशाच्चान्यः। अधिकं तु भेदनिर्देशात्। पारं परं विष्णुरपारपारः परः परेभ्यः परमार्थरूपी। स ब्रह्मपारः परपारभूतः परः परानामपि पारपारः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रैः सिद्धं प्रत्यगात्मनः परमेश्वरस्य स्वाभाविकं भेदं स्पष्टयति—पुरुष इति। हे पार्थ! अनन्यया देवतान्तरफलान्तराभिसन्धिशून्यया भक्त्या लभ्यस्तु स पुरुषः परः पूर्वोक्तादिलक्षणः। स कः? यस्यान्तःस्थानि अन्तर्वर्तीनि सर्वभूतानि पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हाणि तिष्ठन्तीत्यर्थः। येन सर्वात्मना इदं विश्वं ततं व्याप्तम्। तं मां प्राप्तानामपुनरावृत्तिः "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः" इत्यादिनोक्तैव।

ऊपर के श्लोक में अक्षर को परम गति कहा है। इससे ऐसी शंका हो सकती है कि इस माया से वियुक्त जीव में और परमात्मा में अभिन्नता वा एकता है। इसी शंका को हटाने के लिये भगवान् इस श्लोक को कहते हैं।

अक्षर (जीव) में और परमात्मा में स्वभाव से ही भिन्नता है। इसमें श्रुति, स्मृति और पुराण प्रमाण है, यथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" अर्थात् परब्रह्म माया और जीव का स्वामी और गुणों का ईश है। "अक्षरात्परतः परः" अर्थात् परमात्मा जीव से बहुत श्रेष्ठ है। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं। तं देवतानां परमं च दैवतं।" अर्थात् परब्रह्म ईश्वरों का परम महा ईश्वर और देवताओं का परम देवता है। "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" अर्थात् परब्रह्म के बराबर ही कोई नहीं है, तो उससे बड़ा कोई न हो, इसमें कहना ही क्या है। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।" "यमेवैषः वृणुते तेन लभ्यः।" (इन अंशों का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है)। "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेद कहा गया है इससे वे एक दूसरे से भिन्न हैं। "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेद होने से ब्रह्म जीव से श्रेष्ठ है। "पारं परं विष्णुरपारपारः परः परेभ्यः परमार्थरूपी। स ब्रह्मपारः परपारभूतः परः परानामपि पारपारः"। भाव कि विष्णु भगवान् जो परब्रह्म हैं वे परमार्थ रूप हैं और सबसे श्रेष्ठ और परे हैं। इन ऊपर लिखे हुए श्रुति, स्मृति, सूत्र और पुराणादि वचनों से यह प्रमाणित है कि जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक भेद है। इसी भेद को भगवान् यहाँ स्पष्ट करते हैं।

हे अर्जुन! देवान्तर और फलान्तर की कामना शून्य, अनन्य भक्ति द्वारा जो पुरुष अर्थात् परमात्मा है, वह प्रकृति से वियुक्त प्रत्यगात्मा अर्थात् जीव से पृथक् और श्रेष्ठ है। वह परपुरुष कौन है? वह वही है जिसके भीतर सब भूत स्थित हैं अर्थात् जिससे पृथक् इन भूतों की स्थिति प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती और वह वही है जो इस विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ऐसे मुझ ब्रह्म को प्राप्त कर फिर इस

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

तदेवमक्षरात्मानं प्राप्ताः परमपुरुषं भगवन्तं प्राप्ताश्च पुनरिह संसारे नावर्त्तन्ते । अन्ये तु पुनरावर्त्तन्त इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण गता नावर्त्तन्ते, केन गता पुनरावर्त्तन्ते इत्यपेक्षायां देवयानं पितृयानं चेति मार्गद्वयं वक्तुं प्रतिजानीते—यत्रेति । प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र यस्मिन्काले प्रयाता योगिनोऽनावृत्तिं यान्ति, यस्मिँश्च काले प्रयाता आवृत्तिं यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भारतेत्यन्वयः । अत्र कालशब्देनाहरादिसंवत्सरान्तकालाभिमानिनीभिरातिवाहिकदेवताभिर्गन्तव्यो मार्ग उपलक्ष्यते । अग्निज्योतिषोः कालवाचित्वाभावाद्देवयानमार्गप्रतिपादकश्रुतौ "संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसमि"त्यादिदेवतावाचकैनैवोपसंहारात्, पूर्वापरदेवतावाचकपदसाहचर्यादहरादीनामपि कालाभिमानिदेवतापरत्वं युक्तम् । तथा च यस्मिन्कालाभिमानिदेवतोपलक्षितमार्गे प्रयाता योगिनः द्विविधा ज्ञानिनः कर्मिणश्च यथाक्रममनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति तं मार्गं वक्ष्यामीत्यर्थः ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

प्रतिज्ञायतोः तत्र तावदपुनरावृत्तिमार्गमाह—अग्निरिति । अग्निर्ज्योतिः शब्दाभ्यां "तेऽर्चिष-

---

संसार में लौटना नहीं पड़ता जैसा कि पीछे कहा गया है यथा,—"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् नाप्नुवन्ति महात्मनः" ॥२२॥

अक्षर अर्थात् आत्मा को और परम पुरुष भगवान् को जो लोग प्राप्त किये हैं वे फिर इस संसार में लौट कर नहीं आते हैं । दूसरे और लोग लौट कर संसार में आते हैं । ये बातें पीछे के श्लोकों में कही गई हैं । जिस मार्ग से जाने वाले नहीं लौटते और जिस मार्ग से जाने वाले लौटते हैं उन दोनों (देवयान और पितृयान) मार्गों का अब वर्णन करेंगे ।

हे अर्जुन ! प्राण छूटने के बाद जिस काल अर्थात् मार्ग में प्रयाण करने वाले ज्ञान योगी फिर लौट कर संसार में नहीं आते और जिस काल (मार्ग) में जाने वाले कर्म योगियों को फिर संसार में लौट आना पड़ता है उन कालों (मार्गों) को अब मैं कहूँगा । यहाँ काल शब्द से दिन से लेकर वर्ष तक के समय के अभिमानी पहुँचाने वाले देवताओं के मार्ग का विधान किया गया है । अग्नि और ज्योति के काल वाचक न होने से, और देवयान मार्ग के बतलाने वाली इस श्रुति में, "संवत्सरादादित्यम् आदित्याच्चन्द्रमसि" देवता वाचक उपसंहार से और पहले तथा पीछे देवता वाचक पद के साथ रहने से दिन आदि के कालाभिमानी देवता ही को समझना ठीक है । मतलब यह कि कालाभिमानी देवता के दिखलाये हुए जिस मार्ग से जाने वाले योगी, ज्ञानी और कर्मी का क्रमशः पुनर्जन्म नहीं होता या होता है उस मार्ग को भगवान् अर्जुन से यहाँ कहेंगे ॥२३॥

मभिसम्भवन्ती"ति श्रुत्युक्ताचिराभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते, तथाऽहरभिमानिनी शुक्लपक्षाभिमानिनी षण्मासा उत्तरायणाभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते। एतच्छ्रुत्युक्तानां सम्वत्सराद्यभिमानिनीदेवतानामुपलक्षणार्थं, तथा च श्रुतिः "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्त्तं नावर्त्तन्त" इति छान्दोग्ये। तत्र देवयानमार्गं प्रयाता ब्रह्मविदो जना ब्रह्म गच्छन्ति।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥

पुनरावृत्तिमार्गमाह—धूम इति। अत्रापिशब्देन धूममार्गाभिमानिनो देवता रात्र्यादिशब्दैश्च तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवता उपलक्ष्यन्ते। एतदपि पितृलोकाकाशादीनामुपलक्षणम्। तत्र तस्मिन् पितृयानपथि प्रयातः योगी इष्टापूर्त्तादिपुण्यकर्मकारी जनः चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं

ऊपर प्रतिज्ञा किये हुए दो मार्गों में से जिस मार्ग से गये हुए की मुक्ति हो जाती है और इसलिए संसार में वे नहीं लौटते उस मार्ग को यहाँ बताते हैं।

यहाँ अग्नि और ज्योति शब्द से, "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इस श्रुति में कहे गये अर्चि के अभिमानी देवगण का बोध होता है। और उसी प्रकार दिन से दिन के अभिमानी देवता का, शुक्लपक्ष से उस पक्ष के अभिमानी देवता का और छः महीने उत्तरायण से उसके अभिमानी देवता का बोध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में यह श्रुति आती है, यथा "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इदं मानवावर्त्तं नावर्त्तन्ते।" अर्थात् जिन्होंने इस प्रकार जाना है और जङ्गल में रह कर तप अर्थात् ब्रह्म की श्रद्धा पूर्वक उपासना करते हैं वे अर्चि को प्राप्त करते हैं, अर्चि से दिन और दिन से पूरा पक्ष, पूरे पक्ष से छः महीने उत्तरायण, उन महीनों से वर्ष, वर्ष से सूर्य, सूर्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से विद्युत्, वहाँ से अमानुष पुरुष उसको ब्रह्मलोक की सीमा, विरजा नदी तक पहुँचाता है। यही देव पथ ब्रह्मपथ है।। इस पथ से जाने वाले इस मानवावर्त्त में अर्थात् संसार में नहीं आते। इस देवयान मार्ग में गये हुए ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। इस श्रुति में संवत्सर आदि से उनके अभिमानी देवता का उपलक्षण है ॥२४॥

अब आवृत्ति मार्ग अर्थात् पुनर्जन्म देने वाले मार्ग को कहते हैं।

यहाँ भी धूम से धूमाभिमानी देवता तथा रात्रि शब्द से उस २ मार्ग के अभिमानी देवताओं को ही जानना चाहिए। यह मार्ग पितृ लोक, आकाश आदि का भी बोधक है यद्यपि इसके नाम द्युलोक

प्राप्य तत्र पुण्यकर्मफलं भुक्त्वा पुनर्निवर्त्तते। तथा च श्रुतिः "अथ य इमे इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्यषड्दक्षिणैति मासांस्तानेति सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुभूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति" सम्पतत्यनेनेति सम्पातः कर्मतत्फलभोगो यावत्तावदुषित्वा आकाशादिक्रमेण धूममार्गेणेव निवर्त्तत इत्यर्थः। "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोति यः। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे, तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह

में नहीं दिये गये हैं। इष्टापूर्त्तादि शुभ कर्मों को करने वाला योगी पितृयान मार्ग से जाकर चन्द्रमा की ज्योति से उपलक्षित स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है और वहाँ अपने किये❀इष्टपूर्त्तादि पुण्य कर्मों का फल भोग कर फिर संसार में लौट आता है, इसमें श्रुति प्रमाण है, यथा—"अथ य इमे इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्यषड्दक्षिणैति मासांस्तानेति सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुभूत्वा धूमोभवति धूमोभूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषाः इति जायन्ते यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति।" अर्थात् जो इष्टापूर्त्तादि शुभ कर्म करते हैं वे धूम को प्राप्त करते हैं, धूम से रात्रि, रात्रि से कृष्णपक्ष, कृष्णपक्ष से छः महीने दक्षिणायन और उन महीनों से वर्ष को प्राप्त करते हैं। फिर पितृलोक, पितृलोक से आकाश, आकाश से चन्द्रमा। यह राजा सोम अर्थात् चन्द्रमा उन देवताओं का अन्न है। देवता उसे खाते हैं। उसमें अर्थात् स्वर्ग में जब तक कर्मफल का भोग समाप्त नहीं होता तब तक रह कर उसी रास्ते लौट आता है। आकाश में आता है, आकाश से वायु, वायु बन कर धूम होता है, धूम होकर अभ्र, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है। वे ही धान्य या यव, घास पात, तिल और उड़द होते हैं। जो जो अन्न खाते हैं उसका वीर्य बनता है। पुरुष स्त्री में वीर्य त्याग करते हैं, और इस प्रकार वे फिर जन्म लेते हैं। सम्पात का अर्थ है कि जब तक कर्म फल का भोग रहता है तब तक स्वर्ग में रह कर फिर आकाश आदि क्रम से धूम मार्ग ही में लौट आता है। कहा है—"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोति यः। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे, तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिमा-

---

❀ श्रुति प्रतिपादित यागादिक कर्मों को इष्ट कहते हैं और स्मृति प्रतिपादित खनन आदि शुभ कर्मों को पूर्त कहते हैं।

कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वे"ति । तस्मादावृत्तिमार्गादेतस्मात्पूर्वोक्तो नित्यसुखरूपोऽनावृत्तिमार्ग एव मुमुक्षुणा प्रार्थ्य इति भावः ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः ॥२६॥

उक्तौ मार्गौ नित्यतया निरूपयन्नुपसंहरति—शुक्लकृष्णे इति । शुक्ला अर्चिरादिका प्रकाशमयत्वात्, कृष्णा धूमादिका तमोमयत्वात् एते गती मार्गौ ज्ञानाधिकारिणः कर्माधिकारिणश्च द्विविधस्य जगतः शाश्वते, अनादीमते । शास्त्रज्ञैरिति शेषः । तयोरेकया शुक्लया कश्चिदधिकारी अनावृत्तिं याति । अन्यया कृष्णया पुण्यकर्मा पुनरावर्त्तते ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२७॥

उक्तस्य मार्गद्वयस्य ज्ञानफलं दर्शयन्योगमेव दृढीकरोति—नैते इति । एते सृती मार्गौ हे पार्थ ! परमपदप्राप्तये एका संसारावर्त्तनायापरेति जानन् हेयोपादेयतया विवेचयन् योगी ज्ञाननिष्ठो ध्याननिष्ठो वा कश्चन कश्चिदपि न मुह्यति, पुनरावृत्तिनियतं स्वर्गादिफलं पुरुषार्थतया न प्रत्येति । यस्मादेवं तस्मादपुनरावृत्तये हे अर्जुन त्वं सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो ज्ञाननिष्ठो ध्याननिष्ठो वा भव ।

पद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डाल योनिं वा" अर्थात् जो कुछ यहाँ करता है उस कर्म का अंत हो जाता है, तब फिर उस लोक से इस लोक में कर्म करने के लिए आता है । उनमें जो अच्छे आचरण वाले हुए वे सुन्दरयोनि–ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को प्राप्त करते हैं, और जो बुरे आचरण वाले हुए वे बुरी योनि–कुत्ता की योनि वा सूअर की योनि वा चाण्डाल की योनि को प्राप्त करते हैं । इससे पुनर्जन्म के मार्ग से पहले का कहा हुआ पुनर्जन्म न होने वाला मार्ग ही नित्य सुखदाई है, और मुमुक्षुओं को वही प्रार्थनीय है ।।२५।।

उक्त दोनों मार्गों की नित्यता बतलाते हुए उपसंहार करते हैं । प्रकाशमय होने से अर्चि आदि शुक्ल और तमोमय होने से धूम आदि कृष्ण ये ही दो प्रकार के संसार के अनादि मार्ग शास्त्र के जानने वालों ने बताया है । शुक्ल मार्ग ब्रह्मविद्या के ज्ञानाधिकारी जनों का है और कृष्ण मार्ग कर्माधिकारी मनुष्यों का । इन दोनों मार्गों में से शुक्ल मार्ग से जो कोई अधिकारी जाता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता, और दूसरे अर्थात् कृष्ण मार्ग से गये हुए पुण्यात्माओं का पुनर्जन्म होता है ।।२६।।

ऊपर कहे हुए दोनों मार्गों का ज्ञान फल दिखलाते हुए योग ही को सुदृढ़ करते हैं । हे अर्जुन ! इन दोनों मार्गों में से एक परम पद की प्राप्ति के लिए, और दूसरा संसार में लौट आने के लिये है इस प्रकार इन दोनों मार्गों के जानते हुए और छोड़ने तथा ग्रहण करने की योग्यता का विचार करते हुए कोई भी ज्ञाननिष्ठ वा ध्याननिष्ठ योगी, स्वर्गादि सुख को पुरुषार्थ समझ कर उसमें कभी भी मुग्ध नहीं हो सकता है, अर्थात् पुनर्जन्म के कारण होने से स्वर्गादि सुख में कभी भी पुरुषार्थ रूप नित्यबुद्धि वा

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव, दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

तदेवमध्यायद्वयोक्तशास्त्रार्थद्वयोक्तशास्त्रार्थनिर्णयस्य फलं वदन्नध्यायमुपसंहरति—वेदेष्विति । स्वाध्यायविधिना गुरुशुश्रूषणपूर्वकसम्यगधीतेषु वेदेषु यज्ञेषु साङ्गोपाङ्गतया श्रद्धया सम्यगनुष्ठितेषु तपस्सु शारीरमानसवाङ्मयेषु सम्यक् श्रद्धया सुतप्तेषु दानेषु देशे काले सुपात्रे च श्रद्धया प्रतिपादितेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं सुकृतस्य फलं निर्दिष्टं शास्त्रेण तत्सर्वमत्येति, अतिक्रम्यात्यल्पमेतदिति निश्चयेनोपेक्ष्य तदुत्कृष्टानन्तफलमेति । किं कृत्वा इदमध्यायद्वयोक्तं भगवदैश्वर्याख्यसप्तप्रश्ननिर्णयार्थं विदित्वा सम्यगवधार्य्यानुष्ठाय च योगी ज्ञाननिष्ठो ध्याननिष्ठो वा भूत्वा परमुत्कृष्टं सर्वयोगिप्राप्यं स्थानं पारमेश्वरमाद्यं सनातनमुपैति प्राप्नोति ।

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-
काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नियमेन यतः सर्वमानन्देनाततं जगत् ।
तमहं नियमानन्दं परमात्मानमाश्रये ॥१॥

विश्वास नहीं कर सकता । जब ऐसी बात है तब, हे अर्जुन ! संसार बंधन से छूटने के लिये सदा ध्यान योगी वा ज्ञान योगी बनो, क्योंकि ये दोनों योग अर्चिरादि मार्ग से जाने के लिये आवश्यक है ॥२७॥

इस प्रकार दोनों अध्यायों के शास्त्रार्थ निर्णय के फल को कहते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं । स्वाध्याय विधि से गुरु की सेवा कर वेद पढ़ने का, श्रद्धा से साङ्गोपाङ्ग भले प्रकार यज्ञ करने का, शरीर, मन, और वचन से श्रद्धा पूर्वक तप करने का, देश, पात्र और काल आदि का विचार कर दिये हुए दान का जो पुण्य फल कहा गया है अर्थात् सुकृत का जो फल शास्त्र ने बतलाया है, उन सब फलों को भी ध्यान वा ज्ञाननिष्ठ योगी पार कर जाता है अर्थात् पुण्य फल बहुत थोड़ा और नाशवान् है, यह समझ उससे उत्कृष्ट अनन्त फल को पाता है । क्या करके ? उत्तर देते हैं कि गत दोनों अध्यायों में कहे हुए भगवान् के ऐश्वर्य स्वरूप सातों प्रश्नों के निर्णय का भली भाँति अर्थ समझ कर, और तदनुरूप अनुष्ठान कर योगी ज्ञाननिष्ठ वा ध्याननिष्ठ होकर परमेश्वर के योगिगम्य और श्रेष्ठ सनातन स्थान को प्राप्त करता है ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

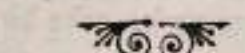

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

पूर्वं सप्तमाष्टमाध्याययोर्भगवदैश्वर्यं भक्तविशेषा भक्त्यैव संसारोत्तरणपूर्वकभगवत्प्राप्तिस्तत्प्रकारनिर्धारणं प्राप्तौ ज्ञानयोगध्यानयोगयोरसाधारणोपायत्वं तद्वतोऽर्चिरादिगत्या परमपदप्राप्तिस्तदभाववतः संसारावृत्तिरिति प्रतिपादितम् । इदानीं भगवत्तत्त्वज्ञानस्य स्वरूपं निरूपयितुं भक्तेश्चासाधारणं प्रभावं द्योतयितुं नवमाध्याय आरभ्यते । तत्र तावज्ज्ञानमाहात्म्यमभक्तनिन्दां च व्यञ्जयितुं श्रीभगवानुवाच—इदं त्विति । इदं गुह्यतमम् । गुह्यं धर्मज्ञानं ततो देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानं गुह्यतरं, ततोऽपि परमात्मज्ञानमतिरहस्यत्वाद्गुह्यतमं भक्त्यन्वितं परमात्मविषयकं ज्ञायते स्वरूपयाथात्म्यमनेनेति ज्ञानं विज्ञानसहितम् उपास्योपासनगतविशेषज्ञानसहितमनसूयवे मयि दोषारोपणमकुर्वते ते तुभ्यं वक्ष्यामि । यज्ज्ञानं वक्ष्यमाणमनुष्ठानपर्यन्तं ज्ञात्वा अशुभात्संसारान्मत्प्राप्तिविरोधिनः सर्वस्माद्विमोक्ष्यसे ।

सातवें और आठवें अध्यायों में भगवान् का ऐश्वर्य, भक्तविशेष, भक्ति से ही संसार से उद्धार होकर भगवान् को प्राप्त करना, उसके प्रकार का निश्चय, भगवान् के प्राप्त करने में ज्ञानयोग और ध्यानयोग ही का असाधारण उपाय होना और उस उपाय करनेवाले को अर्चि आदि गति से परमपद पाना तथा उस उपाय के न करनेवाले का पुनः जन्म पाना कहे हैं ।

अब भगवत् तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान का स्वरूप निरूपण करने और भक्ति के असाधारण प्रभाव दिखलाने को नवां अध्याय प्रारम्भ करते हैं । उस में पहले ज्ञान का महत्व और अपने अभक्तों की निन्दा प्रकट करने के लिये भगवान् बोले ।

गुह्य अर्थात् गुप्त जो धर्मज्ञान है उससे देहादि से भिन्न आत्मज्ञान गुह्यतर अर्थात् बहुत गुप्त है और उससे भी अत्यन्त रहस्य वा गोपनीय होने के कारण परमात्मा का जो ज्ञान है वह गुह्यतम नाम अत्यन्त गुह्य है । ऐसे अभियुक्त परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान को, विज्ञान सहित अर्थात् उपास्य परमात्मा और उसकी उपासना आदि के विशेष ज्ञान सहित, मुझ में लेशमात्र दोष न देखनेवाले,

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥

किञ्च राजविद्येति । विद्यानां राजा राजविद्या सर्वाऽविद्यातत्कार्यनाशकत्वात् । तथा राजगुह्यं गुह्यानां राजा तत्तथा सर्वगुह्येषु श्रेष्ठं मदनुग्रहं विना जन्मसहस्रेणापि बहुभिरज्ञातत्वात् । "उपसर्जनं पूर्वमि"त्यनेन विद्याशब्दस्य पूर्वनिपाताहॅत्वेऽपि राजदन्तादित्वात्परनिपातः । पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रायश्चित्तान्यपि पापानि नाशयन्त्यतस्तानि पवित्राणि, तथाऽपि यत्किञ्चिन्नाशितमपि तत्सूक्ष्मरूपेण तिष्ठत्येव । यतः पुनः पुरुषस्य पापे प्रवृत्तिर्जायते, इदं तु अनेकजन्मसहस्रसञ्चितानां पापानां स्थूल-सूक्ष्मावस्थानां सर्वेषां निरवशेषेण नाशकमतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेव । प्रत्यक्षावगमम् । अवगम्यते इत्यवगमो विषयः प्रत्यक्षभूतोऽवगमो विषयो यस्य तत्तथा, भक्तिरूपतापन्नेन ज्ञानेनोपास्यमानोऽहं तदानीमेवोपासितुः प्रत्यक्षतामुपगच्छामीत्यर्थः । ततश्च धर्म्यं धर्मादनपेतं धर्मो हि श्रेयःसाधनम्, इदं तु जन्मान्तरसहस्रेष्वनुष्ठितनिष्कामकर्मलभ्यत्वात्स्वरूपेणापि श्रेयोरूपम्, अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मद्दर्शनापादकतया परमश्रेयोरूपमत्प्राप्तिसाधनमित्यर्थः । तर्हि दुःसम्पाद्यं स्यात्, तत्याह सुसुखं कर्त्तुम् । सद्गुरूपदेशजनितसम्यग्व्यवसायसहकृतकर्मार्पणादिना सुखं यथा स्यात्तथोपादेयमित्यर्थः । एवमप्यव्ययं कर्म-

---

तुमसे मैं कहूँगा । जिस आगे कहे जानेवाले ज्ञान को अनुष्ठान तक जानकर मेरी प्राप्ति के बाधक अशुभ अर्थात् संसार से अथवा सब पापों से छुटकारा पा जाओगे ॥१॥

और भी, यह ज्ञान विद्याओं का राजा है, क्योंकि सब अविद्याओं और उनके कार्य्यों का नाशक है तथा राजगुह्य है, अर्थात् सब रहस्यों का गोपनीयों से भी रहस्य वा गोपनीय है क्योंकि मेरी कृपा के बिना हजारों जन्मों में भी किसी से नहीं जाना जा सकता है । यद्यपि प्रायश्चित भी पापनाशक होने से पवित्र है तो भी प्रायश्चित द्वारा नाश किये गये पाप का कुछ अंश सूक्ष्म रूप से रह ही जाता है । इसीलिये पुरुष के मन में फिर भी पाप की प्रवृत्ति हो ही जाती है । किन्तु यह ज्ञान अनेक हजारों जन्म के सञ्चित स्थूल, सूक्ष्म सब प्रकार के पापों को सम्पूर्ण रूप से नाश कर देता है । इसीलिये सर्वोत्तम पवित्र यही है । इसका विषय प्रत्यक्ष है अर्थात् भक्तिरूप को प्राप्त ज्ञान से उपासित होता हुआ मैं उसी समय उपासना करनेवाले को प्रत्यक्ष हो जाता हूँ । पुनः यह ज्ञान धर्मयुक्त है । धर्म कल्याण का साधन है । यह हजारों जन्मान्तरों में किये गये निष्काम कर्म के फल से प्राप्त होने के कारण कल्याणरूप ही है, अर्थात् मेरे अति प्रिय होने से और मेरे दर्शन का कारण होने से परम कल्याणरूप अर्थात् मेरी प्राप्ति का साधनरूप है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि यह ज्ञान ऐसा है तो यह बड़े दुःख से प्राप्त होता होगा । इस शङ्का को हटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि इतना होने पर भी यह सुख से प्राप्त होने योग्य है, अर्थात् सद्गुरु के उपदेश से उत्पन्न सम्यक् निश्चय के साथ कृत् कर्मों को भगवान् में अर्पण करने ही से सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है । ऐसा होकर भी यह अव्यय है अर्थात्

---

* "राजदन्तादिषु परम्"त्यनेन परनिपातः ।

काण्डवत्किञ्चिदङ्गवैगुण्ये सति प्रत्यवायापादकतया स्वरूपतः फलतो वा विनाशि न भवतीत्यव्ययमक्षयं मत्प्राप्तिरूपं फलं साधयित्वाऽपि न क्षीयत इत्यव्ययमिति वाऽर्थः ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ! ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

ननु यदीदं परमश्रेयःसाधनत्वेन सुकरत्वेन च सर्वोत्कृष्टं चेत्तर्हि सर्वेऽपीदमेवानुष्ठाय कुतो न मुच्यन्ते ? किमर्थं ससारिणो भवन्तीति चेत्तत्राह—अश्रद्दधाना इति । अस्य भक्तिसहितज्ञानलक्षणस्य परमधर्मस्येति कर्मणि षष्ठी, इमं धर्ममश्रद्दधानाः पुरुषाः पापबाहुल्येन दूषितान्तष्करणतया लघुत्वेन मन्यमाना मोक्षार्थमुपायान्तरेण कथञ्चिद्यतमाना अपि मद्वाक्ये विश्वासाभावान्मद्विमुखाः सन्तो मामप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि मृत्युक्ते संसारवर्त्मनि जन्ममरणात्मकस्य संसारस्य वर्त्मनि मार्गे मद्भक्तिहीने केवल-कर्मादौ साधने निवर्त्तन्ते, नितरां वर्त्तन्ते सर्वदा परिभ्रमन्तीत्यर्थः ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

एवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं ज्ञानं निर्दिश्य श्रेयोऽनुबन्धितयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत् स्तुत्वा श्रोतारमभिमुखीकृत्य निरूपयति—मयेति द्वाभ्याम् । इदं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं जगत् अव्यक्तमूर्त्तिना अव्यक्ता इन्द्रियागोचरा मूर्त्तिर्यस्य तेनान्तर्यामिरूपेण मया ततं व्याप्तम् । मत्स्थानि मय्येव सर्वकारण-कारणे आधेयतया स्थितानि सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमानि मत्तोऽन्यत्र स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वान्मदधीन-स्थितिप्रवृत्तिकान्येवेत्यर्थः । "योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि बिदधातो"ति श्रुतेः—

कर्मकाण्ड के समान किसी अंग में दोष हो जाने पर भी इसमें प्रत्यवाय, प्रायश्चित वा पाप का लेश नहीं और इसीलिये फल से वा स्वरूप से विनाशी भी नहीं अर्थात् सदा अक्षय है अथवा अक्षय होने से मेरी प्राप्ति कराकर भी यह सदा ही बना रहता है, नष्ट नहीं होता । ऐसा यह ज्ञान है ॥२॥

यदि यह ज्ञान परम श्रेय का साधन है और सुलभ होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है तो क्यों नहीं सभी लोग इसका अनुष्ठान करके मोक्ष पा लेते हैं । इस भक्तिसहित ज्ञानलक्षणवाले परम धर्म की ओर श्रद्धा नहीं रखनेवाले अर्थात् पाप की अधिकता से दुष्ट-हृदय होकर इसको छोटा उपाय समझनेवाले, दूसरे उपायों से मोक्ष प्राप्त करने के लिए यत्न करते हुए भी, मेरी बातों में विश्वास न रख, मुझसे विमुख हो, जब मुझे नहीं पाते हैं तब जन्ममरणमूलक इस संसार के मार्ग में ही मेरी भक्ति से हीन हो केवल कर्म आदि साधन में भटकते रहते हैं ॥३॥

इस प्रकार प्रतिज्ञात ज्ञान के विषय में अन्वय अर्थात् उसके गुणकथन और व्यतिरेक अर्थात् उसके अभाव में दोष कथन द्वारा उस ज्ञान की बड़ाई कर और इस प्रकार अर्जुन को अपनी ओर आकर्षित कर दो श्लोकों से उस ज्ञान का निरूपण करते हैं । इस चेतन और अचेतन संसार में अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से अगोचर मूर्त्ति से (अन्तर्यामी रूप से) मैं व्याप्त हो रहा हूँ । सब कारणों के कारण

"बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितमि"ति ॥

सभापर्वणि सहदेववचनात्। एवं चेत्तव कुत्र स्थितिरिति स्वाधारो वक्तव्य इति चेत्तत्राह—न चाहं तेष्ववस्थितः। अहं तेषु भूतेष्ववस्थितो न भवामि। यथाऽहं सर्वाधारस्तथा न मे कश्चिदाधारः, स्वाधार एवाहं नान्याधीनस्थितिप्रवृत्तिक इत्यर्थः। तथा छान्दोग्ये प्रश्नोत्तराभ्यां निर्णीतं भूमविद्यायां "स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठते इति स्वमहिम्नि यदि वा न स्वमहिम्नीति गो अश्वमहिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यदास-भार्याक्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमीति होवाच ह्यन्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात् स पश्चात्स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदंसर्वमि"ति।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

मुझ आधार में सभी स्थावर जङ्गम जीव आधेय हो रहते हैं, क्योंकि मुझसे अलग हो कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। सब वस्तु की स्थिति प्रवृत्ति मेरे ही आधीन है। श्रुति में भी यही बात कही गई है। यथा "योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति" अर्थात् वह (ब्रह्म) सब जीवों में रहकर उनको धारण करता है। सभापर्व में सहदेव ने भी कहा है—

"बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥"

अर्थात् बुद्धि, मन, महत्, वायु, तेज, जल, पृथ्वी और आकाश, और चार प्रकार के जीव सब कृष्ण में ही प्रतिष्ठित हैं।

यदि ऐसी बात है तो आप कहाँ रहते हैं? आपका आधार क्या है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मैं उन जीवों में नहीं रहता। जैसे मैं सबों का आधार हूँ वैसा मेरा आधार कोई नहीं है। स्वतन्त्र होने के कारण मैं अपना आधार आप ही हूँ। मेरी स्थिति प्रवृत्ति दूसरे के आधीन नहीं है। मैं अपने ही आधीन हूँ। छान्दोग्य उपनिषद् की भूमविद्या में प्रश्नोत्तर रूप में लिखा है—"स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठिते इति स्वमहिम्नि यदि वा न स्वमहिम्नीति, गो अश्वमहिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यदास-भार्याक्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमीति होवाच ह्यन्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदंसर्वमिति" अर्थात् वह भगवान् किसमें प्रतिष्ठित है? उसका आधार क्या है? वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हैं वा नहीं? उत्तर मिलता है, कि उनकी महिमा संसार की महिमा सरीखा घोड़ा, हाथी, सुवर्ण, दास, दासी, स्त्री, खेतबारी से सूचित नहीं होती, न वे दूसरों में प्रतिष्ठित हो हैं क्योंकि वे ऊपर नीचे, पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण सभी जगह प्रतिष्ठित हैं और सर्वव्यापक होने से सबके एकमात्र आधार वही हैं ॥४॥

किञ्च न च मत्स्थानीति। मयि स्थितान्यपि भूतानि न च स्थितानि पात्रे घृतादिवन्मयि संसक्तानि न भवन्ति, ममासङ्गत्वात्। "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इति श्रुतेः। नन्वेवं चेत्तर्हि उक्तं व्यापकत्व-माश्रयत्वं च कथं सम्भावनीयं स्यादित्यत आह—पश्येति। मे परमेश्वरस्यैश्वरमसाधारणं योगमचिन्त्य-शक्तिप्रभावं पश्य, अन्यत्रासम्भावितत्वेऽपि अघटितघटनापटीयस्त्वसामर्थ्यरूप ममाचिन्त्यशक्तियोगेन न किमप्यसम्भावनीयमित्यर्थः। तदेवोपपादयति—भूतभृदिति। बिभर्त्ति धारयति पोषयति वा तथा भूतोऽप्यहं न च भूतस्थो, यथा जीवो देहं धारयन्पालयन्वा तदहङ्कारेण तत्संसक्तो भवति, अहं तु भूतानां धारणपोषणकर्त्ताऽपि अहङ्काराभावात्तत्संसक्तो न भवामीत्यर्थः। असङ्गत्वे कथं कार्योत्पत्तिरिति चेत्तत्राह—ममात्मा। सङ्कल्पलक्षण आत्मा मन एव भूतानां भावन उत्पादकः। "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये"ति श्रुतेः।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

असंसक्तयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाह—यथेति। अवकाशात्मके आकाशे नित्यं स्थितो वायुः सर्वत्रगः सर्वतोऽर्ध्वाधस्तिर्यक् गच्छति, महान्महत्परिमाणकः। एवम्भूतोऽपि यथाऽऽकाशे न संश्लिष्यते, असङ्गत्वात्। तथाऽसङ्गस्वभावे मयि संश्लेषं विनैव सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमरूपाणि स्थितानि मदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकानीत्युपधारयेत्येवं मम सर्वाधारत्वमसङ्गत्वं च विजानीहीत्यर्थः।

मुझ में स्थित रहने पर भी जीवमात्र पात्र में घृत के समान मेरे में लिपटे नहीं हैं, क्योंकि मैं असङ्ग हूँ। वेद में भी कहा है :—"असङ्गोह्ययं पुरुषः" अर्थात् वह पुरुष (परमात्मा) निःसङ्ग है, किसी से लिप्त नहीं है। यदि ऐसी बात हो तो व्यापकत्व (सबमें रहना) और आश्रयत्व (सब का आधार होना), जो पीछे कह चुके हैं, कैसे सिद्ध होगा ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि यही तो मुझ परमात्मा की असाधारण ईश्वरता है। मेरे इस विलक्षण योग अर्थात् अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव को देखो। दूसरी जगह ऐसी बात न घट सके तो भी अघटन घटना-कुशल सामर्थ्य होने से मुझ में कुछ भी असम्भव नहीं है। इसी बात को फिर स्पष्ट करते हैं। जीवों का धारण करनेवाला वा पोषण करनेवाला होकर भी मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। जैसे जीव शरीर को धारण वा पालन करने से अहंकारयुक्त होकर उसमें संसक्त हो जाता है वैसा मैं नहीं होता। भाव यह कि सब भूतों को मैं धारण वा पालन करता हूँ सही, पर मैं उनमें अहङ्कारयुक्त हो आसक्त नहीं होता, उनसे लिपटता नहीं। यदि कोई शङ्का करे कि असङ्ग होने से आपसे कार्य कैसे उत्पन्न होता है तो इसका उत्तर यह देते हैं कि संकल्पलक्षणवाला मेरा आत्मा अर्थात् मन ही जीवों का उत्पादक है। श्रुति भी कहती है :—"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" अर्थात् उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ। ऐसी इच्छा से ही सृष्टि हुई ॥५॥

आधार और आधेय भाव बिना संश्लेष के भी हो सकता है, इसको उदाहरण द्वारा बताते हैं। अवकाशात्मक आकाश में स्थित वायु सब जगह, अर्थात् ऊपर नीचे सीधा टेढ़ा चलता है और परिमाण

सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

ननु स्यादेतत्तथाऽपि भवान्भूतानां निमित्तकारणमुपादानं वा ? निमित्तत्वे घटादीनां कुलालस्येवाधारत्वमनुपपन्नमुपादानत्वे यथा पृथिव्यां स्थितानां तत्कार्याणां घटादीनां तत्रैव लयः, पुनस्तत एवोत्पत्तिर्विकारत्वेन प्रसिद्धा, तथा त्वयि स्थितानां भूतानां त्वय्येव लयः, पुनस्त्वत्त एव परिणामेनोत्पत्तिः स्यात्तथात्वे तव परिणामित्वापत्त्या कथमसङ्गत्वमिति चेत्तत्राह—सर्वभूतानीति । सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि कल्पक्षये प्रलयसमये हे कौन्तेय ! मामिकां मन्नियम्यभूतां शक्तिं प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायां यान्ति, तत्र सूक्ष्मरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । पुनस्तानि कल्पादौ सर्गकाले विसृजामि । प्रकृत्यैक्यापन्नानि ततो नामरूपविभागेन व्यक्तीकरोमि, अहं सर्वशक्त्याश्रयः परमेश्वरः । एवञ्च मच्छक्तिभूताया: प्रकृतेरेवोत्पद्यन्ते, तत्रैव प्रलीयन्ते, स्थितिकालेऽपि तत्रैव तिष्ठन्ति । अत एव नच मत्स्थानि भूतानीत्युक्तम्, शक्तेः शक्तिमतः पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावादभेदविवक्षया शक्तेः कार्यस्य शक्तिमतोऽभिधानं मुख्यमेवातः शक्तिद्वारेण सर्वभूतोपादानत्वं तदुपादाने कारणान्तरानपेक्षणान्निमित्तत्वं

में बहुत बड़ा है, पर असंगगुणवाला होने से आकाश में लिपटता नहीं है । उसी प्रकार चूंकि मैं असंग गुणवाला हूँ, सब स्थावर जङ्गम जीव मुझ में स्थित होते हुए भी अर्थात् मेरे ही अधीन उनकी स्थिति प्रवृति होने पर भी मुझ में सटे हुये नहीं हैं, ऐसा समझो । भाव कि मैं सर्वाधार होकर भी असंग स्वभाववाला होने से प्राणियों के गुणदोषों से अस्पृष्ट हूँ ॥६॥

यदि ऐसी बात हो कि जगत् के कारण होते हुए भी आप उससे असङ्ग हैं तो जगत् के आप निमित्त कारण हैं, वा उपादान ? यदि आप निमित्त कारण हैं तब तो कुम्हार के समान आप भी सृष्टि के आधार नहीं बन सकेंगे । और यदि आप उपादान कारण हैं तब पृथ्वी में स्थित, उसके कार्य घटादि की उत्पत्ति फिर उसी में लय होना जिस प्रकार उसका विकार (परिणाम) समझा जाता है, उसी प्रकार आप में स्थित जीवों का आप ही में लय होता है और आप ही से विकार द्वारा उत्पत्ति होती है तब विकारी होने के कारण आप असङ्ग कैसे हो सकते हैं ? इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! कल्पक्षय में अर्थात् प्रलयकाल के समय स्थावर जङ्गम आदि सभी जीव मेरी नियम्यभूत शक्ति, प्रकृति को अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया को प्राप्त करते हैं, अर्थात् सूक्ष्मरूप से उसमें लीन हो जाते हैं । फिर उन्हीं को मैं सृष्टि के समय पैदा करता हूँ अर्थात् प्रलय में प्रकृति से एकाकार को प्राप्त किये हुए भूतों को नाम और रूप के विभाग से प्रगट करता हूँ । मैं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हूँ और मेरी शक्तिरूपी प्रकृति से ही सब जीव उपजते हैं उसी में लय होते हैं और स्थितिकाल में उसी में वर्त्तमान रहते हैं । इसी से "न च मत्स्थानि भूतानि" कहा है । क्योंकि शक्तिमान् से शक्ति अलग नहीं रह सकती इसलिये अभेदोपचार द्वारा शक्ति के कार्य्य को शक्तिमान् का कार्य कहा जाता है अतः अपनी शक्ति द्वारा सब जीवों का उपादान कारण और, उस उपादान में दूसरे कारण की अपेक्षा न होने से निमित्त कारण भी मैं ही हूँ । इस प्रकार

ममैव सिद्धं, प्रकृतिरूपाया मच्छक्तेर्जडत्वेन स्वरूपाभेदासम्भवात्परिणामादीनां तद्गतत्वमेव, शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामाङ्गीकारात् । तस्मादचिन्त्ययोगमायेश्वरस्य मम स्वशक्त्यैव जगदुपादानत्वमाधारत्वं लयस्थानत्वं तद्धर्मास्पृष्टत्वं चेति सर्वमविरुद्धम् ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

उक्तार्थमेव स्पष्टयति—प्रकृतिमिति । स्वां स्वकीयां विचित्रपरिणामार्हां त्रिगुणमयीं प्रकृतिमचेतनशक्तिमवष्टभ्य कार्योत्पादनेच्छया स्वेक्षणविषयां कृत्वाऽष्टधा परिणमय्य इमं चतुर्विधं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिरूपं प्रकृतेर्वशात्प्राचीनकर्मनिमित्ततत्तत्स्वभाववलादवशं परतन्त्रं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः सृष्टिसमये विसृजामि ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

नन्वेवं विषमसृष्ट्यादीनि कर्माणि कुर्वतस्तव जीववद्बन्धः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—न चेति । विषमरूपाण्यपि तानि सृष्ट्यादीनि कर्माणि मां न निबध्नन्ति हे धनञ्जय ! । तत्र हेतुर्गर्भितविशेषणमाह—उदासीनवदिति । उदासीनवदासीनं न केवलमुदासीनं कर्तृत्वानुपपत्तेः । उदासीनवच्चावेऽपि हेतुः—असक्तं तेषु कर्मस्विति । तेषु जगत्सर्जनानुग्रहनिग्रहादिषु कर्मसु असक्तमासक्तिशून्यमाप्तकामत्वात् । आप्तकामस्यैव कर्मस्वनासक्तिर्भवति । आसक्तस्यैव कर्माणि बन्धमापादयन्तीत्यर्थः ।

मैं ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध हुआ । प्रकृतिरूप मेरी शक्ति के जड़ होने के कारण चेतन के साथ स्वरूप की एकता असम्भव है इससे परिणाम (विकार) आदि प्रकृतिगत हैं। क्योंकि शक्ति के फैलाने को ही हम परिणाम मानते हैं, इससे अचिन्त्य योगमाया का स्वामी जो मैं हूं उसका अपनी शक्ति द्वारा जगत् का उपादान, आधार, लयस्थान होना और उनके धर्मों से अलग रहना आदि सब बातें सिद्ध हो गईं ॥७॥

ऊपर कहे हुए विषय ही को यहाँ स्पष्ट कर कहते हैं ।

विचित्र परिणामवाली अपनी त्रिगुणमयी अचेतन शक्ति को संसार की उत्पत्ति के लिये अपनी त्रिगुणमयी अचेतन शक्ति को संसार की उत्पत्ति के लिये अपनी इच्छानुकूल ८ विभागों में* विभक्त कर देव, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्थावर आदि ४ प्रकार के जीवों को (प्राणी समूह को), जो प्रकृतिवश से अर्थात् पुराने जन्म के किये कर्मों के स्वभाववल से पराधीन बने हुए हैं, बार-बार सृष्टि के समय में रचता हूं ॥८॥

इस प्रकार विषम सृष्टि आदि कर्म्मों को करते हुए आपको और और जीवों के समान बन्धन क्यों नहीं होता ? इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं । हे अर्जुन ! ये विषम सृष्टिरचना आदि कर्म मुझे नहीं बाँध सकते, क्योंकि मैं उदासीन जैसा रहता हूं । "उदासीन जैसा" कहा, "उदासीन"

---

* प्रकृति के ८ भागों को पीछे कह आये हैं ।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

एकस्यैव कर्त्तृत्वमुदासीनत्वं चेति परस्परविरोधपरिहारार्थमाह—मयेति । अध्यक्षेणाधिष्ठात्रा नियन्त्रा च मयेक्षिता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया सचराचरं जगत्प्रसूयते, उत्पादयति । अनेन मत्सन्निधानेन हेतुना हे कौन्तेय ! जगदुक्तस्वरूपं विपरिवर्त्तते, पुनः पुनर्जायते । अतो न कश्चिद्विरोधः ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

एवम्भूतं परमेश्वरं सर्वाधिष्ठातारं सर्वनियन्तारं सर्वज्ञं सर्वकारणत्वेऽपि दोषास्पृष्टस्वभावं त्वामाश्रित्य किमिति सर्वे न मुच्यन्त इत्यत आह—अवजानन्तीति । मूढा अनादिपापबाहुल्येन मत्स्वरूपादिविषयकाज्ञानावृतत्वान्मोहमापन्ना विपरीतज्ञाना मां भूतमहेश्वरं सर्वजगज्जन्मादिकारणं दोषास्पृष्टस्वभावं सर्वकर्मफलदं मुक्तोपसृप्यं वासुदेवमवजानन्ति, साक्षात्परमेश्वरोऽयमिति न मन्यन्तेऽतो नाद्रियन्ते इत्यर्थः । तेषामवज्ञाने भ्रमकल्पितं हेतुमाह—मानुषीं तनुमाश्रितमिति । कारुण्यादिगुणपरवशतया

नहीं क्योंकि वैसा कहने से वे सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकते । ऐसा कहने में यह भी कारण है कि संसार की सृष्टि, निग्रह, अनुग्रह आदि कामों में मैं आसक्तिशून्य हूँ क्योंकि मैं आप्त-काम अर्थात् पूर्ण मनोरथवाला हूँ । आप्तकामों के लिये कार्य्य बन्धनकारक नहीं होते । आसक्त अर्थात् रागीजन ही बन्धन में पड़ते हैं । जो पूर्णकाम है उसको किसी बात की इच्छा नहीं रहती, इसलिये उसके इच्छारहित कार्य बन्धक नहीं हो सकते । कार्य उन्हीं के लिये बन्धक हो सकते हैं जिनको उन कार्यों में राग वा आसक्ति हो ॥९॥

एक ही भगवान् को जगत् का कर्त्ता होना और उदासीन भी रहना यह परस्पर विरोधी बातें कैसे सम्भव हो सकती हैं ? इस शंका को हटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि अधिष्ठाता और नियामक रूप से मेरे दृष्टिपात से (संकल्प से) प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया ही इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इसी मेरी समीपता के कारण, हे अर्जुन ! पीछे कहे स्वरूपवाला संसार बार-बार सृष्टि के आदि में पैदा होता है। इससे कर्त्ता होकर भी मेरे उदासीन रहने में कोई विरोध नहीं हुआ ॥१०॥

सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वनियामक, सबके कारण होने पर भी निर्दोष, ऐसे आप परमेश्वर का ही आश्रय कर सब लोग क्यों नहीं मुक्त हो जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं । अनादिकाल के पापों की बहुलता से मेरे स्वरूप-सम्बन्धी अज्ञान के कारण जो लोग मूढ़ बने हुये हैं अर्थात् मोह को प्राप्त होने से जिनका उलटा ज्ञान हो गया है वे निर्दोषस्वभाववाले, सब कर्मों के फलदाता, सकल जगत् के जन्मादि के कारण, मुक्त मनुष्यों के प्राप्य मुझको वसुदेव का पुत्र समझ मेरी अवज्ञा करते हैं, अर्थात् मैं साक्षात् परमेश्वर हूँ ऐसा नहीं समझते वा मानते । इस अवज्ञा वा अनादर के भ्रमकल्पित कारण को अब

सर्वेषां समाश्रयणीयत्वाय भक्तानुग्रहाय च स्वेच्छया मनुष्याकारमाश्रितं मनुष्यतया प्रतीयमानं प्राकृत-मानुषसमं मन्यन्ते । ततो भ्रान्त्या मुषितज्ञाना मम परं भावं कारुण्यादिगुणेक्षया भक्ताभिलाषपूरणाय मनुष्यस्वाद्याकारेणाविर्भवनरूपं परं तात्पर्य्यमजानन्तो मनुष्यमात्रभावनयेतरसजातीयं मत्वा नाश्रयन्त्यतो न मुच्यन्त इत्यर्थः ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

ततस्ते मदवज्ञानजनितमहादुरिताः सर्वपुरुषार्थविधुराः क्रूरस्वभावा नरकार्हा इत्याह—मोघाशा इति । मामुपेक्ष्य चण्डीभैरवगजाननादय एवास्मद्वाञ्छितं दास्यन्तीत्येवम्भूता मोघा निष्फला आशा येषां ते मोघाशा मत्प्रेरणं विना देवतान्तरस्य किञ्चित्फलदाने सामर्थ्याभावात्, अत एव मोघानि व्यर्थानि श्रममात्रशेषाणि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि देवतान्तराराधनादीनि च येषां ते मोघकर्माणः । "फलमतः उपपत्तेरि"ति शास्त्रात् कर्मणां जडानां फलदाने शक्त्यभावात्फलदातुर्भगवतो विमुखत्वात् । तथा मोघं परमेश्वराप्रतिपादकं कुतर्कशास्त्रजनितं ज्ञानं येषां ते मोघज्ञानाः । सर्वत्र हेतुः—विचेतस इति । चित्ताधीशवासुदेवचिन्ताशून्यत्वाद्विक्षिप्तचित्ताः प्रमादिन इत्यर्थः । अत एव राक्षसीं तामसीं हिंसाद्वेषबहुलामासुरीं च काममदमात्सर्यदर्पादिप्रधानां मोहिनीं धर्मज्ञानविवेकमोहकर्त्रीं प्रकृतिं योनिं

बताते हैं। करुणा आदि गुणों के वश हो सर्वाश्रय होने और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अपनी इच्छा से मनुष्य का शरीर धारण करने के कारण, मनुष्य के समान दीखते हुये मुझको ऐसे लोग साधारण वा प्राकृत ही मनुष्य मानते हैं। मतलब कि ऐसे लोग इस भ्रम से अज्ञानी बन, अर्थात् दयापरवश हो भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये मनुष्य शरीर धारण करने के तात्पर्य्य को न समझ, साधारण मनुष्य ही की भाँति मुझे मानते हैं। इसीलिए वे मेरा आश्रय ग्रहण नहीं करते मुक्त नहीं होते हैं ॥११॥

तब वे पूर्वोक्त प्रकार से मेरी अवज्ञा करने के कारण महापापी बने हुए, सब पुरुषार्थों से रहित, क्रूर स्वभाव के होकर नारकी होते हैं। इस को यहाँ कहते हैं। मेरी उपेक्षा करके अन्य देवी, भैरव, गणेश आदि देवता ही मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे, उन लोगों की ऐसी आशा करनी व्यर्थ है, क्योंकि उन उन देवों के अन्तर्यामी रूप से स्थित मेरी इच्छा के बिना कोई भी देवता कुछ नहीं दे सकता। इसलिए ऐसे लोगों के अग्निहोत्र आदि कर्म और दूसरे देवताओं की पूजा आदि सभी कर्म व्यर्थ हैं। वेदान्तसूत्र में कहा है कि—"फलमतः उपपत्तेः" अर्थात् एक ब्रह्म ही सब जीवों को अपने किए कर्मों का अपने-अपने अधिकारानुसार फल देते हैं और कोई दूसरा नहीं दे सकता है, यह बात शास्त्रसिद्ध है। इस सूत्र के अनुसार जड़ कर्म फल देने में असमर्थ हैं, और ऐसे जन फलदायक भगवान् से विमुख हैं इसलिये उनके कर्म फलरहित होते हैं फिर परमेश्वर को असिद्ध करनेवाला, कुतर्कियों के शास्त्र का ज्ञान भी व्यर्थ है। इन सबों का कारण यह है कि चित्त के स्वामी वासुदेव का चिन्तन न करने से वे प्रमादी हो जाते हैं।

स्वभावं वा श्रिता भवन्तीति शेषः। अथवा एवम्भूताः सन्तो मामवजानन्तीति पूर्वेणैवान्वयः। तेषां विशेषफलं च—

ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि॥

मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिमि"ति वक्ष्यते। अतो व्यर्थजीवनास्ते उपेक्षणीयाः। तथा महाभारते श्रीनारदेनोक्तं सभापर्वणि—

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचनेति॥

तथा वामने प्रह्लादेनोक्तम्—

वृथा व्रतं वृथा यज्ञा वृथा वेदा वृथा श्रुतम्।
वृथा तपश्च कीर्तिश्च यो द्वेष्टि मधुसूदनमिति॥

इसी से वे तामसयुक्त, हिंसा-द्वेषवाली राक्षसी, काम, मद, मात्सर्य, गर्ववाली आसुरी प्रकृति तथा धर्म, ज्ञान, विवेक को हरण करनेवाले मोहक स्वभाव को प्राप्त होते हैं। अथवा ऐसे होकर वे लोग मेरी अवज्ञा वा अनादर करते हैं। इनका विशेष फल सोलहवें अध्याय में कहेंगे, यथा—

"ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम्॥"

अर्थात् मेरी तथा अपने से दूसरों की जो निन्दा करनेवाले और दूसरों से डाह करनेवाले हैं उन क्रूर अधम मनुष्यों को मैं आसुरी योनि में बार-बार जन्म देता हूँ। इससे वे मूढ़ मेरे को न प्राप्त होकर अधम गति को जाते हैं। इससे उनका जीवन व्यर्थ है और वे उपेक्षा करने के योग्य हैं।

महाभारत सभापर्व में श्रीनारदजी ने कहा है :—

"कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन॥"

अर्थात् जो लोग कमल-लोचन भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं पूजते वे जीते हुए भी मरे हैं। उनसे कभी बोलना भी नहीं चाहिए।

वामनपुराण में प्रह्लादजी का वचन है :—

श्रीभागवतेऽपि—

धिग्जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥

स्कान्दे "स कर्त्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव ! । स कर्त्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ! । निःशेषधर्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो निरयं व्रजेदि"ति ।

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

तर्हि के सफलजन्मानः श्लाघ्या इत्यपेक्षायामाह—महात्मान इति । महान् जन्मान्तर-सहस्रार्जितपुण्यसञ्चयैर्विध्वस्तसमस्तपापतया क्षुद्रकामाद्यनभिभूतः परमतत्त्वविचारार्हत्वादुदार आत्मा चित्तं येषां ते महात्मानस्ते तु "अभयं सत्त्वसंशुद्धिरि"त्यादिना वक्ष्यमाणां दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिता

"वृथा व्रतं वृथा यज्ञः वृथा वेदा वृथा श्रुतम् ।
वृथा तपश्च कीर्त्तिश्च यो द्वेष्टि मधुसूदनम् ॥"

अर्थात् उस मनुष्य का यज्ञ करना, वेद शास्त्र पढ़ना तप करना और कीर्त्ति होना सब व्यर्थ है, जो कृष्ण से द्वेष करता है ।

भागवत् में भी लिखा है :—

"धिग्जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥"

अर्थात् उनके तीनों वेदों की विद्या को, व्रत को, बहुज्ञता को, कुल को, क्रिया करने की कुशलता को धिक्कार है जो श्रीकृष्ण से विमुख रहते हैं ।

स्कन्दपुराण में भी कहा है :—

"स कर्त्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव ! ।
स कर्त्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ! ॥
निःशेष-धर्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो निरयं व्रजेत् ॥"

अर्थात् हे केशव ! वह सब धर्मों का करनेवाला है जो तुम्हारा भक्त है, और वह सब पापों का कर्त्ता है जो तुम्हारा भक्त नहीं है । सब धर्म का करनेवाला भी जो अभक्त है वह नरक में जाता है ॥१२॥

तब किस का जन्म सफल और प्रशंसनीय है ? इसका उत्तर देते हैं :—

हे अर्जुन हजारों जन्मों के पुण्यसंचय से जिनकी आत्मा (चित्त) सारे पापों के नाश हो जाने के कारण क्षुद्र कामादि विकारों के वश में नहीं है और परम तत्त्व के विचारने से उदार हैं ऐसे महात्मा "अभयं सत्व संशुद्धि" इत्यादि से आगे कही जानेवाली दैवी (सात्विकी) प्रकृति को ग्रहण कर, मेरे

अत एवान्यस्मिन्मद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि नास्ति मनो येषां तेऽनन्यमनसो भूतादिं सर्वजगत्कारणम् अव्ययमजहत्स्वरूपगुणशक्तिकं स्वानन्यभक्तानुग्रहार्थं यथाभक्ताभिलाषपूर्त्यर्थं मनुष्यसमानाकारेणावतीर्णं मां भजन्ति।

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

तेषां भजनप्रकारमाह—सततमिति। अत्यर्थमत्प्रियतया मत्स्वरूपगुणनामाभिनिविष्टान्तःकरणमद्गुणलीलाविशेषद्योत—कनामानि स्मृत्वा पुलकितसर्वाङ्गा हर्षगद्गदकण्ठा माधव मुकुन्द मधुसूदन कृष्ण वासुदेवेत्येवमादीनि नामानि स्तोत्रप्रबन्धादीनि च सततं सर्वदा कीर्त्तयन्तः, यतन्तश्च मत्प्रसादासाधारणकारणभूतेषु मदर्चनवन्दननर्त्तननमस्कारलीलानुकरणादिकर्मसु यतमानाः, भजनान्तरागतविक्षेपमसहमाना विक्षेपहेतून्स्वसम्बन्धिनोऽप्युपेक्षमाणा इत्यर्थः। भक्त्या निरतिशयप्रेम्णा नमस्यन्तश्च "पद्भ्यां दोर्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरित" इत्युक्तप्रकारेणाष्टाङ्गं मन्मन्दिराजिरादिषु दण्डवत्प्रणामं कुर्वन्तो नित्ययुक्ताः क्षणमात्रमपि मद्वियोगमसहमाना मामुपासते, मत्सेवनैकजीवना भवन्तीत्यर्थः।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥१५॥

अतिरिक्त किसी दूसरे में मन न लगा, सारे जगत् के कारण, अपने गुण, स्वरूप और शक्ति से युक्त, भक्तों पर अनुग्रह करने तथा उनकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिये मनुष्य रूप में अवतीर्ण, मुझ सर्वेश्वर को भजते हैं ॥१३॥

अपने भक्तों के भजन करने की रीति को कहते हैं। मेरे भक्त मुझ में अत्यन्त प्रेम होने से मेरे स्वरूप, गुण, तथा नाम में मन लगाये रहते हैं, और मेरे गुण और लीला के सूचक नामों को ले लेकर रोमाञ्चित हो गद्गद् कण्ठ से माधव, मुकुन्द, कृष्ण आदि नाम जपते हैं तथा स्तोत्र प्रबन्ध आदि का सदा कीर्त्तन करते हैं। मेरे प्रसन्न होने के मुख्य कारणभूत मेरी पूजा, नमस्कार, नाचना, गाना, लीला का अनुसरण आदि कर्मों में लगे हुये वे भजन में आनेवाली विघ्नबाधाओं की, यहाँ तक कि मेरी पूजादि के बाधक अपने सम्बन्धियों की भी उपेक्षा करते हैं और अत्यन्त प्रेम से मेरे मन्दिर के आँगन में साष्टांग दण्डवत नमस्कार करते हुए क्षण भर के लिए भी मेरे वियोग को नहीं सह सकते अर्थात् मेरी सेवा शुश्रूषा ही उनका जीवन हो जाता है। नमस्कार का अर्थ यह है कि :—

"पद्भ्यां दोर्भ्यां च जानुभ्यामुरसा सिरसा दृशा।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥"

अर्थात् पैरों, भुजाओं, जङ्घाओं, छाती, सिर, नेत्र, मन और वचन से जो प्रणाम किया जाता है उसको अष्टांग प्रणाम कहते हैं ॥१४॥

तेभ्योऽपि विशिष्टा महात्मानो मामुपासत इत्याह—ज्ञानयज्ञेनेति । अन्येऽपि महात्मानो मामुपासते । किं कुर्वन्तो ? ज्ञानयज्ञेन । चकारात्पूर्वोक्तैः कीर्त्तनादिभिश्च । यजन्तः पूजयन्तः । ज्ञानप्रकारमाह—एकत्वेन पृथक्त्वेनेति । सर्वाभेदेन सर्वभेदेन चेत्यर्थः । तदेवोपपादयति—बहुधा विश्वतो मुखमिति । विश्वतो मुखं विश्वान्तर्यामिणमेकत्वेन, बहुधा बहुप्रकारं व्यष्ट्यन्तर्यामिणं बहुत्वेन तद्वैलक्षण्येन च । तथाहि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति । आत्मैवेदं सर्वं, वासुदेवः सर्वमिति सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थित"इत्यादिश्रुतिस्मृत्यभिहितसर्वचेतनाचेतनजगदात्मकत्वेन विश्वरूपं तन्तं मामेकत्वेनावगत्य "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च, सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः, एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य" इत्यादिश्रुतिभ्यो

ऊपर कहे हुए लोगों से भी बड़े महात्मा मेरी उपासना जिस प्रकार करते हैं, वह अब कहता हूँ। ये लोग पहले कहे हुए कीर्तन आदि के अलावा ज्ञानयज्ञ से भी मुझको सबसे भिन्न तथा सबसे अभिन्न अर्थात् भिन्नाभिन्न समझते हुए, अनेक प्रकार से पूजा करते हैं। क्योंकि विश्व भर के अन्तर्यामी होने के कारण अनेक, तथा विश्व और व्यष्टि से विलक्षण समझ मेरी उपासना करते हैं। इस प्रकार की उपासना करने के प्रमाण श्रुति स्मृति आदि में बहुत मिलते हैं। यथा :—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्म है। "आत्मैवेदं सर्वम्" अर्थात् यह सब आत्मा ही है। "वासुदेवः सर्वमिति" अर्थात् वासुदेव ही सब कुछ हैं। "सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः," "सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः" अर्थात् परमपुरुष परमेश्वर वह वासुदेव एक ही है। वह अनन्त है और सर्वगत है। वह मैं ही हूँ। इन सब श्रुतिपुराण वाक्यों से सब चेतन-अचेतन जगत् का आत्मा होने के कारण विश्वरूप मुझको एक जानकर और "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च। सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः। एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" अर्थात् वह (ब्रह्म) नित्यों में भी नित्य है, चेतन का भी चेतन है, बहुतों में एक है, जो कामनाओं को पूर्ण करता है, जो पृथिवी पर रहता हुआ पृथिवी के अन्तर में है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी का अन्तरात्मा है, और उसको नियमन करता है, वही तुम्हारा भी अन्तर्यामी और अमृत आत्मा है। एक वायु संसार में वर्त्तमान रहकर जैसे प्रत्येक रूप के प्रति समान बन जाता है वैसे ही सब जीवों का अन्तरात्मा परमेश्वर प्रत्येक रूप के समान हो जाता है। सूर्य जैसे

बहुधा बहुरूपं सन्तमपि मां तद्धर्मास्पृष्टस्वभावतया पृथक्त्वेन सर्वचेतनाचेतनजगतोऽत्यन्तवैलक्षण्येनोपासते इत्यर्थः ।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

उक्तमात्मनो बहुप्रकारत्वं प्रपञ्चयति—अहमित्यादि चतुर्भिः । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिरहमेव । यज्ञो स्मार्त्तो महायज्ञाख्योऽप्यहमेव । स्वधा पितृगणपुष्टिदायिनी अहम् । औषधं चाहमेव । अहमेव मन्त्रो याज्या पुरोऽनुवाक्यादिः । आज्यं होमसाधनमहमेव अग्निराहवनीयादिरहमेव । हुतं होमश्चाहमेव ।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥१७॥

किञ्च—पितेति । अस्य जगतः पितृत्वादिषु वर्त्तमानोऽहमेव । अत्र धातृशब्दो मातृपितृव्यतिरिक्ते उत्पत्तिप्रयोजके जनविशेषे वर्त्तते । वेद्यं ज्ञेयं वस्तु पवित्रं पावनमोङ्कारः प्रणवोऽहमेव । ऋग्यजुःसामवेदाश्चाहमेव ।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिर्गम्यते इति गतिः फलं स्वर्गलोकादिः । भर्त्ता पोषको धारयिता वा प्रभुर्नियन्ता । साक्षी साक्षाच्छुभाशुभकर्मद्रष्टा । निवासः निवासस्थानं, शरणमिष्टप्रापकत्वादनिष्टनिवारकतया रक्षकः । सुहृत् हिताभंसी, प्रभवः प्रकर्षेण भवति कार्यमनेनेति प्रभवः स्रष्टा । प्रलीयतेऽनेनेति प्रलयः संहर्त्ता ।

सब लोक का नेत्र होकर भी बाहरी नेत्र के दोषों से दूषित नहीं होता, वैसे ही सब लोक का अन्तरात्मा परमेश्वर बाहर लोक के दोष से लिप्त नहीं होता । इत्यादि श्रुतियों से बहुरूप होने पर भी उनके धर्मों से रहित मुझको सब चेतनाचेतन जगत् से पृथक् जानकर मेरी उपासना करते हैं ॥१५॥

अपने को जो अनेक कह आये हैं उसी अनेकता को चार श्लोकों से दिखलाते हैं । श्रुतिप्रतिपादित अग्निष्टोम आदि यज्ञ मैं ही हूँ । स्मृतिप्रतिपादित महायज्ञ मैं ही हूँ । पितरों को पुष्टि देनेवाली स्वधा मैं ही हूँ । मैं ही औषध हूँ । "याज्या पुरोऽनुवाक्" आदि मन्त्र मैं ही हूँ । होम के साधन घी आदि मैं ही हूँ । आहवनीय अग्नि मैं ही हूँ और मैं ही होम हूँ ॥१६॥

इस जगत् के पिता, माता, धारणकर्त्ता और पितामह मैं ही हूँ । जानने योग्य पवित्र ओङ्कार मैं ही हूँ । ऋक्, साम और यजुर्वेद मैं ही हूँ ॥१७॥

पुण्य कर्मों से प्राप्य फल स्वर्ग आदि मैं ही हूँ । पालक वा धारक मैं ही हूँ । नियन्ता और शुभाशुभ कर्म का देखनेवाला मैं ही हूँ । निवास स्थान और इच्छित वस्तु की प्राप्तिकारक और अनिष्ट-निवारक होने से शरण अर्थात् रक्षक मैं ही हूँ । सबका हितकारी, उत्पत्ति करनेवाला, संहारक, आधार,

तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानमाधारः, निधीयते भोगाऽयोग्यतया क्षिप्यतेऽस्मिन्निति निधानं प्रलयस्थानं, तथाऽव्ययं बीजं परं व्यवरहितं तत्तत्कारणं तत्सर्वमहमेव ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ! ॥१९॥

आदित्यरूपेण ग्रीष्मेऽहमेव तपामि तापयामि । वर्षं पूर्ववृष्ट्यवशिष्टं रसं पृथिव्या निगृह्णामि शोषयामीत्यर्थः । तमेव निगृहीतं रसं पुनर्बहुगुणमुत्सृजामि च । अमृतं प्राणिनां जीवनं चाहमेव । मृत्युः-प्राणिनां विनाशश्चाहम् । सदसच्च स्थूलं सूक्ष्मं चैतत्सर्वमहमेव हे अर्जुन ! एवं सर्वात्मानं मामेव ज्ञात्वा यथाधिकारमेकधा बहुधा च मामेवोपासते इति पूर्वोक्तमुपसंहृतम् ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-,मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तदेवं भगवन्तमवजानतामभक्तानां राक्षस्यादिप्रकृतिनिरूपणेन तदनुरूपं फलमप्यर्थादुक्तम् । ततो ज्ञानभक्तिनिष्ठानां महात्मनां भक्तानां दैवीप्रकृतिनिरूपणेन भगवदनुग्रहफलं ज्ञेयमिदानीं ये न भगवद्विरोधिनो न वा भक्ताः, किन्तु स्वर्गादिफलकामुकाः केवलेन्द्रादिदेवभक्तास्तेषामिहामुत्र गतागतमेव फलमित्याह—द्वाभ्याम्—त्रैविद्या इति । ऋग्यजुःसामाख्यास्तिस्रो विद्याः स्वाभीष्टार्थबोधिका वेषां ते त्रिविद्यास्त्रिविद्या एव त्रैविद्याः । वेदत्रयोक्तकर्मनिष्ठा, नतु त्रिविद्याशिरस्कोपनिषन्निष्ठा इत्यर्थः । वेदत्रय-विहितैर्यज्ञैरग्निष्टोमादिभिर्वस्तुतो मामिन्द्रादिरूपमिष्ट्वा तथा मामजानन्तः केवलमिन्द्रादिबुद्ध्या पूजयित्वा

निधान अर्थात् भोग के योग्य कर्म न करने पर जिसमें डाला जाय वह खजाना अर्थात् प्रलय स्थान और अविनाशी बीज अर्थात् सबका कारण मैं ही हूँ ॥१८॥

सूर्यरूप से गरमी के दिन में मैं ही तपाता हूँ । और पहले की वर्षा के बचे हुए रस को पृथ्वी से मैं ही सोखता हूँ । उसी ग्रहण किये हुये रस को फिर बहुत परिणाम से छोड़ता अर्थात् बरसाता हूं । प्राणियों का जीवन मरण मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! स्थूल और सूक्ष्म सब मैं हूं । इस प्रकार मुझे ही सर्वात्मा समझ, यथाधिकार अनेक रूप से मेरी उपासना महात्माजन किया करते हैं । पूर्व कही उपासना विधि को यहाँ समाप्त करते हैं ॥१९॥

इस प्रकार भगवान् के निरादर करनेवाले अभक्तों का राक्षसी आदि प्रकृति के कारण, तदनुरूप फल का पाना पीछे कहा । फिर ज्ञानभक्तनिष्ठ महात्मा भक्तों को, दैवीप्रकृति होने के कारण, भगवान् की कृपारूपी फल प्राप्त होने की बात भी कह चुके । अब जो न तो भगवान् के विरोधी ही हैं और न भक्त ही हैं किन्तु स्वर्गादि फल पाने की इच्छा से इन्द्रादि देवताओं के उपासक हैं उनको यहाँ वहाँ आवागमन रूप ही प्राप्त होता है, इसी को दो श्लोकों से कहते हैं । जिनकी निष्ठा वेद के शिरोभाग उपनिषदों में नहीं है, किन्तु जो वेदत्रय में कहे हुए कर्मों में ही श्रद्धा रखते हैं, वे ऋक्, यजु, साम नामक तीनों वेदों में कहे हुए अग्निष्टोम आदि कर्मों से इन्द्रादि रूप में मेरी पूजा करनेवाले मुझे सबका

यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति सोमपास्तत एव पूतपापाः स्वर्गादिविरोधिपापान्निर्मुक्ताः सन्तः स्वर्गगतिं स्वर्ग-प्राप्तिमेव गतिं यज्ञफलं ये प्रार्थयन्ते, ते पुण्यफलरूपं सुरेन्द्रलोकमासाद्य दिवि स्वर्गे दिव्यान् दिवि भवान् देवसम्बन्धिभोगानश्नन्ति भुञ्जते।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः, गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ततश्च—ते तं भुक्त्वेति। ते स्वर्गकामा इह यज्ञोद्भूतपुण्येन यत्प्राप्तितं तं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं तज्जन्यं सुखं भुक्त्वा तद्भोगप्रापके पुण्ये क्षीणे सति पुनः पुण्योपचयाय मर्त्यलोकं कर्मभूमिं प्रविशन्ति, पुनर्गर्भवासादिदुःखानुभवपूर्वकं पुनरेवमुक्तप्रकारेण त्रयीधर्मं वेदत्रय्या प्रतिपादितं धर्ममनु-प्रपन्ना अनुसृताः कामकामाः कामान्भोगान्कामयमाना गतागतं लभन्ते। कर्म कृत्वा तत्फलभोगाय स्वर्गं यान्ति। तत्र तत्सुखं भुक्त्वा क्षीणपुण्यास्ततः पुनरिहागत्य कर्म कुर्वन्तीत्येवं जन्ममरणरूपसंसार-प्रवाहमनिशमनुभवन्तीत्यर्थः।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

एवं सकामाः संसरन्तीत्युक्तं, निष्कामा मद्भक्तास्तु मदनुग्रहात्सर्वपुरुषार्थभाजो भवन्तीत्याह—अनन्या इति। न विद्यतेऽन्यो मद्व्यतिरिक्तः प्राप्य उपास्यो वा येषां तेऽनन्या मां परमप्राप्यं देवदेवं चिन्तयन्तो ये जनाः पर्युपासते, परि सर्वतो देहेन्द्रियान्तःकरणैः सेवन्ते, तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमन-

---

अन्तर्यामी होने से सर्वदेव रूप नहीं जान के केवल इन्द्र आदि समझ कर पूजते हैं, और सोमवल्ली को कूट के उसके रस से होमकर और यज्ञ शेष रस को पीकर स्वर्गादि के विरोधी पापों से मुक्त हो केवल स्वर्ग की प्राप्ति मात्र चाहते हैं। ऐसे लोग अपने किये कर्मों के पुण्यफलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त कर वहां देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥२०॥

स्वर्ग की इच्छावाले मनुष्य यज्ञ के पुण्य से प्राप्त, बहुत बड़े स्वर्ग और वहाँ के सुख को भोगकर, उस भोग के देनेवाले पुण्य के क्षीण हो जाने पर, फिर पुण्य बटोरने के लिये इस कर्मभूमि संसार में जन्म लेते हैं। फिर भी गर्भवास आदि के प्रबल दुःखों को उठाते हुए ऋक्, यजु, साम में कहे कर्मकाण्ड द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुष्ठानों को, भोग प्राप्ति की इच्छा से, करते हैं। इस प्रकार ये लोग आवा-गमन ही में पड़े रहते हैं। अर्थात् कर्म करके उसके फल को भोगने के लिये स्वर्ग जाते हैं। वहाँ सुख भोगकर पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार में आकर कर्म करते हैं। इस ढंग से जन्म मरणरूप संसार में ये सदा दुःख भोगा ही करते हैं ॥२१॥

इस प्रकार सकामी ही जन जन्म लेते हैं और जो मेरे निष्काम भक्त हैं, वे मेरी कृपा से ही सब पुरुषार्थ लाभ करते हैं। यही यहाँ कहते हैं। जो दूसरों की उपासना छोड़ मुझे ही परम प्राप्य वा उपास्य, देवों का देव मानकर मेरी उपासना करते हैं अर्थात् मेरे अनन्य भक्त मन, वच, कर्म से मेरी

वरतमादरेण मयि मनोऽभियुञ्जतां योगं मत्प्राप्तिपर्यन्तस्य सर्वपुरुषार्थस्य प्रापणं, क्षेमं तत्संरक्षणं पुनस्तदपायशङ्कावर्जनमित्यर्थः, अहमेव वहामि प्रापयामीत्यर्थः ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

ननु देवताऽन्तरस्यापि स्वदात्मकत्वात्त्वद्रूपत्वमेवातस्तद्भक्ता अपि त्वामेव भजन्ते । तथा च किं तेषां वैगुण्यं यतस्ते गतागतं लभन्त इत्याशङ्क्याह—येऽपीति । यथा मद्भक्ताः साक्षान्मामेव यजन्ते, तथा येऽपिजना अन्यदेवताभक्ताः श्रद्धयोपेताः संतस्ता एवेन्द्रादिदेवता यजन्ते । तेऽपि हे कौन्तेय ! देवतादिदेहेऽपि मामेव यजन्तीति सत्यम् अपि त्वविधिपूर्वकं यथाऽवस्थितवस्त्वज्ञानेनानुष्ठानमविधि-पूर्वकमिन्द्राद्यन्तर्यामिणं मामज्ञात्वा मदुद्देश्याभावेन केवलानिन्द्रादीन्यजन्तीत्यर्थः ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

तेषामविधिपूर्वकयजनं तत्फलं च स्पष्टयति—अहं हीति हिरवधारणे । सर्वेषां यज्ञानां तत्तद्देवता-ऽऽत्मनाऽहमेव भोक्ता प्रभुश्च स्वामी च । तत्र तत्र यज्ञफलदाता चाहमेव । एवं सर्वकर्मकर्तृ देवताऽध्यक्षं

ही सेवा करते हैं, ऐसे निरन्तर आदर से मुझ में मन लगानेवाले के योग क्षेम को मैं ही किया करता हूँ । योग से अर्थ है भगवान्प्राप्ति पर्यन्त सब पुरुषार्थों का मिलना, और क्षेम का अर्थ है, प्राप्त हुए पदार्थों की रक्षा । कहने का मतलब यह कि अपने अनन्य उपासकों को भगवान् ही सब कुछ प्राप्त करा देते हैं और प्राप्त कराई हुई चीजों की रक्षा भी वही स्वयं करते हैं ॥२२॥

दूसरे देवता भी तो त्वदात्मक होने से तुम्हारे ही रूप हैं । इसलिये उनके पूजनेवाले भी तो तुम्हारे ही पूजक हुए । फिर वे किस विगुणता वा दोष के कारण संसार चक्र में घूमते रहते हैं ? इस शंका का उत्तर देते हैं ।

जैसे मेरे भक्त साक्षात् मेरी ही पूजा करते हैं, वैसे दूसरे देवता के भक्त श्रद्धा से इन्द्रादि देवता की पूजा करते हैं । वे भी देवताओं की देह में सर्वात्मा रूप से वर्त्तमान मेरी ही पूजा करते हैं, यह ठीक है । पर यथावस्थित वस्तु के अज्ञान से उनकी पूजा अविधिपूर्वक है । अर्थात् इन्द्रादि रूप में अन्तरात्मा रूप से मुझे न जानकर उन देवताओं को केवल इन्द्रादि समझ कर ही पूजन करते हैं । उस पूजा में मेरा उद्देश्य नहीं करते हैं । इसी से उनकी ऐसी दशा है, अर्थात् वे संसार चक्र में घूमते रहते हैं ॥२३॥

उन सकाम पुरुषों के विधिरहित पूजन और उसके फल को कहते हैं । सब यज्ञों का उन-उन देवताओं का आत्मा रूप मैं ही भोग करनेवाला हूँ, उनका स्वामी हूं और उन यज्ञों का फलदाता भी मैं ही हूँ । इस प्रकार कामनायुक्त, अन्य देवताओं के भक्त, सब कर्म के करनेवाले और देवताओं के

मां ते सकामास्तु तत्त्वेन नाभिजानन्ति। अतः कर्मफलं भुक्त्वा तद्भोगान्ते च्यवन्ति, पुनर्देहग्रहणाय धूममार्गेणावर्त्तन्ते। ननु साक्षान्मामेव तत्त्वेन, देवतासु या मामेवान्तर्यामिणं यजन्तश्च्यवन्तीति भावः।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

ननु देवतान्तराराधकानां च्युतिरेव भवति चेत्तर्हि "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथे"ति पूर्वं कथं देवताऽन्तराराधनं फलसहितमुपदिष्टमित्याशङ्क्याह नाहं देवताऽऽराधनं निष्फलं ब्रवीमि। किन्तु यथा देवतानुरूपमेव फलं भवतीत्याह यान्तीति। देवेष्विन्द्रादिषु व्रतं नियमो भक्तिर्वा येषां ते देवव्रताः। अथवा तेष्वेवेज्यबुद्धयस्ते तानेव देवविशेषान्यान्ति, प्राप्नुवन्ति। पितृव्रताः पितृष्वग्निष्वात्तादिष्वेवेज्यबुद्धया नियमान्वितास्तानेव पितॄन्यान्ति। भूतेज्या भूतेषु यक्षरक्षोविनायक-मातृगणादिषु इज्या पूज्यबुद्धिर्येषां ते तथा तद्यजननिष्ठास्तानि भूतान्येव यान्ति। एवं सत्त्वाधिका रजोऽधिकाश्चैते त्रिविधा देवव्रतादयः स्वस्वाराध्यदेवपितृभूतानुग्रहीतास्तत्तत्समानैश्वर्यसामीप्यसारूप्य-सायुज्याद्येकतरं भावं सर्वं वाऽपि प्राप्य तत्तद्भोगावसाने तैः सह मर्त्यलोके पतन्ति। मद्याजिनो मां साक्षाद्भगवन्तं यष्टुं शीलं येषां ते तु सात्त्विका दैवीसम्पदमाश्रिता अनादिनिधनं कर्मक्लेशविपाकाद्य-

---

अध्यक्ष मुझको ठीक-ठीक नहीं जानते। ये लोग न मुझे साक्षात् देवताओं का अन्तरात्मा समझ ही मेरी पूजा करते हैं। इसीलिये ये लोग संसार चक्र में पड़ते हैं, अर्थात् अपने कर्मों का फल भोगकर वे फिर धूममार्ग से संसार में लौट आते हैं ॥२४॥

यदि दूसरे देवताओं के पूजक फिर जन्म ही धारण करते हैं तब,—

"सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥"

जो पीछे कह आए हैं, इसमें दूसरेदेवताओं की फल सहित उपासना क्यों बताई गई है? इस शंका का उत्तर देते हैं। भगवान् कहते हैं कि मैं अन्य देवताओं की उपासना को निष्फल नहीं बताता, किन्तु देवता के अधिकारानुसार उस उपासना का क्षुद्र ही फल होता है, यही कहता हूँ। इन्द्रादि देवताओं के भक्त इन्द्रादि ही को पाते हैं। पितृभक्त अग्निष्वात्ता आदि पितृगण को ही पाते हैं। यक्ष, रक्ष, विनायक, मातृगण के पूजक उन्हीं को पाते हैं। इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणवाले लोग अपने-अपने गुणों की अधिकता के अनुसार अपने-अपने आराध्यदेव, पितृ, भूत आदि की उपासना से उनके अनुग्रह को प्राप्त कर अपने उपास्य देव के अनुरूप ऐश्वर्य्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि भावों में से किसी एक को या सबको पाकर भोग के अन्त में फिर उनके साथ ही संसार में गिरते हैं। किन्तु

स्पृष्टस्वभावं समस्तेतरविलक्षणानन्तासंख्येयनित्यैश्वर्यशक्तिकमनवधिकातिशयानन्दं मामेव यान्ति, न पुनश्च्यवन्तीत्यर्थः। अतोऽन्यदेवभक्तेभ्यो मद्भक्तानां महान्विशेष इति भावः।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

किञ्च देवतान्तरभजने तद्भक्तानां महान्प्रयासो मद्भक्तानां तु मदुपासनेऽतिसौकर्य्यमित्याह—पत्रमिति। अनायासलभ्यं पत्रं नवपल्लवं दुर्वाङ्कुरादिपुष्पं वा तोयं वाऽन्यत्किञ्चिद्वस्तु यः कश्चिदपि पुमान्मे मह्यं परमेश्वरायाप्तकामाय भक्त्या निरतिशयप्रीत्या सर्वं त्वदीयमेव, न मम किञ्चिदिति त्वदनन्यभक्तोऽहं त्वदीयमेव तुभ्यं समर्पयामि। पूर्णकामस्त्वं केवलं मदनुग्रहायाङ्गीकुरुष्वेति प्रार्थनया प्रयच्छति। तस्य प्रयतात्मनः शुद्धमनसः प्रकर्षेण मदर्चने यतमनस इति वा तत्तथाविधभक्त्युपहृतमहं सर्वेश्वरोऽवाप्तसमस्तकामोऽप्यखिलब्रह्माण्डनायकोऽपि ब्रह्मेशेन्द्राद्याराधनाशक्तयोऽपि भक्ताधीनस्वभावत्वादश्नामि। तथोक्तं—मोक्षधर्मे नारायणीयाख्याने। "यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्। शेषाश्च बिबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः॥ नागाः सुपर्णगन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्चये। हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते॥ कृत्स्नं तु यस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते। याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च ह्येकान्तिगति बुद्धिभिः। ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयमि"ति।

मेरी भक्ति करनेवाले दैवीसम्पत्ति युक्त, अनादि कारण, कर्म क्लेश विपाकादि से रहित, सबसे विलक्षण, अनन्त, असंख्य और नित्य ऐश्वर्य्य और शक्ति से युक्त, निःसीम आनन्द रूप मुझको ही प्राप्त होते हैं। और वे फिर जन्म धारण नहीं करते। अन्य देवताओं के भक्तों से मेरे भक्तों की यह बड़ी विशेषता है ॥२५॥

दूसरी बात यह है कि अन्य देवताओं की सेवा करने में उनके भक्तों को भारी प्रयत्न करना पड़ता है पर मेरे भक्तों को मेरी सेवा में बड़ी सुगमता है। यही कहते हैं। बिना परिश्रम के मिला तुलसीपत्र, दूब आदि, फूल फल, जल आदि जो वस्तु कोई मुझ आप्तकाम को भक्ति से अर्थात् निरतिशय प्रेम से इस प्रकार से अर्पण करता है कि सब वस्तु हमारी ही है, मेरी नहीं, मैं आपका अनन्य भक्त आपकी ही वस्तु आपको अर्पण करता हूं, आप पूर्णकाम हैं, केवल मुझ पर दया करने ही के लिये स्वीकार करें, ऐसी प्रार्थना कर जो देता है, उस शुद्ध चित्तवाले, मेरी पूजा में लगे हुए भक्त के द्वारा भक्ति से दी हुई उन सब चीजों को मैं, सर्वेश्वर, पूर्णकाम, अखिल ब्रह्माण्ड के नायक, और ब्रह्मादि से भी अगम्य होने पर भक्ताधीन होने के कारण ग्रहण कर लेता हूं। जैसा कि मोक्षधर्म में नारायणीय आख्यान में कहा है :—

"यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्।
शेषाश्चबिबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

अहो महान् भक्तेः प्रभावो यतो महाविभूतिपतिरनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकोऽपि भवान् भक्त्यार्पितमतिफलपुष्पाद्यपि अश्नाति । हन्त तर्हि भक्तस्यासाधारणं धर्मं वद येनाहमपि त्वद्भक्तः स्यामित्यत आह—यत्करोषीति । यत्स्वाभाविकं लौकिकं किञ्चित्कर्म तथा यद्देहधारणार्थमश्नासि, यज्जुहोषि वैदिकं होमकर्म करोषि । तथा यद्ददासि । यत्तपस्यसि । उपलक्षणमेतत्सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणाम् । तथा च यत्किञ्चित्स्वभावप्राप्तमाहारविहारेक्षणादिकं, यच्च शास्त्रविहितं होमदानव्रतस्नानादिकं सर्वं कर्म मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व । कर्मकर्तृत्वमुपायमुपेयं च सर्वं मय्येवार्पयित्वा निर्भरत्वभवनपूर्वकं स्वस्यैहिकामुष्मिकस्य सर्वस्य शुभाशुभस्य मदधीनत्वव्यवसाय इति मदनन्यभक्तासाधारणो धर्मस्तस्मात्त्वं मदाराधनैकनिष्ठो मय्यर्पितसर्वस्वो भवेति भावः ।

नागाः सुपर्वगन्धर्वाः सिद्धाः राजर्षयश्च ये ।
हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते ॥
कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते ।
याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च ह्येकान्तिगतिबुद्धिभिः ।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥"

अर्थात् ब्रह्मा, ऋषि, स्वयं शिव, वाकी और श्रेष्ठ देवता, दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गन्धर्व, सिद्ध, राजर्षि जो हव्य कव्य विधिसहित भगवान् को देते हैं, वह सब उस भगवान् के चरणों में पहुँचता है और जो क्रियायें एकान्त गति और बुद्धि से की जाती हैं उन सबों को भगवान् सादर अपने सिर से ग्रहण करते हैं ॥२६॥

अहा ! तब तो भक्ति का प्रभाव बहुत बड़ा है जिससे महाविभूति के स्वामी और अखिल ब्रह्माण्ड के नायक होकर भी आप अति तुच्छ पत्र पुष्प आदि स्वीकार कर लेते हैं । यदि ऐसा ही है तो अब आप अपने भक्तों के विशेष धर्म को कहें जिसे जानकर मैं भी तुम्हारा भक्त होऊँ । इस पर भगवान् कहते हैं ।

स्वाभाविक वा लौकिक जो कर्म करो, देह धारण के लिये जो कुछ भी भोजन करो, जो वैदिक हवन कर्म करो, जो दान दो, जो तपस्या करो, अर्थात् जो कुछ भी नित्य वा नैमित्तिक कर्म करो और स्वाभाविक आहार विहार देखना इत्यादि तथा शास्त्रविहित स्नान, दान, व्रत आदि जो कर्म करो सब मुझे अर्पण कर दो । कर्म, कर्तृत्व, उपाय, उपेय आदि सभी विषयों को मुझे अर्पणकर मेरे ही ऊपर निर्भर करते हुए अपने इस लोक के और परलोक के शुभाशुभ कर्मों को मेरे आधीन निश्चय करके जानना, यही मेरे भक्त का असाधारण धर्म है । अतः मेरी आराधना में ही एकनिष्ठ हो और मुझे ही सर्वस्व (सब कुछ) अर्पण कर दो ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

एवंवृत्तस्त्वं यत्फलं प्राप्स्यसि तच्छृणु—शुभाशुभफलैरिति । एवं मदुक्तप्रकारेण संन्यासः मयि सर्वं कर्मकर्तृत्वादिसमर्पणं स एव योगस्तेन युक्त आत्मा चित्तं यस्य तथाभूतः सन् शुभाशुभे इष्टानिष्टे फलं येषां ते कर्मबन्धनैः कर्मरूपैर्बन्धनैर्मोक्ष्यसे । कर्मणां मय्यर्पितत्वात्तव तत्सम्बन्धानुपपत्तेः । ततश्चैवं-विमुक्तः सन्मामेवोपैष्यसि । न पुनः संसारे वत्स्यसीत्यर्थः ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

ननु यद्येवं त्वं स्वभक्तानेवात्मभावं प्रापयसि नान्यांस्तर्हि तवापि रागद्वेषयोगात्सर्वेश्वरत्वं कथं स्यादिति चेत्तत्राह—सम इति । सर्वेषु देवतिर्यङ्मनुष्यपश्वाद्यात्मनाऽवस्थितेषु जातिस्वभावज्ञाना-ज्ञानादिनोत्तममध्यमाधमेषु भूतेषु प्राणिषु भजनीयतयाऽन्तर्यामितया च समोऽहं, यतो न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । अपकृष्टजातिस्वभावज्ञानादिमताऽराध्यमानस्य मे न कश्चिदपकर्षो भवत्यतस्तथाभूतो मदाराधको मम द्वेषविषयो न भवति । तथोत्कृष्टजातिस्वभावज्ञानादिना पुरुषेणाराध्यमानस्य मे कश्चिदुत्कर्षो न भवत्यतो जात्यादिरुत्कृष्टोऽयमित्येवं मत्प्रीतिविषयो न भवति । एवमपि ये तु जात्यादिनिकृष्टा उत्कृष्टा वा भक्त्या मां भजन्ति ते मयि चित्तवृत्त्या वर्त्तन्ते । अहमपि तेष्वनुग्राहकतया वर्त्ते, तेषां मद्वियोगो न भवतीत्यर्थः । यथा जात्यादिनिकृष्टा गजेन्द्रशबरीगुहकप्रभृतयः, उत्कृष्टाः श्रुतदेवबहुलाश्वभीष्म-

---

ऐसा करने से जैसा फल तुम्हें मिलेगा इसे सुनो । इस प्रकार मेरे कहने के अनुसार सब कर्म, कर्तृत्व आदि अर्पणरूप संन्यासयोग से युक्त होने पर इष्टानिष्टवाले शुभाशुभ कर्मों के बन्धनों से तुम छुटकारा पा जाओगे । क्योंकि कर्मों को मुझ में अर्पण करने से उनसे तुम्हारा सम्बन्ध नहीं रहेगा और इस प्रकार उनसे विमुक्त हो तुम मुझको प्राप्त करोगे और फिर संसार में नहीं आवोगे ॥२८॥

यदि आप अपने भक्तों ही को आत्मभाव वा मुक्ति देते हैं, औरों को नहीं तो आप भी राग द्वेष के वश होते हैं। फिर आप सर्वेश्वर कैसे हो सकते हैं ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं। जाति, स्वभाव, ज्ञान आदि से उत्तम, मध्यम, अधम श्रेणी के देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों का पूजनीय और अन्तर्यामी होने के कारण मैं सबके लिये बराबर हूँ । इसलिए न तो मेरा कोई शत्रु है और न कोई मेरा मित्र है । यदि नीच जाति और स्वभाववाला पुरुष भी मेरी आराधना करता है तो उससे मेरा अपकर्ष वा हीनता नहीं होती और न उच्च जाति वा स्वभाववालों द्वारा पूजे जाने से मेरा उत्कर्ष वा श्रेष्ठता ही होती है । इससे यह जाति में ऊँचा है ऐसा समझ मैं किसी को प्रेम पात्र नहीं बनाता, और न यह समझ कि यह जाति में नीचा है मैं किसी से द्वेष ही करता हूँ । इस भाँति जो, चाहे वे ऊँची जाति के हों वा नीची जाति के, मेरा भजन करते हैं वे सब चित्तवृत्ति से मुझ में सदा वर्त्तमान रहते हैं, और मैं भी उनमें अनुग्रह वा कृपा भाव से सदा वर्त्तमान रहता हूं, अर्थात् उनमें मेरा वियोग नहीं होता ।

पाण्डवादयः, सर्वेऽपि मन्निष्ठा मदनुग्राह्यत्वेन समा एव। न त्वभक्ता दुर्योधनादयः। एवं न मे वैषम्यापत्तिः। यथा कल्पवृक्षः स्वाश्रितस्यैव मनोरथं पूरयति, यथा वाऽग्निः स्वाश्रितस्यैव शीतं तमश्च नाशयति, न तेन तस्य किञ्चिद्वैषम्यं तथा ममापि भक्तानेवानुग्रह्णतो न किञ्चिद्वैषम्यमिति भावः। तथोक्तं श्रीभागवते युधिष्ठिरेण "न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः। संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्रे"ति।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

किञ्चालौकिकं मम भक्तेः प्रभावं शृणु—अपि चेदिति द्वाभ्याम्। न तावन्मदनन्यभक्तानां दुराचारः सम्भवति, यदि कथञ्चित्स्यात्तत्सम्भावनापरावपिचेच्छब्दौ "अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्ग-गर्हासमुच्चयेष्वि"ति सूत्रात्। केन चिज्जन्मान्तरीयेण बलिष्ठेन कर्मणा वैदिकाचारविरोधिनाऽन्त्यजादि-समुद्भवं शरीरं प्रापितः, उत्तमाधिकारार्हकुलजन्मापि केनचिद्बलीयसा भगवदीयापचारात्मकेन पापेन

नीच जाति और निकृष्ट स्वभाववाले गजेन्द्र, शबरी, गुह, बन्दर आदि और उच्च जाति और उत्कृष्ट स्वभाव के श्रुतदेव, बहुलाश्व, भीष्म, पाण्डव आदि सभी मुझ में निष्ठा रखनेवाले, मेरे अनुग्रह के समान पात्र हैं। किन्तु जो दुर्योधनादि अभक्त हैं वे मेरी कृपा के पात्र नहीं हैं। जैसे कल्पवृक्ष अपने आश्रित ही के मनोरथों को पूरा करता है दूसरों का नहीं और इससे उसमें विषमता नहीं आती; फिर अग्नि जैसे अपने आश्रितों ही के शीत और अन्धकार को दूर करता है औरों का नहीं, किन्तु इससे उसमें विषमता नहीं आती, उसी प्रकार केवल अपने भक्तों ही पर अनुग्रह रखने से मुझ में भी विषम-भाव नहीं आता श्रीमद्भागवत में युधिष्ठिर ने कहा है :—

"न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तवस्यात् सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥"

अर्थात् सर्वात्मा, समदृष्टिवाले, सुखानुभव से पूर्ण ब्रह्मस्वरूप आपके अपने और पराये का भेद भाव नहीं है। सेवा करनेवाले पर कल्पवृक्ष के ऐसा, सेवा के अनुसार, आपकी कृपा होती है। इससे आप में कोई विषमता नहीं है॥२९॥

और भी मेरी भक्ति के अलौकिक प्रभाव को सुनो।

यद्यपि मेरे भक्त दुराचारी नहीं होते, तथापि यदि कदाचित् हों ('अपि' 'चेत्' ये दोनों शब्द इसी सम्भावना के सूचक हैं) जिसको किसी जन्मान्तर के बलिष्ठ पाप से निषिद्ध, वैदिकाचार विरोधी चाण्डाल आदि का शरीर मिला, अथवा जो उत्तम अधिकारवाले कुल में जन्म होने पर भी भगवान् के अपचारात्मक किसी बलिष्ठ पाप के कारण दुःसङ्ग में पड़ सत् सम्प्रदायोक्त शास्त्रीय सदाचार से पतित हो गया हो, वही पुरुष दुराचारी है। दोनों प्रकार से वह वैदिक आचार के अयोग्य हो जाता है। यहाँ उत्तम अधिकारी होकर यथेष्टाचार करनेवाला दुराचारी नहीं समझा

प्राप्तदुःसङ्गजन्यकर्मणा तत्सम्प्रदायोक्तशास्त्रीयसदाचारात्पतितो वा सुदुराचारशब्दवाच्यः। उभयथाऽपि सम्प्राप्तवैदिकाचारानर्ह इति यावत्। न तूत्तमाधिकारार्होऽपि यथेष्टाचारेण तत्तमानोऽत्र दुराचारो विवक्षितः, तस्यासुरकोटौ सन्निविष्टत्वात्। एवं चोभयविधदुराचारादप्यधिकः पातकातिपातकमहापातकसर्वाशित्वकृतघ्नतादिविशिष्टो दुराचारः, पूर्वं तथाभूतोऽपि यः केन चिद्भाग्योदयेनानन्यभाक् अन्यसाधनान्यप्रयोजनान्यसम्बन्धशून्यः सन् मां भजते, सर्वसाधनरूपं सर्वयोगक्षेमकर्तारं मुक्तप्राप्यं तद्भोग्यं सर्वसम्बन्धाश्रयं मुमुक्षुध्येयं मां निश्चित्य सर्वात्मना सेवते मद्भजनैकावलम्बनो भवतीत्यर्थः। स साधुरेव मन्तव्यः।

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवेति ये श्रुताः।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥

अहमेव गतिस्तेषां निराशी कर्मकारिणाम्—इत्युक्तैकान्ति लक्षणसम्पन्नत्वात्॥

तत्र हेतुमाह—सम्यग्व्यवसितो हि स इति। हि यतः सम्यग्व्यवसायसम्पत्तियुक्तः, सर्वमुमुक्षुध्येयो जगज्जन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यो वेदान्तप्रतिपाद्यो मुक्तप्राप्यो भगवान् श्रीपुरुषोत्तमो रमानिवासो गोपीप्रियो भदुपायोपेयः सर्वसम्बन्धरूपो नान्यः कश्चित्साध्यसाधनसम्बन्धत्वेन मया समाश्रयणीयोऽस्ति। यद्यपि मम पापबाहुल्येन वैदिकाचारयोग्यतानाभूत्, प्रत्युताधःपातार्हो ह्यभवम्। तथापि तेन निरति-

---

जाता। उसकी गणना असुरकोटि में होती है। इस तरह दोनों प्रकार के दुराचारी से भी अधिकपातक, अतिपातक, महापातक, सर्वभक्षिता, कृतघ्नता आदि दोषवाला दुराचारी होने पर भी जो कोई किसी भाग्योदय से अनन्य होकर और अन्यसाधन, अन्यप्रयोजन, और अन्यसम्बन्ध से शून्य होकर मेरी भक्ति करता है अर्थात् मुझको सर्वसाधनरूप, सब योगक्षेम का कर्त्ता, मुक्तों का प्राप्य और भोग्य, सब सम्बन्धों का आश्रय, मुमुक्षुओं का ध्येय समझ कर सब भाव से मेरी ही सेवा करता है और मेरा भजन ही जिसका अवलम्ब है उसे सदाचारी और एकान्त भक्त ही जानना चाहिये क्योंकि वह नीचे कहे हुए एकान्तभक्त के लक्षणयुक्त है। शास्त्र में एकान्ती भक्त के लक्षण ये कहे हैं :—

"चतुर्विधा मम जना भक्ता एवेति ये श्रुताः।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥
अहमेवगतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्॥"

अर्थात् चार प्रकार के मेरे भक्त प्रसिद्ध हैं। उनमें अनन्य देवतावाले एकान्त भक्त ही सर्वप्रधान हैं। उन आशारहित (निष्काम भगवत्प्रीत्यर्थ) कर्म करनेवालों की गति (प्राप्य फल) मैं ही हूँ।

इसमें कारण यह है कि वह भगवान् में दृढ़ विश्वास रखता है। अर्थात् सब मुमुक्षुओं के ध्येय, जगत के जन्म आदि के कारण, केवल वेदों ही के प्रमाण से जानने योग्य, वेदान्त से प्रतिपाद्य, मुक्तों को प्राप्य, श्रीपुरुषोत्तम लक्ष्मीपति, गोपियों के प्रिय भगवान् ही मेरे उपाय, उपेय और सर्व सम्बन्धरूप हैं, और उनको छोड़ कोई भी साध्य साधन सम्बन्ध से मेरे को उपासनीय नहीं है, ऐसा जानता है। यद्यपि पाप की अधिकता से वैदिकाचार के योग्य मैं नहीं रहा बल्कि अधःपात ही के योग्य रहा, तथापि

शयदयाकारुण्यतितिक्षावात्सल्यादिगुणमहोदधिना भगवता स्वासाधारणगुणपारवश्यान्निर्हेतुककारुण्येनैव स्वानन्यभजनार्हमानुषभावं प्रापयित्वा स्वनियम्यभूतैर्मदीयात्मशरीरेन्द्रियादिभिरात्मानं भाजयित्वा स्वदीनानुकम्पित्वस्वभावप्रसिद्धये मां स्वानन्यभक्ततया ख्यापयति। तस्मात्तदुपकृतिं शिरसि निधाय स एवापारकारुण्यसिन्धुः सर्वात्मना मया भजनीय इति व्यवसायुक्त इत्यर्थः।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

ततश्च—क्षिप्रमिति। अनेन विश्वासात्मकेन दृढनिश्चयेन दुराचारं त्यक्त्वा क्षिप्रं शीघ्रमेव धर्मात्मा महाभागवतलक्षणसम्पन्नो भवति। ततः शश्वच्छान्तिं मद्भावापत्तिलक्षणां मुक्तिं (क्रमेण) प्राप्नोति। ननु पूर्वाभ्यस्तदुराचारवशात्पुनस्तत्र रुचिश्चेत्तर्हि धर्मात्मत्वात् कथं वा शान्तिं गच्छेत्? किन्तुनश्येदित्याशङ्क्य तथाविधव्यवसायवतो मद्भक्तस्य न कदाऽपि नाशशङ्का कार्येत्याह—कौन्तेयेति। हे कौन्तेय! त्वं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुर्वित्यर्थः। किं? प्रतिजानीयामित्यपेक्षायामाह—न मे भक्तः प्रणश्यतीति। मम परमकारुण्यवात्सल्यसौहार्दक्षमादीनानुकम्पसौशील्यसर्वशरण्यत्वाद्यनन्तकल्याणगुणसागरस्य सत्यसङ्कल्पस्य ज्ञानैश्वर्यादिषाड्गुण्यनिधेः श्रीपुरुषोत्तमस्य भगवतो माधवस्य भक्तो दुराचारसम्पन्नोऽप्यनन्यशरणः सर्वसाधनहीनोऽपि न प्रणश्यति। अन्यजनबन्धमप्राप्य यमाधीनो भूत्वा संसारी न भवतीत्यर्थः। दृष्टान्ताश्चात्राजामिलभिक्षुगजगणिकाव्याधादयः तथा—चोक्तं शास्त्रे। "स्वपुरुष-

---

अत्यन्त दया, कारुण्य, दाक्षिण्य, वात्सल्य आदि गुणों के महासमुद्र श्रीभगवान् अपने असाधारण गुण के वशीभूत हो और निर्हेतुक करुणा के वश हो अपने अनन्य भजन के योग्य मनुष्य का शरीर देकर और अपने नियम्यभूत मेरे आत्मा, शरीर, इन्द्रिय आदिकों से अपना भजन करा अपनी दीनदयालुता की प्रसिद्धि के लिए मुझे अपना अनन्य भक्त प्रसिद्ध करते हैं। इससे उन अपार करुणा के समुद्र की सब प्रकार से सेवा भक्ति करनी चाहिए, इस प्रकार के दृढ़ व्यवसाय वा विश्वास से वह युक्त है ॥३०॥

इस विश्वासात्मक दृढ़ निश्चय से वह दुराचार को छोड़कर महाभागवत (परम वैष्णव) हो जाता है। तब क्रम से शश्वत् (अविनाशी) शान्ति को अर्थात् मेरी भावापत्तिरूपी मुक्ति को पाता है। यदि पहले के दुराचार के अभ्यास से उसकी फिर दुराचार में ही रुचि हो तो वह फिर अधर्मी होने से कैसे साधु होगा और कैसे शान्ति (मुक्ति) पावेगा? वरन् उसका नाश ही हो जाएगा। इस प्रकार की शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि ऐसी बात नहीं हो सकती। उस प्रकार के दृढ़ व्यवसाय (निश्चय) वाले मेरे भक्त के नाश की शंका नहीं करनी चाहिये। हे अर्जुन! तुम इस प्रकार निश्चय कर समझ रखो कि परम कारुण्य, वात्सल्य, सुहृदता, क्षमा, दीनदयालुता, सुशीलता, शरणागतवत्सलता आदि अनन्त कल्याण गुण के सागर, सत्यसंकल्प, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि षड्गुणों से सम्पन्न मुझ श्रीपुरुषोत्तम भगवान् माधव का भक्त, दुराचारी और सर्वसाधनहीन होने पर भी, अनन्य शरण होने से अर्थात् साधन और साध्य भगवान् को ही समझ अन्य सर्वसाधनहीन होने से, नष्ट नहीं होता अर्थात् दूसरे मनुष्यों

मभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले । परिहरमधुसूदनप्रपन्नान्प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् । कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ! । भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापानि"ति वैष्णवे ।

श्रीसात्वते च—

दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा: ।
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः ॥
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः"

वैष्णवधर्मे च—

अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ! ।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा"इति ॥

के ऐसा मुक्तको न प्राप्त कर यमराज के अधीन हो फिर संसार में नहीं आता। इसमें अजामिल, भिक्षु, गज, गणिका, व्याध आदि के दृष्टान्त हैं। विष्णु पुराण में लिखा है :—

"स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं, वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ! ।
भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥"

अर्थात् यमराज अपने आदमी (दूत) को पाश हाथ में लिए हुए देखकर उनके कान में कहते हैं कि श्रीकृष्ण के भक्तों को छोड़ दो। मैं अन्य मनुष्यों का स्वामी हूँ वैष्णवों का नहीं। कमलनयन, वासुदेव, धरणीधर आदि भगवान् के नामों का जो उच्चारण करते हैं उन पाप से रहितों को दूर ही से छोड़ दो। सात्वत तन्त्र में लिखा है :—

"दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा ॥
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः ॥
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः ॥"

अर्थात्:—दुराचारी, सर्वभक्षी, कृतघ्न, पहले का नास्तिक होकर भी जो श्रद्धा से भगवान् की शरण में आता है उसे परमात्मा के प्रभाव से निर्दोष समझो।

विष्णु पुराण में भी फिर लिखा है :—

"अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ! ॥
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥"

अर्थात्:—हे अर्जुन ! पाप में लिपटे हुए भी मेरे भक्त सब पातकों से छूट जाते हैं जैसे कि जल से कमल अलग रहता है।

किञ्च—

मेरुमन्दिरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः।
केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्—इत्यादि॥

मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥३२॥

दुःसङ्गादिजन्यदोषदुष्टं भक्तिः पावयित्वा भगवद्भावं प्रापयतीत्युक्तमिदानीं जातिस्वभावदोषदुष्टानपि परमगतिं प्रापयतीत्याह—मां हीति। येऽपि पापयोनयोऽधमजन्मानोऽन्त्यजादयः स्युः, तथाऽध्ययनादिवर्जिताः स्त्रियः वैश्याः, वैश्याः-कृष्यादिमात्रनिकृष्टवृत्तिरताः, न त्वन्यवृत्तयः स्त्रीशूद्रयोर्मध्ये गणनीयास्तथा शूद्रा उत्तमवैदिकधर्महीना अधमगतियोग्या अपि हे पार्थ! तेऽपि मां व्यपाश्रित्यानन्यतया शरणमागत्य परां श्रेष्ठां गतिं यान्ति। हीति निश्चितम्।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥

श्रेष्ठजातिगुणवतां तु परमां गतिं कैमुत्यन्यायेनाह—किं पुनरिति। यद्येवम्भूताः पापयोनयोऽपि परां गतिं यान्ति तर्हि पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणास्तथा राजर्षयः, राजानश्च ते ऋषयः सूक्ष्मदर्शिनः

और भी,

"मेरुमन्दिरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः॥
केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति॥"
"न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्॥"

अर्थात्:—मेरु पर्वत के बराबर भी पापों का ढेर हो तो वह भी केशवरूपी वैद्य को पाकर असाध्य बुरे रोग के समान नष्ट हो जाता है। क्योंकि वासुदेव के भक्तों को अशुभ नहीं होता, अर्थात् उनके अशुभ का नाश हो जाता है॥३१॥

दुःसङ्ग से उत्पन्न हुए दोषों से दूषित पुरुषों को मेरी भक्ति पवित्र कर भगवद्भाव प्राप्त कराती है, यह पहले कह आये हैं। जाति स्वभाव के दोष से दूषित जीवों को भी मेरी भक्ति परम गति देती है, इसी को अब कहते हैं। अधम जन्मवाले चाण्डाल आदि, अपढ़ स्त्री, कृषिमात्र निकृष्ट वृत्तिवाले वैश्य (अन्य वृत्तिवाले वैश्य, स्त्री शूद्र की गिनती में नहीं हैं) और उत्तम वैदिक धर्म से रहित शूद्र सब अधम गति के योग्य होने पर भी मेरी अनन्य भक्ति से युक्त हो अनन्य भाव से मेरी शरण में आकर श्रेष्ठ गति पाते हैं, यह निश्चय है॥३२॥

श्रेष्ठ जाति तथा उत्तम गुणवाले भक्तों की तो उत्तम गति होती ही है, इसमें कहना ही क्या है? इसी को कहते हैं।

क्षत्रियश्रेष्ठा मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किमु वक्तव्यं ? नात्र सन्देह इत्यर्थः। अतो मम भक्तिमेव पुरुषार्थोऽसाधारणहेतुं मत्वा अनित्यमध्रुवम् असुखं जन्ममरणाद्यनेकदुःखनिलयमिमं लोकं मनुष्यदेहं प्राप्य लब्ध्वा यावदयं न नश्येत्तावदन्यसुखसाधनं हित्वा शीघ्रमेव मां भजस्व अत्यादरेण सेवनं कुरु, मद्भजनेनैवास्य जन्मनः साफल्यं कुरु। अन्यथोत्तमकुलजन्मक्रियाकौशल्यादिव्यर्थमेव स्यादिति भावः।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

भजनस्वरूपमुपदिशन्नध्यायमुपसंहरति—मन्मना भवेति। मयि सर्वेश्वरे भगवति वासुदेवे स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषेऽशेषकल्याणगुणैकराशौ सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्पे सर्वस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणे परब्रह्मणि पुरुषोत्तमाख्ये स्वयमवाप्तसमस्तकामे भक्ताभीष्टप्रदातरि भक्ताशेषदोषनिरसनस्वभावे सर्वशरण्ये सर्वस्वामिनि सौन्दर्यमाधुर्य्यलावण्यादिनिधिमूर्तौ ध्यातृमनोहारिणि मनो यस्य स तथा त्वं भव विषयिणां विषयेष्वनपायिनीप्रीतिवदनवच्छिन्नगङ्गाप्रवाहवन्मय्यविष्टमनो भवेत्यर्थः। यदि दृष्टश्रुतानुभूतानेकबाह्यपदार्थासक्तं मनो झटिति मय्यावेष्टुं न शक्नोषि चेत्तर्हि मद्भक्तो भव तत्साधनभूतां मद्भक्तिं कुर्वित्यर्थः। साधनभक्तिश्च "सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया। सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेदि"ति वचनाद्भगवदर्था क्रियैव। तामेव निर्दिशति—मद्याजीति। मद्यजन-

---

यदि अनन्यभाव से मेरी शरण में आने से ऐसे चाण्डाल आदि भी परम गति पाते हैं तब पुण्यात्मा ब्राह्मण, राजर्षि अर्थात् सूक्ष्मदर्शी श्रेष्ठ क्षत्रिय जो मेरे परम भक्त हैं, वे परम गति पायेंगे ही, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। इससे मेरी भक्ति को ही मोक्ष का कारण समझ अनित्य, अनिश्चित जन्म मरण आदि अनेक दुःखों के घर इस लोक को, अर्थात् इस मनुष्य देह को पाकर जब तक इसका विनाश न हो तब तक दूसरे सुख साधन को छोड़ शीघ्र अत्यन्त आदर से मेरी सेवा करो, अर्थात् मेरे भजन से ही इस जन्म को सुफल करो नहीं तो उत्तम कुल में जन्म, क्रियाकुशलता आदि सब व्यर्थ हो जायेंगे ॥३३॥

भजन के स्वरूप को बतलाते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं।

मुझ सर्वेश्वर, अशेष कल्याण गुणनिधि, स्वभाव ही से सब दोषों से रहित, सर्वज्ञ सत्यसंकल्प, जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, स्वयं पूर्णकाम, भक्तों के अभीष्ट दाता, भक्तदोषविनाशी, सर्व शरण्य, सर्वेश, सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, लावण्य आदि की खान, ध्याताओं के मनोमोहक मुझ वासुदेव भगवान् में उस प्रकार मन लगावे जिस प्रकार गङ्गाप्रवाह नित्य अबाधित रूप से प्रवाहित होता है और जिस प्रकार विषयी विषय में मन लगाता है। यदि किसी कारण से अनेक देखे सुने और अनुभूत पदार्थों में लगे हुए मन को मुझ में तुरत न लगा सको तो मेरा भक्त बनो अर्थात् उसके साधनस्वरूप मेरी भक्ति करो। साधन भक्ति इस प्रकार है—

करणशीलो भव, प्रत्यहं त्रिकालं द्विकालमेककालं वा विविधगन्धपुष्पतुलसीधूपदीपोत्तमवस्त्रभूषण-नैवेद्यादिभिर्मम मूर्त्ति शालग्रामादिमतिप्रीत्यार्च्चय। तथा मम जन्माद्युत्सवानुकरणमेकादश्युपवासजागरणनृत्यगीतादिकं च कुरुष्व तच्च निर्भरे सति बहुधनसाध्यसामग्र्या कर्त्तव्यं, कृतस्य च साङ्गतासिद्धयर्थं कर्त्तृत्वाभिमानरूपनिवृत्तये च मनोवाक्कायैर्मह्यं प्रणामः कर्त्तव्य इत्याह—मां नमस्कुरुति। सर्वं त्वदीयं न ममास्ति किञ्चिदहं त्वदीयो न ममाहमस्मीत्याद्युक्तप्रकारेण मयि सर्वस्वं समर्प्य स्वाभिमानं त्यजेत्यर्थः। "द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतमि"ति भारते व्यासोक्तेः। प्रीत्यतिशयेनाष्टाङ्गं पञ्चाङ्गं वा प्रणामं कुरु। प्रणाममाहात्म्यं च वामने प्रह्लादेनोक्तं "वैकुण्ठं खड्गपरशुं भगवन्तं भवच्छिदम्। प्रणिपत्य यथान्यायं न संसारे पुनर्भवेत्।" वैष्णवधर्मे च "नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयाऽन्वितः। तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारदे"ति एवं साङ्गे मद्यजने कृते सति मुशकं मयि मनो नियोक्तुमित्याह—एवमुक्तप्रकारेणात्मानं मनो

"सुरर्षे! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत्॥"

अर्थात्:—हे नारद! विष्णु के उद्देश्य से जो क्रिया का विधान शास्त्र में कहा है वही भक्ति कही जाती है। उसी से परा भक्ति होती है। उसी क्रिया को स्पष्ट करते हैं। प्रतिदिन त्रिकाल, द्विकाल वा एककाल में विविध गन्ध के फूल, तुलसीदल, धूप, दीप, वस्त्र, भूषण आदि से मेरी मूर्ति शालग्राम आदि की प्रीति से पूजा करो और यथाशक्ति जन्मोत्सव, एकादशीव्रत, उपवास, जागरण, मेरे सामने नाच गान आदि करो। धन होने पर कीमती सामग्रियों से मेरी पूजा करनी चाहिये। किये हुए कर्म की साङ्गतासिद्धि के लिए और कर्त्तापने के अभिमान को मिटाने के लिए मन, वाणी और शरीर से मुझे प्रणाम करो। अर्थात् "सर्वं त्वदीयं न ममास्ति किञ्चिदहं त्वदीयो न ममाहमस्मि" तात्पर्य यह कि—सब आपका है मेरा कुछ नहीं; मैं आपका हूँ अपना नहीं। इस प्रकार मुझ में सर्वस्व अर्पण कर अपने अभिमान को छोड़ दो। महाभारत में व्यासजी ने कहा है:—"द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥" अर्थात् दो अक्षर (मेरा) मृत्यु है और तीन अक्षर (न मेरा) शाश्वत् ब्रह्म है। मम (मेरा) यही मृत्यु है। मम न (मेरा नहीं अर्थात् भगवान् का है) यही शाश्वत् अर्थात् ब्रह्म है। इस प्रकार प्रीतिपूर्वक साष्टाङ्ग वा पञ्चाङ्ग प्रणाम करो। वामन पुराण में प्रह्लाद ने प्रणाम के माहात्म्य के विषय में यों कहा है:—

"वैकुण्ठं खड्गपरशुं भगवन्तं भवच्छिदम्।
प्रणिपत्य यथान्यायं न संसारे पुनर्भवेत्॥"

अर्थात् संसार के बन्धन काटनेवाले भगवान् को तथा खड्ग परशु सुदर्शन आदि उनके किसी भी आयुध को प्रणाम करनेवाले का इस संसार में फिर जन्म नहीं होता वैष्णव धर्म में भी कहा है:—

"नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः।

मयि युक्त्वा मत्परायणो मदेकशरणः त्यक्तान्ययत्नः सन् मामेव नित्यं सच्चिदानन्दं मुक्तप्राप्यं तद्भोग्यं यास्यसि प्राप्स्यसि ।

भक्त्याऽन्वितं निजं ज्ञानं भक्तिवैभवमेव च ।
गुह्यमत्राह कृपया भगवांस्तं समाश्रये ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां नवमोऽध्यायः ॥९॥

तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद ! ॥"

अर्थात् जो मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक हे भगवन् आपको नमस्कार है ऐसा कहता है वह चाण्डाल भी हो तो उसको अक्षय लोक प्राप्त होता है । इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग मेरा पूजन करने से मुझ में अपना मन लगाकर मेरी शरण होकर तथा और यत्नों को छोड़कर नित्य, मुक्तप्राप्य मुक्तभोग्य सच्चिदानन्द-रूप मुझको प्राप्त करोगे ॥३४॥

भक्त्याऽन्वितं निजं ज्ञानं भक्तिवैभवमेव च ।
गुह्यमत्राह कृपया भगवांस्तं समाश्रये ॥

अर्थात् गोपनीय भक्तियुक्त ज्ञान के वैभव को जिस भगवान् ने कृपा करके इस अध्याय में कहा है, मैं उनके आश्रित हूँ ।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ब्राह्मी स्थितिः

[लेखक—जोशी श्रीगुलाबनारायणजी, एडवोकेट, गीता के "गीतामृत" पद्यानुवादकर्त्ता, जयपुर]

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीयाध्याय के ४०वें श्लोक से ७१ श्लोक तक व्यवसायात्मक बुद्धि, स्थितप्रज्ञता, तथा प्रतिष्ठित-प्रज्ञा का बहुमुखी विवेचन करने के पश्चात् अन्त में भगवान कृष्ण ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि—"एषा ब्राह्मी स्थितिः" एषा (अर्थात् स्थित प्रज्ञता ही), ब्राह्मी स्थितिः (ब्रह्म में स्थित होना, ब्रह्ममय होना, ब्रह्मभूत होना, आत्मनिष्ठ होना, या विधेयात्म होना) कहलाती है।

श्लोक ३९ में "बुद्धया युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि" से बुद्धि-योग को प्रारम्भ करके श्लोक ७२ में समाहार रूप में यह कहकर कि—"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ" भगवान कृष्ण ने बुद्धि और ज्ञान में भी भेद होना निरूपित कर दिया। बुद्धि-विरहित ज्ञान निरर्थक व हानिकारक सिद्ध होता है तथा बुद्धि-युक्त अज्ञान भी श्रेयस्कर होता है। धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, न्याय-शास्त्र आदि शास्त्रों का, वेदों का, श्रुति-स्मृति का, उपनिषदों का ज्ञान होना एक बात है और इन शास्त्रों के ज्ञान को बुद्धियोग से व्यवहृत करना दूसरी बात है। वेद-वेत्ता, कर्म-काण्डी, व शास्त्रों का ज्ञाता भी बुद्धि के अभाव में मूर्ख सिद्ध हो सकता है, किन्तु बुद्धि की सहायता से कर्म करनेवाला निरक्षर व्यक्ति भी कुशल व बुद्धिमान हो सकता है। बुद्धि एक महत्-तत्त्व है और एक ऐसा तत्व है जो न तो किसी की बपौती बनता है और न अर्जित ही किया जा सकता है। यह ईश्वर-दत्त अनुग्रह या आशीर्वाद है जो मानव को निसर्ग से मिलता है। अधीति अध्ययन से बुद्धि नहीं मिलती न अर्जित होती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि या स्थित-प्रज्ञता की जो विशिष्टता अनादिकाल से श्रीकृष्ण के समय तक अर्थात् द्वापरान्त तक की घटनाओं तथा तथ्यों के आधार पर बताई गई है वह इतनी ध्रुव, अटल, कूट व सुनिश्चित है कि प्रलयपर्यन्त कायम रहेगी, मिट नहीं सकती, अन्यथा नहीं हो सकती।

अध्याय १६ श्लोक ६ में भूत-स्वभाव दो तरह के होना कहा गया है, एक तो देव-स्वभाव और दूसरा असुर स्वभाव कहा गया है। असंयतात्मा आसुरी स्वभाव होता है। बुद्धि की अवहेलना कर बुद्धि-विरहित कर्म करनेवाला विषयासक्त देहाभिमानी व्यक्ति "असुर" कहा गया है और व्यवस्थित-बुद्धि के योग से कर्म करनेवाले "सुर" कहे गए हैं। ज्ञानी, तपस्वी व भक्त होते हुए भी जिन लोगों ने अव्यवस्थित बुद्धि से कामासक्त हो कर्म किए हैं ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरे हैं। असुर—इतिहास कहता है कि असुर लोग पण्डित, ज्ञानी, तपस्वी, कर्म-काण्डी, देव-पूजक व ईश्वर-भक्त भी होते थे जिन्होंने घोर तप करके देवताओं से अनेकानेक वर प्राप्त किए किन्तु उनकी वर-याचना सकाम व अहंकृत भावानुलिप्त होने के कारण बुद्धिहीन थी जो अन्त में उनको घातक ही सिद्ध हुई। ज्ञान और बुद्धि के इसी भेद को श्लोक ३९ में "सांख्ये बुद्धिर्योगे" वाक्य द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

भूत-मात्र का विशेष कर मनुष्य का कर्म करना जन्म-जात प्रकृतिज गुण व स्वभाव है, कर्म किए बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता अतः कर्म करना अनिवार्य है अपरिहार्य है। जन्मजात प्रकृतिज स्वभाव से विवश हो कर्म करना विवशता है न कि प्रधानता। कर्म की प्रधानता यदि है तो वह विवशता में ही है। यदि निरा कर्म को ही प्रधान समझा जावे तो कर्म तो पशु भी करते हैं और इस लिहाज से जहाँ तक कर्म करने का सम्बन्ध है पशु में और मनुष्य में कोई भेद नहीं है। किन्तु मानव-सृष्टि पशु-सृष्टि से विशिष्ट है और यह विशिष्टता इसी कारण से है कि मानव-सृष्टि विवेक-शील है। मनुष्य बुद्धि-संश्लिष्ट कर्म करता है और पशु बुद्धिविरहित पाशविक कर्म करता है।

मनुष्य में और पशु में यही भेद व अन्तर है। अतः बुद्धि-विरहित कर्म को प्रधान मानने की गलत धारणा से सचेत करने के लिए ही भगवान कृष्ण ने अर्जुन को तथा अर्जुन के माध्यम से विश्व की मानव सृष्टि को अध्याय २ श्लोक ४९ में "दूरेण हि अवरम् कर्म बुद्धि योगात् धनंजय" कह कर यही उपदेश दिया है कि कर्म प्रधान नहीं है बुद्धि ही प्रधान है।

मन की प्रेरणा से कर्मेन्द्रियों द्वारा चेष्टा करना कर्म कहलाता है। विषय-संयोग-जात संस्कारों को बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत करना मन के लिए अनिवार्य है किन्तु बुद्धि की आज्ञा का पालन करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। यदि मन बुद्धि के वश में नहीं है और इन्द्रियों के वश में है तो वह बुद्धयनुगामी न बनकर इन्द्रियानुगामी बनता है और विषयासक्त बनकर अपनी इच्छानुसार कर्मेन्द्रियों को चेष्टित करता है। बुद्धि द्वारा अननुज्ञात या बुद्धि-विरहित मन का कर्म "मनमाना कर्म" कहलाता है जो विषय, वासना, राग-द्वेष, अहंकारादि विकारों से युक्त होता है।

अध्याय ३ श्लोक ४२ में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रिय-विषय और मन यह सब बुद्धि से निम्न श्रेणी के हैं, बुद्धि इन सब से श्रेष्ठ है और यही एक ऐसी धुरी है जिसके आधार पर दुनियाँ भर के सुकृत-दुष्कृत घूमते रहते हैं। बुद्धि के वश में न रहने से मन उच्छृङ्खल हो जाता है और इन्द्रियों को विषय ग्रहण करने की छूट मिल जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि मन दुर्दमनीय हो जाता है। मन और बुद्धि को सम न रखने के कारण बड़े बड़े देवता, ऋषि, महर्षि, राजा-महाराजा, योगी, तपस्वी, भी बहक गए हैं, विचलित हो गए हैं और अपनी चिर संचित ख्याति व तपस्या खो बैठे हैं, अधोगति को प्राप्त हो गए हैं। अनादि काल से चले आ रहे यह तथ्य अब तक के वर्तमान इतिहास तथा घटनाओं से सिद्ध तथा प्रमाणित होते आ रहे हैं।

देवादिदेव इन्द्र ने मन के आवेश से ही गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या का काण्ड करके तथा त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की और वृत्रासुर की हत्या करके पर नारिहरण व ब्रह्म-हत्या का दोषी बना जिसके फलस्वरूप उसे इन्द्रासन छोड़ना पड़ा। राजा नहुष इन्द्रासन पर बैठा किन्तु इन्द्रासन पाकर नहुष ने भी बुद्धि की अवहेलना की और मन के वशीभूत होकर शची की कामना की, जिसके परिणाम स्वरूप उसने इन्द्रासन खोया और सर्प योनि पाई। दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने वर्षों घोर तपस्या कर ब्रह्मा से कभी भी और किसी से भी न मारे जाने का वर माँगा। यह वर "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु" सिद्धान्त के विपरीत था किन्तु स्वार्थ के कारण स्व-हित में यह सकाम वर दैत्यराज ने माँगा जो फलीभूत नहीं हो सकता था। त्रिकालदर्शी दैत्यगुरु शुक्राचार्य द्वारा राजा बलि को भगवान वामन को तीन पैंड भूमि न देने की सलाह देने में और कमण्डलु में बैठकर उसकी नाली से जल को रोकने में बुद्धि का प्रयोग नहीं किया जिसका नतीजा यह हुआ कि शुक्राचार्य को अपनी एक आँख खोनी पड़ी। इसी प्रकार रावण आदि के उदाहरण ले सकते हैं।

प्रारम्भ से अब तक का इतिहास यही कहता है कि बुद्धि की अवज्ञा कर जब जब भी मनुष्य ने मन का दास बनकर मनमानी की है तब तब ही उसका पतन व विनाश हुआ है। अतः बुद्धि-युक्त कर्म ही दोष-रहित, प्रशंसनीय तथा अभिनन्दनीय होता है और इसी को "ब्राह्मी स्थिति" कहा गया है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् साधक द्वन्द्वातीत हो जाता है फिर वह मोहमाया में नहीं फँसता। यदि अन्त समय में भी कोई स्थितप्रज्ञ विधेयात्मा हो जाय तो उसे ब्रह्मनिर्वाण (रागद्वेष मोह ममता आदि से छुटकारा) मिल सकता है—

ब्राह्मी स्थिति पार्थ यही है, मोह न होता इसे प्राप्त कर।
मिलता ब्रह्म निर्वाण अन्त में, इसमें स्थित हो जाने पर॥ ★

श्रीनिम्बार्काचार्य-स्मारक योजना

शास्त्रों में सम्पूर्ण भूमण्डल में भारतवर्ष को पवित्र भूमि माना गया है और भारत में मधुर महिमामयी ब्रज-वसुन्धरा का अद्वितीय महात्म्य वर्णित है। फिर ब्रजभूमि में भी गिरि-राज गोवर्धन का अनुपम महत्त्व है। इस पावन क्षेत्र की लोकोत्तर सुषमा किस सहृदय को लुब्ध-विमुग्ध नहीं कर लेती। इन्हीं श्रीगिरिराज की मनोरम तलहटी में आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य की पुनीत साधनास्थली श्रीनिम्बग्राम है जहाँ से सहस्रों वर्ष पूर्व "नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्" का अमर सन्देश पूज्य श्रीआचार्य-चरण ने लोक-कल्याणार्थ प्रसारित किया था।

पिछले दिनों उन्हीं भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का एक भव्य स्मारक निम्बग्राम में बनवाने का संकल्प वर्तमान निम्बार्काचार्य श्री श्रीजी महाराज की ब्रजयात्रा के अवसर पर लिया गया था और इसके लिए अ० भा० निम्बार्क ग्राम-सेवा-मण्डल का गठन किया गया था जो सम्प्रति भारत सरकार से रजिस्टर्ड एक प्रामाणिक संगठन का रूप ले चुका है। यह संस्था आयकर से सर्वथा मुक्त है। आचार्यचरण के स्मारक निर्माण के अन्तर्गत लोक कल्याणार्थ एक विशाल योजना बन चुकी है जिसके कई भाग हैं—

१. स्मारक-भवन का निर्माण—

इसमें भगवान् श्रीराधाकृष्ण का एक भव्य मन्दिर भी होगा जिसके लिये अनुमानतः १५ लाख रुपये की आवश्यकता होगी जिसकी नींव भरी जा चुकी है।

२. निम्बार्क-ग्राम विकास योजना—

इसके अन्तर्गत प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा का सुप्रबन्ध, पेयजल की व्यवस्था, मार्ग-उपमार्गों का निर्माण, जीर्णोद्धार आदि सम्मिलित होंगे जिसमें मुख्य सड़क से ग्राम व मन्दिर तक एक सीधे मार्ग का निर्माण किया जा चुका है। शेष कार्य के लिये ३ लाख के लगभग और व्यय होंगे।

३. अन्य निर्माण—

सार्वजनिक औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय, अतिथि-भवन, गो-सदन, एवं उद्यान-वाटिका आदि के लगभग ५ लाख की लागत की योजना है।

योजनानुसार अब तक भूमि समतल कराने, सड़क-निर्माण, जल-योजना, अतिथि-गृह निर्माण, पक्की चहार-दीवारी निर्माण, ग्राम की ओर एक भव्य द्वार आदि के निर्माण में १ लाख ७० हजार रुपये व्यय हो चुका है। आपके समक्ष इस पवित्र योजना का प्रस्ताव प्रस्तुत है। हमारा सभी धार्मिक जनों से सादर अनुरोध है कि इस पवित्र योजना में अपना उदार सहयोग देकर अक्षय पुण्य एवं सुयश के भागी बनें।

निवेदक—

मन्त्री एवं सदस्य गण

अ० भा० निम्बार्क ग्राम-सेवा-मण्डल

'श्रीसर्वेश्वर' मासिक-पत्र का-

श्रीगीता-विशेषाङ्क

श्रीमद्भगवद्गीता

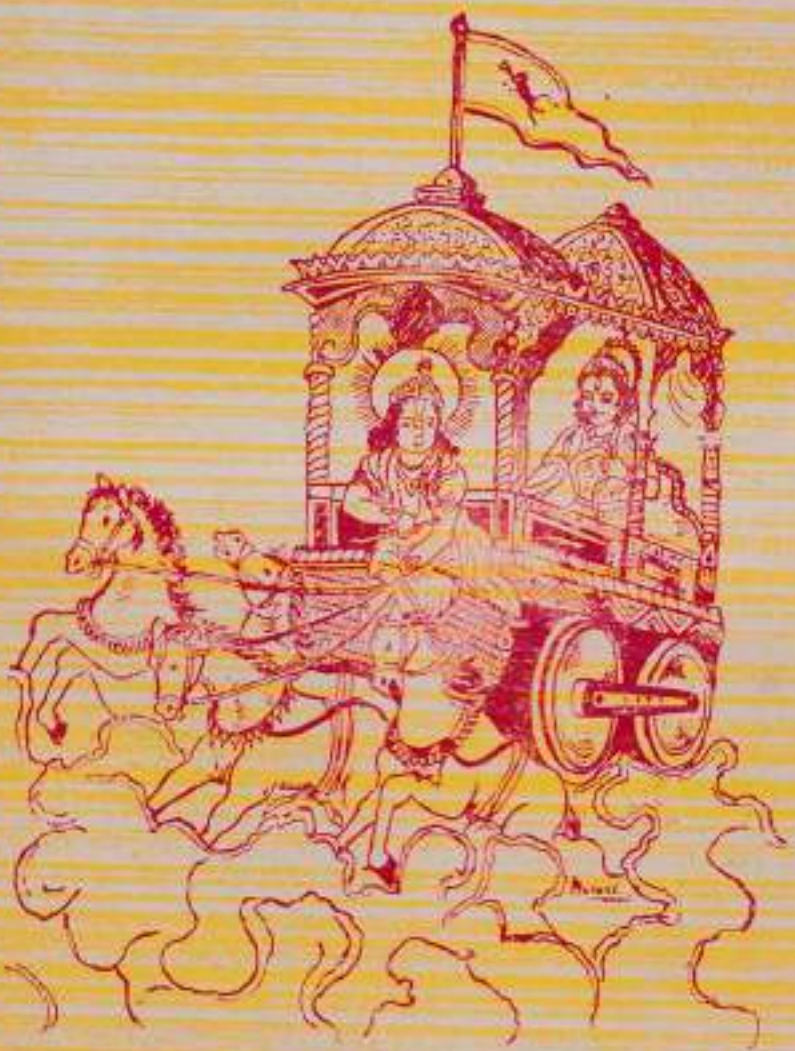

तत्त्वप्रकाशिका सं० टीका

श्रीधाम-वृन्दावन

वर्ष ३०

अङ्क १,२,३

शोधपूर्ण धार्मिक मासिक-पत्र 'श्रीसर्वेश्वर' का विशेषाङ्क

श्रीमद्भगवद्गीता-अंक

(द्वितीय भाग)

सम्पादक :

अधिकारी ब्रजवल्लभशरण

वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ

संचालक :

अनन्त-श्री-विभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य

श्री 'श्रीजी' महाराज

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ निम्बार्कतीर्थ

(सलेमाबाद) जनपद अजमेर (राज०)

★

सम्पादक व प्रकाशक :

अधिकारी व्रजवल्लभशरण

श्री श्रीजी मन्दिर, प्रताप बाजार, वृन्दावन

★

प्रकाशन तिथि :

चैत्र कृष्णा अमावस्या

विक्रम सम्वत् २०३८

★

न्यौछावर :

२०) रु० पुस्तालय संस्करण

★

मुद्रक :

व्रजमोहनलाल शर्मा

श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन ।

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
सम्पादकीय	सम्पादक	
भगवद्गीता की श्लोक संख्या पर महत्वपूर्ण प्रकाश	स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज	
दशमोऽध्याय (विभूति वर्णन)		१ से २३
एकादशोऽध्याय (विश्वरूप दर्शन)		२४ से ४६
द्वादशोऽध्याय (भक्तियोग का वर्णन)		४७ से ५६
त्रयोदशोऽध्याय (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन)		५७ से ९२
चतुर्दशोऽध्याय (सत्त्व, रजः तम तीनों गुण और उनका कार्य		९३ से १०६
पञ्चदशोऽध्याय (क्षर और अक्षर से विलक्षण पुरुषोत्तम का विवेचन)		१०७ से १२२
षोडशोऽध्याय (दैवी और आसुरी सम्पद्)		१२३ से १३६
सप्तदशोऽध्याय (गुणानुसार तीन प्रकार की श्रद्धा)		१३७ से १५३
अष्टादशोऽध्याय (समस्त गीता का निष्कर्ष)		१५४ से २१०

सम्पादकीय

श्रीसर्वेश्वर के प्रेमी पाठक महानुभावों को इस गीताङ्क विशेषाङ्क के द्वितीय भाग को अर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। यद्यपि प्रकाशन की विलम्बता के कारण बहुत से पाठक अधीर हो पत्राचार कर रहे थे, वस्तुतः उनकी आतुरता का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि गीता की सैकड़ों संस्कृत हिन्दी टीकाओं में श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य कृत यह तत्व प्रकाशिका टीका वास्तविक तत्व को बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाशित करती है, इसीलिये सभी टीकाओं में इसकी विशेष प्रतिष्ठा है। इसी कारण इसकी माँग भी अधिक हो रही है। इसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में हमने प्रथम भाग की भूमिका में थोड़ा प्रकाश डाला है। इसके प्रकाशन में अधिक विलम्ब हो जाने के कारण यहाँ अधिक न लिखकर केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त समझते हैं कि श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के अभिमत से ज्ञान कर्म और भक्ति इन तीनों का गीता में समावेश होते हुए भी मुख्यतया यह भक्ति (शरणागति) परक ग्रन्थ है यही कारण है कि पुराण, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों में अनेकों गीताओं के होते हुए भी इस श्रीमद्भगवद्गीता को उन सब में इसे सर्वोच्च ज्ञान कर्म भक्ति का भण्डार माना गया है और यह है भी निर्विवाद।

गीता की श्लोक संख्या के सम्बन्ध में महाभारत की कुछ प्रतियों में मानसूचक श्लोक मिलते हैं, जिनमें गीता की श्लोक संख्या ७४५ बतलाई गई है। कुछ सज्जन उन श्लोकों को प्रक्षिप्त मान रहे हैं, ऐसी सम्भावना किसी अंश में ठीक भी मानी जा सकती है, क्योंकि भविष्य आदि पुराणों में विगत बीसवीं शताब्दी के आरम्भ काल में प्रक्षिप्त अंश मिलाकर मुद्रण करते हुए देखा गया था, और जितना हो सका था उन प्रक्षिप्त अंशों का मुद्रण रुकवाया भी गया था। फिर भी कुछ न कुछ क्या बहुत कुछ अंश मुद्रित हो गया है। इसी प्रकार हस्तलिखित ग्रन्थों में भी लेखकों द्वारा बढ़ाया जाना सम्भव है।

इस सम्बन्ध में हमने सन् १९७४ ई० में "श्रीगुलाबनारायण जोशी एडवोकेट श्याम निवास दुर्गापुरा रोड, जयपुर" कृत गीता के पद्यानुवाद "गीतामृत" की भूमिका पृ० ८४-८५ में थोड़ा स्पष्टीकरण किया है। गीताङ्क विशेषांक प्रथम भाग की भूमिका में विशेष न लिखकर, द्वितीय भाग की भूमिका में विशेष प्रकाश डालना चाहा था। किन्तु कई कारणों से ऐसा नहीं हो सका। अस्तु विशिष्ट श्रद्धालु महानुभाव जो ऐसे अंशों को प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहते वे उन ७४५ श्लोकों की संख्या को पुष्ट करने के लिये विशेष छान-बीन करते हैं। चाहे कोई आलोचक उसे कोरी कल्पना ही क्यों न मानें, किन्तु बुद्धिमान् व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि जैसे भी हो सके उपलब्ध वाक्यों की संगति बैठाई जाय।

इस सम्बन्ध में श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज का एक लेख जो तीन वर्ष पूर्व "सम्मत्यर्थं" हमारे पास भेजा हुआ श्रीसर्वेश्वर कार्यालय में सुरक्षित रक्खा हुआ था। वह आगे अक्षरशः प्रकाशित कर दिया जाता है। आशा है सुधी विद्वान् उससे अवश्य लाभ उठायेंगे। आवश्यक है कि यह गीताङ्क शीघ्र ही प्रेमी पाठकों को मिले और वे इसके अध्ययन से लाभ उठा सकें।

सम्पादक—
व्रजवल्लभशरण वेदान्दाचार्य

श्रीमद्भगवद्गीतापरिमाण पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश

[लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज]

महर्षि श्रीवेदव्यास-रचित महाभारत (भीष्म० ४३।४-५) में ऋषिवर वैशम्पायन ने गीता के परिमाण में ७४५ श्लोक बतलाये हैं—

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः ।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ॥

अर्थात् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने ६२० श्लोक कहे हैं, ५७ श्लोक अर्जुन के कहे हुए हैं, ६७ श्लोक संजय ने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्र का कहा है। इस प्रकार कुल ७४५ हो जाते हैं।

गणना की प्रचलित परम्परा के अनुसार गीता के अठारह अध्यायों के सम्पूर्ण श्लोक जोड़ने पर ५७४ श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के, ८४ अर्जुन के, ४१ संजय के और १ श्लोक धृतराष्ट्र का है—जिनका कुल योग ७०० होता है। इन सात सौ श्लोकों में ६४४ श्लोक बत्तीस अक्षरों के हैं। एक श्लोक (अ० ११।१) तैंतीस अक्षरों का है, ५१ श्लोक चौवालीस अक्षरों के हैं तथा तीन श्लोक (क्रमशः २।२६, ८।१० और १५।३) पैंतालीस अक्षरों के हैं और एक श्लोक (२।६) छियालीस अक्षरों का है। इस प्रकार गीता के श्लोकों के सम्पूर्ण अक्षर—२३०६६ हैं। पुष्पिकाओं के कुल ८७३ अक्षर हैं। 'उवाचों' के कुल ३८३ अक्षर हैं। 'अथ श्रीमद्भगवद्गीता', 'अथ प्रथमोऽध्यायः' इत्यादि के कुल अक्षर १३७ हैं। इस प्रकार गीता में सभी अक्षर २४४५६ हैं।

प्राचीन काल से ऐसी परम्परा है कि ३२ अक्षरों का एक श्लोक मानकर किसी भी पुराण आदि ग्रन्थ के श्लोकों का परिमाण निर्धारित किया जाता है। तदनुसार यदि गीता के श्लोकों के सम्पूर्ण अक्षरों का परिमाण निकाला जाय तो ७२०, $\frac{२}{३२}$ श्लोक होते हैं। यदि इनके साथ 'उवाच' के ३८३ अक्षर जोड़ दिये जायँ तो ७३२, $\frac{३५}{३२}$ श्लोक होते हैं और श्लोकाक्षरों के साथ केवल 'पुष्पिका' के अक्षर ८७३ जोड़ने पर ७४८, $\frac{२५}{३२}$ श्लोक होते हैं। यदि इनके साथ 'उवाच', पुष्पिका' और 'अथ प्रथमोऽध्यायः' इत्यादि के कुल १३६१ अक्षर और जोड़ें तो ७६४, $\frac{१३}{३२}$ श्लोक होते हैं। फिर भी किसी प्रकार महाभारत-कथित गीता के परिमाण की संगति नहीं बैठती है। परिमाणसूचक श्लोक उपलब्ध होने से परिमाण की संगति बैठाना आवश्यक समझकर भगवत्कृपा से एक सन्त के द्वारा प्राप्त संकेत के अनुसार चेष्टा की गयी है। विज्ञ विद्वानों से निवेदन है कि वे गम्भीरता से विचार कर अपनी सम्मति देने की कृपा करेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्यायको देखने से पता चलता है कि अर्जुन युद्धके लिये पूर्णरूप से तैयार है। वह स्वयं रथी बना है और सारथि बने भगवान्‌को दोनों सेनाओं के बीच रथ खड़ा करने की आज्ञा देता है—'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय

मेऽच्युत ।' (१।२१) सारथि बने भगवान् भी रथ को पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के रथों के ठीक सामने, दोनों सेनाओं के बीच एक विशेष कला के साथ खड़ा करते हैं। भगवान् की यह कला युद्धोन्मुख अर्जुनको श्रेयोन्मुख करनेके लिये 'शक्तिपात' थी। भगवान् को जीवों के कल्याणार्थ अर्जुनको निमित्त बनाकर दिव्य गीताज्ञान गाना था। अतः युद्धस्थल में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको अपने सामने विपक्ष में देखकर अर्जुनके प्रसुप्त मोह का जग उठना अनिवार्य हो गया। केवल इतना ही नहीं, बल्कि भगवान् ने स्वयं कहा भी कि युद्ध के लिये एकत्र कुरुवंशियों को देख—

'उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।'

(१।२५)

यहाँ भगवान् ने 'धृतराष्ट्र के पुत्रों को देख' यह न कहकर कुरुवंशियों को देखने के लिये कहा। इन वचनों के प्रयोग में भी स्पष्ट ही अर्जुन का मोह जागृत करने का भाव मालूम देता है 'कुरून् पश्य' की जगह 'धार्तराष्ट्रान् पश्य' कह देते तो शायद अर्जुन का मोह जागृत न होकर उसका युद्ध करने का उत्साह ही विशेष बढ़ता, क्योंकि 'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः' (गीता १।२३) यह पहले अर्जुन ने ही कहा था। पाण्डव और धृतराष्ट्र दोनों ही उस कुरुवंश से सम्बद्ध थे, इसलिये 'कुरु' शब्द से अर्जुन का मोह जागृत होना स्वाभाविक ही था। पहले युद्ध की भावना से जिन्हें अर्जुन 'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः' कह रहे थे, उन्हें ही अब वे 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' स्वजन कहने लगे। युद्ध में स्वजनों के संहार की आशङ्का है। इस मोह के कारण अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। फिर भी भगवान् की शरण होकर श्रेय (कल्याण) की बात पूछते हैं (गीता २।७)। उत्तर में भगवान् दिव्य गीता-ज्ञान सुनाते हैं। इससे पता चलता है कि अर्जुन गीता सुनने के लिये स्वयं उन्मुख नहीं हुए, किंतु भगवान् द्वारा उन्मुख किये गये। अतएव यह 'भगवद्गीता' है, 'अर्जुन-गीता' या 'कृष्णार्जुनगीता' नहीं। भगवद्-गीता कहने का तात्पर्य यही है कि इसमें श्रीकृष्णा-र्जुन-संवाद होते हुए भी भगवत्प्रेरित होकर ही अर्जुन बोल रहे हैं अर्थात् इसमें केवल भगवान् के गाये हुए गीत हैं।

उवाच भी श्लोक—

अब उसी गीता के परिमाण की संगति पर विचार किया जाता है। महाभारत के प्रवक्ता महर्षि वैशम्पायन हैं और श्रोता महाराज जनमेजय। महर्षि वैशम्पायन ने संजय और धृतराष्ट्र के संवाद को ध्यान में रखते हुए ही गीता के परिमाण का कथन किया है। भगवद्गीता में २८ बार श्रीभग-वानुवाच, २१ बार अर्जुन उवाच, ६ बार सञ्जय उवाच और १ बार धृतराष्ट्र उवाच है। श्रीभगवानु-वाच एवं भगवत्-शरणागति के पश्चात् भगवत्प्रेरित 'अर्जुन उवाच' को श्लोकात्मक मान लेने पर गीता का परिमाण (७४५ श्लोक) सिद्ध हो जाता है। 'दुर्गासप्तशती' में भी 'उवाच' को पूरा श्लोक माना गया है। गीतापरिमाण में भी इसी दृष्टि से उवाच को पूरा श्लोक मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये —यद्यपि कुछ स्थानों पर कई शङ्काएँ हो सकती हैं, जिनका निराकरण आगे किया जा रहा है।

गीता-परिमाण के अनुसार ६२० श्लोक भगवान् के हैं, जब कि गणना की प्रचलित परम्परा के अनु-सार ५७४ श्लोक ही होते हैं। अतः शेष ४६ श्लोकों पर विचार करना है। सम्पूर्ण गीता देखने से पता चलता है कि भगवान् के हृदय में २८ बार बोलने

का भाव जागृत हुआ है। इन २८ उवाचों को श्लोक-गणना में मान लिया जाना चाहिये। ये मन्त्रात्मक हैं। इन भावमय भगवत्-श्लोकों के मन्त्र-द्रष्टा संजय हैं। इसी प्रकार भगवत्-शरणागति के पश्चात् तत्त्व-जिज्ञासु के रूप में भगवत्प्रेरित अर्जुन दूसरे अध्याय के ५४वें श्लोक से लेकर अठारहवें अध्याय के ७३वें श्लोक के पहलेवाले 'उवाच' को छोड़कर अठारहवें अध्याय के पहले श्लोक तक १७ बार बोले हैं, अतः २८+१७=४५ उवाच अपौरुषेय मन्त्रवत् हैं। इन ४५ उवाचों को गणना की प्रचलित परम्परा के अनुसार भगवान् के कहे हुए ५७४ श्लोकों के साथ योग कर देने पर ६१९ श्लोक भगवान् के हो जाते हैं।

गणना की प्रचलित परम्परा में अन्तिम 'अर्जुन उवाच' के पश्चात् अठारहवें अध्याय का ७३वाँ श्लोक अर्जुन का है, किन्तु गीता-परिमाण में 'अर्जुन उवाच' सहित उसे एक श्लोक मानकर भगवान् के श्लोकों के साथ शामिल किया गया है। इसमें मुख्य कारण है कि यह श्लोक जीव-भावविनिर्मुक्त भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त अर्जुन का है, जिसे तत्त्वदृष्टि से भगवान् का वचन माना जा सकता है। मोह सर्वथा नष्ट हो जाने पर भक्त और भगवान् में भेद नहीं रहता—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' (नारद भक्ति-सूत्र), 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७।१८), 'मम साधर्म्यमागताः' (गीता १४।२) 'मालिक को गोत, गोत होत है गुलाम को।' भगवत्-समर्पता को प्राप्त होने पर भक्त के वचन को भगवान् का ही वचन मानना चाहिये।

भगवद्भावापन्न अर्जुन—

श्रीभगवान् का अथवा किसी जीवन्मुक्त महापुरुष, अधिकारी कारक पुरुष का भाव जब किसी जीव के कल्याण के प्रति हो जाता है तो उसका उसी क्षण कल्याण निश्चित समझ लेना चाहिये, यद्यपि उसे उसी क्षण प्रतीति नहीं होती। उसे इसका पता बाद में लगता है, क्योंकि जब उसमें रहनेवाली कमियों को भगवान् अथवा महापुरुष उस जीव (भक्त) के वचनों में शङ्काओं द्वारा प्रस्तुत कराकर नष्ट कर देते हैं, तब उसे अपने कल्याण (भगवत्साधर्म्य) का पता लगता है। अर्जुन ने जब एक अक्षौहिणी नारायणी सेना को छोड़कर निःशस्त्र भगवान् को ही स्वीकार किया, तभी भगवान् के हृदय में अर्जुन के प्रति कल्याण का भाव जाग्रत् हो गया। साधक जब वैभव छोड़कर भगवान् को स्वीकार कर लेता है, तब भगवान् का भी उसके प्रति कल्याण का भाव जाग्रत् हो जाता है। भगवान् का अर्जुन के प्रति कल्याण का भाव हो जाने से अर्जुन का कल्याण होना तो निश्चित ही हो गया, किन्तु उसमें रहनेवाली कमियों को दूर कराने के लिये भगवान् उससे शंकाएँ करवाते हैं एवं उनका निराकरण करके उन्हें वैसे ही नष्ट कर देते हैं, जैसे आग ईंधन को नष्ट कर देती है।

गीता देखने से पता चलता है कि भगवत्-शरणागति के पश्चात् तत्त्व-जिज्ञासु के रूप में भगवत्प्रेरित अर्जुन १७ बार बोलते हैं। उदाहरणार्थ, शरणागति के पश्चात् सर्वप्रथम अर्जुन दूसरे अध्याय के ५४वें श्लोक में स्थितप्रज्ञ के लक्षण आदि की बात पूछते हैं। यहाँ भगवत्प्रेरित अर्जुन ही बोल रहे हैं। यदि अर्जुन भगवत्-प्रेरित न बोलते तो उनकी शंकाएँ युद्ध के विषय में ही होतीं। वे ऐसी शंकाएँ ही करते कि युद्ध करना चाहिये या नहीं अथवा युद्ध कैसे करें आदि, क्योंकि युद्ध का उद्देश्य लेकर ही वे रणस्थल में आये थे। किन्तु यहाँ अर्जुन

ऊँचे-से-ऊँचे अध्यात्मतत्त्व की बात (स्थितप्रज्ञ के विषय में) पूछ रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्म-विषयक ये शङ्काएँ जो अर्जुन के अन्तःकरण में थीं, भगवान् की प्रेरणा से जाग उठीं, उन्हें ही भगवत्प्रेरित अर्जुन पूछ रहे हैं। श्रीभगवान् द्वारा अर्जुन को शरणागत स्वीकार करने पर तथा लोकोपकार के लिये भगवत्प्रेरित अर्जुन द्वारा की हुई शङ्काओं के प्रारम्भ में 'अर्जुन उवाच' रूप श्लोक महर्षि वेदव्यास द्वारा लिखे गये हैं एवं उन्होंने उन श्लोकों को परिमाण में श्रीभगवान् के ही श्लोक माने हैं, ऐसा प्रतीत होता है। महर्षि वेदव्यास अधिकार लेकर आये हुए कारक महापुरुष हैं। उनके कहे श्लोकों को इधर-उधर करने का किसे अधिकार है? जैसे उनके किये वेदों के चार भाग आज भी चार ही माने जाते हैं एवं गीता में भगवान् के लगातार बोलते रहने पर भी भगवान् के उपदेश को स्पष्टतया समझाने के लिये भिन्न-भिन्न अध्यायों के रूप में विभक्त कर अध्यायों के प्रारम्भ में पुनः 'श्रीभगवानुवाच' रूप श्लोक देकर परिणाम में उन्हें श्रीभगवान् के श्लोकों में सम्मिलित किया है, वैसे ही भगवद्भावापन्न अर्जुन द्वारा की हुई शङ्काओं के श्लोकों के प्रारम्भ में 'अर्जुन उवाच' रूप श्लोकों को भी श्रीभगवान् के परिमाण में ही सम्मिलित किया है, किन्तु उन श्लोकों में शङ्काएँ अर्जुन की अपनी होने से उन श्लोकों को अर्जुन के श्लोकों के साथ ही परिमाण में सम्मिलित किया गया है।

लोकसंग्राहक श्रीभगवान्—

अठारहवें अध्याय के ७२वें श्लोक में भगवान् स्वयं ही प्रश्न कर रहे हैं एवं ७३वें श्लोक में अर्जुन के माध्यम से लोकसंग्रह करने के लिये स्वयं ही उत्तर भी दे रहे हैं। भगवान् और सन्त-महात्माओं की वाणी में कई जगह ऐसा पाया जाता है कि वे स्वयं ही साधक बनकर प्रश्न करते हैं एवं गुरु बनकर उत्तर भी देते हैं। उदाहरणार्थ (महाभारत) अनुगीता में यह रहस्य भगवान् के श्रीमुख से अर्जुन के प्रति प्रकाशित हुआ है—

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय॥

(५१।४६)

इसी प्रकार यहाँ भी १८वें अध्याय के ७२वें श्लोक में भगवान् का प्रश्न—अर्जुन का मोह नष्ट हुआ या नहीं?' यह जानने के लिये नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ हैं। वे नाटक के सूत्रधार की भाँति संसाररूप नाटक को पूरा जानते हैं। उन्हें ज्ञात है कि अर्जुन का मोह नष्ट हो गया है। इसीलिये १८।६६वें श्लोक में अपने उपदेश का उपसंहार कर देते हैं, पुनः गीता के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन करके गीता का माहात्म्य बतलाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भगवान् ने पहले से ही यह जान लिया है कि अर्जुन का मोह सर्वदा नष्ट हो गया है। तभी तो वे अपने उपदेश का उपसंहार कर देते हैं। पर अर्जुन ने अभी तक मोह नष्ट होना स्वीकार नहीं किया है। बात यह है कि अन्य परीक्षक तो 'परीक्षार्थी क्या जानता है?' इसे जानने के लिये ही परीक्षा लेता है अर्थात् जानते हुए भी उनमें अज्ञान दीखता है, किन्तु भगवान की परीक्षा जीव (भक्त) को उसकी वास्तविक स्थिति जनाने के लिये होती है। तात्पर्य यह है—वे दिखाते हैं कि तू देख ले—तेरी स्थिति कहाँ तक है? भगवान् तो सर्वज्ञ होने से सबको जानते ही हैं। इसके प्रमाण के लिये गीता में ही

देखा जाय तो पता लग जाता है, जैसे ११वें अध्याय के पहले श्लोक में 'मोहोऽयं विगतो मम' कहकर अर्जुन अपने मोह का चला जाना स्वीकार करते हैं, किंतु भगवान् सर्वज्ञ होने से जानते हैं कि अभी अर्जुन का मोह नष्ट नहीं हुआ है। इसीलिये अर्जुन की बात स्वीकार न करके अपना उपदेश चालू रखते हैं एवं उसे जगाने के लिये ११।४९वें श्लोक में 'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः' कह रहे हैं—'अभी तेरा मोह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ है।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं। अर्जुन की स्वीकृति के बिना भी १८।६६वें श्लोक के बाद यह जान जाते हैं कि उसका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है। अब यह मेरे साधर्म्य को प्राप्त हो गया है, किन्तु लोक-संग्रह करने के लिये ७२वें श्लोक में प्रश्न कर रहे हैं एवं ७३वें श्लोक में अर्जुन के माध्यम से स्वयं ही उत्तर भी दे रहे हैं, जिससे लोकों में यह मालूम हो जाय कि गीता को एकाग्रतापूर्वक सुननेमात्र से मोह का सर्वथा नाश हो जाता है और तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवत्-साधर्म्य-प्राप्त अर्जुन का १८।७३वाँ श्लोक भगवान् का ही मानना चाहिये। वे लोकसंग्रह के लिये अर्जुन से कहला रहे हैं।

भगवत्स्वरूप अर्जुन—

जिस प्रकार भगवत्-शरणागति के पश्चात् अर्जुन के भगवद्-भावापन्न होनेसे श्लोक रूप 'अर्जुन उवाच' भगवान् के ही श्लोक माने गये, उसी प्रकार यह १८।७३वाँ श्लोक भी तत्स्वरूपवशात् भगवान् का ही माना गया है। १८।७३वें श्लोक को भगवान् का मानने पर यह शङ्का हो सकती है कि भगवान् स्वयं ही 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्'··· आदि पदों को अपने प्रति कैसे कह सकते हैं? ये शब्द तो साधक (अर्जुन) के ही होने चाहिये? उपर्युक्त शङ्का के समाधानार्थ गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मोह सर्वथा नष्ट होने से अर्जुन की भगवान् के साथ एकता हो गयी। अर्जुन का अपना कुछ नहीं रहा, वह सर्वथा श्रीभगवान् का हो गया। उसके द्वारा होनेवाली सभी क्रियाएँ 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इस भगवद्-वचनानुसार भगवान् की ही हुईं। अतः उपर्युक्त पद भगवान् स्वयं भी कह सकते हैं, फिर भी यह शङ्का रह जाती है कि भगवान् ऐसे पद स्वयं के प्रति कैसे बोल गये? इसके लिये कहना है कि उन्हें लोगों में यह बतलाना था कि गीता के एकाग्रता-पूर्वक श्रवण, पठन, मनन आदि से साधक की स्वतः ऐसी स्थिति हो जाती है, किन्तु इसमें वह अपने साधन, श्रवण, पठन, मनन आदि को नहीं, भगवत्कृपा को ही हेतु माने। साधना की ऊँची अवस्था में ही अभिमानवश कहीं साधक अटक न जाय, यह तत्त्व लोगों में प्रकट करने के लिये अर्जुन के माध्यम से यह स्वीकार किया गया।

साधारण रूप में विचार करें तो भी इस श्लोक के 'नष्टो मोहः', 'करिष्ये वचनं तव' आदि पद भगवत्साधर्म्य-प्राप्त भगवत्स्वरूप पुरुष के ही हो सकते हैं, न कि साधक के। साधना की ऊँची-से-ऊँची अवस्था में भी साधक में अभिमान और स्वार्थ का कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है। तब वह अपने प्रति 'नष्टो मोहः, 'गतसन्देहः' ऐसे पदों का प्रयोग कैसे कर सकता है? ये पद तो पूर्णावस्था में ही कहे जा सकते हैं। अतः ये वचन भगवत्स्वरूप अर्जुन के होने से भगवान् के ही माने गये हैं।

जब तक मनुष्य को बोध नहीं होता, तब तक उसमें अहङ्कार पाया जाता है। अहङ्कार का सर्वथा

नाश होने पर उसे पता लगता है कि मैंने कुछ किया ही नहीं, सभी काम भगवत्कृपा से ही हुए हैं। 'तूने गीता एकाग्रता से सुनी या नहीं ?' भगवान् के इस प्रश्न के उत्तर में अर्जुन ने 'त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' कहा। इससे स्पष्ट है कि उसका अहङ्कार सर्वथा मिट गया था। तभी तो उसकी दृष्टि केवल कृपा की ओर है। अतएव भगवत्स्वरूप-प्राप्त अर्जुन के ये वचन भगवान् के ही माने गये हैं, क्योंकि उसका स्वरूप भगवान् से अभिन्न ही है।

एक शङ्का यह भी हो सकती है कि 'अर्जुन उवाच' एवं उसके पश्चात् का यह १८।७३वाँ श्लोक दोनों मिलाकर एक ही श्लोक क्यों माना गया ? 'उवाच' को पृथक् क्यों नहीं मानते ? इसका एक समाधान तो यह है कि यहाँ 'उवाच' भगवान् के वचनों के ही अन्तर्भूत हैं, उनसे पृथक् नहीं। दूसरी बात यह है कि यहाँ 'उवाच' को पृथक् मानने पर पुनरुक्ति होगी, क्योंकि आठारहवें अध्याय के दूसरे श्लोक से ७२वें श्लोक तक भगवान् ही तो बोल रहे हैं। अतएव सम्पूर्ण गीता में यह पहली पुनरुक्ति बचाने के लिये ही ऐसा किया गया है।

'अर्जुन उवाच' की समस्या व समाधान—

पुनः प्रश्न होता है कि गीता में गणना की प्रचलित परम्परा के अनुसार अर्जुन २१ बार बोले हैं, फिर यहाँ भगवत्-शरणागति के पश्चात् १८वीं बार (१७ बार 'उवाच' एवं एक बार अन्तिम 'उवाच'-सहित श्लोक) बोले वचन को ही भगवान् के वचनों में क्यों शामिल किया गया ? और शरणागति के पहले आये तीन 'अर्जुन उवाच' श्लोकों को क्यों छोड़ा गया ?

इसका समाधान यह है कि भगवत्-शरणागति (२।७वें श्लोक) से पहले अर्जुन जो तीन बार (१।२१वें श्लोक और १।२८वें श्लोक के बीच एवं २।३ श्लोक के पश्चात्) बोले हैं, वे तीनों 'अर्जुन उवाच' संजय के वचनों के अन्तर्गत हैं। अतः उन्हें भगवान् के वचनों में सम्मिलित नहीं किया गया। संजय राजा धृतराष्ट्र से कह रहे हैं कि 'अर्जुन ऐसा-ऐसा बोला।' पहले अध्याय के 'अर्जुन उवाच' के प्रारम्भ और अन्त दोनों ही स्थलों में आये 'आह', 'उक्त्वा', 'अब्रवीत्' आदि पदों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन के वचनों को संजय ही अपने शब्दों में बोल रहे हैं, जैसे— 'पाण्डव' (१।२०), 'इदमाह महीपते' (१।२१), 'एवमुक्तो हृषीकेशः' (१।२४), 'कौन्तेय' (१।२७), 'इदमब्रवीत्' (१।२८) और एवमुक्त्वार्जुनः' (१।४७) आदि पदों को तथा दूसरे अध्याय (२।९) के 'अर्जुन उवाच' के बाद 'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप' एवं 'न योत्स्य इति'।

दूसरे अध्याय के चौथे श्लोक में 'अर्जुन उवाच' के आरम्भ में ऐसे पद नहीं मिलते कि आगे आने-वाले अर्जुन के वचन संजय ही बोल रहे हों। कारण, पहले अध्याय में अर्जुन ने युद्ध न करने के लिये भगवान् के सामने जो युक्तियाँ क्रमशः रखीं, उन सबका युक्तिसंगत उत्तर दिये बिना ही भगवान् ने एकाएक २।२-३ श्लोकों में अर्जुन को कायरता रूप दोषों के लिये खड़े हो जाने की प्रेरणा दे दी। इस आज्ञा ने अर्जुन के भाव उद्वेलित कर दिये। वह अपने को कायर मानकर युद्ध से विमुख नहीं हो रहा था, किन्तु धर्म के भय से, धर्मभीरु बनकर युद्ध से उपरत हो रहा था। वह मरने नहीं, स्वजनों को मारने के पाप से डरता था। अतः ज्यों ही भगवान् ने दूसरे श्लोक में 'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्'

आदि पदों द्वारा अर्जुन को जोर से फटकारा, त्यों ही अर्जुन भी अपने भावों का ठीक समाधान न पाकर अकस्मात् उत्तेजित हो बोला—'मैं पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के प्रति बाण कैसे चलाऊँ, ऐसा मुझसे कैसे सम्भव है ?'—'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रतियोत्स्यामि ·····॥' (२।४) आप तो दैत्यों और शत्रुओं को मारनेवाले हैं, पर मेरे सामने तो युद्ध में पितामह भीष्म (बाबाजी) एवं आचार्य द्रोण (विद्यागुरु) खड़े हैं। संसार में मनुष्य के दो ही सम्बन्ध प्रमुख हैं। (१) कौटुम्बिक सम्बन्ध और (२) विद्या-सम्बन्ध। दोनों ही अर्जुन के सामने उपस्थित हैं। सम्बन्ध में बड़े होने के नाते दोनों ही आदरणीय और पूजनीय हैं। भगवान् उनके प्रति युद्ध के लिये खड़ा होने की आज्ञा देते हैं, जिससे अर्जुन उद्वेलित होकर एकाएक बोल पड़ता है। इसलिये संजय को 'इदमाह', 'उक्त्वा' आदि पदों से संकेत करने का अवसर ही नहीं मिला।

वैसे थोड़ी गम्भीरता से देखें तो दूसरे अध्याय में अर्जुन के बोलने के पश्चात् (उसी अध्याय के ९,१० श्लोकों में) जहाँ संजय बोलते हैं, वहाँ उन्होंने अपने वचनों को दो भागों में विभक्त किया है—(१) 'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप' पदों से दूसरे अध्याय के चौथे श्लोक से आठवें श्लोक तक कथित अर्जुन के वचनों की ओर लक्ष्य कराते हैं, और (२) 'न योत्स्ये' युद्ध नहीं करूँगा' पदों से अर्जुन के वचन स्पष्ट रूप से संजय अपने वचन में कह रहे हैं।

'संजय उवाच' के अन्तर्गत—

जैसे पहले अध्याय में स्पष्ट दीखता है कि अर्जुन के वचन संजय ही बोल रहे हैं, वहाँ भी महर्षि वेदव्यास ने 'अर्जुन उवाच' लिखा है, वैसे ही यहाँ दूसरे अध्याय के आरम्भ में चौथे श्लोक से पहले अर्जुन ही बोल रहा है—ऐसा स्पष्ट न दीखने पर भी 'अर्जुन उवाच' संजय के वचन हैं। भगवत्-शरणागति के पहले आये तीनों 'अर्जुन उवाच' संजय ही बोल रहे हैं। अतः उनका 'संजय उवाच' में ही अन्तर्भाव किया गया है। जब अर्जुन के श्लोकों को इस प्रकार संजय के श्लोकों के अन्तर्गत मानते हैं तो फिर ग्यारहवें अध्याय में संजय के वचनों में 'एवमुक्त्वा' पद ९वें श्लोक में, 'एतच्छ्रुत्वा' पद ३५वें श्लोक में और 'इत्यर्जुनम्' पद ५०वें श्लोक में भगवान् के कथित श्लोकों के बाद है तथा अठारहवें अध्याय के ७४वें श्लोक में 'इत्यहम्' पद भगवत्साधर्म्य-प्राप्त अर्जुन द्वारा कथित ७३वें श्लोक के बाद है। अतः इन पदों से निर्दिष्ट ये भगवान् के श्लोक भी संजय के ही वचन क्यों न मान लिये जायँ ? यद्यपि इसका उत्तर सामान्य रीति से अन्यत्र भी दिया जा चुका है, फिर भी यहाँ कहा जा सकता है कि यह 'भगवद्-गीता'—भगवान् के गाये गीत हैं। अतः भगवान् के श्लोक किसी प्रकार क्यों न आयें, वे भगवान् के ही माने जाने चाहिये।

एक बात और है कि कृष्णार्जुन-संवादरूप गीताशास्त्र राजा धृतराष्ट्र को संजय सुना रहे हैं, जिसमें विवेचन करते हुए उन्होंने उपर्युक्त पदों का प्रयोग किया है। संजय भगवद्वाणीरूप मन्त्र के द्रष्टामात्र हैं। अतः भगवत्कथित श्लोक भगवान् के ही मानने चाहिये। शरणागति के पहले आये भगवत्कथित श्लोक (२।२-३) को संजय कथित ही मानने में क्या आपत्ति है ? आपत्ति यह है कि भगवद्गीता के ये दोनों (२।२-३) मूल श्लोक हैं

और इनमें भगवान् ने 'अनार्यजुष्टम्' 'अस्वर्ग्यम्', 'अकीर्तिकरम्' आदि पदों से स्वधर्म-त्याग से जिन हानियों का संक्षेप में उल्लेख किया है, उन्हीं का विस्तार से वर्णन इसी दूसरे अध्याय के ३१वें से ३८वें श्लोक तक किया है। अतः ये दो श्लोक (२।२-३) संजय के मानकर भगवान् के ही मानने चाहिये। इसके अतिरिक्त इन श्लोकों में भगवान् ने कायरता छोड़कर युद्ध के लिये खड़े होने की जो आज्ञा दी है, उसी को भगवत्साधर्म्य-प्राप्त, भगवत्-स्वरूपभूत अर्जुन ने उपदेश के अन्त में १८वें अध्याय के ७३वें श्लोक में शिरोधार्य किया है—'करिष्ये वचनं तव'। अतः स्पष्ट है कि ये श्लोक संजय के न मानकर भगवान् के ही माने जायँ। यदि गीता में आये हुए सभी श्लोक भगवान् के ही मानने आवश्यक हैं तो फिर २५वें श्लोक के उत्तरार्ध में 'पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून्' भी तो भगवान् का वचन है। अतः इसे भी परिमाण में भगवान् के श्लोकों के साथ ही क्यों न सम्मिलित किया जाय ?

इसके स्पष्टीकरण में पहली बात तो यह है कि (१।२५वाँ) पूरा श्लोक भगवान् द्वारा कथित नहीं है। इस श्लोक में केवल ग्यारह अक्षर ही भगवान् के कहे हुए हैं। अतः पूरा श्लोक न होने से परिमाण में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। दूसरी बात—महर्षि वेदव्यास ने 'श्रीभगवानुवाच' पद देकर इन वचनों को उद्धृत नहीं किया, संजय के वचनों के अन्तर्गत ही माना है। अतः स्वन्त्रतया भगवत्कथित श्लोक न होने से भगवान् के परिमाण में शामिल नहीं किया गया। तीसरी बात—भगवान् इस श्लोक (१।२५) में अर्जुन के निर्देशानुसार सारथि रूप से बोल रहे हैं, अतः यह श्लोक स्वतन्त्रतया भगवद्वाणी न होने से भगवान् के श्लोकरूप परिमाण में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

'उवाच' की पुनरुक्ति क्यों ?

गीता के परिमाण में 'भगवान् उवाच' विषयक यह एक आवश्यक प्रश्न हो सकता है कि अध्यायों के आरम्भ में आये—'श्रीभगवानुवाच' को परिमाण की गणना में दूसरी बार पुनः सम्मिलित क्यों किया गया, जब कि पहले से भगवान् ही तो बोलते आ रहे हैं। जैसे ३।३७ व श्लोक के पश्चात् भगवान् ही बोल रहे हैं फिर भी चौथे अध्याय के आरम्भ में 'श्रीभगवानुवाच' को परिमाण की गणना में श्लोक रूप से पुनः सम्मिलित क्यों गिया गया ?

समाधान इस प्रकार समझना चाहिये कि गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निकली वाणी है। कारक पुरुष महर्षि वेदव्यास इसके संकलनकर्ता हैं। वे ही पूरे ग्रन्थ को १८ अध्यायों में विभक्त करते हैं। श्रीभगवान् के वचन चालू रहते हुए भी उन्होंने चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में 'श्रीभगवानुवाच' रूप श्लोक दिया है। यही बात अन्य (६ठे, ७वें, ८वें, ९वें, १०वें, १३वें, १४वें, १५वें और १६वें अध्यायों के विषय में भी समझनी चाहिये। कारण, महर्षि वेदव्यास के अधिकार प्राप्त आप्तपुरुष, होने से उनके वचन सभी को सदैव सर्व-मान्य हैं। उन्होंने ही कृपा करके जैसे वेद को स्पष्टतया समझाने के लिये पृथक्-पृथक् चार भागों में विभक्त किया है, वैसे ही गीता में भगवान् के दिये उपदेश का जैसा अनुभव किया, उसे स्पष्ट समझाने के लिये पृथक्-पृथक् अध्यायों में विभक्त किया है दूसरा समाधान यह है कि अध्याय के प्रारम्भ में कौन बोल रहा है, यह बतलाने के लिये 'उवाच' देना आवश्यक ही हो जाता है। अतः

श्रीभगवान् के वचन क चालू रहते हुए भी अध्याय के प्रारम्भ में पुनः 'श्रीभगवानुवाच' श्लोक देकर परिमाण में उसे श्रीभगवान् का ही श्लोक माना है। तीसरी बात—अध्याय के अन्त में पुष्पिका रूप 'इति' लगा देने से नये ग्रन्थ के समान ही दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है, अतः अध्याय के आरम्भ में 'श्रीभगवानुवाच' पुनः देना आवश्यक होने से ही श्रीव्यासजी महाराज ने इसे पुनरुक्ति नहीं समझा। महर्षि वेदव्यास के माने हुए नियमों को इधर-उधर करने का किसी को भी अधिकार नहीं है।

श्रीभगवान् के ६२० श्लोक—

इस प्रकार गीता-गणना की प्रचलित परम्परा के अनुसार भगवान् के कहे ५७४ श्लोकों के साथ 'श्रीभगवानुवाच' रूप मन्त्र २८ बार तथा भगवत्-शरणागति के पश्चात् भगवत्प्रेरित 'अर्जुन उवाच' रूप मन्त्र १७ बार तथा भगवत्स्वरूप 'अर्जुन उवाच' सहित एक श्लोक (१८।७३) और मिला देने पर श्रीभगवान् के ६२० श्लोक हो जाते हैं। अतः महाभारतोक्त गीता-परिमाण का यह वचन प्रमाणित हो जाता है कि—

'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।'

अर्जुन के ५७ श्लोक—

गीता में अर्जुन के ८४ श्लोक हैं और २१ उवाच हैं, किन्तु महाभारतोक्त गीतापरिमाण में अर्जुन के ५७ श्लोक ही बतलाये गये हैं। अतः अब इस परिमाण के अनुसार विचार करना है। यद्यपि इस विषय पर लेख में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, फिर भी पुनः स्पष्ट समझने के लिये सारांश रूप में लिखा जाता है कि भगवत्-शरणागति के पश्चात् अर्जुन १७ बार बोलते हैं और एक बार अन्त में १८वें अध्याय के ७३वें श्लोक के पहले बोले हैं। इस १८।७३ के 'उवाच' सहित श्लोक को एक श्लोक माना है। ये १७ 'उवाच'-रूप श्लोक एवं एक अन्तिम (१८।७३ का) 'उवाच' सहित श्लोक भगवत्-प्रेरित होने से भगवान् के श्लोक के साथ सम्मिलित किये गये हैं तथा भगवत्-शरणागति (२।७) के पहले कथित तीन 'अर्जुन उवाच' को परिमाण में पृथक् से न लेकर 'संजय उवाच' में ही अन्तर्भूत किया है।

गीता की यह शैली भी है कि एक के कथित वचन दूसरे के वचनों के अन्तर्गत आ जाते हैं, जैसे पहले अध्याय में तीसरे श्लोक से ग्यारहवें श्लोक तक दुर्योधन के वचन संजय के वचनों में आये तथा ३।१० से ३।१२ के पूर्वार्द्ध तक प्रजापति ब्रह्मा के वचन भी श्रीभगवान् के वचनों के अन्तर्गत आये हैं। श्लोकों में अवान्तर 'न योत्स्ये' (२।९) अर्जुन के वचन संजय के वचनों के अन्तर्गत आये हैं तथा 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (१५।४) साधक के वचन श्रीभगवान् के वचनों के अन्तर्गत आये हैं। ऐसे ही १।२१ के उत्तरार्द्ध से १।२३ श्लोक तक, १।२८ के उत्तरार्द्ध से १।४६वें श्लोक तक और २।४ से २।८ तक अर्जुन के वचन (कुल २६ श्लोक) संजय के ही वचन हैं, जिसके परिमाण के लिये ऊपर बतलाया ही जा चुका है कि संजय धृतराष्ट्र को श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप गीता-शास्त्र सुनाते हुए 'इदमाह महीपते' (१।२१) आदि पदों से बतला रहे हैं कि राजन्! युद्धस्थल में अर्जुन ने ऐसा-ऐसा कहा। अतः ये २६ श्लोक संजय के श्लोकों की गणना में ही सम्मिलित करने चाहिये, न कि अर्जुन के श्लोकों की गणना में।

इस प्रकार गणना की प्रचलित परम्परा में आये अर्जुन के ८४ श्लोकों में से उपर्युक्त (१+२६=२७)

२७ श्लोक घटा देने पर ५७ श्लोक स्वतः अर्जुन के रह जाते हैं। अतः गीता-परिमाण का वचन प्रमाणित हो जाता है—'अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्'।

संजय के ६७ श्लोक—

संजय के ४१ ही श्लोक हैं एवं ९ बार 'सञ्जय उवाच' है, किन्तु गीता-परिमाण में ६७ श्लोक बतलाये हैं, अतः परिमाण के अनुसार विचार करना है। गीता-परिमाण में 'सञ्जय उवाच' को संजय के श्लोकों में ही अन्तर्भाव किया है, क्योंकि गीता में केवल कृष्णार्जुन-संवाद होने से 'श्रीभगवानुवाच' एवं भगवत्प्रेरित 'अर्जुन उवाच' ही पृथक् श्लोकरूप माने गये हैं। संजय और धृतराष्ट्र के 'उवाचों' को अलग-अलग मानकर उनका उन-उन स्थलों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिये।

यह तो ऊपर ही बतलाया जा चुका है कि पहले और दूसरे अध्यायों के अर्जुन-कथित २६ श्लोक परिमाण में संजय के ही श्लोक मानने चाहिये। अतः इन २६ श्लोकों को संजय के ४१ श्लोकों के साथ योग देने पर ४१+२६=६७ श्लोक संजय के हो जाते हैं अतः गीता-परिमाण का वचन प्रमाणित हो जाता है—'सप्तषष्टिं तु सञ्जयः।'

धृतराष्ट्र का एक श्लोक—

धृतराष्ट्र का एक श्लोक ही गणना की प्रचलित परम्परा में है। अतः इस श्लोक के परिमाण में कोई मतभेद नहीं है। हाँ, उवाच को पृथक् से न लेकर सञ्जय उवाच' की तरह ही 'धृतराष्ट्र उवाच' का भी धृतराष्ट्र का मूल प्रश्न ही (यह श्लोक) गीता के प्राकट्य में हेतु है। अपने प्रश्न के माध्यम से युद्ध-स्थल में होनेवाली समस्त घटनाओं को धृतराष्ट्र विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं, जिसके उत्तर में महर्षि वेदव्यास के कृपापात्र मन्त्री संजय श्रीकृष्णार्जुन-संवादरूप गीताशास्त्र, जो कि युद्ध-स्थल में सबसे पहली घटना है, वेदव्यासजी के विशेष कृपापात्र राजा धृतराष्ट्र को सुनाते हैं। अतः गीता के प्राकट्य में मूल प्रश्न होने से ही यह धृतराष्ट्र का श्लोक गीता में सम्मिलित किया गया। दूसरी बात जैसे अर्जुन का विषाद भी श्रीभगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला तथा कल्याण की ओर अग्रसर करनेवाला होने के कारण योग हो गया, वैसे ही धृतराष्ट्र का प्रश्न भी भगवद् वाणी के प्राकट्य में हेतु होने के कारण भगवद्गीता के साथ सम्मिलित हो गया।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि वेदव्यासरचित महाभारत में महर्षि वैशम्पायन ने जो गीता का परिमाण बतलाया है, वह यथार्थ है, क्योंकि इस लेख के अनुसार उसकी ठीक संगति बैठ जाती है। अतः पाठ की दृष्टि से उवाच-सहित प्रचलित पाठक्रम ही उपयुक्त है। परिमाण की दृष्टि से उपर्युक्त क्रम भी ठीक हो जाता है।

गीता-परिमाण की संगति ठीक-ठीक हो जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राणी जब संसार से हटकर अपना कल्याण चाहता है एवं केवल वचन-मात्र से भी भगवान् की शरण हो जाता है, तो भगवत्परायण होने से उसका कल्याण होना निश्चित है तथा पूर्ण शरणागत होने पर एक भगवान् ही रह जाते हैं अर्थात् भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं रह जाता।

(१) श्रीभगवानुवाच २८ बार एवं भगवत्-शरणागति के पश्चात् भगवत्प्रेरित अर्जुन उवाच १७ बार को श्लोकात्मक माना गया है जिन्हें

परिमाण में श्रीभगवान् के श्लोकों के साथ सम्मिलित किया गया है।

(२) अठारहवें अध्याय में अन्तिम अर्जुन उवाच एवं ७३वाँ श्लोक, जो कि भगवत्साधर्म्यप्राप्त अर्जुन का है, उसे उवाचसहित एक श्लोक ही मानकर परिमाण में श्रीभगवान् के श्लोकों के साथ सम्मिलित किया गया है।

(३) धृतराष्ट्र उवाच १ बार, संजय उवाच ९ बार एवं भगवत्-शरणागति के पहले आये अर्जुन उवाच ३ बार पृथक् से न लेकर श्लोकों के अन्तर्भूत ही लिये गये हैं।

(४) भगवान् का उपदेश दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से प्रारम्भ होता है—उससे पहले आये अर्जुन के २६ श्लोक परिमाण में संजय के श्लोकों के साथ सम्मिलित किये गये हैं। इस प्रकार उक्त संगति बैठ जाती है।

गीता-परिमाण के अनुसार तालिका

अध्याय	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	योग
धृतराष्ट्र	१	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	...	१
संजय	४६	८	...	...	...	...	...	...	...	...	८	...	...	...	...	...	...	५	६७
अर्जुन	...	१(२।५४)	३	१	१	५	...	२	...	७	३३	१	...	१	...	...	१	१	५७
श्रीभगवान्	...	६७	४४	४८	३०	४७	३१	२८	३५	३८	२२	२१	३५	२९	२१	२५	२९	७४	६२०
पूर्ण संख्या	४७	७६	४७	४५	३१	५२	३१	३०	३५	४५	६३	२२	३५	३०	२१	२५	३०	८०	७४५

गीता के विविध योग और उनकी एकता

[लेखक—श्रीव्रजवल्लभशरण, वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ]

गीता की पुष्पिकाओं में प्रथम अध्याय से लेकर १८वें अध्याय तक, अर्जुन विषाद, सांख्य, कर्म, ज्ञान-कर्म सन्यास, अभ्यास व आत्म-संयम, ज्ञान-विज्ञान, अक्षर-ब्रह्म, राजविद्या राजगुह्य, विभूति, विश्वरूप-दर्शन, भक्ति, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग, गुणत्रय विभाग, पुरुषोत्तम, दैवासुरसम्पद् विभाग, श्रद्धात्रय विभाग मोक्ष-सन्यास योग इन अठारह योगों का स्पष्टोल्लेख है।

दशम अध्याय के श्लोक ७ और १० में अविकम्प, और बुद्धियोग का भी नामोल्लेख मिलता है तत्त्वप्रकाशिका टीकाकार ने अविकम्प योग को अप्रचलित दृढ़ भक्तियोग के ही अन्तर्गत माना है, रामानुजाचार्य ने अप्रकम्प भक्तियोग कहा है और शङ्कराचार्य ने सम्यक्दर्शन स्थैर्य कहा है।

अमृत-तरंगिणीकार ने भगवद्वियोगादिरहित भगवत् संयोगरूप भक्तियोग कहा है और नीलकण्ठ ने गीता के छठे अध्याय में कहे हुए निर्विकल्प योग को भगद्विषयक समाधि कहा है। इसी प्रकार बुद्धि-योग को किसी ने सम्यग् दर्शन किसी ने भगवत्-स्वरूपानुभवात्मक भक्ति उपाय और किसी ने ज्ञान-निष्ठा नाम दिया है। समत्वबुद्धि योग, और दुःख-संयोग वियोग आदि और भी ऐसे ही योगों का नामोल्लेख गीता में कई स्थलों पर हुआ है।

यद्यपि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मठ आदि विभिन्न प्रकार के साधकों में योगी को श्रेष्ठ बतलाया है, योगियों में भी जो समस्तभूत प्राणियों की आत्माओं को अपनी आत्मा के समान ही देखता है, वह श्रेष्ठ माना गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥

(गीता ६।३२)

इस श्लोक में आये हुए—"समं" शब्द का टीकाकार अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार तात्पर्य दिखाते हैं। मोटे तौर से यद्यपि समं शब्द समानता का द्योतक है तथापि इसकी व्युत्पत्ति "मया=महालक्ष्म्या (राधिकया) सह वर्तते यः स समः तं समम् (श्रीराधासर्वेश्वर युगलं)' इस प्रकार की जा सकती है, तदनुसार श्लोकार्थ हुआ जिस प्रकार अपनी आत्मा (जीव) के अन्दर अन्तर्यामी रूप से श्रीश्यामा-श्याम विराजते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र समस्त प्राणियों की आत्माओं में भी वे विराजते हैं और जिस प्रकार सुख दुःख होता है, उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियों को होता है। ऐसी भावनावाले साधक को ही यहाँ श्रेष्ठ कहा है, और आगे इसी अध्याय के ४६वें श्लोक में इसी प्रकार के योगी बनने के लिये अर्जुन को आदेश देकर—४७वें श्लोक में "श्रद्धावान् भजते यो मां" श्रद्धापूर्वक भजनेवाले को परम श्रेष्ठ कहा है। जीवात्मा में ईश्वर की स्थिति—"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" गीता (१८।६१) यहाँ स्पष्ट बतलाई गई है। अतः इन विविध योगों का उद्देश्य एक भगवद्भक्ति शरणागति प्रपत्ति की प्राप्ति करने का ही मानना चाहिये। क्योंकि सर्व पदा हस्ति पदे निमग्नाः के अनुसार सभी योग और धर्म प्रभु की भक्ति के ही लिये हैं। जैसा कि भागवतकार ने निश्चित कर दिया है—"सर्वे पुंसां परोधर्मः यतो भक्ति रधो क्षजे" (भा० १०।३) धर्म वही है जिसके अनुष्ठान से प्रभु के चरणों में अनुराग हो। ★

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

दशमोऽध्यायः

★

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

सदेवं सप्तमाष्टमाध्याययोर्भजनेयस्य परमेश्वरस्वरूपस्य भक्तिप्राप्यतयोक्तस्यैव नवमेऽध्याये ज्ञानमाहात्म्यकथनपूर्वकम-भक्तनिन्दया भक्तानां परमफलनिरूपणेन च भक्तेर्माहात्म्यं द्योतितमिदानीं भक्त्युत्पत्तये तद्वृद्धये च निरङ्कुशं स्वैश्वर्यं वक्तुं तावदुक्तस्यापिमहिम्नो बहुभिर्दुर्ज्ञेयत्वात्स्वभक्तहिताकाङ्क्षया पुनरर्जुनं सम्बोधयति श्रीभगवान् उवाच—भूय एवेति । भूय एव पुनरपि हे महाबाहो ! मे मदीयं परमं प्रकृष्टं सपरिकरपरमतत्त्वप्रकाशकं वचो वाक्यं मम महिमानं श्रुत्वा प्रीयमाणाय अमृतपानेनेव निरतिशयप्रीतिमते ते तुभ्यं हितकाम्यया भक्तिप्राप्तिवृद्धि-रूपत्वद्धितकामनया यद्वहं वक्ष्यामि तदेकाग्रेण मनसा शृणु ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

तव तत्त्व केचिदन्येऽपि तत्त्वज्ञा न जानन्ति किं ? यतो भूयः स्वयमेव वक्ष्यसीत्येत आहुः—न म इति । मे मम प्रभवं जीववत्कर्मनिमित्तजन्मरहितस्यापि प्रकृष्टमलौकिकं भवं जन्म नानाविभूति-

---

इस प्रकार सातवें और आठवें अध्यायों में सेवनीय परमेश्वर के स्वरूप को भक्ति से प्राप्त होने की बात बतलाकर नवें अध्याय में ज्ञान के माहात्म्य कहने के साथ अभक्तों की निन्दा और भक्तों के परम फल के निरूपण द्वारा भक्ति का माहात्म्य प्रगट किया । अब दसवें अध्याय में भक्ति की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि के लिये अपनी निरंकुश महिमा कहने और कही हुई महिमा के सहज ही में समझ में न आने के कारण भक्तों की भलाई के लिए भगवान् अर्जुन को फिर सम्बोधन कर कहते हैं । फिर भी, हे अर्जुन ! सब अङ्ग सहित परमतत्त्व प्रकाशक मेरे बचनों को एकाग्र मन से सुनो जिसको मैं, अमृतपान के समान सर्वाङ्ग मेरी महिमा को सुनकर तृप्त हुए तुझसे, भक्ति की प्राप्ति और वृद्धि रूप तुम्हारे हित की इच्छा से कहूँगा, अर्थात् जिस मेरे बचन को सुनकर तुझे भक्ति होगी और वह बढ़ेगी ॥१॥

गुणशक्तिभिराविर्भावविशेषं सुरगणा इन्द्रादयो महर्षयोऽतीन्द्रियवस्तुदर्शिनो भृग्वादयो न विदुर्न जानन्ति। तदज्ञाने हेतुः—अहमिति। हि यस्मादहं देवानां महर्षीणां च सर्वशः सर्वप्रकारैः उत्पादकत्वेन ज्ञानशक्त्यादिदातृत्वेन च आदिः कारणम्। अतस्ते मत्कार्यभूता महत्परिमितज्ञानवन्तो मत्स्वरूपैश्वर्यादिकं मदुपदेशं विना न जानन्तीत्यर्थः।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

एवं देवर्ष्यादिविज्ञेयमत्स्वरूपयाथात्म्यज्ञानं भक्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धकपापनिरसनकारणमित्याह—यो मामिति। यस्मादहं देवानां महर्षीणां चादिर्न तु ममान्यः कश्चनादिर्विद्यते। अतोऽहमनादिरनादित्वादेवाजः, तं मामजमनादिं लोकमहेश्वरं च यो वेत्ति। "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, न सन्न चासच्छिव एव केवलः। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुरि" त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मरुद्रयोः सर्वदेवादित्वतत्कारणत्वप्रतिपादनाल्लोकेश्वरत्वं, तद्भगवतो वासुदेवस्यापि सामान्यं लोकेश्वरत्वमिति केषां चिद्ब्रह्मशिवादिसमत्वबुद्धेर्निरासाय। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं। तं देवतानां

तो क्या आपके तत्त्व को और कोई तत्त्व ज्ञानी नहीं जानता जो आप स्वयं उसे फिर कहेंगे? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मैं अन्य जीवों की भाँति कर्माधीन जन्म से रहित हूँ। मेरे अलौकिक जन्म को अर्थात् नाना विभूति, गुण, शक्ति द्वारा मेरी उत्पत्ति विशेष को इन्द्र आदि देवता तथा अतीन्द्रिय (अदृष्ट) वस्तु को देखने वाले महर्षि भी नहीं जानते हैं। उनके न जानने का कारण यह है कि मैं ही उन देवताओं तथा महर्षियों का सब प्रकार से उत्पादक और ज्ञान शक्ति आदि का दाता होने से, उनका कारण हूँ। इसलिये मेरे दिये हुए परिमित ज्ञान वाले, मेरे कार्य्य स्वरूप, वे लोग मेरे स्वरूप और ऐश्वर्य्य को, मेरे उपदेश के बिना, नहीं जान सकते ॥२॥

देवताओं और ऋषियों से अविज्ञेय, मेरे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भक्ति की उत्पत्ति और वृद्धि में रुकावट डालने वाले पापों को हटाने का कारण है। इसी बात को भगवान् यहाँ कहते हैं। मैं देव, महर्षियों का आदि हूँ, पर दूसरा कोई मेरा आदि नहीं है। इसलिए मैं अनादि हूँ और अनादि होने के कारण अज हूँ। "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, न सन्न चासच्छिव एव केवलः एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः।" अर्थात् हिरण्य गर्भ ब्रह्मा ही पहले हुए, जो देवताओं के उत्पादक हैं। तब न सत् था न असत् केवल एक शिव ही थे, एक रुद्र ही थे। दूसरा नहीं था। इन और ऐसी ही और श्रुतियों से प्रतिपादित ब्रह्मा और रुद्र के सब देवों से पहले एवं उनके कारण होने से उनका लोकेश्वर होना सिद्ध है, वैसे ही भगवान् वासुदेव भी लोकेश्वर हैं, इस प्रकार भगवान् को शिव और ब्रह्मा के समान ही लोकेश्वर जानने वाले लोगों के भ्रम निवारणार्थ भगवान् अपने को लोकमहेश्वर कहते हैं; अर्थ कि मैं उन सब ब्रह्मा, रुद्रादि का भी ईश्वर हूँ। यथा श्रुति, "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवम् भुवनेश

परमं च दैवतं "पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" इत्यादि विशेषश्रुत्यभिहितपरम-महेश्वरपर्यायलोकमहेश्वरशब्दवाच्यं मां वेत्तीत्युक्तम्। स मम लोकमहेश्वरत्ववेत्ता मर्त्येषु मनुष्येषु असम्मूढः परब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य भगवत इतरदेवसाधारणत्वकल्पनं संमोहो महान् दोषस्तद्रहितः सन्मद्भक्त्युत्पत्तिविरोधिभिः सर्वपापैः प्रमुच्यते। "यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेव दुर्मतिः। साधारणं सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यज" इति पञ्चरात्रवचनाद्भगवति विष्णौ इतरदेवसामान्यबुद्धीनां महापातकिनां भगवद्भक्तिर्न जायतेऽत एवम्भूतः सम्मोहो यत्नेन त्याज्य इति भावः।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

उक्तं लोकमहेश्वरत्वमेव प्रतिपादयति—बुद्धिरित्यादि त्रिभिः। बुद्धिः सारासारविवेचनरूपान्तः करणावस्था। ज्ञानमात्मानात्मपदार्थावबोधनम्। असम्मोहोः बोद्धव्यवस्तुविषयकभ्रमनिरासेन तत्स्व-रूपावधारणम्। क्षमा चित्तविकारहेतौ सत्यप्यविकृतचित्तता। सत्यं यथादृष्टश्रुतवस्तुविषयक-भाषणम्। दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यो नियमनं। सुखमनुकूलवेदनीयं, दुःखं प्रतिकूलानु-भवः। भाव उद्भवः। अभावस्तद्विपर्ययः, भयमागामिदुखस्य हेतुदर्शनजस्त्रासः, अभयं तन्निवृत्तिः।

मीड्यम्॥" अर्थात् ईश्वरों के भी ईश्वर, देवताओं के भी देवता, पतियों के भी पति, परों से परे, भुवनेश्वर, सबों से नमस्कृत भगवान् की हम लोग स्तुति करते हैं। इस श्रुति-विशेष में कथित परम महेश्वर शब्द के वाचक लोकमहेश्वर शब्द से मुझको ही जो जानता है और मुझको अज और अनादि जानता है वह परम महेश्वर-तत्त्ववेत्ताजन मनुष्यों में असंमूढ़ ही, अर्थात् अन्य देवों के समान ही परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् को भी समझने के महान् दोष से रहित होकर,मेरी भक्ति में विरोध करने वाले पाप समूहों से छुटकारा पा जाता है। "यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मतिः। साधारणः सकृद् ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यजः" जो मूढ़ मोह से एक बार भी विष्णु को दूसरे हीन देवों के समान कहता है वही यथार्थ अन्त्यज है। अन्त्यज अन्त्यज नहीं है। इस पञ्चरात्र के वचन से भगवान् विष्णु में और इतर देवों में समान भाव रखना महा पाप है। ऐसे महा पातकियों की विष्णु में भक्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये ऐसे मोह का सदा यतन पूर्वक त्याग कर देना चाहिये॥३॥

कही हुई अपनी लोक महेश्वरता को यहाँ से तीन श्लोकों द्वारा प्रतिपादन करते हैं।

बुद्धि अर्थात् सारासार विचार करने वाली अन्तःकरण की अवस्था, ज्ञान अर्थात् आत्म और अनात्म पदार्थ को समझना, असम्मोह अर्थात् जानने योग्य वस्तु के स्वरूप का भ्रम रहित बोध। क्षमा अर्थात् चित्त में विकार का कारण उपस्थित होने पर भी विकार का न होना। सत्य अर्थात् सुनी या देखी हुई वस्तु को ज्यों का त्यों कहना। दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना। सुख अर्थात् अनुकूल अनुभव, दुःख अर्थात् प्रतिकूल अनुभव। भव अर्थात् उत्पत्ति।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

अहिंसा मनोवाक्कायैः प्राणिहिंसानिवृत्तिः, समता राग-द्वेषराहित्यं, तुष्टिर्यथालाभेन सन्तोषः तपः शारीरादि वक्ष्यमाणलक्षणं, दानं न्यायार्जितस्य धनादेर्देशे काले पात्रे प्रतिदानं, यश औदार्यादि-गुणवत्तया श्लाघा, अयशः कार्पण्यादिदोषेण लोककुत्सनं, बुद्धिरित्यादयस्तद्विपरीताश्च भावाः पृथ-ग्विधाः प्रतिव्यक्तिभिन्नाः प्राणिनां तत्तत्कर्मानुसारेण मत्त एव भवन्ति ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजा ॥६॥

किञ्च—महर्षय इति । महर्षयो वेदतदर्थद्रष्टारः सप्तभृग्वादयः । तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमजाश्च-त्वारो महर्षयः सनकादयः, तथा मनवः स्वायम्भुवाद्याः । उत्तरत्रैतदुद्धरिष्यामि । सर्वे चैते मानसा जाता हिरण्यगर्भात्मनः । ममैव मनसः सङ्कल्पाज्जाता नतु योनिजाः । तत्र सप्तर्षयः सनकाद्या रुद्रश्च मानसा एव । मनुः स्वायम्भुवस्तत्पत्नी च हिरण्यगर्भस्य शरीर-भागावेव । अन्ये मनवस्तु योनिजा इति विवेकः । तथोक्तं पुराणे : "भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् । वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् । सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः" महाभारते मोक्षधर्मे तु "मरीचिरंगिरा-

---

अभाव अर्थात् नाश । भय अर्थात् आने वाले दुःख के कारण को देखने से त्रास और अभय अर्थात् भय की निवृत्ति वा निडरता ॥४॥

अहिंसा अर्थात् मन, वच, कर्म से जीवहिंसा न करना । समता अर्थात् राग द्वेष से रहित होना । तुष्टि अर्थात् यथा लाभ संतोष । तप अर्थात् शरीरादि सम्बन्धी शास्त्र विहित कठिन कार्य । दान अर्थात् न्याय से उपार्जित धनादि को देश, काल, पात्र का उचित विचार करके देना । यश अर्थात् उदारता आदि गुणों से प्रशंसा होना । अयश अर्थात् कृपणतादि के कारण लोक निन्दा । बुद्धि आदि और उनके विपरीत भाव सब जीवों में अलग २ उनके कर्मानुसार मुझसे ही प्राप्त होते हैं ॥५॥

वेद तथा उनके अर्थ देखने वाले महर्षि अर्थात् भृगु आदि सप्तर्षि और उनके भी पहले के चार महर्षि सनक, सनन्दन आदि और स्वयम्भु आदि मनु तथा रुद्र, ये सब हिरण्यगर्भात्मक मेरे मन के संकल्प से ही उत्पन्न हैं, योनि से नहीं । उनमें सप्तर्षि, सनकादि और रुद्र मन से उत्पन्न हैं । स्वयम्भु मनु और उनकी स्त्री हिरण्यगर्भ के ही शरीर के भाग हैं । अर्थ कि दूसरे २ मनु योनि गर्भ से उत्पन्न हुए हैं । पुराण में कहा गया है:—

"भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् ॥
सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥"

अर्थात् भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, और वसिष्ठ इनको ब्रह्मा ने मन से उत्पन्न

भ्रात्रिः, पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते, मनसा निर्मिता हि वै" इत्येवं मरीच्यादय उक्ताः। विष्णुपुराणे तु नवोक्ताः। भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा। मरीचिं दक्षमत्रिं च, वसिष्ठं चैव मानसान्। नव ब्रह्माण इत्येते, पुराणे निश्चयं गता" इति। "सनन्दनादयो ये च, पूर्वसृष्टास्तु वेधसा। न ते लोकेषु सज्जन्ते, निरपेक्षाः प्रजासु ते। सर्वे ते ज्ञानतज्ञाना, वीतरागा विमत्सराः" इति। पुनः कथम्भूतास्ते मद्भावा-मदीयो यो भावः जीवानां सृष्टिपालनसंहारमोक्षभावनं स मद्भावो विद्यते येषु ते मद्भावाः, मदनुग्रहात्सर्जनपालनसंहरणमोक्षशक्तयन्विता इत्यर्थः। तत्र सप्त महर्षयः सृजनशक्तयन्विताः वेदोक्तप्रवृत्तिधर्मप्रवर्तका लोकाचार्याः। मनवः पालनशक्त्यन्विताः। रुद्रः संहरणशक्त्यन्वितः। सनन्दनादयस्तु संसारान्मोक्षणशक्त्यन्विता निवृत्तिधर्मप्रवर्तकाः मोक्षशास्त्रेषु लोकाचार्याः। तदुक्तं मोक्षधर्मे सप्तर्ष्युत्पत्त्यनन्तरम्—

एते वेदविदो मुख्या लोकाचार्याः प्रकीर्तिताः।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये प्रकल्पिताः—इति॥

तथा तत्रैव सनकाद्युत्पत्त्यनन्तरमुक्तम्—

स्वयमागतविज्ञाना निवृत्ति—धर्ममाश्रिताः।
एते योगविदो मुख्या लोकाचार्याः प्रकीर्तिताः॥

किया। पुराण में ये सात ब्राह्मण कहे जाते हैं। महाभारत के मोक्षधर्म में भी मरीचि आदि की गिनती कराई गई है। यथा—"मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठ इति सप्तैते मनसा निर्मिता हि वैः।" विष्णु पुराण में ये नव कहे गये हैं। यथा—"भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा। मरीचिं दक्षमत्रिं च वसिष्ठं चैव मानसान्। नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।" इन श्लोकों में ऊपर कहे हुए सात के अतिरिक्त अङ्गिरा और दक्ष का भी नाम लिया गया है। फिर "सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टास्तु वेधसा। न ते लोकेषु सज्जन्ते निरपेक्षा प्रजासु ते। सर्वे ते ज्ञानतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः।" अर्थात् पहले ब्रह्मा ने जिन सनन्दनादिकों को मन के संकल्प से उत्पन्न किया वे संसार में न फँसे। वे सब के सब ज्ञानी, विरागी और द्वेष से शून्य हुए। फिर ये सब अर्थात् सप्तर्षि सनन्दनादि, मनु लोग तथा रुद्र मेरे सृष्टि पालन-संहार-मोक्ष भाव वाले हैं अर्थात् मेरी कृपा से सृष्टि, पालन, तथा संहार करने और मोक्ष देने वाली शक्ति से युक्त हैं। इनमें से सात महर्षि सृष्टि करने की शक्ति से युक्त हैं और वेद में कहे हुए प्रवृत्ति धर्म के प्रवर्त्तक लौकिक आचार्य्य हैं। मनु पालन शक्ति से युक्त और रुद्र संहार शक्ति से युक्त हैं, सनन्दनादि महर्षिगण मोक्ष शक्ति से युक्त और निवृत्ति धर्म के प्रवर्त्तक और मोक्ष शास्त्र के लोकाचार्य्य हैं। सप्तर्षियों की उत्पत्ति वर्णन के बाद मोक्ष धर्म में ऐसा लिखा हुआ है—"एते वेदविदो मुख्या लोकाचार्य्याः प्रकीर्तिताः। प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये प्रकल्पिताः।" अर्थात् ये सप्तर्षि वेद के जानने वाले मुख्य लोकाचार्य्य हैं, और प्रवृत्ति धर्म के प्रवर्त्तक होने से सन्तान पैदा करने में लगे हुए हैं। वहीं पर सनकादि की उत्पत्ति वर्णन के बाद यह लिखा हुआ है कि, "स्वयमागतविज्ञाना निवृत्ति धर्ममाश्रिताः। एते योगविदो मुख्या

आचार्या मोक्षशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रप्रवर्त्तकाः—इति ।

श्रीभागवते ब्रह्माप्याह—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे ।
आदौ सनात्स्वतपसश्चतुःसनोऽभूत् ॥
प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वम् ।
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ! इति ॥

एकादशे श्रीभगवताऽप्युक्तम्—

एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा । इति ॥

मनूनां पालनत्वं रुद्रस्य संहर्त्तृत्वं चोक्तं वैष्णवे "विष्णुमन्वादयः कालः, सर्वभूतानि च द्विज !

लोकाचार्य्याः प्रकीर्त्तिताः । आचार्य्या मोक्षशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रप्रवर्त्तकाः ।" अर्थात् ये सनकादि स्वयं प्राप्त विज्ञान वाले हैं और निवृत्ति धर्म में निष्ठ हैं। मुख्य योग के जानने वाले, लोकाचार्य्य और मोक्षशास्त्र के आचार्य्य और प्रवर्त्तक हैं। भागवत् में ब्रह्मा ने भी कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे ।
आदौ सनात्स्वतपसश्चतुःसनोऽभूत् ॥
प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वम् ।
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥"

अर्थात् जब अनेक प्रकार के लोक की सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा ने तप किया तब उनसे सनकादि चार पुत्र उत्पन्न हुए। उन्होंने पूर्व कल्प के महासंप्लव में विनष्ट हुए आत्म तत्त्व को अपने में देखा और उसको सम्यक् रूप से व्यक्त किया। श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कन्ध में भगवान् ने कहा है—

"एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥"

अर्थात् मेरे शिष्य सनकादिकों ने यही योग कहा है जिससे मन चारों ओर से खिंच कर मुझमें साक्षात् लग जाय। विष्णु पुराण में मनु आदि का मनुष्यों का पालक होना और रुद्र का संहारक होना लिखा है। यथा—

"विष्णुमन्वादयः कालः सर्वभूतानि च द्विज ! ।
स्थितेर्निमित्तभूतस्य विष्णोरेता विभूतयः ॥
रुद्रः कालान्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः ।
चतुर्धाः प्रलयायैता जनार्दन विभूतयः ॥

स्थितेर्निमित्तभूतस्य विष्णोरेता विभूतयः। रुद्रः कालान्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः। चतुर्धा प्रलयायैता जनार्दनविभूतयः" इति। तेषां कार्यदर्शनेन सामर्थ्यं द्योतयति—येषां लोक इमा इति। येषां सप्तर्षीणां चतुर्णां सनकादीनां मनूनां च अस्मिल्लोके इमा ब्राह्मणक्षत्रियाद्या यथायथं जन्मना विद्यया च पुत्रपौत्रादिरूपाः शिष्यप्रशिष्यादिरूपाश्च प्रजा सन्ततयो विद्यन्ते। केचित्तु पूर्वे सप्तमहर्षयोऽतीतमन्वन्तरे ये भृग्वादयः सप्तर्षयो नित्यसृष्टिप्रवर्तनाय ब्रह्मणो मनसः सम्भवाः। नित्यस्थितिप्रवर्तनाय ये च सावर्णिकादयश्चत्वारो मनवः स्थिता येषां सन्तानमये लोके जाता इमाः सर्वाः प्रजाः प्रतिक्षणमाप्रलयादपत्यानामुत्पादकाः पालकाश्च भवन्त्येवं व्याचक्षते, तदसङ्गतार्थकथनादप्रामाणिकम्। तथाहि न तावत्सप्तर्षीणां पूर्वत्वं सङ्गतं, सनकादीनां तेभ्योऽपि पूर्वत्वप्रतिपादनात्। किञ्च चत्वार इत्यनेनापि न मनूनां ग्रहणमुचितं, यतः स्वायम्भुवः स्वारोचिष उत्तमस्तामसो रैवतश्चाक्षुषः वैवस्वत एवं सावर्णिर्दक्षसावर्णिर्ब्रह्मसावर्णिर्धर्मसावर्णी रुद्रसावर्णिर्देवसावर्णिरिति मनवश्चतुर्दश पुराणेषु प्रसिद्धास्तत्रातीतानुपक्रवर्त्तमानं वैवस्वतं च विहाय "सावर्णिर्भविता मनुरि" ति वचनाद्भविष्यतां सावर्ण्यादिचतुर्णामेव ग्रहणे भगवतस्तात्पर्यभावात्। किञ्च भविष्यतां मनूनां ग्रहणे "येषां लोक इमाः प्रजा" इति प्रत्यक्षनिर्देशो विरुद्धः स्यात्। तस्मात् तथारूपानस्मासङ्गतत्वादुक्तार्थस्यैव साधुत्व-मित्यलं विस्तरेण।

अर्थात् हे ब्राह्मण! विष्णु, मनु आदि, काल और सब प्राणी ये सब सृष्टि की स्थिति के कारण स्वरूप विष्णु की विभूतियाँ हैं, रुद्र कालान्तक आदि और समस्त चार प्रकार के जीव, ये सब प्रलय के लिये जनार्दन की विभूतियाँ हैं। उनके (मनु आदि के) कार्य दिखाते हुए सामर्थ्य का वर्णन करते हैं। इन सप्तर्षि, सनकादि और मनु की इस लोक में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि यथायोग्य जन्म से, अर्थात् पुत्र-पौत्रादि रूप से, तथा विद्या से, अर्थात् शिष्य-प्रशिष्य रूप से प्रजाएँ अर्थात् सन्तति विद्यमान हैं। कोई इस छठे श्लोक के प्रथमार्द्ध का ऐसा अर्थ करते हैं कि "सबसे पहले के सात महर्षि अर्थात् बीते हुए मन्वन्तर में जो भृगु आदि सप्तर्षि नित्य सृष्टि करने के लिये ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुए और नित्य पालन के लिये जो सावर्णिकादि चार मनु स्थित हैं जिससे इस सन्तानमय लोक में उत्पन्न सारी प्रजाएँ हैं अर्थात् जो प्रतिक्षण प्रलयकाल पर्यन्त प्रजाओं की उत्पत्ति और पालन करने वाले है।" यह अर्थ असंगत है और प्रामाणिक नहीं है क्योंकि सप्तर्षियों का पूर्व में होना संगत नहीं है। उनके पहले सनकादिकों की उत्पत्ति होने की बात कही गई है, और 'चत्वारः' कहने से मनु का ग्रहण करना ठीक नहीं क्योंकि पुराणों में चौदह मनु प्रसिद्ध हैं यथा—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। इनमें छः बीते हुए तथा वर्त्तमान वैवस्वत मनु को छोड़ 'सावर्णिर्भविता मनुः' इस वाक्य से होने वाले सावर्णि आदि चार मनुओं का ग्रहण करेंगे तो "येषां लोक इमाः प्रजाः" यह प्रत्यक्ष कथन विरुद्ध हो जायगा। इससे उपर्युक्त जो किसी का मत है, वह असंगत होने के कारण मानने योग्य नहीं हैं। इससे जो पहला अर्थ लिखा गया है, वही ठीक है ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

एवमुक्तबुद्ध्यादेर्महर्ष्यादिविभूतित्वं तद्याथात्म्यज्ञानस्य फलं चाह—एतामिति। एतां सम्प्रत्युक्तां बुद्ध्यादिमहर्ष्यादिरूपां मम विभूतिमैश्वर्यं योगं च तत्तदर्थनिर्माणसामर्थ्यं त्वतो याथात्म्येन यो वेत्ति, सोऽविकम्पेनाप्रचलितेन हृदेनेति यावत् योगेन भक्तिरूपेण युज्यते युक्तो भवति। नास्त्यत्र संशयः।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

उक्तं विभूतियाथात्म्यज्ञानिनां भक्तियुक्तं दर्शयति—अहमिति। अहं जिज्ञास्यभूतजगज्जन्मादिलक्षणलक्षितपरब्रह्म-स्वरूपः सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य जगतः प्रभव उत्पत्ति-कारणम्। मत्त एवास्य सर्वं देवमनुष्यादिलोकगमनागमनं वृद्धि-ह्रासादिकं प्रवर्तते,इत्येवं मत्वा बुधा यथावदवबोधयुक्ता भावसमन्विताः प्रवृद्धप्रेमप्रवाहा मां निरतिशयप्रीतिविषयं भजन्ते।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

तेषां प्रेमवृद्धिपूर्वकभजनमेव विवृणोति—मच्चित्ता इति। मयि भगवति वासुदेवे चित्तं येषां ते मच्चित्ताः। मद्गतप्राणाः मामेव गताः प्राप्ताः प्राणाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि येषां ते मद्रूपादि-दर्शनाद्येक-विषयीभूतचक्षुरादिव्यापारा इत्यर्थः। मद्भजनार्थैक-जीवना इति वा। स्वतमानवृद्धद्गोष्ठीषु परस्पर-

---

इस प्रकार उक्त बुद्धि आदि तथा महर्षि आदि को भगवान् की विभूति होना कहा। अब उक्त बुद्धि आदि तथा महर्षि आदि रूप विभूति के यथार्थ ज्ञान का फल कहते हैं। जो उक्त बुद्धि आदि और महर्षि आदि रूप मेरी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य और योग अर्थात् उस उस अर्थ की निर्माणशक्ति को यथार्थ रूप से जानता है वह अविचल अर्थात् दृढ़ भक्तियोग से युक्त होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥७॥

उक्त विभूति के यथार्थ ज्ञान वाले की प्रबल भक्ति को दिखलाते हैं। जानने योग्य, सारे जगत् के जन्मादि लक्षण से लक्षित, परब्रह्म स्वरूप मैं ही ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझसे ही इस जगत् का देवलोक, मनुष्य लोकादि में आना जाना, वृद्धि, ह्रास आदि सब कुछ होता है। ऐसा समझ कर यथावत् ज्ञान वाले, भाव से युक्त अर्थात् परम प्रेमयुक्त बुधजन मुझे अपना अति प्रेमपात्र जानकर मेरा भजन करते हैं ॥८॥

यहाँ उनके बढ़ते हुए प्रेमयुक्त भजन के विषय में कहते हैं। मुझ भगवान् वासुदेव में चित्त लगाने वाले, मुझमें ही प्राण और आँख, कान आदि इन्द्रियों को लगानेवाले अर्थात् इन्द्रियों का व्यापार मुझ में ही है, एकमात्र मेरे रूपादि के दर्शन में जो नेत्रादि इन्द्रियों को लगाते हैं, तात्पर्य कि मेरे भजन के लिये

परस्परोऽन्यं युक्तिभिः श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणैश्च मामेव बोधयन्तः जिगीषाद्यभावान्मत्स्व-रूपगुणज्ञापनेन सौहार्दं कुर्वन्त इत्यर्थः। स्वन्यूनबोधेषु च मामेव कथयन्तः, तत्कृपया मदीयान् गुणान् मदीयान्यतिमानुषाण्यद्भुतानि कर्माणि च कथयन्तः सन्तस्तुष्यन्ति च रमन्ति च। वक्तारोऽन्यप्रयोजनेन श्रोतृप्रश्नेन तुष्यन्ति अनुमोदयन्ते। श्रोतारश्च मदद्भुतप्रीणगुणकर्मश्रवणेन रमन्ति रमन्ते।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तथाविधानां फलमाह—तेषामिति। सततं सर्वदा युक्तानां मयि निबद्धहृदयानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तं बुद्धियोगं ज्ञान-योगमहं ददामि। येन बुद्धियोगेन मामुपयान्ति प्राप्नुवन्ति।

तेषामेवानुकम्पार्थं महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

किञ्च—तेषामिति। तेषामेव प्रीतिपूर्वकं भजतामेवानुकम्पार्थमनुग्रहार्थम् आत्मभावस्थो बुद्धिवृत्तौ स्थितः सन्नज्ञानजं प्राचीनकर्मरूपाज्ञानजं तमो धर्मभूतज्ञानावरणं भास्वता प्रकाशमानेन मद्विषयज्ञानात्मकेन दीपेन नाशयामि।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

एवं भगवतो निरतिशयैश्वर्यं संक्षेपतो विभूतिं च श्रुत्वा प्रवृद्धश्रद्धया विस्तरेण ज्ञातुकामस्त्वदुक्तं

ही जिनका जीवन है। फिर अपने समान विद्वानों की मण्डली में श्रुति-स्मृति-प्रमाण तथा युक्ति से परस्पर मेरा ही बोध कराते हुए अर्थात् जीतने की इच्छा आदि न रहने के कारण मेरे स्वरूप तथा गुणों का कथन कर आपस में प्रेम करते हैं। अपने से न्यून समझने वालों में भी मेरा ही कथन करते हुए और उन पर कृपा करके मेरे ही अमानुषिक अद्भुत कार्यों को कहते हुए सन्तुष्ट तथा प्रसन्न होते हैं। दूसरा प्रयोजन न होने के कारण वक्ता (कहने वाले) सुनने वाले के प्रश्न से प्रसन्न होते हैं तथा सुनने वाले भगवान् के अद्भुत गुणों और लीलादि कार्यों का कीर्त्तन सुनकर आनन्द लाभ करते हैं ॥९॥

उपरोक्त मनुष्यों को जो फल मिलता है, सो कहते हैं। जो सदा मुझ में चित्त लगाकर मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं ऐसा ज्ञानयोग देता हूँ जिससे वे मुझे पा लेते हैं ॥१०॥

उन प्रीतिपूर्वक भजन करने वालों ही पर दया करने के लिये उनकी बुद्धि वृत्ति में स्थिर होकर प्राचीन कर्मरूप अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को, जिसने जीव के धर्मभूत ज्ञान पर पर्दा डाल रखा है, अपने विषयक ज्ञान-दानरूप चमकते हुए दीपक से नाश करता हूँ ॥११॥

इस प्रकार भगवान् के निरतिशय (सर्वश्रेष्ठ) ऐश्वर्य और विभूति को संक्षेप से सुनकर श्रद्धा बढ़ने से विस्तार रूप से जानने के लिये "आपका कहा हुआ मैं समझ गया" भगवान् को ऐसा विश्वास

सर्वं मयाऽवधारितमिति प्रत्याययितुं भगवन्तमर्जुन उवाच—परं ब्रह्मेति। परं ब्रह्म परं धाम परमं पवित्रमिति "तद्ब्रह्म परमं धाम, तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणा। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं, तद्विष्णोः परमं पदम्। पवित्राणां पवित्रं यः। पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते। पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम्" इत्यादिशास्त्रे य उच्यते स एव भवान्। यतः शाश्वतं सर्वदैकरूपं पुरुषं दिवि परमे व्योम्नि भवं विद्यमानं दिव्यम्। आदिश्चासौ देवश्च स्वयं प्रकाशस्तं देवानामादिः कारणमिति वा। तथाऽजं जन्मरहितं विभुं व्यापकं त्वामाहुरित्युत्तरेण सम्बन्धः।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

एवम्भूतं त्वामृषयः सूक्ष्मार्थदर्शिनः सर्वे भृग्वादय आहुस्तथा देवर्षिर्नारदः, असितो देवलश्च, व्यासः कृष्णद्वैपायनः, स्वयं त्वमेव च साक्षान्मे मह्यं ब्रवीषि। तथोक्तं भीष्मपर्वणि ब्रह्मस्तवे "शृणु चेदं महाराज! ब्रह्मप्रोक्तं स्तवं मम। ब्रह्मर्षीभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि। साध्यानामपि देवानामपि सर्वेश्वरः प्रभुः। लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत्। भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह। यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां, तपश्च तपसामपि। देवानामपि देवं च, त्वामाह भगवान् भृगुः। पुराणं चैव परमं, विष्णो रूपं तवेति वै। वासुदेवो वसूनां त्वं, शक्रं स्थापयिता तथा। देव! देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत्। एवं प्रजापतेः सर्गे दक्षमाहुः प्रजापतिं। स्रष्टारं सर्वदेवानामङ्गिरास्त्वां तथाऽब्रवीत्। अव्यक्तं ते शरीरस्थं, व्यक्तं ते मनसि स्थितं। देवानां सम्भवश्चेति, देवलस्त्वसितोऽब्रवीत्।

कराने के लिये अर्जुन बोले। आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं। शास्त्रों में कहा है, "तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयम् मोक्षकाङ्क्षिणा। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्। पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मंगलम्" अर्थात् वह परब्रह्म हैं, परम धाम हैं, मोक्ष चाहने वालों के वे ध्येय हैं। श्रुति वाक्यों से प्रतिपादित सूक्ष्म वह विष्णु का परम पद है। पवित्रों में पवित्र परम पवित्र गोविन्द हैं। पुण्यों के पुण्य और मंगलों के मङ्गल हैं। शास्त्रों में यह सब आप ही के लिये कहा गया है। क्योंकि आप सदा एक रूप, पुरुष, वैकुण्ठ में विद्यमान, स्वयं प्रकाश, देवों के आदि अथवा कारण, अजन्मा और व्यापक हैं ॥१२॥

उपर्युक्त प्रकार से आपका सूक्ष्मदर्शी भृगु आदि ऋषियों ने वर्णन किया है। और देवर्षि नारद असित, देवल, व्यास, और स्वयं आपने भी मुझसे कहा है। भीष्मपर्व के ब्रह्मस्तव में कहा है, "शृणु चेदं महाराज! ब्रह्मप्रोक्तं स्तवं मम। ब्रह्मर्षीभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि। साध्यानामपि देवानामपि सर्वेश्वर प्रभुः। लोकभावनभावज्ञः इति त्वां नारदोऽब्रवीत्। भूतं भव्यं भविष्यं च, मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह। यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि। देवानामपि देवं च, त्वामाह भगवान् भृगुः। पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति वै। वासुदेवो वसूनां त्वं, शक्रं स्थापयिता तथा। देव! देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत्। एवं प्रजापतेः सर्गे दक्षमाहुः प्रजापतिं। स्रष्टारं सर्वदेवानामङ्गिरास्त्वां

शिरसा ते दिवं व्याप्तं, बाहुभ्यां पृथिवी तथा । जठरं ते त्रयो लोकाः, पुरुषोऽसि सनातनः । एवं त्वामभिजानन्ति, तपसा भाविता नराः । आत्मदर्शनतृप्ताना-मृषीणां चापि सत्तम ! । राजर्षीणामुदाराणां, चाहवेष्वनिवर्त्तिनां । सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ! इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः । सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिरि" ति । तत्रैव ब्रह्मा देवर्षिसंवादे "ततो देवर्षिगन्धर्वा, विस्मयं परमं गताः । कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन । कोन्वयं भो भगवता, प्रणम्य विनयाद्विभो ! । वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम् । एव मुक्तस्तु भगवान्प्रत्युवाच पितामहः । देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान्सर्वान्मधुरया गिरा । यत्तत् परं भविष्यं च भविता यच्च यत्परम् । भूतात्मा यः प्रभुश्चैव, ब्रह्म यच्च परं पदम् । तेनास्मि कृतसम्वादः, प्रसन्नेन नरर्षभाः । जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः । मानुषं

तथाऽब्रवीत् । अव्यक्तं ते शरीरस्थं, व्यक्तं ते मनसि स्थितं । देवानां सम्भवश्चेति देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् । शिरसा ते दिवं व्याप्तं, बाहुभ्यां पृथिवी तथा ॥ जठरं ते त्रयोलोकाः, पुरुषोऽसि सनातनः । एवं त्वामभि-जानन्ति, तपसा भाविता नराः । आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चापि सत्तम ! ॥ राजर्षीणामुदाराणां चाहवेष्वनिवर्त्तिनाम् । सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ! इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः । सनत्कुमार प्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्चते हरिः ॥"

अर्थात् हे महाराज युधिष्ठिर ! ब्रह्मा ने जो मेरी स्तुति की थी और जिसे ब्रह्मर्षियों तथा देवताओं ने पृथ्वी तल पर पूर्व समय में कहा था, उसे सुनो । नारद ने आपको साध्यों और देवताओं का भी सर्वेश्वर, प्रभु और ब्रह्मा के भी भावों को जानने वाला कहा है । मार्कण्डेय ने आपको भूत, भविष्य और भव्य कहा है । भृगु ने आपको यज्ञों का यज्ञ, तपों का तप, देवताओं का भी देवता और परम प्राचीन विष्णु का रूप कहा है । द्वैपायन व्यास ने आपको वसुओं में वासुदेव, इन्द्र का स्थापक और देवताओं का देवता कहा है । अङ्गिरा ने आपको ब्रह्मा की सृष्टि में दक्ष प्रजापति और सब देवताओं का सृष्टिकर्त्ता कहा है । देवल और असित ने कहा है कि अव्यक्त आपके शरीर में और व्यक्त आपके मन में रहता है । और आप देवताओं के कारण हैं । तप से पवित्र मनुष्य आपको शिर से आकाश में और भुजाओं से पृथ्वी में व्याप्त कहते हैं और तीनों लोक आपका उदर है । आप सनातन पुरुष हैं, ऐसा मानते हैं । हे सर्वश्रेष्ठ आप ! आत्मदर्शन से तृप्त ऋषियों की और संग्राम से कभी विमुख नहीं होने वाले उदार एवं सर्व धर्म प्रधान राजर्षियों की गति हैं । इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगियों से भगवान् नित्य स्तुति किये और पूजे जाते हैं । फिर भीष्म पर्व ही में देवर्षि और ब्रह्मा के सम्वाद में कहा है—"ततो देवर्षि इत्यादि, उसका भाव यह है—

इसके अनन्तर देवर्षि और गन्धर्व परम विस्मय को प्राप्त हुए । और कौतूहलवश हो पितामह ब्रह्मा से पूछा कि हे भगवन् ये कौन हैं जिन्हें आपने प्रणाम कर विनय पूर्वक श्रेष्ठ वचनों से स्तुति की है । हम लोग यह जानना चाहते हैं । इस प्रकार पूछे जाने पर ब्रह्माजी ने देवर्षि, ब्रह्मर्षि और गन्धर्वों से मधुर वचनों में कहा कि जो परम भविष्य, होनेवाला, भूतात्मा, प्रभु, ब्रह्म, परम पद हैं, उसी

लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः। असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले। संग्रामे निहिता ये ते दैत्य दानवराक्षसाः। त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः। तेषां वधार्थं भगवान्नरेण सहितो वशी। मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले। नरनारायणौ तौ तु पुराणावृषी सत्तमौ। अजेयौ हि रणे यत्तौ समेतावमरैरपि। सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती। मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी। यस्माहमात्मजः पुत्रः सर्वस्य जगतः पतिः। वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः। न वो मनुष्योऽयमिति कदाचित्सुरसत्तमाः। अवज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः। एतत्परमकं ब्रह्म एतत्परमकं यशः। एतदक्षरमव्यक्तमेतद्वै शाश्वतं महत्। यत्तत्पुरुषसञ्ज्ञं वै गीयते न च ज्ञायते। एतत्परमकं तेजः एतत्परमकं सुखम्। एतत्परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा। तस्मात्सर्वैः सुरैः सेन्द्रैर्लोकैश्चामित-विक्रमो। नावज्ञेयो वासुदेवो मनुष्योऽयमिति प्रभुः। यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात्स मन्दधीः। हृषीकेशमवज्ञानात्तमाहुः पुरुषाधमम्" इति। हरिवंशे शिवोऽपि देवर्षीन्प्रति—"एवं जानीत हे विप्रा! ये भक्ता द्रष्टुमागताः। एतदेव परं वस्तु नैतस्मात्परमस्ति वः। एतदेव विजानीध्वमेतद्धि परमं तपः। एत-देव सदा विप्रा ध्येयं सततमानसैः। एतद्धि परमं श्रेय एतद्धि परमं धनम्। एतद्धो जन्मनः कृत्यमेतद्धि तप-सः फलम्। एष वः पुण्यनिलय एष धर्मः सनातनः। एष वो मोक्षदाता च एष मार्गः उदाहृतः। एष पुण्यप्रदः साक्षादेतद्धि कर्मणां फलम्। एतदेव प्रशंसन्ति विद्वांसो ब्रह्मवादिनः। एष त्रयीगतिर्विप्राः,

---

से मैंने बात की है, संसार की भलाई के लिए मैंने उनसे प्रार्थना की है कि आप वासुदेव होकर असुरों के संहार के लिए संसार में अवतार लीजिये। जो दैत्य,दानव और राक्षस लड़ाई में मारे गये वे बड़े बलवान और घोर होकर मनुष्य रूप में पैदाहुए हैं। उनको मारने के लिये मनुष्य भगवान् का अवतार लेकर नर के साथ पृथ्वी तल पर विचरेंगे। ये दोनों नर नारायण ऋषियों में श्रेष्ठ, रण में अजेय, अमित प्रकाश युक्त देवताओं के संग एक साथ मनुष्य लोक में अवतार लिये हैं। जो इन नर नारायण ऋषि को नहीं जानते वे मूढ़ हैं। जिनका मैं पुत्र हूँ वह वासुदेव संसार का मालिक, पूजनीय और सब लोकों के महेश्वर हैं। हे श्रेष्ठ देवता ओ! शंख चक्र गदा को धारण करने वाले महा पराक्रमी वासुदेव को 'यह मनुष्य है' ऐसी अवज्ञा नहींकरनी चाहिये। ये परम ब्रह्म हैं, ये परम यश हैं, यही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, यही महान् शाश्वत् परम पुरुष हैं। विश्वकर्मा ने इन्हें परम तेज, परम सुख, परम सत्य कहा है। इसलिये इन्द्र सहित सब देवताओं को परम पराक्रमी वासुदेव को, "यह मनुष्य है" ऐसी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। जो हृषीकेश को मनुष्य समझता है वह मूर्ख है। उसको नराधम समझना चाहिये।

हरिवंश में शिवजी ने भी देवर्षियों से कहा है—"एवं जानीत" इत्यादि, का भाव यह है—

हे ब्राह्मणों! जो भक्त देखने को आये हैं वे ध्यान रखें कि ये ही परम वस्तु हैं। इनसे बड़ा कोई नहीं है और ये ही परम तप हैं। हे ब्राह्मणो! संयत चित्त से इन्हीं का ध्यान करना चाहिये। येही परम श्रेय हैं, ये ही परम धन हैं। ये ही हम लोगों के जन्म के कृत्य हैं। ये ही तपस्या के फल हैं, ये ही पुण्य के घर हैं और ये ही सनातन धर्म हैं। ये ही मोक्षदाता हैं, ये ही मार्ग हैं, ये ही साक्षात् पुण्यदाता

प्रार्थ्या ब्रह्मविदां सदा। एतदेव प्रशंसन्ति साङ्ख्ययोगं समाश्रिताः। एष ब्रह्मविदां मार्गः कथितो वेदवादिभिः। एवमेव विजानीत नात्र कार्या विचारणा। हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वमास्थितैः। नान्या गतिर्हिदे कोऽस्ति विष्णोर्नारायणात्परः" इति। तथा "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। मत्तः परतरं नान्यत्, अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः" इत्यादिना च स्वयमेव मह्यं ब्रवीषि।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ! ॥
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

एतत्तथ्यमेवेत्याह—सर्वमिति। ऋषिभिर्यदुक्तं हे केशव ! त्वं च यन्मां प्रवदसि, एतत्सर्वमृतं सत्यमेवाहं मन्ये। न मे त्वदैश्वर्यादौ काप्यसम्भावनेत्यर्थः। अतो यदुक्तं "न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः" इत्यादि तत्तथैव। हे भगवन् ! समग्रज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसां निधे ! ते तव व्यक्तिं प्रकटनप्रकारं परिमितज्ञाना देवा न विदुः। दानवाश्च न विदुः।

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ! ॥
भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ॥१५॥

कस्तर्हि वेदेत्यपेक्षायामाह—स्वयमेवेति। हे पुरुषोत्तम स्वयमेव त्वमात्मानमात्मनाऽऽत्मासाधारणेन ज्ञानेन वेत्थ। पुरुषोत्तमत्वं विवृणोति—चतुर्भिर्विशेषणैः। हे भूतभावन ! भूतानि सर्वाणि

हैं। और ये ही हम लोगों के कर्म के फल हैं। ब्रह्मवादी विद्वान् इन्हीं की प्रशंसा करते हैं, ये ही त्रयी विद्याओं की गति हैं। ब्रह्म के जानने वालों को इन्हीं की सदा प्रार्थना करनी चाहिये। इन्हीं की सांख्य योग जानने वाले प्रशंसा करते हैं। वेदवादियों ने इन्हीं को ब्रह्म जाननेवालों का मार्ग कहा है। ऐसा ही आप लोग समझें। इसमें विचारने का कुछ काम नहीं है। आप लोगों को एक हरि का ही स्थिर चित्त हो ध्यान करना चाहिये क्योंकि नारायण से बढ़कर कोई देवता नहीं और उसको छोड़ कोई गति नहीं। और फिर आपने भी मुझसे अपने विषय में कहा है कि—अहं सर्वस्य प्रभवो इत्यादि, अर्थात् मैं सबका उत्पत्ति स्थान हूँ। मुझसे ही सब कुछ होता है। मुझसे बढ़कर कोई नहीं है। मैं देवताओं और महर्षियों का सर्वतोभावेन आदि कारण हूँ इत्यादि।

यह सब सत्य ही है, इसी को कहते हैं। हे कृष्ण ! ऋषियों ने जो कहा है और आप जो कह रहे हैं इनको मैं सत्य मानता हूँ। मुझको आपके ऐश्वर्य में कुछ भी असम्भावना नहीं जान पड़ती। इससे जो आपने कहा है कि "न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः"। अर्थात् देवता और महर्षि मेरी उत्पत्ति नहीं जानते, सो ठीक ही है। हे भगवन्, अर्थात् समग्र ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, इन छः गुणों के स्वामी ! आपकी व्यक्ति को अर्थात् प्रकट होने की रीति को परिमित ज्ञान वाले देवता नहीं जानते और न दानव ही जानते हैं ॥१४॥

यदि कहिये कि कौन जानता है तो कहते हैं कि हे पुरुष श्रेष्ठ आप अपने आपको अपने असाधारण ज्ञान से जानते हैं। अब चार विशेषणों से पुरुषोत्तम वर्णन करते हैं। आप भूत भावन हैं,

भावयत्युत्पादयतीति । तथा हे भूतेश ! सर्वेषां भूतानां नियन्तः । हे देवदेव ! देवानामादित्यादीनामपि प्रकाशक ! । हे जगत्पते ! सर्वस्य जगतः पालक । एवम्भूतं त्वां प्रार्थयामीत्यभिप्रायः ।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठति ॥१६॥

प्रार्थनां व्यनक्ति—वक्तुमिति । दिव्याः सर्वोत्कृष्टा आत्मनस्तवासाधारणा या विभूतयस्तास्त्वमेवाशेषेण वक्तुमर्हसि । ताः काः ? याभिर्विभूतिभिर्युक्तस्त्वमिमाँल्लोकान्व्याप्य तिष्ठसि ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

किमिह प्रयोजनं विभूतिकथनस्येत्यपेक्षायामाह—कथमिति । योगोऽचिन्त्यगुणशक्तत्वैश्वर्यं तदस्यास्तीति योगी तत्सम्बुद्धौ हे योगिन् ! निरतिशयैश्वर्यगुणशालिन् ! अहमत्यल्पज्ञानशक्तिः भक्त्या त्वां सदा परिचिन्तयन् चिन्तयितुं प्रवृत्तः चिन्तनीयं त्वामचिन्त्यैश्वर्यज्ञानशक्तिकं कथं विद्याम् ? साकल्येन त्वां कोऽपि चिन्तयितुं न शक्नोति । अतः केषु केषु च भावेषु च पदार्थेषु मया चिन्त्योऽसि हे भगवन् ।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ? ! ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं" "मत्तोऽहमप्सु कौन्तेय" त्यादिना सप्तमे "मया ततमिदं सर्वं मन्तोऽहमहमेवाज्यमि" त्यादिना नवमे च मयाऽऽत्मयोगी विभूतिश्चोक्त एव, किं पुनः पृच्छसीत्यत

अर्थात् आप ही सब जीवों के उत्पादक हैं। आप भूतेश हैं अर्थात् सब जीवों के नियामक आप ही हैं। आप देव देव हैं अर्थात् सूर्यादि देवों के प्रकाशक हैं। और आप जगत्पति हैं अर्थात् संसार के पालक हैं। ऐसे आपको मैं प्रार्थना करता हूँ ॥१५॥

हे भगवन् आप ही अपनी सर्वोत्कृष्ट और असाधारण विभूतियों को पूर्णरूप से कहें जिनसे युक्त हो आप इन लोकों में व्याप्त होकर वर्तमान हैं।

यदि कहिये कि विभूतियों के कहने का क्या प्रयोजन है ? तो इस प्रश्न की अपेक्षामें कहते हैं—हे योगिन्, अर्थात् गुण, शक्ति, ऐश्वर्य वाले ! अति तुच्छ ज्ञान वाला मैं भक्ति से आपका चिन्तन करता हुआ अचिन्त्य ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति वाले आपको किस प्रकार जान सकता हूँ; क्योंकि कोई भी आपका चिन्तन पूर्ण रूप से नहीं कर सकता ? इससे हे भगवन् ! किस-किस भाव और किस-किस पदार्थ में मैं आपकी चिन्ता करूँ ? ॥१७॥

सातवें अध्याय में "अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" "रसोऽहमप्सु कौन्तेय" आदि से और नवें अध्याय में "मयाततमिदं सर्वं" "मन्त्रोऽहममेवाज्यम्" आदि से मैंने अपनी विभूतियों और

आह—विस्तरेणेति। यद्यपि पूर्वं त्वयोक्तं तथाऽपि संक्षेपेणैव। इदानीमात्मनो योगं विभूतिं च विस्तरेण भूयः पुनः कथय। सर्वैः स्वंस्वं श्रेयस्त्वमर्द्यसे हे जनार्दन! हि यस्मान्माहात्म्यवाचकं त्वद्वचनामृतं शृण्वतो मे तृप्तिरमृतं पिवत इवालम्बुद्धिर्नास्ति।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

एवं प्रार्थितः श्रीभगवानुवाच—हन्तेति सम्बोधनेनानुकम्पां द्योतयति। हे कुरुश्रेष्ठ! दिव्याः सर्वोत्कृष्टा या आत्मनो मम विभूतयस्ताः प्राधान्यतः ते तुभ्यं कथयिस्यामि। हि यतो मम विभूतीनां विस्तरस्यान्तो नास्ति।

अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

विभूतिं वक्तुं तावद्विभूतिमदात्मस्वरूपं निर्दिशति—अहमिति। हे गुडाकेश! गुडाका निद्रा तस्या जयेनेश जितनिद्रेत्यर्थः। सर्वेषां भूतानां प्राणिनामाशये हृदयेऽन्तर्यामिरूपेण स्थितः आत्माऽहं भूतानामादिरुत्पत्तिश्च मध्यं स्थितिश्च अन्तश्च नाशः, सर्वभूतानामुत्पत्तिस्थितिनाशहेतुरहमेवेत्यर्थः।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

इदानीं विभूतीर्दर्शयति—आदित्यानामित्यारभ्य यावदध्यायसमाप्तिः। आदित्यानां द्वादशानां

योग को कहा है। फिर क्यों पूछते हो? इस पर कहते हैं। पूर्व में आपने अपनी विभूति और योग को संक्षेप से कहा है अब फिर से उनको विस्तार पूर्वक कहिये। क्योंकि हे जनार्दन! सब कोई आपको अपने कल्याण के लिये याचता है। आपके माहात्म्य वाचक अमृत वचनों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती जैसे अमृत पीने से मनुष्यों को अलं बुद्धि वा सन्तोष नहीं होता ॥१८॥

ऐसी प्रार्थना किये जाने पर भगवान् कहते हैं कि, हे अर्जुन! मैं प्रधान २ अपनी दिव्य सर्वश्रेष्ठ विभूतियों को कहूँगा क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है। "हन्त" कहने से अर्जुन के ऊपर अनुकम्पा दिखाते हैं ॥१९॥

विभूति कहने के पहले विभूतिमान् आत्मरूप (अपने रूप) का निर्देश करते हैं। हे गुडाकेश! अर्थात् निद्रा को जीतने वाले अर्जुन! सब जीवों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से वर्त्तमान आत्मा मैं ही हूँ। तथा सब जीवों की आदि अर्थात् उत्पत्ति स्थान, मध्य अर्थात् स्थिति, अन्त अर्थात् नाश मैं ही हूँ। भाव यह है कि जीवों की सृष्टि, स्थिति और नाश का कारण मैं ही हूँ ॥२०॥

इस श्लोक से आरम्भ कर अध्याय की समाप्ति तक अपनी विभूतियाँ दिखलाते हैं। बारह

मध्ये विष्णुनामाऽऽदित्योऽहं, ज्योतिषां जगति प्रकाशानां मध्ये अंशुमान् जगव्यापिरश्मयुक्तो रविः सूर्योऽहं, मरुतां वायूनां मध्ये मरीचिनामाहमस्मि। नक्षत्राणामधिपः शशी चन्द्रमा अहं, महिभूतिः।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदानामिति। चतुर्णां वेदानां मध्ये गानमाधुर्येणोत्कृष्टः सामवेदोऽहमस्मि। देवानां वासव इन्द्र उत्कृष्टो सोऽहमस्मि। इन्द्रियाणामेकादशानां मध्ये प्रधानं मनोऽहमस्मि। भूतानां चेतनावतां या चेतना साऽहमेव।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्राणामिति। एकादशरुद्राणां मध्ये शङ्करोऽहमस्मि। यक्षरक्षसां पतिर्यो वित्तेशः कुबेरः सोऽहं, वसूनामष्टानां मध्ये पावकोऽग्निश्चास्मि। शिखरिणां शिखरवतामत्युच्छ्रितो मेरुरहम्।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ! बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

पुरोधसामिति। पुरोधसां पुरोहितानां मध्ये य उत्कृष्टो बृहस्पतिस्तं मां विद्धि। सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये स्कन्दोऽहमस्मि। सरसां स्थिरजलाशयानां मध्ये सागरोऽहमस्मि।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः। २५।

महर्षीणामिति। उत्कृष्टर्षीणां मध्येऽतितेजस्वी भृगुरहं, गिरां वाचामेकप्रणवाख्यमक्षरमहमस्मि। यज्ञानामुत्कृष्टो जपयज्ञोऽस्मि। स्थावराणां स्थितिमतां हिमालयोऽहमस्मि।

आदित्यों में विष्णु नामक आदित्य मैं ही हूं। ज्योतिर्जगत् में प्रकाशवान् पदार्थों के बीच अंशुमान् अर्थात् जगत भर में किरण फैलाने वाला सूर्य मैं ही हूं। वायुओं में मरीचि नामक वायु मैं ही हूं और नक्षत्रों में मैं ही उनका स्वामी चन्द्रमा हूं ॥२१॥

चारों वेदों में गान की मधुरता से उत्तम सामवेद मैं हूं। देवों में जो श्रेष्ठ इन्द्र हैं सो मैं हूं। एकादश इन्द्रियों में मन मैं हूं। और जीवों में चेतना शक्ति है वह मैं ही हूं ॥२२॥

एकादश रुद्रों में शङ्कर मैं हूं। यक्ष और राक्षसों का स्वामी धनाधिप कुबेर मैं हूं। आठ वसुओं में अग्नि मैं हूं। और पर्वतों में सबसे ऊंचा मेरु मैं हूं ॥२३॥

हे अर्जुन! पुरोहितों में श्रेष्ठ जो बृहस्पति हैं, वह मैं हूं। सेनापतियों में मैं स्कन्द हूं। और स्थिर जलाशयों में मैं समुद्र हूं ॥२४॥

उत्कृष्ट महर्षियों में अति तेजस्वी भृगु मैं हूं। वचनों में एक प्रणव 'ओं' नाम का अक्षर मैं हूं। यज्ञों में उत्कृष्ट जप यज्ञ मैं हूं। स्थावरों अर्थात् अचलों में हिमालय मैं हूं ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

अश्वत्थ इति । सर्ववृक्षाणां मध्ये पूज्योऽश्वत्थोऽहम् । देवर्षीणां मध्ये परमवैष्णवो नारदोऽहमस्मि । गन्धर्वाणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथोऽहं, सिद्धानां जन्मनैवाधिगतज्ञानवैराग्यैश्वर्यादिसर्वपुरुषार्थानां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

उच्चैःश्रवसमिति । अश्वानां मध्ये उच्चैश्रवसममृतमथनोद्भूतमश्वं मां विद्धि । गजेन्द्राणां मध्ये ऐरावतममृतमथनोद्भूतं मां विद्धि । नराणां च मध्ये नराधिपं राजानं मां विद्धि ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं दधीच्यस्थिभिर्निर्मितमस्त्रमहम् । धेनूनां हविर्दोग्ध्रीणां च मध्ये कामान्दोग्धीति कामधुक् क्षीरसमुद्रमथनोद्भूवा धेनुरहमस्मि । प्रजनः प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पः कामोऽहमस्मि नतु केवल--भोगहेतुः । सर्पाणामेकशिरसां मध्ये तेषां राजा वासुकिरहमस्मि ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणां अर्यमाचास्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ॥२९॥

नागास्तेभ्यो भिन्नजातीया अनेकशिरसस्तेषां मध्येऽनन्तः शेषो वैराग्यसत्त्वादिगुणविशिष्टोऽहमस्मि । यादसां जलजन्तूनामधिपो वरुणोऽहं, पितॄणां मध्येऽर्यमा नामाहमस्मि । संयमतां नियमनं कुर्वतां मध्ये धर्माधर्मयोः फल दानेनानुग्रह निग्रह कर्ता यमो वैवस्वतोऽहमस्मि ।

सब वृक्षों में पूजनीय पीपल का वृक्ष मैं हूं । देवर्षियों में परम वैष्णव नारद मैं हूं । गन्धर्वों अर्थात् देवगायकों में चित्ररथ मैं हूं । और जन्म से ही ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि सब पुरुषार्थ वाले सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं ॥२६॥

घोड़ों में अमृत मथन के समय समुद्र से उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा और गजेन्द्रों में ऐरावत तथा मनुष्यों में मुझे राजा जानो ॥२७॥

अस्त्रों में दधीचि मुनि की अस्थि से बना हुआ वज्र मैं हूं । दूध देने वाली गायों में क्षीरसागर के मथन से उत्पन्न कामधेनु मैं हूं । भोगार्थ ही का कारण नहीं, प्रजा की उत्पत्ति का कारण भी कामदेव मैं हूं । और एक शिर वाले सांपों में राजा वासुकि मैं हूं ॥२८॥

बहुत सिर वाले सांपों में वैराग्य, सत्वगुणविशिष्ट अनन्त नामक शेषनाग मैं हूं । जल जन्तुओं का स्वामी वरुण मैं हूं । पित्रों में अर्यमा मैं हूं । और नियमन करने वालों में धर्म तथा अधर्म के फल देकर अनुग्रह और निग्रह करने वाला वैवस्वत नामक यम मैं हूं ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्यानां दितिसम्भवानां मध्ये प्रकर्षेणाल्हादयति सुखयति साधूनिति प्रह्लादश्चास्मि । कलयतां गणनां कुर्वन्तां मध्ये कालः सर्वकार्यपरिणामहेतुः कलामुहूर्तादिमयो यः सोऽहं, मृगेन्द्रःसिंहो वैनतेयो गरुडः ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवतां पावयितृणां वेगवतां वा पवनो वायुरहं, शस्त्रधारिणां मध्ये रामो दाशरथिः परम वीरोऽहमेव साक्षान्नतु मे विभूतिः, स्वरूपभेदाभावात् । किन्तु शस्त्रभृच्छ्रेष्ठराघवकुले रामरूपो रावण-हन्ता कोदण्डधार्यहमेव चिन्तनीय इति भावः । रामः परशुरामो वाः । झषाणां मध्ये मकरो मत्स्य-विशेषोऽहं, स्रोतसां प्रवाहरूपजलानां नदीनां मध्ये सर्वश्रेष्ठा जाह्नवी जह्नुकन्या गङ्गाऽहमस्मि ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्गाणां सृज्यानामाकाशाद्यचेतनानामादिरन्तश्च मध्यं च उत्पत्तिस्थितिलया अहमेव । हे अर्जुन ! विद्यानां श्रेयः साधनभूतानां मध्ये अध्यात्मविद्या आत्मानौ तत्त्वम्पदार्थावधिकृत्य या विद्या तत्स्वरूप-गुणसम्बन्धवेदनात्मिकाऽध्यात्मविद्या परमनिश्रेयोरूपमोक्षसाधनभूतत्वादतिश्रेष्ठाऽहं, प्रवदतां प्रकर्षेण वदतां वादिनां सम्बन्धिन्यो या वादजल्पवितण्डात्मिकास्तिस्रः कथास्तासां मध्ये वादोऽहं, तत्र वीतराग-

---

दिति से उत्पन्न दैत्यों में साधुओं को सुख देने वाला प्रह्लाद मैं हूं। गणना करने वालों में कला मुहूर्तादि युक्त और सब कार्यों के परिवर्त्तन का कारण जो काल है वह मैं हूं। चौपायों में मैं सिंह हूं और पक्षियों में मैं गरुड़ हूं ॥३०॥

पवित्र करने वालों और वेग वालों में मैं पवन हूं। शस्त्र धारियों में दशरथ का पुत्र परम वीर साक्षात् रूप से, विभूति रूप से नहीं, राम मैं हूं। श्रीराम में और मुझमें कोई स्वरूप भेद नहीं है। अर्थात् सस्त्र धारियों में श्रेष्ठ राघवकुल में उत्पन्न रावण को मारने वाले धनुर्धारी राम रूप से मेरा चिन्तन करना चाहिये। राम से मेरे परशुराम रूप का भी बोध होता है। मछलियों में मकर नामक मछली मैं हूं। और प्रवाहशील नदियों में सर्वश्रेष्ठ जन्हुकन्या अर्थात् गङ्गा मैं हूं ॥३१॥

हे अर्जुन ! सृष्टि के अर्थात् आकाश आदि अचेतनों के उत्पादक, पालक और संहारक होने से इनका आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। कल्याण साधक विद्याओं में मैं अध्यात्म (वेदान्त) विद्या हूँ। 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ का विवेक देने वाली अर्थात् उन दोनों के स्वरूप, गुण और सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाली विद्या को अध्यात्म विद्या कहते हैं। यह परम कल्याणरूप मोक्ष का साधनभूत होने

द्वेषयोस्तत्त्वबुभुत्सोः सतीर्थ्ययोर्गुरुशिष्ययोर्वा तत्त्वनिर्णयार्थं युक्तिप्रमाणाभ्यां स्थापनदूषणाभ्यां च स्वपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहरूपा कथा वादः। तत्त्वसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे। बीजरोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्। यत्र द्वयोर्जिगीष्वोस्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वपक्षस्थापनपूर्विका छलजातिनिग्रहैः परपक्षनिरास-फला कथा जल्पः। यत्र तु छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षो दूष्यते एव, नतु स्वपक्षः स्थाप्यते सा कथा वितण्डा। तत्राभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम्, असदुत्तरं जातिः। सा च साधर्म्यवैधर्म्यादिभेदाद्बहुधा। अपजयहेतु-निग्रहस्थानं, तदपि प्रतिज्ञाहान्यप्रतिज्ञान्तरादिभेदादनेकविधम्।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं सर्वतोमुखः ॥३३॥

अक्षराणां वर्णानां मध्ये सर्ववाङ्मयत्वाच्छ्रेष्ठोऽकारोऽहमस्मि। "अकारो वै सर्वा वाक्" इति श्रुतेः। द्वन्द्वः सामासिकस्य च समासानां समूहः सामासिकस्तस्य मध्ये द्वन्द्वः समासोऽहं, स चोभयपदार्थप्रधानत्वाच्छ्रेष्ठः। अक्षयः सर्वसंहारकः कालोऽहमेव। "कालः कलयतामहम्" इत्यत्र तु क्षणादिरूपः क्षयीकाल उक्तः, इह तु तस्यापि प्रवर्त्तकः कालकाल इति। "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्य" इति श्रुतौ प्रसिद्धः। महाभारते चोद्योगपर्वणि "कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः। आत्मयोगेन

से सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। यह अध्यात्म विद्या मैं हूँ। वादियों अर्थात् शास्त्रार्थ करने वालों के वाद सम्बन्धी वाद, जल्प, और वितण्डा नामक तीन बहस करने की रीतियों में से मैं वाद हूँ। रागद्वेष छोड़कर तत्त्व को जानने की इच्छा से सहपाठियों में वा गुरु शिष्य में तत्त्व निर्णय के लिये युक्ति और प्रमाण द्वारा खण्डन-मण्डन करके जो परपक्ष वा स्वपक्ष ग्रहण करने की रीति है उसको वाद कहते हैं। जल्प और वितण्डा केवल स्वपक्ष को बचाने की रीतियाँ हैं, जैसे बोये हुए बीजों को बचाने के लिये खेत में काँटों का घेरा लगा दिया जाता है। जल्प उसे कहते हैं जो जीतने की इच्छा से विवाद करने वाले अपने २ पक्ष को तर्क और प्रमाण द्वारा स्थापन करते हुए छल, जाति तथा निग्रह से केवल प्रतिपक्षी के पक्ष खण्डन में कथन करते हैं। जहाँ छल, जाति और निग्रह से केवल प्रतिपक्षी का खण्डन करते हैं और अपना पक्ष नहीं स्थापन करते उसे वितण्डा कहते हैं। प्रतिपक्षी द्वारा अन्य अर्थ में व्यवहार किये गये शब्दों का दूसरा अर्थ लगाना छल कहलाता है। असत् अर्थात् ठीक २ उत्तर न देने को जाति कहते हैं। यह साधर्म्य वैधर्म्य आदि भेदों से बहुत प्रकार का होता है। अपजय के कारण को निग्रह स्थान कहते हैं। उसके भी प्रतीज्ञा, हानि, प्रतिज्ञान्तर आदि अनेक भेद हैं ॥३२॥

अक्षरों में सब वर्णों में प्रयुक्त होने के कारण श्रेष्ठ अकार मैं हूं। श्रुति में लिखा है, "अकारो वै सर्वा वाक्" अर्थात् अकार ही सब वाक् है समासों में द्वन्द्व समास मैं हूँ। इस समास में दोनों पदार्थ प्रधान रहते हैं। इससे यह समासों में श्रेष्ठ है। सबका संहार करने वाला अक्षय काल मैं हूँ। ऊपर कहे हुए "कालः कलयतामहं" में क्षण, घण्टा आदि क्षय होने वाला काल कहा गया है। यहाँ पर

भगवान् परिवर्त्तयतेऽनिशम् कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च। ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते"। धाता विश्वतो मुखः प्राणिमात्रभर्त्ताऽहम्।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

संहारकारिणां मध्ये सर्वहरः सर्वसंहारकारी मृत्युरहं, भविष्यतामुत्पत्स्यमानानामुद्भव उद्भावनमुत्पादनमहमित्यर्थः। नारीणां मध्ये कीर्तिश्च श्रीश्च वाक्चाहं, स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेति सप्तधर्मपत्न्योऽहमेव, यासां लेशयोगेनापि नरः सर्वलोकप्रशस्यो भवति। ताः कीर्त्याद्याः सप्तस्त्रियो मम विभूतिरित्यर्थः।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

बृहत्सामेति। पूर्वं वेदेषु साम्नो वैशिष्ट्यमुक्तं साम्नामपि विशेषो "यं त्वामिन्द्र हवामहे" इत्यस्यामृचि गानविशेषभूतं बृहत्साम तच्च सर्वप्राणिनामीश्वरत्वेनेन्द्रस्तोत्रत्वाद्यन्तः श्रेष्ठं मद्विभूतिरित्यर्थः। छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोविशिष्टानां मन्त्राणां मध्ये द्विजत्वापादकत्वेन प्रातरादिसवनत्रयवाचित्वेन च सोमाहरणेन च सर्वऋचां श्रेष्ठा गायत्री ऋगहमित्यर्थः। मासानां द्वादशानां मध्ये

उसके प्रवर्त्तक साक्षात् कालों के काल का बोध होता है। श्रुति में कहा है "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।" महाभारत के उद्योग पर्व में भी लिखा हुआ है—कालचक्रं जगच्चक्रं इत्यादि।

अर्थात् कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्र को भगवान् अपनी शक्ति से सदा परिवर्तन करते रहते हैं। काल, मृत्यु, जङ्गम तथा स्थावर के भगवान् ही एक मालिक हैं। यह मैं तुझसे सत्य कहता हूँ। प्राणीमात्र का भर्त्ता विश्व मुखवाला मैं ही हूँ ॥३३॥

संहारकों में सर्व संहार करने वाली मृत्यु मैं हूँ। होनेवालों का उत्पादक मैं हूँ। स्त्रियों में कीर्त्ति, श्री, वाक्, मेधा, स्मृति, धृति, क्षमा ये धर्म की सात पत्नियां, जिनके लेशमात्र रहने से सर्वत्र मनुष्यों की प्रशंसा होती है मैं हूँ। अर्थात् ये कीर्त्ति आदि सात स्त्रियां मेरी विभूति हैं ॥३४॥

पहले वेदों में सामवेद की विशेषता कह चुके हैं। अब कहते हैं कि सामवेद में भी, "यं त्वामिन्द्रं हवामहे" इस ऋचा में जो गान विशेष है वह बृहत्साम है। वह सब प्राणियों के ईश्वरता युक्त इन्द्र की स्तुति होने से श्रेष्ठ है। इस ऋचा को मेरी ही विभूति जानो। अर्थात् बृहत्साम मैं ही हूँ। नियत अक्षर एवं मात्रावाले विशिष्ट छन्दों अर्थात् मन्त्रों में द्विजत्व की प्राप्ति कराने वाली होने से प्रातः आदि त्रिसन्ध्या वाचक और सोम के हरण में प्रयुक्त होने से सब ऋचाओं में श्रेष्ठ गायत्री ऋचा मैं हूँ। बारह महीनों के बीच अगहन मैं हूँ। छः ऋतुओं में बसन्त प्रधान है, "बसन्ते ब्राह्मण मुपनयीत"। "बसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत", अर्थात् वसंत में ब्राह्मण का उपनयन करे, वसन्त में ब्राह्मण

मार्गशीर्षः । "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनादधीते" त्यादिशास्त्रेण ब्राह्मणधर्मसम्बन्धित-याऽभिधीयमानत्वाच्छ्रेष्ठोऽहम् ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छलयतां छलं परवञ्चनं कुर्वता सम्बन्धिद्यूतमक्षदेवनादिलक्षणमहं, तेजस्विनां प्रतापिनां सम्बन्धितेजः पराभिभवसामर्थ्यमहं, जेतॄणां जयोऽस्मि । व्यवसायिनामुद्यमवतां व्यवसाय उद्यमोऽस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां ज्ञानवैराग्यादिलक्षणं सत्कार्यरूपं सत्त्वमहमस्मि ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णीनां प्रवरो वासुदेवो वसुदेवसूनुर्यो लोके प्रसिद्धः सोऽहं साक्षात्त्वदुपदेष्टा परमात्मैव, नतु विभूतिरर्थान्तराभावाद् । किन्तूत्तरवक्ष्यमाणविभूतीशोऽहमित्यर्थः । विभूतिमध्ये पाठस्तु विभूतिमानहमनेनैव रूपेण चिन्तनीय इत्येतदर्थः । पाण्डवानां धनञ्जयस्त्वमेव मद्विभूतिः । मुनीनां मननेनात्मयाथात्म्यदर्शिनां मध्ये वेदव्यासोऽहमस्मि । कवयः क्रान्तदर्शिनस्तेषां मध्ये उशनाः कविः शुक्रः ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

दमयतां उत्पथवर्त्तिनो जनान् पथि प्रवर्त्तनार्थं दण्डं कुर्वतां निग्रहहेतुर्दण्डोऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां जयोपायो नीतिरहमस्मि । गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनं वाचो यमोऽहमस्मि । ज्ञानवतां तत्त्वज्ञानिनां यज्ज्ञानं तदहम् ।

अग्नि स्थापन करे, इत्यादि शास्त्र प्रमाणों से वैदिक कर्मों में प्रधान होने के कारण वसन्त ऋतु श्रेष्ठ है, वह मैं हूँ ॥३५॥

दूसरों को ठगने वालों में मैं जूआ अर्थात् पासे की क्रीड़ा आदि हूँ । प्रतापी जनों में प्रताप स्वरूप अर्थात् शत्रुओं के अपमान करने की सामर्थ्य मैं हूँ । जीतने वालों में जय स्वरूप मैं हूँ । उद्यम शीलों में व्यवसाय मैं हूँ । और सात्त्विकों में ज्ञान वैराग्य लक्षणात्मक सत्कार्य रूप सत्त्व मैं हूँ ॥३६॥

यदुवंशियों में श्रेष्ठ, वासुदेव का पुत्र लोक प्रसिद्ध वासुदेव, साक्षात् तुमको उपदेश देने वाला परमात्मा मैं ही हूँ । मैं विभूति नहीं क्यों कि अर्थान्तर का अभाव है, अर्थात् विभूतिपति वासुदेव ही मैं हूँ । मैं सब कही हुई और कही जाने वाली विभूतियों का ईश हूँ । विभूतियों के बीच मैंने अपनी गणना इसलिये की कि विभूति वाला मैं इस वासुदेव रूप से चिन्तनीय हूँ । पाण्डु पुत्रों में अर्जुन रूप तुम मेरी विभूति हो । मनन द्वारा आत्म तत्त्व को जानने वाले मुनियों में व्यास मैं हूँ । और सूक्ष्मदर्शी कवियों में मैं शुक्र हूँ ॥३७॥

कुत्सित (उल्टे) मार्ग में जाने वालों को ठीक राह पर चलाने के लिये दण्ड मैं हूँ । जय

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

यदपि च सर्वभूतानां सर्वावस्थाऽवस्थितानां चराचरप्राणिनां बीजं प्ररोहकारणं तदहं, हे अर्जुन ! तत्र हेतुः आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं व्यापकेन मया विना यत्स्याच्चराचरमचरं वा वस्तु नास्त्येव, सर्वस्य मदविनाभावात् । सर्वकारणव्यापकत्वात् सर्वं कार्यमेव । कारणकारणोऽहमित्यर्थः "सकारणं कारणाधिपाधिप" इति श्रुतेः ।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ! ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

विभूति सङ्क्षिप्तदियत्तां विनिषेधति—नान्त इति । हे परन्तप ! मम दिव्यानां विभूतीनामन्त इयत्ता नास्ति । अतस्ताः साकल्येन न केनापि विदुषा ज्ञातुं वक्तुं वा शक्याः, एष तु विभूतेर्विस्तरस्तुभ्यमुद्देशत एकदेशेन मया प्रोक्तः ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

एवमपि सर्वासां विभूतीनां कश्चिदन्योऽप्युद्देशो मदनुग्रहाय भवता कर्तव्य इति चेत्तत्राह—यद्यदिति । विभूतीमत् ऐश्वर्ययुक्तं श्रीमत् श्रीः सम्पत् कान्तिर्वा तयायुक्तम्, ऊर्जितं ज्ञानबलशक्त्याद्यतिशययुक्तं, यद्यत्सत्त्वं वस्तुमात्रं तत्तदेव मम तेजसः प्रभावस्यांशेन सम्भवं सम्पन्नमवगच्छ जानीहि ।

पाने की इच्छा वालों के जय का उपाय स्वरूप नीति मैं हूँ । गोपनीय विषयों के गोपन का कारण मौन मैं हूँ । तत्त्व ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह मैं हूँ ॥३८॥

हे अर्जुन ! सब अवस्थाओं में स्थित चराचर जीवों का जीव अर्थात् उत्पत्ति का कारण जो है वह मैं हूं । इसका कारण यह है कि ब्रह्माण्ड भर में व्यापक होने से चर वा अचर कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसमें मैं न हूं । सब कारणों में व्यापक होने से मैं ही कारणों का कारण हूँ । श्रुति में भी कहा है, "स कारणं कारणधिपाधिपः" अर्थात् वह कारणाधिप का भी अधिप (स्वामी) कारण है ॥३९॥

अब विभूतियों को संक्षिप्त करते हुए उसकी इयत्ता (इतनी ही है) का निषेध करते हैं । हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है । इसलिए कोई भी विद्वान इनको पूर्ण रूप से जानने वा कहने में समर्थ नहीं है । यह तो विभूतियों का विस्तार मैंने एक उद्देश (नाम मात्र करके) संक्षेप से तुमसे कहा है ॥४०॥

ऐसे ही सब विभूतियों का कोई और भी अंश हो तो आप मुझ पर कृपा कर कहें । इस आशंका पर नहीं कही हुई विभूतियों का उपलक्षण करके भगवान् कहते हैं । ऐश्वर्य युक्त, श्री अर्थात् सम्पत्ति वा कांति युक्त तथा संसार में अत्यधिक ज्ञान, बल, शक्ति सम्पन्न जो २ वस्तु हैं उनको तुम मेरे ही अंश से उत्पन्न वा सम्पन्न समझो ॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ! ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

एवं संक्षिप्य विभूतिमुक्त्वा पुनः प्रकारान्तरेण संक्षिप्य वदन्नध्यायमुपसंहरति-अथवेति । अथ वा पक्षान्तरे । हे अर्जुन ! बहुनैतेन पृथक्-पृथक् ज्ञातेन तव किं कार्यं स्यात् । सर्वस्य निष्कर्षार्थि-मुच्यमानं शृणु-विष्टभ्येति । इदं कृत्स्नं निखिलं जगदेकांशेन एकदेशस्याप्यत्यल्पांशेन अयुतायुतांशेने-त्यर्थः । विष्टभ्य धृत्वा स्थितोऽहम् । तथोक्तं वैष्णवे पराशरेण "यस्यायुतायुतां-शांशे विश्वशक्तिरियं स्थिते" ति । तस्मात्सर्वं (स्य) चेतनाचेतनस्य जगतो मदायत्तस्थितिप्रवृत्तितया मद्व्यतिरेकाभावान्म-द्रूपमेव सर्वमनुसन्धत्स्वेति भावः ।

विभूतिज्ञानतो यस्य नृणां भक्तिर्भवेदिति ।
विभूतिः कृपया प्रोक्ता तं श्रीमाधवमाश्रये ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्गुरुणि श्रीकेशव-
काश्मीरि भट्टाचार्य विरचितायां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

इस प्रकार विभूतियों को संक्षेप में कह दूसरे प्रकार से फिर भी विभूति को कहते हुए अध्याय समाप्त करते हैं। हे अर्जुन ! अथवा इन सब विभूतियों को अलग २ जानने से तुम्हें क्या मतलब ? सबका सारांश यह समझ रखो कि मैं ही इस निखिल संसार को अपने बहुत अल्प (दश करोड़वें) अंश से धारण किये हुआ हूँ। जैसा कि विष्णु पुराण में पराशर का कहा हुआ है, "यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता ।" अर्थात् जिसके दश हजार के दश हजारवें अंश में सारे विश्व की शक्ति ठहरी हुई है। इसलिये सब चेतनाचेतनमय जगत् की स्थिति और प्रवृत्ति मेरे अधीन होने के कारण मुझसे रहित कुछ भी नहीं है। अर्थात् सबको मेरा ही स्वरूप समझो ॥४२॥

जिसकी विभूति के ज्ञान से मनुष्यों को उस विभूति पति भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति हो, इसलिये जिसने कृपाकर अपनी विभूति कही उस श्री माधव की शरण में मैं हूँ ॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

एकादशोऽध्यायः

★

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

तदेवं भक्त्युत्पत्तये तद्वृद्धये च भगवता स्वविभूतिरुक्ता, तदन्ते "च विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि" ति विश्वव्यापकं पारमेश्वरं रूपं निर्दिष्टं तद्दिदृक्षुः पूर्वोक्तमभिनन्दन्नर्जुन उवाच— मदनुग्रहायेति चतुर्भिः। देहात्माभिमानरूप मोहेन मोहितस्य ममानुग्रहैकप्रयोजनाय मां शोकसागरादुद्धर्तुं परमं गुह्यं परमरहस्य मध्यात्मसंज्ञितमध्यात्मशब्दवाच्यं देहादिभ्य आत्मविवेकविषयं त्वयो वाक्यं "न त्वेवाहं जातु नासमि" त्यारभ्य "तस्माद्योगी भवार्जुने" त्येतदन्तं यत्त्वयोक्तं तेन ममायं मोहोऽहमेषां हन्ता मय्येते हन्यन्ते इत्यादिलक्षणो भ्रमो विगतो विनष्टः। आत्मनः कर्तृत्वाभाव निश्चयात्।

इस प्रकार पूर्व अध्याय में भक्ति की उत्पत्ति और वृद्धि के लिए भगवान् ने अपनी विभूति कही, और अध्याय के अन्त में" विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्" इस वाक्य से भगवान् ने अपना विश्व-व्यापक परमेश्वर रूप बताया है। उसी रूप को देखने की इच्छा से अर्जुन उस रूप को अभिनन्दन करते हुए बोले। देहात्माभिमान से मोहित हुए मुझ पर कृपा कर, शोक सागर के पार पाने को जो आपने परम गोपनीय अध्यात्म नामक देह से आत्मा के पृथक् होने के विवेक विषयक वचनों को "नत्वे वाहं जातु नासम्" से आरम्भ कर और "तस्मात् योगी भवार्जुन" तक कहा उनसे मेरा यह मोह कि मैं इन लोगों को मारने वाला हूं, मुझसे ये सारे मारे जायेंगे। इत्यादि नष्ट हो गया क्योंकि आत्मा* स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है यह बात निश्चित हो गई ॥१॥

---

* संसारी अवस्था में जीवात्मा का कर्त्तापना कारणों के अधीन और गुणों के संसर्ग से है। उसका स्वाभाविक स्वरूपभूत कर्त्तृत्व का आविर्भाव मुक्त दशा में होता है। किन्तु बद्ध और मुक्त दोनों अवस्था में जीवात्मा का कर्त्तृत्व भगवान् के अधीन है। इसी आशय से यहाँ आत्मा अकर्त्ता अर्थात् स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं है यह कहा है। क्योंकि पराधीन कर्त्ता अकर्त्ता के समान है और "मैं मरूँगा, ये मरेंगे" यहां बद्धावस्था के कारणाधीन कर्त्तृत्व है, स्वरूप से नहीं, इससे भी आत्मा को अकर्त्ता कहा, ऐसा समझना।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

किञ्च—भवाप्ययाविति। भूतानां भवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ मत्त एव भवत इति त्वत्त एव विस्तरशो मया श्रुतौ। "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे" त्यादिना। कमलपत्रे इव विशाले सुप्रसन्ने अक्षिणी यस्य तत्र हे कमलपत्राक्ष! उपलक्षणं चैतन्माधुर्यसौकुमार्यादिविग्रहगुणानां, तथा च निरतिशयसौन्दर्यसौकुमार्यमाधुर्य्यलावण्यादि गुणनिधे! इत्यर्थः। न केवलं त्वत्तो भूतानां भवाप्ययावेव श्रुतौ अपि तु सर्वेश्वरस्य तव माहात्म्यमपि अव्ययमक्षयं श्रुतं, सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽप्यकर्तृत्वं सर्वनियन्तृत्वेऽप्युदासीन्यं, सर्वव्यापित्वेऽपि तद्दोषाऽस्पृष्टत्वं शुभाशुभकर्मप्रेरयितृत्वेऽप्यवैषम्यं, तत्तत्फलदातृत्वेऽप्यनैर्घृण्यं, बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽपि समत्वं, प्रकृतिकालकर्मादिनियन्तृत्वं, सर्वोपास्यत्वं, सर्वानतिक्रमणीयत्वं, स्वभक्तदोषक्षपणस्वभावत्वमित्यादापरिमितमहत्त्वं च श्रुतमित्यर्थः।

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर!।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम! ॥३॥

किञ्चैवमिति। हे परमेश्वर! यथा येन प्रकारेण निरतिशयैश्वर्याश्रयमात्मानं त्वमात्थ ब्रवीषि—एवमेवैतत्। त्वद्वचसि मेऽविश्वासो नास्तीत्यर्थः। तथाऽपि हे पुरुषोत्तम! तवैश्वरं शक्तिबलवीर्यतेजोभिः सम्पन्नमद्भुतं रूपं द्रष्टुमिच्छामि।

और भी, सब जीवों की उत्पत्ति और प्रलय आप से ही होता है यह विस्तार पूर्वक आप से ही "अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" आदि वचनों द्वारा मैंने सुना है। हे कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाले! (कमल नेत्र सम्बोधन भगवान् के माधुर्य्य, सुकुमारता, निरतिशय सुन्दरता, लावण्य आदि विग्रहों गुणों का उपलक्षण मात्र है) अर्थात् हे सौन्दर्यादि गुणनिधे! आप से केवल यही नहीं सुना कि आप से ही सब जीवों की उत्पत्ति और प्रलय होता है। बल्कि आप सर्वेश्वर के अक्षय माहात्म्य को भी सुना। आपका सृष्टिकर्त्ता होने पर भी स्वयं अकर्त्ता होना, सर्वनियामक होने पर स्वयं उदासीन रहना, सर्वव्यापी होने पर भी व्याप्य वस्तुओंके दोषोंसे निर्लेप रहना, शुभाशुभ कर्मोंका प्रेरक होने पर भी विषमता रहित होना, कर्मों का फलदाता होने पर भी निर्घृण रहना, जीवों को अपने अपने २ कर्मानुसार बन्धमोक्षादि विचित्र फलों के दाता होने पर भी सम भाव रखना, प्रकृति, काल तथा कर्म का नियामक एवं सबका उपास्य होना, किसी से अतिक्रमणीय नहीं होना, अपने भक्तों के दोषक्षालक स्वभाव वाला होना आदि आपके अपरिमित माहात्म्य को मैंने विस्तार पूर्वक सुना ॥२॥

हे परमेश्वर! आपने अपने को जैसा अत्यन्त ऐश्वर्य का आधार कहा है वह बात ठीक है, मुझ को इसमें कुछ भी सन्देह व अविश्वास नहीं है। तो भी हे पुरुषोत्तम! आपकी शक्ति, बल, वीर्य, तेज आदि से युक्त आपके अद्भुत रूप को मैं देखना चाहता हूँ ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

ननु मद्रूपदर्शने तवेच्छाऽस्तीति स्यादेतत्तु देवादिदर्शनाशक्यं कथं द्रष्टुमहंसीत्याशङ्क्याह—मन्यस इति। हे प्रभो! सर्वसामर्थ्याश्रय तत्सर्वस्याधारभूतमैश्वरं रूपं मयाऽर्जुनेन त्वदनुग्राह्येण द्रष्टुं शक्यमिति यदि जानासि, तर्हि योगेश्वर! योगः सर्वसाधनकदम्बस्तस्येश्वर! सर्वसाधनानां त्वदनुग्रहं विनाऽकिञ्चित्करत्वमित्यर्थः। ततः स्वानुग्रहादेव मेऽनन्यसाधनाय त्वं करुणार्णव अव्ययं नित्यमात्मन ऐश्वरं रूपं दर्शय दृष्टिविषयी कारयेत्यर्थः।

श्रीभगवान् उवाच—

पश्य मे पार्थ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

एवं स्वानन्यभक्तेनार्जुनेन प्रार्थितः स्वैश्वरं रूपं दर्शयितुकामस्तद्दर्शनेऽर्जुनं त्वरयन् श्रीभगवानुवाच—पश्येति। हे पार्थ! पृथाया मम भक्तायाः पुत्र शतशोऽथ सहस्रशोऽपरिमितानि नानाविधानि अनेकप्रकाराणि दिव्यान्यलौकिकानि नानानीलपीतादयो वर्णा आकृतयश्चावयवसंस्थानविशेषा येषां तानि नानावर्णाकृतीनि मम रूपाणि पश्य, दर्शनयोग्यो भवेत्यर्थः। तस्य दुर्दर्शत्वात्। रूपस्यैकत्वेऽपि विचित्राऽपरिमितत्वाद्रूपाणीति बहुवचनम्।

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत! ॥६॥

तान्येव निर्दिशति—पश्येति द्वाभ्याम्। हे भारत! मम देहे आदित्यान् द्वादश वसूनष्टौ रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुत एकोनपञ्चाशत् पश्य। उपलक्षणमिदमन्येषां देवानाम्। तत्रापि नैतावदेव

यदि तुम्हें मेरे उस रूप के दर्शन की इच्छा हो तो तुम उसे कैसे देख सकते हो क्योंकि देवता भी उस रूप को देखने में असमर्थ हैं? इसी शंका के उत्तर में अर्जुन कहते हैं। हे प्रभो! अर्थात् सब सामर्थ्य से युक्त, यदि आप यह समझें कि आपकी कृपा के बल से सबके आधारभूत आपके उस ईश्वरीय रूप को मैं देखने में समर्थ हो सकता हूँ तो हे योगेश्वर! अर्थात् सब साधन समूह के मालिक (मतलब कि आपकी कृपा के बिना सब साधन व्यर्थ हैं) मुझ साधनहीन को आप अपने ईश्वरीय अव्यय (नित्य) रूप को अपनी कृपा ही से मेरी दृष्टि का विषय कीजिये अर्थात् दिखाइये ॥४॥

इस प्रकार अनन्य भक्त अर्जुन के सविनय प्रार्थना करने पर अपना ईश्वरीय रूप दिखलाने की इच्छा से अर्जुन को दृढ़ करते हुए भगवान् बोले—हे मेरी भक्त पृथा के पुत्र अर्जुन! मेरे सैकड़ों, हजारों, अपरिमित, अनेक प्रकार के, अलौकिक नील पीतादि अनेक वर्ण वाले और अनेक आकृति वाले रूपों को देखो, अर्थात् इनको देखने के योग्य होओ क्योंकि ये रूप दुर्दर्श हैं। रूप के एकत्व होने पर भी उसके विचित्र और अपरिमित होने के कारण बहुवचन का व्यवहार हुआ है ॥५॥

उसी अपने रूप के विषय में दो श्लोकों से कहते हैं। हे अर्जुन! मेरे शरीर में बारहों आदित्य,

अपि तु बहूनि अन्यानि अदृष्टपूर्वाणि इह लोके त्वयाऽन्येन वा केन चिदपि पूर्वमदृष्टानि रूपाणि आश्चर्याणि अद्भुतानि पश्य ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

किञ्च—इहैकस्थमिति । इहास्मिन्मम देहे तवाप्येकस्थम् एकस्मिन्नवयवदेशे स्थितं कृत्स्नं सचराचरं जङ्गमस्थावरसहितं जगत् अद्यावुनैव पश्य । हे गुडाकेश ! यच्चान्यद्भयाभयोद्भवनाश जयपराजयादिकं द्रष्टुमिच्छसि तदप्येकदेहे देश एव सन्देहनिरासाय पश्य ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

यदुक्तं मन्यसे यदि तच्छक्यमिति तस्योत्तरमाह—न तु मामिति अहं दिव्यं स्वकीयं रूपं दर्शयिष्यामि । त्वं तु अनेनैव प्राकृतेन प्राकृतास्पवस्तुदर्शनक्षमेण स्वचक्षुषा मामप्राकृतमपरिमेयं द्रष्टुं न शक्यसे, समर्थो योग्यो न भविष्यसि । अतस्त्वदनुग्रहाय दिव्यमप्राकृतरूपदर्शनक्षमं चक्षुस्ते तुभ्यं ददामि । तेन ममासाधारणं योगमघटघटनापटीयस्त्वसामर्थ्यमैश्वरमीश्वरासाधारणं पश्य ॥८॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

एवं भगवद्रूपदर्शनाय भक्त्याऽर्जुनेन प्रार्थितो भगवान् दिव्यं चक्षुःप्रदाय याहशं पारमेश्वरं रूपं

आठों वसु, ग्यारह रुद्र, दो अश्विनी कुमार और उन पचास पवनों को देखो । यह कहना और देवताओं का भी उपलक्षण है, अर्थात् ऊपर कहे हुए देवों से अतिरिक्त और सब देवताओं को भी मेरे शरीर में देखो । इतना ही नहीं और भी पूर्वमें किसी से न देखे गये आश्चर्यों अर्थात् अद्भुत रूपों को देखो ॥६॥

और भी मेरे इस शरीर में, उसमें भी उसके एक कौने ही में स्थित सम्पूर्ण जङ्गम स्थावर के सहित जगत् को अभी देखो । हे अर्जुन ! और भी जो कुछ भय-अभय, उत्पत्ति-नाश, जीत-हार आदि को देखना चाहते हो उसको भी हमारे शरीर के एक कौने ही में देखलो, जिससे तुम्हारा संदेह दूर हो जाय ॥७॥

अर्जुन ने जो कहा था कि यदि वह रूप मैं देख सकूं तो आप दिखावें उसका उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं । मैं अपना दिव्य रूप दिखाऊंगा । तुम प्राकृत छोटी वस्तुओं को देखने की शक्ति वाले अपने प्राकृत नेत्रों से मेरे अप्राकृत, अपरिमेय रूप को नहीं देख सकते । इसलिये तुम पर कृपा कर अलौकिक अप्राकृत रूप देखने के योग्य नेत्र मैं तुम्हें देता हूं । उन नेत्रों से अघटन-घटना करने वाले मेरे ईश्वरीय, असाधारण सामर्थ्य को देखो ॥८॥

इस प्रकार भगवान् के रूप को देखने के लिये भक्त अर्जुन से प्रार्थना किये जाने पर भगवान् ने

तस्मै कृपया दर्शयामासेतद्धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच—एवमुक्तेत्यादिपद्भिः। हे राजन्! एवमुक्त-प्रकारेणोक्तवान्, महाश्चासौ योगेश्वरश्च हरिः पार्थाय परमं दिव्यमैश्वरं रूपं दर्शयामास।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

तदेवं रूपं विशिनष्टि द्वाभ्याम्—अनेकेति। अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन् तत्, अनेकानामद्भुतानां दर्शनं यस्मिन् तत्, अनेकानि दिव्यान्याभरणानि यस्मिन् तत्, दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि यस्मिन् तत्।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिव्येति। दिव्यानि माल्याम्बराणि च धारयति तथा दिव्यगन्धवदनुलेपनं यस्य तत्, सर्वाश्चर्यमयम्, अनेकाश्चर्यप्रचुरं देवं द्योतनात्मकम् अनन्तं, त्रिविधपरिच्छेदशून्यं, सर्वतो मुखानि यस्य तत्।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

देवमित्युक्तं, कीदृशी तस्य दीप्तिरित्यपेक्षायां तस्या अभूतोपमामाह—दिवीति। दिवि आकाशे सूर्य-सहस्रस्य युगपदुत्थितस्य युगपदुत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत्तदा सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासः प्रभाया सदृशी उपमा स्यात्, अन्योपमा तु नास्त्येवेत्यर्थः। एवं चैकदा दिवि सूर्यसहस्रस्योत्थानमसम्भावितं तदभावे तत्सादृश्याभाव इत्यंभूतोपमया निरुपमत्वमेव व्यक्तीकृतम्।

अर्जुन को दिव्य नेत्र देकर जैसा परमेश्वरीय रूप दिखाया उसको धृतराष्ट्र से संजय कहते हैं। हे राजन्! ऐसा कह महायोगेश्वर कृष्ण ने अपना परम दिव्य ईश्वरीय रूप अर्जुन को दिखाया ॥९॥

उसी रूप की विशेषता दो श्लोकों से दिखाते हैं। जिस रूप में अनेक मुख और नेत्र हैं, जिसमें अनेक अद्भुत वस्तुओं का दर्शन है, अनेक अलौकिक आभरणों से जो युक्त है और जिसमें अनेक आयुध ऊपर उठाये हुये हैं ॥१०॥

जो रूप अलौकिक माला और वस्त्रों से युक्त है और दिव्य गन्धों के अनुलेपन से लिप्त है, बहुत आश्चर्ययुक्त, प्रकाशमय, अनन्त अर्थात् तीनों परिच्छेद (देश, वस्तु और काल) से शून्य और सब ओर मुख वाला है ॥११॥

ऊपर के श्लोक में 'देवम्' अर्थात् प्रकाशमान स्वरूप कहा। अब उस शरीर की कैसी अलौकिक द्युति है उसको अद्भुत उपमा देकर दिखलाते हैं। यदि आकाश में एक ही बार हजारों सूर्य उगें तो उस विश्व रूप परमात्मा की प्रभा के सदृश उपमा हो सकती है। उसकी दूसरी उपमा तो है ही नहीं। आकाश में एक साथ हजार सूर्य का उगना असम्भव है, इसलिये भगवान् के उस रूप की प्रभा की भी कोई उपमा नहीं हो सकती। इस भांति उस प्रभा को उपमा रहित होना प्रकट किया ॥१२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

ततो यथा भगवतोक्तं तथाऽर्जुनस्तद्देहे दृष्ट्वेत्याह—तत्रेति। (तत्र) तस्मिन्ननुपमे देवदेवस्य विश्वरूपे शरीरे एकत्र स्थितम् अनेकधा प्रविभक्तं ब्रह्मादिविविधविचित्रदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिपृथिव्यन्तरिक्षनदीपर्वतस्वर्गपातालादिभेदभिन्नं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगत् भगवत्प्रसादलब्धतद्रूपदर्शनार्हदिव्यचक्षुः पाण्डवोऽर्जुनोऽपश्यत्।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह—तत इति। ततस्तदद्भुतरूपदर्शनाद्विस्मयो योऽलौकिकान्तश्चमत्कारस्तेनाविष्टो व्याप्तस्तत एव हृष्टरोमा उत्पुलकिततनूरुहः स धनञ्जयः देवं तमेव विश्वरूपं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तो भूत्वा अभाषत उक्तवान्।

अर्जुन उवाच—
पश्यामि देवांस्तव देव! देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन उवाच—पश्यामीति। हे देवदेव! तव देहे सर्वानिन्द्रवस्वादीन्देवान् पश्यामि। तथा सर्वाद् भूतविशेषाणां स्थावरजङ्गमात्मकानां जरायुजाण्डजादिभेदभिन्नानां वा सङ्घान् समूहान्, तथा ब्रह्माणं चतुर्मुखं ब्रह्माण्डाधिपं, तथेशं शङ्करं, कथं भूतं कमलासनस्थं कमलासने ब्रह्मणि स्थितं तदानु-

---

तब भगवान् ने जैसा कहा था अर्जुन ने वैसा ही उनके शरीर में देखा। इसीको कहते हैं—उस उपमा रहित भगवान् के शरीर के अङ्ग में स्थित और अनेक प्रकार से विभक्त ब्रह्मा आदि विविध देवता, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावर आदि, पृथिवी, आकाश, नदी, पर्वत, स्वर्ग, पाताल आदि भेदयुक्त चेतन और अचेतन समस्त जगत को, भगवान् की कृपा से उस (दिव्य) रूप को देखने की योग्यता वाली आँखों को पाकर, अर्जुन ने देखा ॥१३॥

फिर क्या हुआ इस पर कहते हैं। तब उस अद्भुत रूप के दर्शन से विस्मित, अर्थात् भीतर के अलौकिक चमत्कार से व्याप्त और इसी कारण रोमाञ्चित अर्जुन उसी प्रकाश युक्त विश्व रूप को सिर से प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर बोला ॥१४॥

अर्जुन ने कहा हे देव! आपके शरीर में इन्द्र, वसु आदि सब देवों को, स्थावर, जङ्गमादि जरायुज अंडज आदि प्राणी समूहों को, चार मुख वाले, ब्रह्माण्ड के मालिक ब्रह्मा को और कमलासन

कूल्ये वर्त्तमानं, तथा सर्वान् भृगुमरीच्यादीनृषीन्, तथोरगान् वासुकितक्षकप्रभृतीन्सर्पान् पश्यामीति सर्वत्रान्वेति ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! ॥१६॥

किञ्च—अनेकेति । अनेकानि बाहूदरवक्त्रनेत्राणि यस्य तमनन्तरूपं त्वां सर्वतः पश्यामि । हे विश्वेश्वर विश्वनियन्तः ! हे विश्वरूप ! यस्त्वमनन्तः अतस्तव नान्तमवसानं न मध्यं न पुनरादिं पश्यामि ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

पुनर्विश्वरूपं भगवन्तं विशिनष्टि—किरीटिनमिति । किरीटमुकुटादिमन्तं तेजोराशिं तेजःपुञ्जभूतं तत एव सर्वतो दीप्तिमन्तम् अत एव दुर्निरीक्ष्यं दुःखेन द्रष्टुं शक्यम् । सर्वतो दीप्तिमन्तमित्युक्तनिदानीं तस्य दीप्तेरुपमामाह—दीप्तानलार्कोर्द्युतिरिव द्युतिः प्रकाशो यस्य तमत एवाप्रमेयम् इयानिति प्रमातुमशक्यं त्वां समन्तात् पश्यामि ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अप्रमेयमहिमत्वात्त्वमेवं मतोऽसीत्याह—त्वमिति । उपनिषत्सु "एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिना वेदितव्यं परममक्षरं त्वमेव । अस्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाश्रयः, यत-

---

ब्रह्मा में स्थित, अर्थात् ब्रह्मा के अनुकूल वर्त्तमान शिव को, भृगु, मरीचि आदि सब ऋषियों को और वासुकि तक्षक आदि सब दिव्य सर्पों को मैं देखता हूँ ॥१५॥

फिर जिस रूप में अनेक भुजा, पेट, मुख तथा आँखें हैं ऐसे अनन्त रूप वाले आपको मैं चारों ओर से देख रहा हूँ । हे विश्व के नियन्ता ! हे विश्व रूप ! आप अनन्त हैं, इसलिये आपका आरम्भ, मध्य या अन्त मुझे कहीं नहीं दीख पड़ता ॥१६॥

फिर विश्व रूप को विशेष रीति से बताते हैं । किरीट मुकुट पहने, गदा और चक्र धारण किये, तेज की राशि होने से चारों ओर से चमकता हुआ और इसीलिए कठिनता से देखने योग्य, प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान चमक वाले और इसी कारण से 'ऐसा ही है' यह निश्चय होने के अयोग्य तुम्हें मैं चारों ओर से देख रहा हूँ ॥१७॥

अपार महिमा वाले होने के कारण तुम ऐसा माने गये हो । इसीको कहते हैं । उपनिषदों में "एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः । एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्र-

स्त्वमव्ययः स्वरूपतो गुणतो महिम्नश्च न व्येषि न हीयसे अतएव शाश्वतधर्मगोप्ता शाश्वतस्य भागवतस्य धर्मस्य वा गोप्ता रक्षकः। यतः सनातनः, सदैकरसस्वरूपः, पुराणः पुरुषो मे मया मतो-ज्ञातोऽसि।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

पुनरनुभूतरूपमेव वर्णयति—अनादीति। अनादिमध्यान्तरहितम्, अनन्तवीर्यं निरतिशयप्रभावम्, अनन्ता बाहवो यस्य तं, शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य शशिवत्सूर्यवच्च तापहरतापके च नेत्रे यस्येति वा, स्वभक्तानां देवादीनां तापहरं तद्विपरीतानामसुरादीनां तापकरं च नेत्रं यस्य तम। दीप्तहुताशवक्त्रं प्रदीप्तकालानलवत्संहारकं वक्त्रं यस्य अतएव स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं स्वकीयेन तेजसा विश्वं तापयन्तं पराभवं कुर्वन्तं त्वां पश्यामि।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

तद्रूपस्य सर्वलोकासह्यत्वमाह—द्यावापृथिव्योरिति। द्यौश्च पृथिवी च तयोर्मध्ये इदमन्तरमवकाशं त्वयैकेन व्याप्तं दिशश्च सर्वा व्याप्ताः, एवमद्भुतत्वाच्चाश्चर्यं तवेदमुग्ररूपं दृष्ट्वा—लोकत्रयं प्रव्यथितमिति भीतियुक्ततया व्याकुलं पश्यामि। हे महात्मन्! महानात्मा दीनानुकम्पी स्वभावो यस्य स त्वमनुकम्पिस्वभावत्वादेतद्रूपोपसंहारेणैताननुगृह्णेति भावः।

चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" अर्थात् इस अक्षर को न जानकर जो इस लोक से चला जाता है वह कृपण है, हे गार्गि! इस अक्षर के शासन में सूर्य और चन्द्रमा बिना आधार के स्थित हैं, जो अक्षर कहा गया है वह जानने योग्य परम अक्षर आप ही हैं। इस विश्व के प्रकृष्ट (एकान्त) आश्रय आप ही हैं, क्योंकि आपके स्वरूप, गुण और महिमा में कभी कमी नहीं होती। इसलिए नित्यधर्म के अर्थात् वेद से प्रतिपादित यज्ञादि धर्म के अथवा आपकी आराधना रूप भागवत धर्म के रक्षक आप हैं। कारण कि आप सदा एक रसस्वरूप अर्थात् सनातन हैं, प्राचीन पुरुष हैं, ऐसा मैं मानता हूं ॥१८॥

फिर अनुभूत रूप का ही वर्णन करते हैं। आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त प्रभाव युक्त, अनन्त बाहु वाला, सूर्य चन्द्रमा जिनके नेत्र हैं, अथवा सूर्य के ऐसा तापकारक और चन्द्र के ऐसा तापहारक नेत्र हैं जिनके अर्थात् अपने देवादि भक्तों के ताप को हरने वाले और असुरादि अभक्तों को ताप देने वाले नेत्र हैं, जिनके जलते हुए कालाग्नि के ऐसा संहारक मुख वाले तथा अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए अर्थात् नीचा दिखलाते हुए आपको मैं देखता हूं ॥१९॥

यह रूप सबके लिये असह्य है, इसीको कहते हैं। स्वर्ग और पृथिवी के बीच अवकाश में और सर्व दिशाओं में आप ही एक व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक भय

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीता प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

लोकत्रयं प्रव्यथितमित्युक्तं तदेव विवृणोति—अमी हीति त्रिभिः । अमी सुरसङ्घाः शरणार्थिनस्त्वामेव (परमाश्रयं) विशन्ति आश्रयन्ते । तेषु केचित्तवात्युग्ररूपं दृष्ट्वा भीताः सन्तो दूरत एव स्थिताः प्राञ्जलयो भूत्वा गृणन्ति । जय जय पाहीत्यादिवाक्यान्युच्चारयन्ति । महर्षिसिद्धसङ्घा जगद्विनाशनिमित्तानि ववत्राण्यग्निज्योतींषि महोल्कानीवोपलभ्य जगतः स्वस्ति भूयादित्युक्त्वा सर्वलोकसंरक्षणाय त्वां पुष्कलाभिर्महदर्थयुक्ताभिः स्तुतिभिर्भगवन्माहात्म्यप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः स्तुवन्ति ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्याः विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

किञ्च—रुद्रादित्या इति । रुद्रादय उष्मपाः पितरः "उष्मभागा हि पितर" इति श्रुतेः । "यावदुष्णं भवेदन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणा" इति स्मृतेश्च । एते सर्वेऽपि विस्मितास्त्वां वीक्षन्ते ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो ! बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

किञ्च—रूपमिति । हे महाबाहो ! ते तव रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोका जनाः प्रव्यथिता भयाकुल-

---

से व्याकुल हो रहे हैं ऐसा मैं देखता हूँ, हे महात्मन् ! । भाव कि अपनी दयालुता से इस उग्र रूप को समेट कर इन पर दया करो ॥२०॥

तीनों लोकों की विकलता का वर्णन करते हैं । ये देवगण शरणार्थी सबके परमाश्रय आपके ही आश्रय में आते हैं । उनमें कोई आपके उग्र रूप को देखने से डर कर दूर ही से खड़े हो हाथ जोड़ कर "आपकी जय हो, जय हो, हम लोगों की रक्षा करें" इत्यादि वचन बोल रहे हैं । महर्षि सिद्धगण आपके मुख को संसार के विनाश का कारण अनुमान कर और उससे निकलती हुई चिनगारियों को उल्का के समान समझ 'संसार का मङ्गल हो' यह कहकर, सब लोक की रक्षा के लिये, आपके माहात्म्य को प्रगट करने वाली बड़े अर्थयुक्त स्तुतियों से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥२१॥

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव लोग, दोनों अश्विनी कुमार, मरुतगण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, सुरसिद्धगण सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं । उष्मपा पितर लोगों को कहते हैं क्योंकि श्रुति कहती है—"उष्मभागा हि पितरः ।" स्मृति कहती है—यावदुष्णं भवेदन्नं, यावदश्नन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ।" अर्थात् पितर गर्म अन्न अन्न के भागी हैं । जबतक अन्न गर्म हो और लोग मौन हो भोजन करते हैं, तभी तक पितर लोग खाते हैं जबतक हविष्य का गुण न कहा जाय ॥२२॥

हे महाबाहो ! आपके महत् रूप को देख के, जो बहुत मुँह, आँख, हाथ, उरु, पैर और

चित्ता भवन्ति । तथाऽहं प्रव्यथितोऽस्मि । कीदृश ते रूपं महदतिप्रमाणं, बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिन् तत् । बहवो बाहवः उरवः पादाश्च यस्मिन् तत् । बहून्युदराणि यस्मिन् तत्, बह्वीभिर्दंष्ट्राभिः करालमतिभयानकम् ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम्, व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा, धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ! ॥२४॥

अहं त्वतिव्याकुलचित्तोऽस्मीत्याह—नभःस्पृशमिति । अत्र नभःशब्दो "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् तदक्षरे परमे व्योमन्नि" त्यादिश्रुत्यभिहितप्रकृत्यतीतपरमव्योमवाचकः सर्वविकाराश्रयभूतत्रिगुणाश्रयप्रकृतेः सर्वावस्थावस्थितस्य पुरुषस्य चाश्रयतया वर्त्तमानत्वान्नभः परमव्योम स्पृशते इति नभःस्पृशं, दीप्तं प्रज्वलितम्, अनेके सितकृष्णपीतादयो वर्णा यस्य तमनेकवर्णं व्यात्तानि विवृत्तानि आननानि यस्य तं, दीप्तानि विशालानि नेत्राणि यस्य तमेवम्भूतं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा प्रकर्षेण व्यथितान्तःकरणोऽहं धृतिं देहधारणं न विन्दामि न लभे । शमं चेन्द्रियाणां शान्तिं च न लभे । हे विष्णो ! बाह्याभ्यन्तरव्यापक ! मम बाह्याभ्यन्तरव्यथां त्वं जानासीत्यभिप्रायः ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि, दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म, प्रसीद देवेश जगन्निवास ! ॥२५॥

किञ्च—दंष्ट्रेति । दंष्ट्राभिः करालानि भयानकानि कालानलवत्सर्वसंहारे प्रवृत्तानि ते मुखानि दृष्ट्वैव भयावेशेन दिशो न जाने, शर्म सुखं च न लभे । तस्माद् हे देवेश ! ब्रह्मादिदेवानां लोकेश्वराणामपीश्वर ! हे जगन्निवास ! प्रसीद प्रसन्नो भव । यथाऽहं भयनिवृत्त्या प्रकृतिस्थो भवेयं तथा कुर्वित्यर्थः ।

उदर वाला है और जिसमें बहुत से विकराल दाँतें हैं, सब लोक व्याकुल हो रहे हैं, और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ॥२३॥

मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो रहा है, इसी को कहते हैं—परम व्योम को छूते हुए, प्रज्वलित, उजले, काले, पीले आदि अनेक रंगवाले, फैले हुए मुखवाले, और दीप्त तथा विशाल नेत्रवाले आपको देखकर मेरा अन्तःकरण अत्यन्त व्यथित हो गया है, इससे मैं धैर्य अर्थात् देह धारण नहीं कर सकता और इन्द्रियों को भी शान्ति नहीं मिलती, हे विष्णो ! आप बाहर और भीतर व्याप्त हैं, इसलिये मेरी व्यथा को अवश्य जानते हैं । यहाँ 'नभ' शब्द प्रकृति से अतीत परम धाम का वाचक है, जैसा श्रुति कहती है "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् तदक्षरे परमे व्योमन्" अर्थात् जो इस जगत् का अध्यक्ष परम व्योम (पर वैकुण्ठ) में है वह अक्षर परमात्मा परम व्योम में है ॥२४॥

दाढ़ों से भयानक, कालाग्नि के समान सबको संहार करने में प्रवृत्त आपके मुखों को देखकर ही भय के मारे मैं दिशा को भूल गया हूं और मुझे सुख नहीं मिलता, इसलिये हे देवेश ! अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालों के भी ईश्वर ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये अर्थात् जिस प्रकार मेरा भय निवृत्त होकर मैं प्रकृतिस्थ हो जाऊँ सो कीजिये ॥२५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः, सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ, सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

"प्रसीद देवेशेत्यनेन" भयनिवृत्तिलक्षणप्रसादार्थं प्रार्थितेन भगवता देवासुरसंग्रामे निहतानामुभयसैन्ये राजच्छद्मनाऽवस्थितानां भूभाररूपाणामसुराणां वार्त्तराष्ट्रादीनां संहारार्थं भवतो जयकीर्तिप्रख्यापनाय च मयैतद्रूपमाविष्कृतमतस्त्वं मा भैषीति सूचनाय पार्थाय प्रदर्शितम् । स च पार्थो भाविनमपि स्वविजयं परेषां पराजयं च "मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसी"त्यादिष्ट तत्प्रसादलब्धदिव्येन चक्षुषा पश्यन्नाह—अमीत्यादिपञ्चभिः । अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादयः सर्वे अवनिपालानां शल्यजयद्रथादीनां राज्ञां सङ्घैः समूहैः सह तव वक्त्राणि विशन्तीत्युत्तरेणान्वयः । न केवलं दुर्योधनादयो विशन्त्यपि तु सर्वैरजेयत्वेनाभितो भीष्मः परशुरामादधिगतास्त्रविद्यः तथा द्रोणः तथाऽसौ(सदा)मम द्वेषी सूतपुत्रः कर्णः, न केवलमेत एव विशन्ति, किन्तु अस्मदीयैरपि योधमुख्यैस्तत्प्रतियोद्धृभिः शिखण्डिधृष्टद्युम्नादिभिः सह ।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति, दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु, सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

एते सर्वे त्वरमाणा वेगवन्तस्ते तव दंष्ट्राभिः करालानि भयङ्कराणि वक्त्राणि विशन्ति । तत्र केचित् चूर्णितैरुत्तमाङ्गैश्चूर्णीकृतशिरोभिरुपलक्षिता दशनान्तरेषु दन्तानां सन्धिषु विशेषेण लग्ना दृश्यन्ते ।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः, समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीराः, विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

पीछे "हे देवेश" इत्यादि से भय निवारण कर प्रसन्नता के लिए प्रार्थित होने पर भगवान् ने देवासुर संग्राम में मारे गये दोनों ओर की सेनाओं में राजाओं के वेष में छिपे हुए पृथ्वी के भारस्वरूप दुर्योधनादि के संहार के लिये मैंने यह रूप धारण किया है इसलिये तुम मत डरो यह सूचित करने के लिये अर्जुन को यह रूप दिखाया । अर्जुन होनेवाले अपने विजय और शत्रुओं की हार को "मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि" जो कह आये हैं, उसको उनकी कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि से देखते हुए कहते हैं । ये सब धृतराष्ट्र के बेटे दुर्योधन आदि शल्य, जयद्रथ आदि राजाओं के समूहों के साथ आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं, केवल दुर्योधनादि ही नहीं प्रवेश कर रहे हैं किन्तु परशुराम से अस्त्र विद्या सीखनेवाले अजेय भीष्म, द्रोण तथा मेरा द्वेषी सूतपुत्र कर्ण भी मुख में पैठ रहे हैं । केवल ये ही नहीं, किन्तु मेरी ओर के शिखण्डी, धृष्टद्युम्न आदि मुख्य योद्धा भी साथ-साथ आपके मुख में पैठ रहे हैं ॥२६॥

कराल दाढ़ों से भयंकर आपके मुख में वे शीघ्र प्रवेश कर रहे हैं । कितने के सिर चूर्ण हो गये हैं और वे दांतों के बीच में लटके वा लगे हुए दीखते हैं ॥२७॥

ते कथं प्रविशन्तीत्यपेक्षायां तेषां प्रवेशस्य दृष्टान्तमाह यथेति। यथा नदीनां नानामार्गगानां बहवोऽम्बूनां वेगाः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तः समुद्रमेव द्रवन्ति प्रविशन्ति, तथा नरलोकवीरा अभिविज्वलन्ति सर्वतः प्रदीप्यमानानि तव वक्त्राणि विशन्ति।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः, विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-,स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

अबुद्धिपूर्वकप्रवेशे नदीवेगं दृष्टान्तमुक्त्वा बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा पतङ्गाः शलभाः समृद्धवेगाः सन्तः प्रदीप्तं ज्वलनमग्निं बुद्धिपूर्वकं नाशाय मरणायैव विशन्ति, तथैव नाशायैवैते लोका दुर्योधनादयः सर्वेऽपि समृद्धवेगास्तव वक्त्राणि प्रविशन्ति।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य्य जगत्समग्रम्, भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ! ॥३०॥

स्वं त्वेतान्निरवशेषान् ग्रसन् हृष्टः प्रतीयस इत्याह—लेलिह्यस इति। वेगेन विशतो लोकान् दुर्योधनादीन्समग्रान् राशौ ज्वलद्भिर्वदनैः समन्तात्सर्वतः कोपावेशेन ग्रसमानः तद्रुधिराक्तावोष्ठपुटौ महासिंह इव लेलिह्यते, पुनः पुनरास्वादयसि। किञ्च हे विष्णो ! तवोग्रा घोरा असह्या भासो रश्मयस्तेजोभिः प्रकाशैर्जगत्समग्रमापूर्य्य व्याप्य प्रतपन्ति सन्तापयन्ति।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो, नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्, न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

पूर्वं 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तमे"ति पारमेश्वरं रूपं साक्षात्कर्तुं प्रार्थितेन भगवता निरङ्कुशैश्वर्ययुक्तं रूपं प्रदर्शितमिदानीमतिघोररूपमाविष्कृतं दृष्ट्वा सन्दिह्य पृच्छति—आख्याहीति।

वे कैसे मुख में पैठते हैं उसकी उपमा देते हैं। जैसे नदियों की अनेक धाराएँ समुद्रमुख होकर समुद्र में ही गिरती हैं, वैसे ही ये नरलोक वीर चारों ओर से आपके प्रज्वलित मुखों में पैठते हैं ॥२८॥

अबुद्धिपूर्वक प्रवेश में नदी के जल का दृष्टान्त दिया। अब बुद्धिपूर्वक प्रवेश में दृष्टान्त दिखाते हैं। जैसे पतिंगे बड़े वेग के साथ जलती हुई आग में समझ बूझकर मरने के लिये पैठते हैं वैसे ही ये सब दुर्योधनादि भी नाश के लिए बड़ी तेजी के साथ आपके मुखों में पैठ रहे हैं ॥२९॥

आप इनको समग्ररूप से खाते हुए प्रसन्न से दीखते हैं। इसी को कहते हैं। वेग से पैठते हुए दुर्योधनादि सब राजाओं को, जलते हुए मुख से, चारों ओर से, क्रोध के आवेश में हो आप खा रहे हैं। और उनके रुधिर से भींगे हुए अपने दोनों ओठों को आप महासिंह के समान चाट रहे हैं और बार-बार स्वाद ले रहे हैं। और भी, हे विष्णो ! आपकी घोर असह्य किरणें समूचे जगत् को अपने तेज से व्याप्त कर तपा रही हैं ॥३०॥

"द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम !" कह कर अर्जुन ने परमेश्वर के साक्षात् रूप को देखने की प्रार्थना की। तब भगवान् ने ऐश्वर्ययुक्त अपना निरंकुश रूप दिखाया। अब इस समय

उग्ररूपोऽतिकरालाकृतिः को भवानिति मे मह्यमनुग्राह्याय आख्याहि कथय। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। हे देववर! प्रसीद प्रसन्नो भव। भवन्तमाद्यं पुरुषं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि। ननु त्वत्प्रार्थनयैव मयैतदैश्वरं रूपमाविष्कृतं स एव वासुदेवोऽस्मि कथं पुनः को भवानिति पृच्छसीत्यत आह। नहीति। हि यतस्तव प्रवृत्तिं न जानामि। एवं संहर्त्तुं रूपेण किं कर्त्तुं प्रवृत्तोऽसि मदनुग्रहायैश्वररूपप्रदर्शने प्रवृत्तस्य घोर-रूपाविष्करणे कोऽभिप्राय इति भावः।

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे, येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

एवं प्रार्थितः स्वस्य घोररूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तं ज्ञापयन् श्रीभगवानुवाच—कालोऽस्मीति। कलयति गणयति लोकानामवसानमिति कालः, सोऽहमस्मि। अत एव लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः स्वशक्ति-सामर्थ्येन वृद्धिं गतः। किं कर्त्तुं तव प्रवृत्तिरित्यस्योत्तरमाह—लोकान्दुर्योधनादीन् जनान्समाहर्त्तुं भक्षयितुमिहास्मिन्समये प्रवृत्तोऽस्मि। अत ऋतेऽपि त्वामर्जुनं योद्धारमृतेऽपि त्वदुद्योगं विनाऽपि मत्सङ्कल्पादेव प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसैन्येषु ये योधा योद्धारो भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयोऽवस्थितास्ते सर्वेऽपि न भविष्यन्ति विनंक्ष्यन्तीत्यर्थः।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व, जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्! ॥३३॥

एवं च यथाऽहं स्वातन्त्र्येण सर्वलोकस्य पालकस्तथा संहर्त्ताऽप्यहमेव स्वतन्त्रोऽन्येषां मदधीनं

भगवान् के घोर रूप को देखकर अर्जुन सन्देह से पूछते हैं। इस अति कराल रूपवाले आप कौन हैं? मुझ पर कृपा कर आप कहें। आपको नमस्कार है। हे देवों में श्रेष्ठ! आप प्रसन्न होइए। सबके आदि-पुरुष आपको मैं विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ। भगवान् यदि यह पूछें कि तुम क्यों ऐसा प्रश्न करते हो, तुम्हारी ही प्रार्थना से मैंने यह अपना ऐश्वरीय रूप दिखाया है, मैं वही वासुदेव हूँ। तो इसके उत्तर में अर्जुन कहता है कि मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं समझता। कहाँ तो दिखा रहे थे अपना ऐश्वरीय रूप और दिखलाने लगे यह भयानक संहारक रूप। इसका क्या मतलब? इस संहारक रूप से आप क्या करने को तैयार हैं? ॥३१॥

इस प्रकार की प्रार्थना सुन अपने घोर रूप धारण करने का कारण भगवान् बतलाते हैं। मैं काल हूँ। लोकों को नाश करने के लिये अपनी शक्ति से बढ़ा हूँ। इस समय दुर्योधन आदि लोगों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। तुम्हारे उद्योग के बिना भी केवल मेरे संकल्प से ही शत्रु पक्ष में स्थित सभी भीष्म, द्रोण कर्ण आदि योद्धा नष्ट होंगे ॥३२॥

मैं जैसे स्वतन्त्रता से सब लोक का पालक हूँ, वैसे ही स्वतन्त्र रूप से उनका संहारक भी हूँ। सबों का कर्तृत्व मेरे ही आधीन है। इसी को कहते हैं। मैं ही उनका संहारक हूँ, इसलिए तुम उनके

कर्तृत्वमनुसन्धेयमित्याह—तस्मादिति । यस्मादहमेव संहर्त्ता तस्मात्त्वं तान् प्रति युद्धायोत्तिष्ठ । देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽर्जुनेन जिता इत्येवम्भूतं यशो लभस्व । ऊर्जिताञ्छत्रून् दुर्योधनादीन् जित्वा समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व । एते च तव शत्रवस्त्वदीययुद्धात्पूर्वमेव मयैव कालात्मना निहता हतायुषः, अतस्त्वमेषां हनने निमित्तमात्रं भव, मया हन्यमानानां शस्त्रादिस्थानीयो भव । हे सव्यसाचिन् ! सव्येन वामहस्तेनापि शरान्सन्धातुं शीलं यस्येति तथा हस्तद्वयेन सम्प्रहर्त्तुं समर्थेत्यर्थः ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च, कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः, युद्धस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

ननु द्रोणो मम गुरुर्धनुर्वेदाचार्यः परशुरामाल्लब्धदिव्यास्त्रस्तथा भीष्मोऽपि शन्तनुवरलब्धस्वच्छन्दमृत्युदिव्यास्त्रसम्पन्नश्च द्वन्द्वयुद्धे परशुरामेणाप्यजेयः, तथा जयद्रथोऽस्मज्जयार्थमाराधितगिरिशो दिव्यास्त्रसम्पन्नश्च, तथा कर्णः सूर्यस्यानन्यभक्तो दिव्यास्त्रसम्पन्नश्च, अन्ये च कृपाश्वत्थामप्रभृतयो दुर्जयवीरा विद्यन्ते तेषु सत्सु कथं शत्रून् जित्वा राज्यं भोक्ष्ये । कथं वा यशो लप्स्ये । इत्यर्जुनस्याशङ्कां निरासयन्नाह—द्रोणं चेति । द्रोणभीष्मकर्णादीस्त्वयाऽजेयत्वेन कल्पितान्सर्वानेव योधवीरान्कृतापराधतया मयैव कालात्मना हतान् हतायुषस्त्वं जहि । स्वसंयुगमात्रावशेषितप्राणानां हनने न ते प्रयासो भविष्यति । अतो मा व्यथिष्ठाः । तदजेयत्वनिमित्तां गुरुबन्धुवधनिमित्तां वा व्यथां पीडां मा गाः । अतो निःशङ्को युद्धस्व, रणे संग्रामे सपत्नान् शत्रून् जेता जेष्यसि ।

साथ युद्ध करने के लिये उठो तैयार होओ । देवताओं से भी दुर्जय भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि को अर्जुन ने जीता, यह यश लाभ करो । बलवान् दुर्योधनादि शत्रुओं पर जय लाभ कर वैभवशाली राज्य को भोगो । इन तुम्हारे शत्रुओं को लड़ाई के पहले ही कालात्मक मैंने आयुहीन कर दिया है । हे बाएँ हाथ से भी बाण चलानेवाले अर्जुन ! तुम इन शत्रुओं को मारने में केवल निमित्त बनो अर्थात् मुझ से मारे जानेवालों के लिये शस्त्र आदि के स्थान में होओ ॥३३॥

द्रोण मेरे गुरु हैं, धनुर्वेद के आचार्य हैं, और उन्होंने परशुराम से दिव्य अस्त्र प्राप्त किया है, भीष्म शान्तनु से स्वच्छन्द मृत्यु के वर पानेवाले, दिव्यास्त्रधारी और द्वन्द्वयुद्ध में परशुराम से भी अजेय हैं, और जयद्रथ भी हमको जीतने के लिए महादेवजी की आराधना कर दिव्यास्त्र पा चुका है । कर्ण सूर्य के अनन्य भक्त तथा दिव्यास्त्र से युक्त हैं । इसी प्रकार कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि अनेकों दुर्जय वीर हैं । इनके रहते हुए मैं कैसे राज्य भोगूँगा और कैसे यश पाऊँगा ? अर्जुन की इस शंका का उत्तर भगवान् देते हैं । भीष्म, द्रोण, कर्ण, आदि जिन वीरों को तुम अजेय समझ रहे हो, मेरा अपराध करने के कारण तो कालात्मा मैंने प्रथम से ही आयुहीन बना दिया है । अब तुम उनको मार डालो । तुम्हारे संग्राम भर के लिये ही इनके प्राण बच रहे हैं । इनके मारने में तुमको कुछ भी कष्ट नहीं होगा । इसलिए उनके अजेय होने वा गुरु, बन्धु वध करने के कारण दुःख मत करो । निडर होकर लड़ो । संग्राम में तुम शत्रुओं को अवश्य जीतोगे ॥३४॥

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य, कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं, सगद्गदं भीतभीतं प्रणम्य ॥३५॥

ततः किमवृत्तमिति धृतराष्ट्रापेक्षायां सञ्जय उवाच—एतदिति। एतत्पूर्व पञ्चत्रयेणोक्तं केशवस्य वचनं श्रुत्वा कृताञ्जलिः सम्पुटीकृतहस्तः वेपमानोऽत्याश्चर्यघोरासह्यतेजोरूपदर्शनेन कम्पमानः किरीटी अर्जुनः कृष्णं स्वभक्तपापकर्षकं नमस्कृत्वा नमस्कृत्य भूयः पुनरप्याह उक्तवान् कथमाह भयहर्षाद्यावेशेनाव्यक्तस्खलिताक्षरोच्चारणादिरूपः कण्ठविकारो गद्गदस्तेन सह वर्त्तते इति सगद्गदं यथा स्यात्तथा भीतभीतः भीतादपि भीतोऽतिशयेन भीतः सन् अतिनम्रीभूयेत्यर्थः।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या, जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति, सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥३६॥

अर्जुन उवाच—स्थान इत्येकादशभिः। स्थाने इत्यव्ययं युक्तमित्यस्मिन्नर्थे। हे हृषीकेश! सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक यतस्त्वमेवम्भूतात्यद्भुतप्रभावो भक्तवत्सलश्च अतस्तव प्रकीर्त्या यशःप्रकीर्त्तनेन श्रवणेन च न केवलमहमेव हृष्यामि। किन्तु देवगन्धर्वयक्षकिन्नरादिजगत् चेतनमात्रं प्रहृष्यति, प्रकर्षेण हर्षमाप्नोति। तथाऽनुरज्यते चानुरागमुपैति, एतत् स्थाने युक्तमित्यर्थः। तथा रक्षांसि रक्षोगणानि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वासु दिक्षु पलायन्ते इति यत्। तथा सिद्धानां तपोमन्त्रादिसिद्धि प्राप्तानां सङ्घाः समूहा नमस्यन्ति चेति यत्, एतत्सर्वं स्थाने युक्तमेवेत्यर्थः।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्! गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त! देवेश! जगन्निवास! त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

युक्तामेवोपपादयति—कस्मादिति। हे महात्मन्! ते तुभ्यं महर्षिसिद्धसङ्घाः कस्मान्न नमेरन्

फिर क्या हुआ धृतराष्ट्र के पूछने पर सञ्जय कहते हैं। पीछे तीन श्लोकों में कहे हुए कृष्ण के वचन को सुनकर हाथ जोड़े और आश्चर्यजनक, घोर और असह्य तेजवाले रूप को देखने से काँपते हुए अर्जुन अपने भक्तों के पाप को खींचनेवाले कृष्ण को नमस्कार करके गद्गद वचन से, बहुत डरे हुए, नम्रता से बोले। भय, हर्ष आदि के आवेश से उनका वचन गद्गद हो गया ॥३५॥

हे हृषीकेश! (सब इन्द्रियों के प्रवर्त्तक) आप इस प्रकार अद्भुत प्रभाववाले और भक्तवत्सल हैं, इसलिए आपके यश के कीर्त्तन करने से केवल मैं ही अतिप्रसन्न नहीं हूँ, किन्तु देव, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष आदि सभी चेतनामय जगत् प्रसन्न हो रहा है, तथा अनुराग पूर्ण है, और ऐसा होना उचित ही है। राक्षस डरकर सब दिशाओं में भागते हैं और सिद्धों का सब समूह आपको प्रणाम करता है। यह भी युक्त ही है ॥३६॥

औचित्य का ही उपपादन करते हैं। हे महात्मन्! आपको महर्षियों और सिद्धों का समूह

नमस्कारं न कुर्युः, कथम्भूताय ते ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापि गरीयसे गुरुतमाय। आदिकर्त्रे ब्रह्मणोऽपि जनकाय। हे अनन्त! त्रिविधपरिच्छेदशून्य! देवेश सर्वदेवाधीश जगन्निवास! सर्वचेतनाचेतन-जगदाश्रय! चेतनाचेतनसर्ववस्तुरूपोऽपि त्वमेवेत्याह—त्वमक्षरमिति। न क्षरतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञस्वरूपं "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि"त्यादिश्रुतिसिद्धो जीवात्माऽक्षरशब्दवाच्यस्त्वमेव। सदसच्छब्दवाच्यं कार्यकारणोभयावस्थं प्रकृतितत्त्वं त्वमेव। तत्परं यत् यस्मात्सदसद्रूपप्रकृतितत्संसृष्टाज्जीवात्परं तुरीयं तत्त्वं यत्तदपि त्वमेव। तस्मात्सर्वं नमन्तीति न किमपि चित्रमित्यर्थः।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-,स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥३८॥

किञ्च—त्वमिति। त्वमादिदेवो देवानामादिः, यतः पुराणोऽनादिः पुरुषः अतस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं विश्वस्यात्मतया परमाधारभूतस्त्वमेवेत्यर्थः। विश्ववेत्ता प्रत्यक्षतया ज्ञाता त्वमसि। वेद्यं च वस्तुजातं त्वमेव। परं च धाम स्थानं वैष्णवं पदं वैकुण्ठाख्यं त्वमेव। अतएव हे अनन्तरूप! त्वया विश्वं ततं व्याप्तम्। एतैरपि विशेषणैस्त्वमेव नमस्कार्य इति भावः।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः, प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

किञ्च—वायुरिति। वाय्वादिरूपस्त्वं, सर्वप्रजायाः सन्ततेः पतिः सर्वस्य जनकः पितामहस्त्वं तस्यापि जनकत्वात् प्रपितामहश्च त्वमेव। एवं सर्वात्मभूतोऽसि, तस्मात्ते तुभ्यं सहस्रकृत्वः सहस्र-वारान्नमो नमोऽस्तु। पुनश्च भूयोऽपि नमो नमः।

क्यों नहीं प्रणाम करे? आप ब्रह्मा से भी बड़े हैं और आदि कर्त्ता हैं अर्थात् ब्रह्मा के भी पिता हैं। हे अनन्त! अर्थात् आदि, मध्य और अन्त से हीन, सब देश, काल और वस्तु में व्यापक, हे सब देवों के अधीश्वर, हे जगन्निवास, अर्थात् सब चेतन और अचेतन जगत के आश्रय, आप अक्षर हैं अर्थात् अविनाशी, क्षेत्रज्ञ स्वरूप, अक्षर शब्द से वाच्य जीवात्मा आप ही हैं, जिसके विषय में श्रुति कहती है—"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"। फिर सत् और असत् शब्द से वाच्य कार्य कारण रूप प्रकृति-तत्त्व आप ही हैं, और सत् असत् रूप प्रकृतिसृष्ट जीवों से परे जो तुरीय तत्त्व है वह भी आप ही हैं। इसलिए सब आपको नमस्कार करते हैं इसमें कोई विचित्रता वा आश्चर्य करने की बात नहीं है ॥३७॥

और भी, आप देवताओं के आदि हैं। आप सनातन पुरुष हैं और ऐसा होने के कारण इस संसार के आप ही निधान हैं अर्थात् विश्व की आत्मा होने से आप उसके परम आधारभूत हैं। आप इस विश्व के प्रत्यक्ष ज्ञाता हैं। ज्ञातव्य वस्तु भी आप ही हैं। वैकुण्ठ नामक परधाम आप ही हैं। हे अनन्तरूप! आप ही से सारा संसार व्याप्त है। भाव कि इन सब विशेषणों से युक्त होने से आप ही नमस्कार करने के योग्य हैं ॥३८॥

वायु, मन, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा आदि आप ही हैं। सब प्रजा के पति अर्थात् पितामह आप

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ! ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

अत्याश्चर्यरूपं भगवन्तं दृष्ट्वाऽत्यद्भुतभक्तिप्रवाहवेगेन सर्वतो नमस्करोति । ते तुभ्यं पुरस्तादग्रभागेऽथ पृष्ठतोऽपि नमोऽस्तु । किं बहुना सर्वत एव ते नमोऽस्तु । सर्वतः कृतो नमस्कारो मे कथं स्यादित्यत आह—हे सर्वेति ! । कथमहं सर्व इति चेत्तत्राह हे अनन्तवीर्याऽमितविक्रमोऽपरिमितपराक्रमस्त्वं यतः सर्वं जगत्समग्रात्मतयाऽऽप्नोषि, व्याप्नोषि । ततः सर्वोऽसि । एतेन पूर्वोक्तवास्वादिसर्वचेतनाचेतनजगत्सामानाधिकरण्यनिर्देशस्तदात्मतया व्याप्त्यैव सूपपन्नः । नतु मायावाद्यभिमतविवर्ताधिष्ठानत्वेनेति सिद्धम् ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदम्, मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि, विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत ! तत्समक्षं, तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अहो पुनः पुनरयतः पृष्टतश्च भूयो भूयः किमिति नमस्करोषीत्यपेक्षायां त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानाच्चैते बहुशो मयाऽपराधाः कृतास्तन्निवृत्तये इदानीं परमकारुणिकं त्वां क्षमायामीत्याह—सखेतीति द्वाभ्याम् । इदं सर्वगरीयस्त्वब्रह्मादिकर्तृत्वसर्वनमस्कार्यत्वादिकं तव महिमानमजानता मया प्रमा-

---

हो हैं । पितामह के भी जनक होने से प्रपितामह आप ही हैं । इस प्रकार आप सर्वात्मस्वरूप हैं । इससे आपको सहस्रवार नमस्कार २ है और फिर भी नमस्कार २ है ॥३९॥

भगवान् का आश्चर्यरूप देखकर (चातुर्मास में बढ़ती हुई नदी के जल के प्रवाह के समान) उमड़ी हुई भक्ति से अर्जुन सब प्रकार से और चारों ओर से उनको प्रणाम करता है । आपको आगे से और पीछे से नमस्कार है । बहुत क्या आपको सब ओर से नमस्कार है, क्योंकि आप सर्व हैं । सर्व होने का कारण बताते हैं :—आप अनन्त बलवाले हैं, आपका पराक्रम अपरिमित है । आप जगत् के आत्मा हैं । इसलिए सारे संसार में व्याप्त हैं । इसलिए आप सर्व हैं ।* इससे भगवान् का चेतनमय जगत् में तादात्म्य भेद का सहनशील अभेद रूप से व्याप्त होना सिद्ध हुआ । मायावादियों का विवर्ताधिष्ठान इससे नहीं सिद्ध होता ॥४०॥

अहो ! बार २ और आगे पीछे क्यों प्रणाम करते हो ? इसका उत्तर अर्जुन दो श्लोकों से देते हैं । सबसे बड़े होने, ब्रह्मादिक के भी कर्त्ता होने, सबसे नमस्कार योग्य होने आदि आपकी महिमा को

---

* पूर्व में कहे वायु यमादि सर्वरूप होने से चेतन और अचेतन जगत् का भगवान् के साथ समानाधिकरण दिखाया । यह भगवान् को तादात्म्यरूप से जगत् व्याप्त होने पर ही बनता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् और ब्रह्म का भेदाभेद सम्बन्ध ही ठीक है ।

दान्मोहात्प्रणयेन स्नेहेन वा सखेति त्वं मम समानवया इति मत्वा प्रसभं विनयापेतं हठेन वा हे कृष्ण। हे यादव ! हे सखेति यदुक्तम्। यच्चावहासार्थं परिहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु सहकृतेषु मयाऽसत्कृतोऽसि तिरस्कृतोऽसि, एकः सखीन्विहाय रहसि स्थितः,अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं साक्षात् हे अच्युत ! सर्वदा नित्यैकरस ! तत्सर्वमपराधजातं त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावं क्षामये क्षमापये।

पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो, लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥४३॥

अप्रमेयत्वमेवोपपादयति—पितेति। अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकस्त्वमसि पूज्यश्चासि। गुरुश्च शास्त्रोपदेष्टा अतो गरीयान् गुरोरपि गुरुत्वेन पूज्यतमः। हे अमितप्रभाव ! यत एवम्भूतस्त्वं तस्मात्त्वत्समो लोकत्रये नास्ति। यदि त्वत्सम एव नास्ति तर्हि अभ्यधिकः कुतोऽन्यः, त्वदधिकः कुतः स्यात्। नास्ति नासीन्न भविष्यत्येवेत्यर्थः।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्, प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः, प्रियः प्रियायार्हसि देव ! सोढुम् ॥४४॥

एवं सर्वोत्तमत्वेन संस्तुत्य, पूर्वपरिचितसौम्यरूपदर्शनाकाङ्क्षया लोकसिद्धप्रियसम्बन्धनिदर्शनेन भगवन्तं प्रसादाभिमुखीकरोति—तस्मादिति। यस्मात्त्वं सर्वस्य पिता गुरुतमः पूज्यश्चातिशयसाम्यरहितश्च तस्मात् प्रणम्य, कथं प्रणिधाय कायम्। भूमौ दण्डवन्निपत्य ईशं सर्वलोकस्वामिनमीड्यं स्तुत्यं त्वामहं प्रसादये, मद्विषयानुग्रहाभिमुखं कामये। हे देव ! सर्वसम्बन्धिरूपेण दीव्यति व्यवहरतीति तथा। कृतापराधस्यापि पुत्रस्य पितेव, सख्युः सखेव, प्रियायाः प्रिय इव, प्रणामपूर्वकं

न जानकर मैंने भूल से वा प्रेम से वा आपको समवयस्क सखा जानकर हठ करके तिरस्कार पूर्वक आपको हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा आदि जो कहा है, और विहार, शयन, भोजन के समय, अकेले में वा हँसी करते हुए उन सखाओं के सामने जो हँसी में आपका तिरस्कार किया है, उसको हे अचिन्त्यशक्तिवाले अच्युत ! आपसे क्षमा कराता हूँ ॥४१-४२॥

अप्रमेयता का वर्णन करते हैं—इस चराचर लोक के पिता आप ही हैं, पूज्य हैं, शास्त्रोपदेशक गुरु के भी गुरु होने से अधिक पूजनीय हैं। हे अप्रतिम प्रभाववाले, आप ऐसे हैं इसलिये तीनों लोक में आपके समान कोई नहीं है। यदि आपके समान ही कोई नहीं है तो आपसे बढ़कर दूसरा कौन होगा ? भाव यह कि आपके समान न कोई है, न हुआ, न होगा ॥४३॥

इस प्रकार सर्वोत्तम रूप से स्तुति करके पूर्वपरिचित सौम्यरूप के दर्शन की इच्छा से लोकप्रसिद्ध प्रिय सम्बन्ध का निर्देश करके भगवान् को प्रसन्न करते हैं। आप सबके पिता, परम गुरु, पूज्य और श्रेष्ठ तथा साम्यरहित हैं, इसलिए पृथ्वी पर दण्ड के ऐसा गिरकर प्रणाम करके आपको, जो सब लोक के स्वामी और स्तुति योग्य हैं, प्रसन्न करता हूँ। हे देव ! अर्थात् सब सम्बन्धीरूप से व्यवहार करनेवाले, जैसे अपराधी पुत्र का पिता, मित्र का मित्र और पत्नी का पति प्रणामपूर्वक प्रार्थना

प्रार्थितः सर्वापराधं सोढ्वा प्रसीदति तथा ममापराधं सोढुमर्हसि । प्रियः प्रियायार्हसीत्यत्रेवशब्दस्य लोपः सन्धिश्चार्षः ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव ! रूपं, प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ! ॥४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त ,मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्त्ते ! ॥४६॥

एवं सम्बन्धज्ञापनेन क्षमापयित्वा भगवन्तं प्रसन्नमुपलक्ष्य स्वाभिलषितं प्रार्थयते—अदृष्टपूर्वमिति द्वाभ्याम् । पूर्वं कदाऽप्यदृष्टं तवेदं रूपं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि हृष्टोऽस्मि । घोररूपदर्शनजेन भयेन मे मनः प्रव्यथितं व्याकुलीकृतम् । अतो हे देव ! तदेव पूर्वपरिचितं प्रसन्नं रूपं मे दर्शय । हे देव देवेश देवानां ब्रह्मादीनामपीश ! जगन्निवास ! सर्वजगदाश्रयभूत प्रसीद, तत्सौम्यरूपप्रदर्शनात्मकं प्रसादं मे कुर्वित्यर्थः । तद्रूपमेवानुवदति—किरीटिनमिति । तथैव पूर्ववदेव किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छामि । अतो हे सहस्रबाहो ! विश्वमूर्त्ते ! इदं रूपमुपसंहृत्य तेनैव पूर्वेण किरीटादियुक्तेन चतुर्भुजेन रूपेणैव भव प्रकटो भवेत्यर्थः ।

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदम्, रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम्, यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

एवमर्जुनेन प्रसादितस्तदेव स्वं रूपं दर्शयितुं तावद्विश्वरूपं मया तवानुग्रहायैव दर्शितमित्याश्वासयन् श्रीभगवानुवाच—मयेति त्रिभिः । हे अर्जुन ! किमिति त्वं भीतोऽसि यतो मया प्रसन्नेन

करने पर सब अपराध क्षमा करता है, वैसे ही आप मेरे सब अपराधों को सह लेंगे अर्थात् क्षमा कर देंगे ॥४४॥

इस प्रकार सम्बन्ध जोड़कर क्षमा कराने के बाद भगवान् को प्रसन्न देखकर अर्जुन अपनी अभिलाषा प्रकट करते हैं। पहले कभी न देखे हुए आपके इस रूप को देखकर मैं प्रसन्न हूँ। आपके घोर रूप का दर्शन करके मेरा मन बहुत व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव ! वही पूर्व का परिचित प्रसन्न रूप ही मुझे दिखलाइए। हे ब्रह्मादि देवों के भी मालिक, हे सब जगत् के आश्रयभूत ! आप प्रसन्न हूजिए अर्थात् उस सौम्यरूप को दिखलाने की कृपा कीजिए। अब उस रूप का वर्णन करते हैं। पहले के ऐसे किरीटधारी हाथ में गदा चक्र लिए हुए आपको देखना चाहता हूँ। हे सहस्र हाथवाले ! हे विश्वमूर्त्ते ! इस रूप को हटाकर पहले का किरीट आदियुक्त चतुर्भुज रूप धारण कीजिए ॥४५-४६॥

अर्जुन से प्रसन्न किये जाने पर भगवान् ने अर्जुन को, यह कह कि अपना पहला रूप दिखाने के लिये ही मैंने तुम पर अनुग्रह कर अपना यह विश्वरूप दिखाया, इस प्रकार आश्वासन देते हुए

स्वत्प्रसादार्थं तेजोमयं विश्वं सर्वात्मभूतमनन्तमन्तरहितमाद्यं कृत्स्नस्यादिभूतं यत्त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं तदिदं परं श्रेष्ठतरं रूपं तव आत्मयोगात् आत्मनः सत्यसङ्कल्पत्वयोगादर्शितम् ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै,र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके, द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥४८॥

एतद्रूपदर्शनं मत्प्रसादेन विना दुर्लभम् । अतो मदनुग्रहेणैव तद्दृष्ट्वा त्वं कृतार्थोऽसीत्याह—न वेदानां चतुर्णामपि अध्ययनैर्गुरुमुखादक्षरराशिग्रहणरूपैस्तथा यज्ञानां मीमांसाकल्पसूत्रादिलक्षणानां यज्ञविद्यानां साङ्गयज्ञकर्मप्रतिपादकानामध्ययनैरर्थविचाररूपैः न दानैर्भूमितुलाकन्याऽन्नादीनां पात्रेष्वर्पणरूपैः, नच क्रियाभिरग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिः, न चोग्रैस्तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः, एवंरूपोऽहं नृलोके मनुष्यलोके हे कुरुप्रवीर ! त्वदन्येन मदनुग्रहरहितेन द्रष्टुं शक्यः, अपि तु मत्प्रसादभाजनेन त्वादृशेनैव द्रष्टुं शक्य इत्यर्थः शक्य अहमित्यत्र विसर्गलोप आर्षः । एकेनापि नकारेणोक्तार्थसिद्धौ चतुर्भिर्नकारैर्दर्शनप्रतिषेधाभ्यासः स्वसाक्षात्कारं प्रति स्वानुग्रहस्यैवासाधारणहेतुत्वज्ञापनाय । तथा च श्रुतिः "शृण्वन्तोऽपि बहवोयं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वामि"ति ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो, दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम्, तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

बोले । हे अर्जुन ! तुम डरे क्यों हो ? मैंने प्रसन्न होकर तुमको खुश करने के लिए ही अपने तेजोमय, सर्वव्यापी, अनन्त, सबका आदिभूत तथा और इसके पहले किसी से न देखे गये इस सर्वश्रेष्ठ रूप को अपने सत्य संकल्प के योग से तुमको दिखलाया है ॥४७॥

इस रूप का दर्शन मेरी कृपा बिना दुर्लभ है । इस वास्ते मेरे अनुग्रह से इस रूप को देखकर तुम कृतार्थ हो गये । इसी को कहते हैं हे—कुरुओं में श्रेष्ठ ! इस मनुष्यलोक में मेरे इस रूप को चारों वेदों के अध्ययन से अर्थात् गुरुमुख से अक्षरों को सुनकर रट लेने से, यज्ञों के अध्ययन से अर्थात् साङ्गयज्ञ-कर्मों के प्रतिपादक (निर्णय कर्त्ता) मीमांसा कल्पसूत्रादि के पढ़ने से, भूमि, तुला, कन्या, अन्न आदि पात्रों में दान करने से, अग्निहोत्रादि श्रौत कर्मों को करने से तथा कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत स्वरूप कठिन तपों को करने से भी तुमको छोड़कर और कोई नहीं देख सकता है, अर्थात् तुम्हारे जैसे कोई विरले मेरे कृपापात्र ही देख सकते हैं । एक नकार से ही काम चल जाता पर चार नकार देने से अपने साक्षात्कार के प्रति अपने अनुग्रह को ही असाधारण कारण सिद्ध किया है । श्रुति में भी कहा है—"शृण्वन्तोऽपि बहवोयं न विद्युः । नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः । न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ।" अर्थात् सुनकर भी बहुतों ने इसको न जाना । यह परमात्मा न व्याख्यान से, न बुद्धि से, न बहुत पढ़ने से जाना जाता है, किन्तु जिसको यह वरण करता (अपनाता) है उसी को प्राप्त होता है, उसी को परमात्मा अपना शरीर वरण करता है ॥४८॥

एवं त्वदनुग्रहार्थमाविष्कृतमिदं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा भवति चेत्तर्हि तदेव रूपं दर्शयामीत्याह—मा ते इति। ईदृक् घोरं मदीयमिदं रूपं दृष्ट्वा या ते व्यथा यश्च विमूढभावोऽतःकारणविभ्रमः तदुभयं मा भूत्। किन्तु व्यपेतभीर्विशेषेणापगतभयः प्रीतमनाश्च सन् पुनस्त्वं तदेवेदं मम रूपं प्रपश्य।

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा, स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनम्, भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

एवमुक्त्वा भगवान्पूर्वरूपमेवार्जुनाय दर्शयामासेति—सञ्जय उवाच। इत्येवमर्जुनं वसुदेवसूनुरुक्त्वा भूयः पुनः किरीटादियुक्तं चतुर्भुजं स्वकीयं रूपं दर्शयामास। घोररूपदर्शनेन भीतमेनमर्जुनं पुनः सौम्यवपुर्भूत्वा आश्वासयामास च। महात्मा परमकारुणिकः सार्वज्ञवात्सल्यादिमहद्गुणाश्रयः।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन!।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

भगवतैवमाश्वासितो व्यपेतभयः सन्नर्जुन उवाच—दृष्ट्वेति। हे जनार्दन! निरतिशयसौन्दर्यसौकुमार्यमाधुर्यलावण्यादिदिव्यगुणनिधिमानुषं मनुष्यसंस्थानविशिष्टमतिसौम्यं तवेदं रूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेता अव्याकुलचित्तः संवृत्तोऽस्मि। तथा प्रकृतिं साध्वसनिवृत्त्या स्वास्थ्यं गतोऽस्मि।

श्री भगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

तुम पर कृपा कर मैंने जो यह रूप प्रकट किया है यदि उसको देखकर तुम्हें व्यथा होती है तो मैं तुमको वह पहला ही रूप दिखाता हूँ। इसी को कहते हैं—मेरे इस प्रकार के भयानक रूप को देखकर जो तुम्हें दुःख और विमूढ़भाव हुआ है वे दोनों मत हों, किन्तु तुम निडर हो जाओ, खुशी से मेरा वह पहला ही रूप देखो, अर्थात् जिसको तुमने पहले देखा है, उसी चतुर्भुज वासुदेव रूप को मैं प्रकट करता हूँ तुम देखो ॥४९॥

ऐसा कह भगवान् ने अपना पहला रूप दिखाया, इसी को संजय कहते हैं। वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर फिर अपना किरीट आदि युक्त चतुर्भुज रूप दिखाया। भयानक रूप को देख डरे हुए अर्जुन को, फिर सुन्दर रूप धारण कर परम कारुणिक और सर्वज्ञता, वात्सल्य आदि गुणों के आश्रय, श्रीकृष्ण ने आश्वासन दिया ॥५०॥

भगवान् से इस प्रकार आश्वासित होने पर अर्जुन ने निडर होकर कहा—हे जनार्दन! अत्यन्त सौन्दर्य, सुकुमारता, मधुरता, लावण्य आदि दिव्य गुणों की खान सुन्दर आपके इस मनुष्य रूप को देखकर मैं अब सचेत और प्रकृतिस्थ अर्थात् स्वस्थ हो गया हूँ ॥५१॥

दर्शितस्य विश्वरूपस्य स्वानुग्रहं विना दुर्दर्शत्वं श्रीभगवानुवाच—सुदुर्दर्शमिति। सर्वाश्रयं सर्वकारणभूतं मम विश्वरूपं यत्त्वं दृष्टवानसि, तदिदं सुदुर्दर्शं सुतरां द्रष्टुमशक्यं, यतो देवा अपि अस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः। ननु दृष्टवन्तो न वा द्रक्ष्यन्ति।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

एतत् कुतस्तत्राह—नाहमिति। वेदैरध्ययनाध्यापनश्रवणार्थमननादिविषयैरुपनिषद्व्यतिरिक्तैः तपोदानेज्यादिभिश्च एवंविधोऽहं द्रष्टुं न शक्यः, यथा मां त्वं दृष्टवानसि।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन!।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप! ॥५४॥

यद्येतैर्न द्रष्टुं शक्यस्तर्हि केनोपायेन द्रष्टुं शक्यो भवानित्यपेक्षायामाह—भक्त्येति। तुशब्दः भक्तेः सर्वसाधनेभ्यः स्वातन्त्र्येणोत्कर्षद्योतनपरः। अनन्यया साधनसाध्यसम्बन्धरूपतया मदेकनिष्ठया भक्त्या तु एवम्भूतो विश्वरूपोऽहं तत्त्वेन परमार्थतो ज्ञातुं शक्यः। हे अर्जुन! तत्त्वेन द्रष्टुं च साक्षात् कर्तुं शक्यः। प्रवेष्टुं च मच्छक्त्यात्मना मदाधेयतयाऽवस्थातुं शक्यः। हे परन्तप! परापरशक्तिरूपत्वाच्चेतनाचेतनरूपविश्वस्य "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तथाऽपरे"ति वैष्णवे जनकवाक्यात्।

मेरे अनुग्रह के बिना इस मेरे विश्वरूप को कोई नहीं देख सकता है। इसी को भगवान् कहते हैं। मेरे जिस सर्वाश्रय, सर्वकारणभूत, विश्वरूप को तुम देखे हो वह रूप देखने को अति दुर्लभ है, मेरी कृपा बिना स्वयं कोई नहीं देख सकता। क्योंकि देवता भी इस रूप के दर्शन के लिये अभिलाषी बने रहते हैं। उन्होंने न इस रूप को देखा है न देखेंगे ॥५२॥

आपका यह रूप दुर्दर्श क्यों है? इसका उत्तर देते हैं—जैसे रूप को तुमने देखा, है वैसा रूप उपनिषदों को छोड़कर वेदों के पठन पाठन, श्रवण, मनन आदि से, वा तप से वा दान से वा यज्ञ आदि से नहीं देखा जा सकता ॥५३॥

यदि वेदादि से आप देखे नहीं जा सकते तो किस उपाय से देखे जा सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—भक्त्या तु इसमें 'तु' शब्द भक्ति को सर्व साधनों में स्वतन्त्र होने से श्रेष्ठ बताने के लिये व्यवहार किया गया है। हे अर्जुन! मेरी अनन्य भक्ति से अर्थात् मेरी एकनिष्ठ भक्ति से, जिस भक्ति में साध्य, साधन और सम्बन्ध केवल मैं ही होऊँ, विश्वरूप मैं यथार्थ रूप से जाना जा सकता हूँ। हे शत्रुओं के नाश करनेवाले! उसी भक्ति से ऐसे रूपवाला मैं देखा भी जा सकता हूँ, और मेरे उस रूप में प्रवेश भी किया जा सकता है अर्थात् मेरी शक्तिरूप से मेरा आधेय होकर स्थित भी हो सकता है, चेतन अचेतन रूप विश्व का (मेरी) परा और अपरा शक्ति होने के कारण। विष्णुपुराण में जनक का वचन है—"विष्णुः शक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तथाऽपरा" अर्थात् विष्णु की दो शक्ति कही गयी हैं एक अपरा और दूसरी चेतना नामवाली परा। भगवान् ने स्वयं भी कहा है—

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्"इति स्वयमप्युक्तत्वात्। तस्माद्देवादीनां वेदादिभिर्दर्शनाशक्यत्वं यदुक्तं तद्भक्तिहीनानामेवेति फलितम्।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ! ॥५५॥

एवमनन्यया भक्त्या येन पुरुषेण स्वस्य ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च शक्यत्वमुक्तं तस्य वृत्तिं फलं च वदन्नध्यायमुपसंहरति—मत्कर्मकृदिति। यत्किञ्चिद्वेदाध्ययनादिसर्वं कर्म मदाराधनरूपं यः करोति, स मत्कर्मकृत्, तथा मत्परमः अहमेव परमः प्राप्यभूतः पुरुषार्थो यस्य नतु स्वर्गस्त्रीपुत्रधनादिर्मत्कर्मफलं तथा सः। अत एव मद्भक्तः मत्कीर्त्तनश्रवणध्यानार्चनादिमद्भजनेनैव कालक्षेपं यः करोति स तथा। ननु पूर्वसिद्धस्त्रीपुत्रादिस्नेहे तद्भरणार्थमावश्यककर्मान्तरे च सति कथमुक्तप्रकारस्त्वद्भक्तः स्यादिति चेत्तत्राह—सङ्गवर्जित इति। मद्भक्तेतरसर्वसङ्गशून्यः। एवमपि सर्वभूतेषु यो निर्वैरः अपकारिजनेष्वपि द्वेषाभिनिवेशवर्जितो यः स मामेति। विश्वमायानिवृत्तिपूर्वकमद्भावापत्तिमाप्नोति, न पुनरावर्त्तते इत्यर्थः।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां एकादशोऽध्यायः ॥११॥

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमे पराम्"। इससे देवताओं और वेदादि से दर्शन के योग्य न होना, जो पीछे कहा है, वह भक्तिहीनों के लिये ही है ऐसा समझना ॥५४॥

इस प्रकार अनन्यभक्ति से जो पुरुष भगवान् के जानने देखने और उनमें प्रविष्ट होने में समर्थ होगा, उसकी वृत्ति और फल कहकर अध्याय समाप्त करते हैं। जो मत्कर्म का कर्त्ता है अर्थात् वेदाध्ययन, नित्य-नैमित्तिक आदि सब कर्म जिसके मेरी आराधना स्वरूप ही हैं, जो मत्परायण है अर्थात् जिसका प्राप्यवस्तु, परम पुरुषार्थ मैं ही हूँ, मेरे लिए किए गए कर्मों के फल जिसके पुत्र, धन, स्त्री आदि नहीं हैं, जो मेरा भक्त है अर्थात् मेरे ही कीर्तन, श्रवण, ध्यान, अर्चन आदि मेरे भजन ही में अपना समय बिताता है, और मेरे भक्तों को छोड़ कर और लोगों का संग नहीं करता और अपकारियों के प्रति भी जो द्वेष नहीं रखता, वही मुझे प्राप्त करता है अर्थात् संसार के मायाबन्धन से मुक्त हो मेरे भाव (सर्वज्ञादि) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् फिर जन्म नहीं लेता ॥५५॥

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां एकादशोऽध्यायः ॥११॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वादशोऽध्यायः

★

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाऽप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

पूर्वाध्यायान्ते "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवे" त्यनेन भगवदनन्यभक्तस्य भगवत्प्राप्तिफलमित्युक्तम् । अष्टमेऽध्याये "परस्तस्मात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन"इत्यादिश्लोकेन प्रकृतिसंसृष्टाद्धिरण्यगर्भात्प्रकृतिवियुक्ततयोत्कृष्टो भावो भिन्नो लौकिकपदार्थविलक्षणः शास्त्रमन्तरेण-केनापि प्रकारेण न व्यज्यत इत्यव्यक्तः सनातनो नित्यः प्रत्यगात्मोक्तः । तस्यैव "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिमि"त्यनेनाक्षरत्वपरमागतित्वं परमत्वं चोक्तम् । एवं द्वयोः प्राप्यत्वाभिधानादुभयोः कस्य श्रेष्ठ्यफलत्वं कस्य वा सुखप्राप्यत्वं प्राप्यानुगुणं के वा साधकाः श्रेष्ठा इति विशेषजिज्ञासया अर्जुन उवाच—एवमिति । एवं "मत्कर्मकृन्मत्परम" इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण सततयुक्तास्त्वन्निष्ठाः सन्तो ये भक्ताः सर्वज्ञं सर्वशक्तिं निरवधिकातिशयैश्वर्यं परमप्राप्यं भगवन्तं त्वामेव पर्युपासते, सर्वतः सेवन्ते, ये चाप्यक्षरमविनाशि प्रत्यगात्म-

---

पूर्व अध्याय के अन्त में "मत्कर्मकृन्मत्परमोमद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव !" कह कर भगवान् ने यह प्रगट किया कि मेरा अनन्य भक्त ही मुझको प्राप्त कर सकता है । और आठवें अध्याय में "परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन" इत्यादि श्लोक से यह कहा कि माया में लिपटे हुए ब्रह्मा से भी प्रकृतिवियुक्त होने से श्रेष्ठ, लौकिक पदार्थों से विलक्षण, शास्त्र के अतिरिक्त और किसी उपाय से न जानने योग्य सनातन और नित्यज्ञानानन्दरूप प्रत्यगात्मा ही परम गति है । इस प्रकार प्राप्त करने योग्य इन दोनों गतियों में कौन श्रेष्ठतर है, कौन अधिक सुख से पाया जा सकता है और किसको पानेवाला साधक श्रेष्ठ है ? इसी बात को जानने के लिये अर्जुन बोले—इस प्रकार "मत्कर्मकृन्मत्परमो" इत्यादि कही गई रीति से आप में निष्ठा रखनेवाला भक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सीमारहित, अत्यधिक ऐश्वर्ययुक्त, परमप्राप्य, आपकी उपासना करता है और सब प्रकार से आपकी सेवा करता है । दूसरा चक्षु आदि इन्द्रियों से अगोचर, अविनाशी, प्रत्यगात्म-

स्वरूपं तदेव चक्षुरादिकरणेनानभिव्यक्तमुपासते । तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः योगमुत्तमप्राप्त्युपायं विदन्ति ते योगविदस्तेषु परमफलप्राप्तिसाधनवित्त्वाद्योगवित्तमाः श्रेष्ठा इत्यर्थः ।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

तत्र प्रथमाः श्रेष्ठा इत्युत्तरं श्रीभगवानुवाच—मयीति । सावंश्यवात्सल्यादिगुणाब्धौ स्वाश्रितदोषक्षपणस्वभावे मयि मन आवेश्यैकाग्रं कृत्वा नित्ययुक्ताः क्षणाद्यपरिच्छेदेन मदनुध्यानसम्पन्नाः सन्तः परयोत्कृष्टया श्रद्धयोपेता युक्ता ये मामुपासते आराधयन्ति, ते मे मम युक्ततमा मता अभिमताः ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

तर्हीतरे न श्रेष्ठास्ते किं वा फलं प्राप्नुवन्तीत्यत आह—ये त्विति द्वाभ्याम् । ये तु मदुपासकेतरा अक्षरं प्रत्यगात्मस्वरूपमनिर्देश्यं देहादिविलक्षणत्वाद्देवमनुष्यादिशब्दनिर्देशानर्हमत एवाव्यक्तं चक्षुराद्यविषयं सर्वत्रगमचिन्त्यं च सर्वत्र देवमनुष्यादिदेहे वर्त्तमानमपि तद्विलक्षणत्वाद्देवादिरूपेण चिन्तयितुमनर्हमत एव कूटस्थं कूटे देवमनुष्यादिदेहसमूहे क्रमेणावस्थितमपि तदाकारं न भवति स्वासाधारणाकार एव सर्वत्र तिष्ठति, निर्विकारमपरिणामीत्यर्थः । अपरिणामित्वेनैव स्वासाधारणाकाराच्च न चलतीत्यचलमत एव ध्रुवं नित्यम् ।

स्वरूप की उपासना करता है । इन दोनों में कौन योगवित्तम है अर्थात् परम फलप्राप्ति के साधन में कौन श्रेष्ठ हैं ? भाव कि दोनों में से किस का उपाय श्रेष्ठतर है ? ॥१॥

ऊपर कहे हुए दोनों में पहले साधक श्रेष्ठ हैं, इसी को कहते हैं ।

भगवान् बोले—सर्वज्ञ, वात्सल्य आदि गुणों के समुद्र, अपने आश्रितों के दोष क्षमा करनेवाले मुझ में एकाग्रता पूर्वक मन लगाकर मेरे ध्यान में सदा लगे हुए, और उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त होकर, जो मेरी उपासना करते हैं, वही श्रेष्ठ हैं अर्थात् उन्हीं का साधन श्रेष्ठतर है, यही मेरा मत है ॥२॥

तब दूसरे जो श्रेष्ठ नहीं हैं वे कौन फल पाते हैं ? इसका उत्तर देते हैं ।

अन्य लोग, जो हमारे उपासक नहीं हैं, प्रत्यगात्म स्वरूप को, जो अक्षर है, देहादि से विलक्षण होने से देव, मनुष्य आदि सम्बोधनों के अयोग्य है अर्थात् जिसको देव या मनुष्य कह के नहीं पुकार सकते, इसलिये जो अव्यक्त अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों से अगोचर है, सर्वत्रग अर्थात् देव, मनुष्यादि के शरीर में वर्त्तमान रहने पर भी उनसे विलक्षण होने के कारण जो देवादि रूप से अचिन्तनीय है और इसलिये कूटस्थ है अर्थात् देव मनुष्य आदि के शरीर में क्रम से स्थित होकर भी उनके आकार का नहीं हो जाता बल्कि उनसे विलक्षण अपने असाधारण आकार से ही सर्वत्र रहता है, (अथवा ज्ञान धर्म से सबमें व्यापक है, इससे सर्वत्रगम् कहा), अपरिणामी है और इससे अचल और नित्य है, ऐसे

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वेभ्यः स्वव्यापारेभ्य सम्यङ्नियम्य सर्वत्र देवादिविषमाकारेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारदर्शने समबुद्धयः समबुद्धित्वादेव सर्वभूतहिते रताः । एवम्भूताः सन्तो येऽक्षरमुपासते, ते मामेव मत्समानाकारं मदंशमेव प्राप्नुवन्ति, ननु संसरन्तीत्यर्थः । "तं यथा यथोपासते तथा तथा भवती"ति श्रुतेः । अक्षरोपासका अक्षरात्मानमेव मां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

ननु यद्यक्षरोपासका अपि तद्रूपं त्वामेव प्राप्नुवन्ति तर्हि पूर्वोक्तानामेतेभ्यः को विशेषो यतस्तेषां युक्ततमत्वमुक्तमित्यपेक्षायामाह—क्लेश इति । अव्यक्ते पूर्वोक्तेऽक्षरे आसक्तं चेतो येषां तेषामव्यक्तचेतसां क्लेशोऽधिकतरः हि यतोऽव्यक्ता गतिरव्यक्तविषया गतिर्मनोनिष्ठा देहवद्भिर्देहात्माभिमानयुक्तैर्दुखं दुःखेनावाप्यते । देहाभिमानवतां तद्विलक्षणशुद्धात्मनिष्ठाया दुर्लभत्वादित्यर्थः ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

अक्षर की उपासना करते हैं, ये लोग जो अपने इन्द्रियसमूह को उनके व्यापारों से रोक कर और देवादि विषमाकार देहों में स्थित होने पर भी ज्ञान स्वरूप से एकाकार देखने के कारण सबमें समान बुद्धि रखते हुए और इसी कारण सबकी भलाई में निरत, प्रत्यगात्मा अर्थात् अक्षर की उपासना करते हैं वे मुझे ही अर्थात् मेरे समानाकारवाले मेरे अंश को ही प्राप्त करते हैं । मतलब कि ये फिर संसार में नहीं आते । श्रुति कहती है "तं यथा यथोपासते तथा तथा भवति" अर्थात् जो जिस प्रकार भगवान् की उपासना करता है वह उसको वैसा ही पाता है । मतलब यह कि अक्षर के उपासक अक्षरात्मक मुझको ही पाते हैं ॥३+४॥

यदि अक्षर के उपासक अक्षर रूप तुम ही को प्राप्त करते हैं तो पहले साधकों में क्या विशेषता हुई कि वे युक्ततम् कहे गये । इस विषय में कहते हैं । पूर्वोक्त अक्षर में जो चित्त लगानेवाले हैं उनको क्लेश बहुत अधिक होता है । कारण कि अव्यक्त में गति अर्थात् मनोनिष्ठा देहाभिमानियों को कठिनता से प्राप्त होती है ※ मतलब कि देहाभिमानियों को देह से विलक्षण शुद्ध आत्मनिष्ठा दुर्लभ है ॥५॥

※ अथवा 'अव्यक्ता गति' नाम अव्यक्त, अक्षर, आत्मस्वरूप ही गति अर्थात् साधन से प्राप्यफल, सो मनुष्यों को बड़े कष्ट से होता है ।

मद्भक्तानां तु अनायासेनाल्पकालेनैव मत्प्राप्तिर्भवतीत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम्। ये तु जन्मसमये मत्कृपाकटाक्षावलोकिता लौकिकानि देहयात्रार्थकानि वैदिकानि यागदानाग्निहोत्रप्रभृतीनि सर्वाणि फलाभिसन्धिवर्जितानि मत्प्रसादैकप्रयोजनानि अत्यर्थप्रेष्ठे मयि संन्यस्य सम्यक्तयाऽर्प्य मत्परा अहमेव परं प्राप्यं येषां ते तथा भूत्वा मां भगवन्तं वासुदेवं ध्यायन्तश्चिन्तयन्तोऽनन्येनैव योगेन न विद्यतेऽन्यो भजनीयः प्राप्यश्च यस्मिन् तेन भक्तियोगेनोपासते, ध्रुवास्मृतिरूपां चित्तवृत्तिं मयि निवेशयन्तोत्यर्थः।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

तेषामुक्तप्रकारेण मय्यावेशितचेतसाम् अहं वात्सल्यकारुण्यदयादिनिधिः मृत्योरपि मृत्युः स्वभक्तदुःखासहिष्णुर्मृत्युयुक्तात्संसारसागरादचिरेणैव समुद्धर्त्ता भवामि। हे पार्थ! उद्धृत्य च नित्यनिरतिशयानन्दरूपामात्मभावापत्तिं मुक्तिं ददामीत्यर्थः।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

एवं स्वानन्यभक्तानां मृत्युसंसारसागरान्मोचकः परमानन्ददाता चाहमेवातस्त्वमप्येवं कुर्वित्याह—मय्येवेति। चेतसः शुभाश्रये भक्तप्रिये ईश्वरेश्वरे मय्येव नतु देवान्तरे फलान्तरे वा मन

हमारे भक्तों को अनायास ही और थोड़े समय ही में मेरी प्राप्ति होती है। इसी को दो श्लोकों से कहते हैं।

जो जन्मकाल में मेरी कृपाकटाक्ष से अवलोकित होकर देहयात्रा के लिये किये गये लौकिक कामों को और याग, दान, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों को, उनके फल की आकांक्षा से शून्य होकर और केवल मेरी प्रसन्नता के लिये ही मुझ में पूरी तरह से अर्पण कर, और मुझको ही परम प्राप्य समझते हुए और मुझ भगवान् का ध्यान करते हुए मेरे अनन्य योग द्वारा, अर्थात् भक्तियोग द्वारा, जिसमें भजनीय और प्राप्य मुझे छोड़कर दूसरी कोई वस्तु न हो, उपासना करता है, अर्थात् ध्रुवास्मृतिरूप अपनी चित्तवृत्ति को मुझ में लगाता है, उस (मेरे में चित्त लगानेवाले) का मैं, (जो वात्सल्य, कारुण्य, दया आदि का समुद्र है, मृत्यु का भी मृत्यु है, और अपने भक्तों का दुःख नहीं सह सकता) संसार रूप समुद्र से बिना देर किये हुए ही उद्धार कर देता हूँ। मतलब कि हे अर्जुन! संसार सागर से निकालकर मैं उनको नित्य, निरतिशय आनन्दयुक्त, आत्मभावापत्तिरूप मुक्ति देता हूँ ॥६+७॥

इस प्रकार अपने अनन्य भक्तों का मैं संसार सागर से उद्धार कर्त्ता और परमानन्द दाता हूँ। इसलिये तुम भी वैसा ही करो। इसी को कहते हैं। मन के शुभाश्रय, भक्तों के प्रिय, और ईश्वरों के भी ईश्वर मुझ भगवान् वासुदेव में अपने मन को लगाओ, दूसरे देवता वा कर्मफल में नहीं। फिर

आधत्स्व समाधानं कुरुष्व। मय्येव बुद्धिमध्यवसायात्मिकां निवेशय। भगवान् वासुदेव एव भजनीयः प्राप्यश्चेति निश्चयं कुर्वित्यर्थः। एवं मय्यावेशितमनोबुद्धिः सन्नत ऊर्ध्वमेतद्देहान्ते मय्येव निवसिष्यसि, नितरां वत्स्यसि। मदाश्रितो भूत्वा न कदाचिदपि वियोक्ष्यसे इत्यर्थः। अत्र संशयो नास्ति।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय! ॥९॥

अत्राशक्तस्य सुकरोपायमाह—अथेति। अथपक्षान्तरे। स्थिरं निश्चलं यथा स्यात्तथा मयि चित्तं समाधातुं यदि न शक्नोषि, ततोऽभ्यासयोगेन निरतिशयसौन्दर्यमाधुर्यलावण्यादिगुणनिधेर्मद्दिव्यमूर्तेः पुनः पुनश्चिन्तनेन मत्प्रियदिव्यनामस्तोत्रादिकीर्त्तनादिरूपेण वाऽभ्यासयोगेन मां प्राप्तुमिच्छ, हे धनञ्जय!।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

तत्राप्यशक्तस्योपायान्तरमाह—अभ्यासेऽपीति। यद्येवंविधमद्रूपस्मरणनामकीर्त्तनाद्यभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि चेत्तर्हि मत्कर्मपरमो भव। मदीयानि कर्माणि मन्दिरनिर्माणतुलसीपुष्पादिवाटिकाकरण-मन्दिरमार्जनलेपनदीपप्रकाशनतुलसीपुष्पाहरणमन्मूर्त्तिस्नापनोद्वर्त्तनगन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यार्पणप्रदक्षिणन-मस्कारस्तुत्यादीनि श्रद्धाप्रीत्यतिशयेन तत्परमो भव। एवम्भूतानि कर्माण्यपि मदर्थं कुर्वन्नचिरादभ्यास-योगपूर्विकां मयि स्थिरां चित्तस्थितिं लब्ध्वा मत्प्राप्तिरूपां सिद्धिमवाप्स्यसि।

मुझ में ही अपनी अध्यवसायात्मिका बुद्धि को अर्पण करो। कहने का मतलब यह कि मुझ भगवान् वासुदेव को ही अपना भजनीय और प्राप्य निश्चय करके जानो। इस प्रकार मुझ में मन और बुद्धि लगाने से मृत्यु के बाद तुम मुझ में ही सदा बसोगे। भाव कि मेरे आश्रय में आकर तुम्हारा कभी मुझ से विछोह नहीं होगा। इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥८॥

अशक्त के लिये सरल उपाय बताते हैं:—हे अर्जुन! यदि स्थिररूप से मुझ में अपना चित्त नहीं लगा सको तो अभ्यासयोग से अर्थात् निरतिशय सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य आदि गुणों के समुद्ररूप मेरी दिव्यमूर्त्ति का बार-बार चिन्तन कर व मेरे दिव्यनाम स्तोत्र आदि के कीर्त्तनरूप अभ्यास से मुझको प्राप्त करने की इच्छा करो ॥९॥

अभ्यास में भी असक्त के लिये दूसरा उपाय बताते हैं। यदि इस प्रकार के मेरे रूप के स्मरण, नामकीर्त्तन आदि के अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे कर्मों में रत होओ, अर्थात् मन्दिर बनवाना, तुलसी पुष्पादि की वाटिका लगवाना, मन्दिर धोना, पोतना, दीपक बालना, तुलसी पुष्प तोड़ना, हमारी मूर्त्ति को नहलाना, पोंछना, गन्ध, फूल, धोप, नैवेद्य अर्पण करना, प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना आदि मेरे सेवा-कार्यों को श्रद्धा और अत्यन्त प्रीति के साथ करो। इस प्रकार के कर्मों को भी मेरे निमित्त करते हुए थोड़े ही समय में अभ्यासयोगपूर्वक मुझ में स्थिर चित्तरूपी स्थिति को पाकर मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को पाओगे ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

उक्तकेवलभगवत्सम्बन्धिकर्मपरत्वेऽप्यशक्तस्योपायान्तरमाह—अथैतदपीति । यदि मद्भक्तियोग-माश्रितः सन्नेतदपि मत्प्रसादहेतुकप्रकारकं मत्कर्मापि कर्तुमशक्तोऽसि ततस्तस्मात्सर्वेषां नित्यनैमित्तिकानामग्निहोत्रादिकर्मणां फलत्यागं कुरु । यतात्मवान् संयतचित्तः सन् फलाभिसन्धिशून्यानि सर्वकर्माणि कुर्वन्नन्तःकरणशुद्धिपूर्वकमात्मज्ञानभक्तिद्वारा मद्भावं प्राप्नोषीति भावः ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

तदेवं भगवत्प्राप्त्यसाधारणकारणतदेकनिविष्टमनोबुद्धित्वलक्षणपराभक्तियोग एव श्रेयस्कामैः सम्पाद्यस्तत्राशक्तानामशक्तितारतम्यात्क्रमेणाभ्यासयोगभगवत्कर्मनिष्ठासर्वकर्मफलत्यागेष्वधिकार आदिष्टः । इदानीं कर्मत्यागस्यैवान्तःकरणशुद्धिद्वारा परम्परया भगवत्प्राप्तिहेतुभूतपरभक्तिसाधनत्वात्तमेव स्तौति—श्रेयो हीति । केवलश्रवणादिरूपादभ्यासात्सद्युक्तिसद्गुरुशास्त्रोपदेशजं परोक्षज्ञानं श्रेयः श्रेष्ठं, प्रत्यगात्मविषयकपरोक्षज्ञानात् तत्साक्षात्कारहेतुर्ध्यानं विशिष्यते, आत्महितत्वे श्रेष्ठतरं भवति । "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि"ति श्रुतेः । ध्यानादप्यनिष्पन्नरूपान्मुमुक्षुकृतः

पूर्वोक्त भगवत् सम्बन्धी कर्मों में निरत होने में भी असक्त के लिये दूसरा उपाय बताते हैं।

यदि मेरे भक्तियोग का आश्रय लेकर ऊपर कहे हुए मेरे कर्मों को भी करने में, जिनसे मुझको प्रसन्नता होती है, असमर्थ हो तो सब नित्य नैमित्तिक और आवश्यक अग्निहोत्रादि कर्मों के फल का त्याग कर दो। भाव कि संयतचित्त हो फलकामना शून्य कर्मों को करते हुए अन्तःकरण शुद्धिपूर्वक आत्मज्ञान भक्ति द्वारा मेरे भाव को प्राप्त करोगे ॥११॥

भगवान् में मन बुद्धि को सदा स्थिर रखना ही लक्षण है जिसका ऐसा पराभक्तियोग भगवान् की प्राप्ति का असाधारण उपाय है और श्रेय अर्थात् मोक्ष की इच्छावालों को उसी का साधन करना चाहिये। अशक्त लोगों के लिये उनकी शक्ति की मात्रा का ध्यान रखते हुए क्रम से अभ्यासयोग, भगवत् कर्मनिष्ठा और कर्मफल त्याग बताया अर्थात् जिसकी जितनी शक्ति हो वह वैसे ही साधन का आश्रय ले, ऐसा उपदेश दिया।

अब इस श्लोक में कर्मफल त्याग की ही प्रशंसा करते हैं, क्योंकि कर्मफल त्याग ही अन्तःकरण की शुद्धि करके परम्परारूप से पराभक्ति का, (जो भगवत् प्राप्ति का कारण है,) साधन बनता है।

केवल श्रवणादिरूप अभ्यास से वह परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, जो उत्तम युक्ति और सद्गुरु और शास्त्र के उपदेश से उपजता है। प्रत्यगात्मा (जीव) विषयक परोक्ष ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि वह आत्मा के साक्षात्कार का कारण है, और इसीलिये आत्मा के हित में अति श्रेष्ठ है। श्रुति कहती है "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" अर्थात् ध्यान योग के करनेवालों ने अपने

कर्मफलत्यागो विशिष्यते, इत्यनुपज्यते । त्यागात् श्रेयोऽयिना यतचित्ततया कृतात्कर्मफलत्यागात् फलाभिसन्धिशून्यकर्मानुष्ठानादनन्तरमेव निरस्तपापतया मनःशान्तिर्भवति । "प्रजहाति यदा कामान्-सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते"इत्यनेन सर्वकामत्यागस्यैव परम-शान्तिफलकत्वाभिधानात् । "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत" इति श्रुतेश्च ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरमित्युक्तम्"दानीमेवम्भूतनिष्कामकर्मकर्तुर्भक्तिमभीप्सोः शीघ्रमेव भग-वत्प्रसादहेतूनुपादेयान्गुणानाह—अद्वेष्टेत्यादि सप्तभिः । सर्वाणि भूतानि मदपराधानुगुणमीश्वरप्रेरितानि मह्यं द्विषन्ति नैषां कश्चिदपराध इत्यनुसन्धानेन सर्वभूतानामद्वेष्टाऽनपकारी, तथा तेषु मैत्रो हिताशंसन तद्वान् मैत्रः, यतः करुणः तेष्वेव दुःखितेषु दयावान्, तथा निर्ममः देहेन्द्रियेषु तत्सम्बन्धिषु च ममताशून्यः, निरहङ्कारः अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिरहङ्कारस्तद्रहितः । तत एव समदुःखसुखः, अत एव क्षमी सुख-दुःखहेतुषु चित्तविकाररहितत्वात् क्षमावानित्यर्थः ।

गुणों द्वारा सब में छिपी हुई देवात्मशक्ति को देखा । असिद्ध ध्यान से भी रूप का साक्षात्कार नहीं होता, इसलिये मुमुक्षु द्वारा किया गया कर्मफल-त्याग ही श्रेष्ठ है । संयतचित्तवाले मोक्षार्थी के त्याग से, अर्थात् फल की आकांक्षा शून्य कर्म करने से उसका मन पापशून्य होकर शांति पाता है । भगवान् का ही यह वचन है—

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥"

जिससे प्रगट है कि सब कर्मफलत्याग ही परम शान्ति का कारण है । फिर श्रुति भी कहती है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥"

अर्थात् जिसके हृदय में स्थित सब कामनायें वा अभिलाषायें छूट जाती हैं वा नष्ट हो जाती हैं वह मनुष्य अमृत हो जाता है और वह यहां भी ब्रह्मसुख का अनुभव करने लगता है ॥१२॥

त्याग से शान्ति होती है, यह कहा । अब उन गुणों को कहते हैं जो भगवान् की शीघ्र प्रसन्नता में हेतु हैं और भक्ति की इच्छा रखनेवाले और निष्काम कर्म करनेवालों में होने चाहिए ।

मुझसे द्वेष करनेवाले ईश्वर से प्रेरित हो और मेरे अपराधों के अनुकूल हो मुझसे द्वेष करते हैं उसमें उनका कुछ अपराध नहीं, ऐसा समझ जो किसी का अपकार नहीं करता और सब भूतों में मित्र भाव रखता है; उनमें जो दुःखी हैं उन पर दया करता है, और देह, इन्द्रिय तथा उनके विषयों में

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

किञ्च—सन्तुष्टः । देहधारणार्थं यदृच्छाप्राप्तेन गुणवता निर्गुणेन वा येन केनापि भोजनाच्छादनादिना सन्तोषवान्, सततं योगी नित्यमात्मप्रवणीकृतान्तःकरणः, यतात्मा संयतदेहेन्द्रियः, दृढनिश्चयः गुरुशास्त्रोक्तार्थेषु एवमेवेति निश्चलबुद्धिः । एवम्भूतो मद्भक्तो निष्कामकर्मयोगेन मां भजते, स मे प्रियः ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

किञ्च—यस्मादिति । यस्मात्सकाशाल्लोको नोद्विजते भयान्न क्षुभ्यति लोकोद्वेगकरं कर्म किञ्चन्न करोतीत्यर्थः । यश्च लोकान्निमित्तान्नोद्विजते, यमुद्दिश्य सर्वो लोक उद्वेगकरं कर्म न कुर्यात्सर्वविरोधित्वनिश्चयादित्यर्थः । अत एव हर्षः स्वप्रियवस्तुलाभे प्रीतिविशेषः, अमर्षः परसुखलाभाद्यसहनं, भयं त्रासः, उद्वेगश्चित्तव्याकुलतारूपो विकारः, एतैर्मुक्तो यः स च सोऽपि मे प्रियः ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

किञ्चानपेक्ष इति । अनपेक्षः यदृच्छाप्राप्तेष्वपि लौकिकपदार्थेषु स्पृहारहितः, शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशुद्धियुक्तः, दक्षः ज्ञातव्येषु शास्त्रीयेषु कर्त्तव्येषु च ज्ञातुं कर्तुं च समर्थः, उदासीनः मित्राद्युद्देशेन पक्ष-

---

ममता रहित है और अहंकार शून्य है अर्थात् देहादि में उसकी आत्मबुद्धि नहीं है, और इसी से दुःख-सुख में समान भाव रखता है, और इसीलिए क्षमावान् है, क्योंकि सुख-दुःखों के कारणों में उसको चित्तविकार नहीं होता, देह धारण करने भर के लिये अनायास मिले हुए, भले या बुरे जिस किसी प्रकार के भोजन और वस्त्र से सन्तोष करनेवाला, नित्य अपने आत्मा में अन्तःकरण को लगाये रखनेवाला, देहेन्द्रिय का संयमन करनेवाला, दृढ़ निश्चयी अर्थात् गुरु और शास्त्रवाक्यों में दृढ़मति; इस प्रकार का मेरा भक्त जो निष्काम कर्मयोग से मुझे भजता है वह मेरा प्रिय है ॥१३+१४॥

जिससे किसी को उद्वेग नहीं होता है अर्थात् जो कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे लोक को भय से क्षोभ पैदा हो, और जो लोक से न डरे अर्थात् जिसे अन्य व्यक्ति भी यह समझें कि यह किसी का विरोधी नहीं है, कोई उद्वेगकर काम नहीं करता हो; और इसलिये जो स्वप्रिय वस्तु की प्राप्ति के हर्ष से मुक्त है, अमर्ष अर्थात् परसुख प्राप्ति की दाह से शून्य है, जिसको भय नहीं है और चित्त की विकलतारूप विकार से भी जो मुक्त है, वह भी मेरा प्रिय है ॥१५॥

अनायास मिले हुए लौकिक पदार्थों में स्पृहाहीन, भीतर बाहर की शुद्धता से युक्त, जानने और करने योग्य शास्त्रीय विषयों के जानने और करने में समर्थ, मित्रों के लिए पक्षपात रहित, असम्मान

पातविवर्जितः, गतव्यथः कुत्रचिदसम्मानोपेक्षणादिना या मानसीव्यथा तया शून्यः, परमार्थानुपयुक्तान्सर्वान्कर्मारम्भान् परित्यक्तुं शीलं यस्य एवम्भूतो यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

किञ्च—य इति। प्रियं प्राप्य यो न हृष्यति, अप्रियं प्राप्य न द्वेष्टि, प्रियार्थनाशे च न शोचति, अप्राप्तमर्थं कञ्चिन्न काङ्क्षति। शुभाशुभपरित्यागी शुभाशुभसाधनभूतकर्म त्यक्तुं शीलमस्य तथा, एवम्भूतो यो भक्तिमान्स मे प्रियः।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

किञ्च—सम इति। शत्रौ मित्रे च समः, द्वेषरागशून्यः तथा मानापमानयोस्तथा शीतोष्णादिषु समः सङ्गविवर्जितः कुत्राप्यासक्तिरहितः।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

तुल्ये निन्दास्तुती यस्य स, मौनी संयतवाक्, येन केन यदृच्छाप्राप्तेन सन्तुष्टः, अनिकेतः नियतवासरहितः, स्थिरा आत्मनि व्यवसायात्मिका मतिर्यस्य स स्थिरमतिः, एवम्भूतो भक्तिमान् नरो मे प्रियो भवति।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

और उपेक्षा किये जाने पर भी तज्जनित मन की व्यथा से शून्य, परमार्थ के अयोग्य आरम्भों (कर्मों) को छोड़नेवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है ॥१६॥

प्रिय पदार्थ पाकर जो प्रसन्न नहीं होता, अप्रिय पाकर दुःख नहीं करता, प्रिय के नाश होने पर शोच नहीं करता, अप्राप्त के लिए आकांक्षा नहीं करता और जो शुभ और अशुभ के साधनरूप कर्मों को नहीं करता, ऐसा मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥१७॥

शत्रु मित्र में समान अर्थात् द्वेष राग से शून्य, मान अपमान में समान, शीत उष्ण और सुख-दुःख में समान, और संग अर्थात् आसक्ति से हीन, निन्दा स्तुति में समान, मौनी अर्थात् वाक्संयमी अर्थात् अधिक बक-बक न करनेवाला, जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तुष्ट, निश्चित वासस्थान से हीन अर्थात् जिसका कहीं पर घर द्वार नहीं हो, और अपने आत्मा में व्यवसायात्मिका बुद्धि रखनेवाला, ऐसा भक्त प्राणी मेरा प्रिय है ॥१८+१९॥

एवमद्वेष्टृत्वादिधर्मजातं भगवद्भक्तिकामेनोपादेयमित्युक्तमिदानीं "मय्याऽऽवेश्य मनो ये मामि" त्यादिनोपक्रान्तस्यानन्यभक्तियोगस्यैव सर्व-श्रेष्ठत्वं प्रतिपादयन्नध्यायमुपसंहरति येत्विति । तुशब्द उक्तेभ्योऽपि श्रेष्ठत्वाद्वैलक्षण्यदर्शनार्थः । येतु जन्मान्तरसहस्रेष्वनुष्ठितनिष्कामकर्मतया क्षीणपापत्वादिगुणसम्पन्ना धर्म्यामृतमुक्तप्रकारधर्मादनपेतममृतप्रापकत्वादमृतमिदं मदुपासनात्मकं भक्तियोगं यथोक्तं "मय्यावेश्य मनो ये मां, ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा" इत्याद्युक्तप्रकारं पर्युपासते, सर्वात्मनाऽनुतिष्ठन्ते श्रद्धां कुर्वन्तो मत्परमास्ते भक्ता अतितरां मे प्रियाः । न ततोऽधिकोऽन्य प्रिय इत्यर्थः ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

इयं श्रीमद्भगवद्गीताटीका तत्त्वप्रकाशिका श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तक श्रीनिम्बार्कमुनीन्द्र सिद्धान्तनिर्वाहकाचार्यवरण "श्रीजी" श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्याज्ञया पञ्चतीर्थ वेदान्ताचार्येण श्रीसर्वेश्वरमासिकस्य सम्पादकेन श्रीव्रजवल्लभशरणेन विशेषाङ्कुरूपेण मुद्रापिता । शुभं भूयात् ।

भगवद्भक्ति की कामना करनेवालों के लिए अद्वेष्टा (द्वेष रहित होना) आदि धर्मसमूह उपादेय है, यह पीछे कहा गया । अब "मय्यावेश्य मनो ये माम्" इत्यादि से प्रारम्भ किये गए अनन्य भक्तियोग की ही प्रशंसा कर इस अध्याय को समाप्त करते हैं ।

"तु" शब्द को व्यवहार कर यह दिखाया है कि यह अनन्य भक्तियोग पहले कहे हुए से श्रेष्ठ होने से विलक्षण है । जो सहस्रों जन्म में किए गए निष्काम कर्म से पापहीन हो, और अद्वेष्टा आदि गुणों से युक्त, धर्मयुक्त, अमृततुल्य मेरी उपासनारूप भक्तियोग को "मय्यावेश्यमनो ये मां, येतु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा" आदि रीति से सब भाव से मेरी उपासना करते हैं, मुझ में श्रद्धायुक्त हो लगे हुए हैं, वे मेरे परम प्रिय हैं, अर्थात् उनसे बढ़कर मेरा प्रिय कोई दूसरा नहीं है ॥२०॥

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

त्रयोदशोऽध्यायः

★

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

तदेवं यत् प्राप्यसाधारणोपायस्याङ्गभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यं सपरिकरं ज्ञानयोग-कर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसहितं प्रथमषट्के निरूपितं, तस्य परमप्राप्यस्य भगवतस्तत्त्वयाथात्म्यं तन्माहात्म्यैश्वर्यज्ञानपूर्वकोऽङ्गी तदनन्यभक्तियोगश्च मध्यमे षट्के निरूपितः। इदानीं षट्कद्वयोदितप्रकृति-पुरुषपरमात्मनां स्वरूपस्वभावसम्बन्धयाथात्म्यविवेकं तदधिकारिनिर्णयाय दैवासुरसम्पद्विभागं श्रद्धाहारयज्ञतपोदानत्यागकर्तृबुद्ध्यादीनां गुणतस्त्रैविध्यं दैवीसम्पदमाश्रितानां सात्त्विकानन्यभक्तानां ज्ञानवैराग्यवतां पराभक्त्यैव भगवत्प्राप्तिलक्षणं निरतिशयानन्तफलं च निरूपयितुमन्तिमः षट्क आरभ्यते। तत्र "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरादिति पूर्वाध्यायोक्तस्वभक्तसंसारोद्धरणस्योपायं ससाधनं

पहले छः अध्यायों में स्वस्वरूप प्राप्ति के असाधारण उपायों के अङ्गभूत जीवात्मा का यथार्थरूप उसके परिकरों के साथ वर्णन किया गया और ज्ञानयोग और कर्मयोग लक्षणवाली दोनों निष्ठाएँ भी वर्णित की गईं। बीच के छः अध्यायों में परम प्राप्य भगवान् के यथार्थ तत्त्व का, उसके माहात्म्य, ऐश्वर्य, ज्ञानादि के साथ अङ्गीरूप भगवान् के अनन्य भक्तियोग का निरूपण किया गया। अब इन अन्त के छः अध्यायों में पीछे के दोनों षटकों में कहे गये प्रकृति (माया), पुरुष और परमात्मा के स्वरूप, स्वभाव और परस्पर सम्बन्ध का यथार्थरूप वर्णन किया जायगा और उसके अधिकारी का निर्णय करने के लिए दैवी और आसुरी सम्पद् का विभाग दिखाया जायगा। फिर श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, त्याग, बुद्धि, कर्त्ता आदि का गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होना बताया जायगा। फिर यह निरूपण किया जायगा कि दैवी सम्पद्वाले सात्त्विक, अनन्य भक्त और ज्ञानवैराग्ययुक्त पुरुष पराभक्ति द्वारा ही भगवत्प्राप्तिलक्षणवाले निरतिशय और अनन्त फल को पाते हैं।

पूर्व के अध्याय में भगवान् ने कहा है कि "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" अर्थात् मैं उन लोगों का मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करता हूँ। अब इस तेरहवें अध्याय में भगवान् प्रकृति

प्रकृतिपुरुषविवेकं दर्शयितुं त्रयोदशाध्यायारम्भः। तत्र तावत् "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्" इत्युक्तयोः परापरशक्तिरूपयोः संयुक्तयोरपि शरीरात्मनोः स्वरूपं विवेचयन् श्रीभगवानुवाच—इदं शरीरमिति। इदं भूतेन्द्रियसङ्घातरूपं चेतनभोगायतनं देवोऽहं मनुष्योऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिनाऽऽत्मतादात्म्येन प्रतीयमानमपि भोक्तुरात्मनो विलक्षणं शीर्यते इति शरीरं हे कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते। अस्यस्येव कर्तुर्भोक्तुरात्मनः शुभाशुभकर्मणां तद्भोगस्य चोत्पत्तिस्थानमभिधीयते। शरीरयाथात्म्यविद्भिरिति शेषः। एतद्भूतादिसङ्घातरूपं ममेदमिति यो वेत्ति आत्मनो भेदेन जानाति—तं क्षेत्रज्ञ इति तद्विद आत्मयाथात्म्यज्ञाः प्राहुः। क्षेत्रात् कृपोवलवत् क्षेत्रज्ञोऽत्यन्तविलक्षण इति प्रकर्षेणाहुरित्यर्थः। यद्यप्यतिप्राकृताः स्थूलोऽहं कृशोऽहं मनुष्योऽहमिति शरीराभेदेनात्मानमनुसन्दधते तथाऽपि मम देहे सुखं मम देहे दुःखं मम देहे पीडा ममेदं शरीरमिति भेदेनापि बहुत्वेऽनुसन्दधाना दृश्यन्तेऽतस्तद्विद इत्युक्तं, तस्मादतिमूर्खाणां देहात्मनोर्विवेकाभावेऽपि शास्त्राधिकारिणां तद्विवेकोऽस्त्येव।

(माया) और पुरुष (जीव) के विवेकरूप, अपने भक्तों को संसार सागर से तरने के उपायों को, साधन सहित, बतावेंगे।

पीछे कह आये हैं कि "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्" अर्थात् इस अपरा प्रकृति से दूसरी मेरी परा प्रकृति को जानो। अब इस प्रथम श्लोक में परा और अपरा शक्तिरूप और, एक दूसरे से जुटे हुये, शरीर और आत्मा के स्वरूप को विवेचना करते हैं।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश) और इन्द्रियों के संघातरूप और आत्मा के भोग का स्थान जो यह शरीर है उसको उसके यथार्थ तत्त्व के जाननेवाले क्षेत्र कहते हैं। यद्यपि 'मैं देव हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ', इत्यादि वाक्यों से शरीर और आत्मा का एक होना-सा मालूस पड़ता है तथापि भोक्तारूप आत्मा से यह शरीर विलक्षण है। आत्मा जो कर्त्ता और भोक्ता है उसके शुभ और अशुभ कर्मों को उत्पत्ति और भोग का स्थान यह शरीर है, जैसे अन्न का उत्पत्तिस्थान खेत और उसका भोक्ता खेतवाला होता है। पंच महाभूतादि के संघातरूप इस शरीर को, 'यह मेरा है', ऐसा जो जानता है वह आत्मा को भेद द्वारा जानता है अर्थात् अपने को शरीर से पृथक् जानता है। आत्मा के यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले ऐसे जीव को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। खेत से जैसे खेतवाला वा गृहस्थ अत्यन्त विलक्षण है वैसे ही क्षेत्र से अर्थात् शरीर से क्षेत्रज्ञ (जीव) बिलकुल विलक्षण है। इसी से 'प्राहुः' शब्द का प्रयोग हुआ। यद्यपि मूढ़ लोग 'मैं स्थूल हूँ', मैं दुबला हूँ, मैं मनुष्य हूँ आदि कहकर शरीर और आत्मा को एक ही समझते है, दोनों के भेद का अनुभव नहीं करते तथापि बहुत से मनुष्य मेरे शरीर में दुःख है, मेरे शरीर में सुख है, मेरे शरीर में पीड़ा है, मेरा यह शरीर है आदि से आत्मा और शरीर का भेद जानते हैं इसी से 'तद्विदः' कहा। मतलब कि अति मूर्खों को देह और आत्मा का विवेक न होने पर भी शास्त्र के जाननेवालों को उसका विवेक जरूर होता ही है ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

एवं संसृष्टयोः शरीरात्मभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञत्वेन विवेकः प्रदर्शितः । अथ स्वेन तयोः सम्बन्धज्ञानाकाङ्क्षायाम् "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्"इत्यनेन नवमे सामान्येन सर्वस्य जगतः सम्बन्धप्रकार उक्तोऽपि क्षेत्रज्ञस्य विभज्य नोक्तः, इदानीं तस्य स्वतादात्म्यमाह—क्षेत्रज्ञं चापीति। पूर्वम् "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव । मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि, इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्"इत्यादिना सर्वस्य जगतो मत्तः पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावेन मदभिन्नत्वं "न चाहं तेष्ववस्थितः, न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरं, मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"इत्यादिना मद्भिन्नत्वं चोक्तं (ततोऽन्यज्जानासि) सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं"इति त्वयाऽप्युक्तमेव । किन्तु पूर्वाध्याये "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार-

---

ऊपर के श्लोक में परस्पर सम्मिलित शरीर और आत्मा अर्थात् प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव) का विवेक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का रूप दिखाया । प्रकृति और पुरुष से अपना जो सम्बन्ध है उसको भगवान् ने सामान्य रूप से नवें अध्याय में बताया है । उन्होंने वहाँ कहा है कि "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्" अर्थात् मुझे समूचे विश्व से एकता और पृथकता दोनों ही है । पर इसमें भगवान् ने जगत भर से अपना सम्बन्ध बताया है, क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव से उनका क्या सम्बन्ध है यह विशेष रूप से नहीं बताया । अब यहाँ इस श्लोक में जीव के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध बताते हैं । पीछे के अध्यायों में नीचे लिखे वाक्यों को कहकर भगवान् ने यह बताया है कि जगत को हमसे पृथक स्थिति प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसलिये वह हमसे अभिन्न है । "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" (मैं समूचे जगत का कारण और प्रलय स्थान हूँ), "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" (यह सर्व जगत् मुझ में डोरे में मणियों के ऐसा गूंथा हुआ है); "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना" (मुझ अव्यक्तमूर्ति से यह समूचा जगत् व्याप्त है); "मत्स्थानि सर्वभूतानि" (सब चराचर जगत् मेरे में स्थित है); "इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्" (समूचे सचराचर जगत् को मेरे एक स्थान में देखो) । फिर "न चाहं तेष्ववस्थितः" (मैं उनमें नहीं हूँ); "न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरं" (मैं भूतों में नहीं हूँ और हूँ भी इस मेरे ईश्वरसम्बन्धी योग अर्थात् सामर्थ्य को देखो); "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (प्रकृति मेरी अध्यक्षता में चर और अचर जगत् को पैदा करती है) इत्यादि वाक्यों से भगवान् ने अपने को जगत् से भिन्न अर्थात् पृथक् बताया । फिर भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुमने भी मेरे विषय में कहा है—(ततोऽन्यज्जानासि) सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं" जगत् से पृथक् हो, सब तुममें है, सबमें तुम व्याप्त हो और इसलिए तुम सर्वरूप हो परन्तु पीछे के अध्याय में "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्यमत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।

सागरादि"त्यादिना पराप्रकृतिभूतस्य जीवपुरुषादिशब्दाभिधेयस्य क्षेत्रज्ञस्य ध्यातृत्वोपासकत्वोद्धार्यत्वेन प्रतीतं केवलभिन्नत्वं न मन्तव्यमपि तु सर्वक्षेत्रेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिशरीरेषु क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि, मदात्मकत्वेन मदभिन्नं जानीहि। चशब्देनात्मनस्तद्वैलक्षण्यमपि समुच्चिनोति। मां ततो विलक्षणं च विद्धीत्यर्थः। तथा च श्रुतयः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो! अयमात्मा ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति, अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि, यदात्मानं वेदाहं ब्रह्मास्मीति"इत्यादिका भगवतः सर्वात्मत्वेन सर्वसामानाधिकरण्यबोधिकाः। तथा "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः, वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्चे"त्यादिका भगवतः सर्वरूपत्वेऽपि सर्ववैलक्षण्यबोधिकाः। एवं मदात्मकत्वेन मद्व्याप्यत्वेन मत्तोऽपृथक्सिद्धतया मत्तादात्म्यरूपं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं मम सर्वज्ञस्य वेदान्तकृतो वेदविदः सर्वेश्वरस्य मतं सम्मतम्। अतो

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्" आदि से जीव, पुरुष आदि शब्दों से कहे जानेवाले क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के ध्याता और उपासना की वस्तु और उसके उद्धार करनेवाला होने से जीव से मेरी केवल भिन्नता प्रतीत होती है ऐसा नहीं समझना चाहिए, वरन् सब क्षेत्रों में अर्थात् देव, तिर्यक, मनुष्यादि के शरीर में मुझको ही क्षेत्रज्ञ भी जानो। हे अर्जुन! मैं उनका अन्तरात्मा हूँ इससे उनको मुझसे अभिन्न जानो। 'च' शब्द व्यवहार कर भगवान् ने जीवों से अपनी विलक्षणता भी दिखा दी है।

श्रुति के ये वचन भी भगवान् को, सबका आत्मा कहकर, उनका सबके साथ समानाधिकरण बताते हैं, यथा, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" (यह सब भगवदात्मक है); "तत् सत्यं स आत्मा" (वही सत्य है, वही सबका आत्मा है); "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (हे श्वेतकेतो! तुम वही हो); "अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है); "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब जगत् ब्रह्म ही है); "तज्जलानीति" (सब उसी से जन्म लेता है, उसी से सबकी चेष्टाएँ होती हैं और उसी में सब लय होते हैं); "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि, यदात्मानं वेदाहं ब्रह्मास्मीति" (जनक अभय प्राप्त हुए क्योंकि उन्होंने अपनेको यह जाना कि मैं ब्रह्म हूँ)। परन्तु भगवान् सर्वरूप होते हुए भी सबसे विलक्षण हैं, जो इन श्रुति वचनों से सिद्ध है, यथा—"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः" (जैसे सूर्य सबकी आँख होते हुए भी आँख के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होते); "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (वैसे ही एक और सब भूतों का अन्तरात्मा होते हुए भी भगवान् बाहर के लोक दुःख से लिप्त नहीं होते); "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (जैसे वायु संसार में व्याप्त होकर भी पृथक् पृथक् रूप के अनुरूप आकार धारण करता है वैसे ही सब भूतों का अन्तरात्मा होते हुए भी ब्रह्म प्रत्येक रूप में बाहर से पृथक् दीखता है)। भगवान् कहते हैं इस प्रकार का जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में ज्ञान है कि वे दोनों मदात्मक हैं, मुझसे ही व्याप्य, मुझसे पृथक् उनकी स्थिति प्रवृत्ति संभव नहीं और मेरे साथ तादात्म्य सम्बन्धवाले हैं वही मत मुझ सर्वज्ञ, वेदकर्ता, वेदज्ञाता और सर्वेश्वर का मत है अर्थात् मेरे मत में यही बात ठीक है। और जो इस बात के विरुद्ध मानते हैं वे अज्ञ हैं।

मम मताद्यदन्यथा ये मन्यते तदज्ञानमित्यर्थः। केचित्तु क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीति समानाधिकरणनिर्देशेन परमात्मैवाविद्योपाधिवशात्परिच्छिन्नः क्षेत्रज्ञः संसारीव जातः, तदविद्योपाधित्यागेन शुद्धमसंसारिणं मां परमेश्वरमेव जानीहीति भगवतस्तात्पर्यं कल्पयन्ति, तदसत् सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात्। तथाहि न तावत् क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मस्वरूपैक्यं शास्त्रप्रमाणेन वक्तुं शक्यं "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योभिचाकशीति। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, अक्षरात् परतः परः, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्, एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः" इत्यादिश्रुतीनां "भेदव्यपदेशाच्चान्यः, भेदव्यपदेशाच्च, अनुपपत्तस्तु न शारीरः, कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च,

---

कितने लोग "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" का इस प्रकार अर्थ लगाते हैं—परमात्मा अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न हो संसारी के ऐसा हो गया और उसी को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इस प्रकार का समानाधिकरण दिखाते हुए वे भगवान् के कहे का तात्पर्य बतलाते हैं। जब अविद्या की उपा छूट जाती है तो वह क्षेत्रज्ञ शुद्ध असंसारी हो जाता है। अर्थात् वह परमेश्वर ही हो जाता है। ऐसा अर्थ करना बिलकुल भूल है क्योंकि वह सब शास्त्रों के विरुद्ध है।

अब शास्त्र विरोध दिखाते हैं। जीव और ब्रह्म के स्वरूप की एकता में कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है वरन् श्रुतिशास्त्रादि के वाक्य ठीक उल्टा प्रमाण देते हैं, जैसे श्रुति कहती है—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (परमात्मा नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और बहुतों में एक है और सबकी कामनाओं का विधान करता है); "ज्ञाज्ञौ" (परमात्मा ज्ञानवाला है और जीव अज्ञ है); "द्वावजावीशानीशौ" (दोनों अज हैं, एक परमात्मा ईश है और दूसरा-जीव-अनीश है); "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योभिचाकशीति" (सुन्दर परवाले संगी और मित्र दो पक्षी (ब्रह्म और जीव) एक ही पीपल वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक (जीव) पेड़ के स्वादु फलों को चखता है और दूसरा (ब्रह्म) फल को न खाते हुए प्रकाश करता है); "प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (प्रधान, माया और जीव का पति, गुणों का स्वामी); "अक्षरात् परतः परः" (जीव से अत्यधिक श्रेष्ठ); "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (सबसे स्वतन्त्र, सबका मालिक); "एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः" (एक, स्वतन्त्र, सब जगह स्थित कृष्ण पूजा करने के योग्य है; "अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां" (भीतर पैठकर सबका शासन करनेवाला); "यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद" (जो आत्मा में रहता हुआ भी आत्मा के भीतर है और जिसको आत्मा नहीं जानता); "यस्यात्माशरीरम्" (आत्मा जिसका शरीर है); "एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अमर है); "संसारबन्धस्थिति मोक्ष हेतुः" (परमात्मा संसार के बन्ध, स्थिति, और भी श्रुति के कितने ऐसे वचन हैं।

पत्यादिशब्देभ्यः, अधिकं तु भेदनिर्देशादि"त्यादिब्रह्मसूत्राणां "इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च । ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् । जगद्वशे वर्त्ततेऽयः कृष्णस्य सचराचरम् । अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेपराम् । जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् । विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तथाऽपरा । ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षराश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । अज्ञो जन्तुरनीशश्च स्वात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वाश्वभ्रमेव वा । दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः । नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते । तत्र यः परमात्मा तु स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा । कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते । स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः । तवान्तरात्मा मम च ये चान्ये देहसञ्ज्ञिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचिदि"ति भेदैकविषयाणामिति-

---

ब्रह्मसूत्रों में भी यही बात कही गई है, यथा "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" (भेद के कथन करने से जीव और ब्रह्म एक दूसरे से पृथक् हैं, "भेदव्यपदेशाच्च" (भेद कथन करने से); "अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" (जीव में ब्रह्म के गुण नहीं घटते इससे जीव ब्रह्म नहीं है); "कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च" (कर्त्ता और कर्म के कथन से जीव और परमात्मा में एकता का अभाव प्रमाणित है); "पत्यादिशब्देभ्यः" (पति आदि शब्दों के प्रयोग से अर्थात् ब्रह्म पति है इसलिये जीव से उसकी एकता नहीं); "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" (भेद के कहने से जीव से श्रेष्ठ है)। फिर इतिहास पुराणादि के नीचे लिखे भेद दिखाने-वाले वाक्यों का कोई विषय नहीं रहने से उनका बाध होगा। "इन्द्रियाणिमनोबुद्धिः सत्त्वं तेजोबलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च"। "ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसं। जगद्वशे वर्त्ततेऽदः कृष्णस्य सचराचरम्" "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।" "जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यतेजगत्। विष्णु शक्तिपरा प्रोक्ता चेतनाख्यातथाऽपरा"। "ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः" (इस मनुष्यलोक में यह सनातनः जीव मेरा ही अंश है)। "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षराश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्येत्युदाहृतः" "अज्ञो जन्तुरनीशश्च स्वात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितोगच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा"। (जीव स्वतन्त्र नहीं है, अपने सुख दुःख का मालिक नहीं और ईश्वर से प्रेरित हो स्वर्ग वा नरक को जाता है)। "दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः। नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते'। (जीव सदा स्वरूप ही से परमात्मा का दास है। बन्ध मोक्ष दोनों ही अवस्था में इसका कोई दूसरा लक्षण नहीं है। "तत्र यः परमात्मा तु स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा"। (परमात्मा नित्य और निर्गुण है। जल में कमल के पत्ता के ऐसा वह फलों से लिप्त नहीं होता)। "कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः" (दूसरा कर्मात्मा (जीव) है वह मोक्ष और बन्ध से युक्त है। फिर वह सत्रह वस्तुवाले लिङ्ग शरीर से युक्त है)। "तवान्तरात्मा मम

हासपुराणादिवाक्यानां च निर्विषयत्वापत्त्या बाधप्रसङ्गात्। तथात्वेचार्वनास्तिकत्वापत्तिर्दुर्वारा। अयं दोषः केवलभेदवादिमतेऽपि समानः। तन्मतेऽभेदज्ञानयानां बाधप्रसङ्गात्. नह्यैकविधवाक्यबाधं विना केवलभेदोऽभेदो वा सिद्धयति। ननु भेदवाक्यानां नाहमीश्वर इत्यादिप्रतीतिसिद्धप्रत्यक्षभेदविषयत्वेन तैरावकुण्ठ्याच्च बाधप्रसङ्गः। अन्यथा सर्वस्य ब्रह्माभेदप्रतिपादकानां सहस्रशो वाक्यानां विरोधः स्यादिति चेन्न, जीवेश्वरभेदस्य प्रत्यक्षत्वाभावात्। भेदप्रत्यक्षस्य प्रतियोगिप्रत्यक्षत्वाधीनत्वात्। जीवेश्वरयोरतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षत्वस्यासम्भवात्। नाहमीश्वर इत्यादिप्रतीतेस्तु शास्त्रोक्तसर्वज्ञत्वाचिन्त्यशक्तित्वस्वतन्त्रत्वसर्वनियन्तृत्वजगज्जन्मादिकारणत्वादीश्वरत्वप्रयोजकानां धर्माणामात्मन्यसम्भावितत्वेन याथार्थ्यात्। आत्मनोऽल्पज्ञत्वाल्पशक्तित्वतन्नियम्यत्वतदधीनत्वज्ञानात्। न चाविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं, न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिरूपे आत्मनीशितव्यसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते इति वाच्यं, परमात्मनो ब्रह्मणः सजातीयविजातीयस्वगत

च ये चान्ये देहसंज्ञिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्" (हमारा तुम्हारा और सभी देहधारियों का अन्तरात्मा वह सबका परमात्मा साक्षिभूत है। उसको कोई कभी जान नहीं सकता)। इसलिये भेद वाक्यों की निर्विषयता होने के कारण केवल अभेद माननेवालों में अर्द्ध नास्तिकता दोष आता है क्योंकि इन भेद वाक्यों का उनके मत में बाध पड़ता है। केवल भेद माननेवालों में भी यह अर्द्ध नास्तिकता का दोष लगता है क्योंकि उनके मत से अभेद वाक्यों का बाध पड़ता है। बिना एक प्रकार के वचन के बाध होते हुए केवल भेद वा अभेद नहीं सिद्ध होता। केवल अभेद माननेवालों का यह कहना है कि 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' ऐसा जो प्रत्यक्ष विश्वास लोक में है वहीं पर भेद वाक्य चरितार्थ हो जाते हैं। इसलिए अभेदमत मानने पर भी भेद वाक्यों का बाध नहीं होता। और अभेदमत नहीं मानने से अभेद के प्रतिपादक सहस्रों वाक्यों का विरोध हो जाता है।

पर बात ऐसी नहीं है। जीव ईश्वर का जो भेद लोक में प्रसिद्ध है उसका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। क्योंकि भेद प्रत्यक्ष होने के लिये प्रतियोगी (जीव, ईश्वर) का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है और जीव एवं ईश्वर अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकते। "मैं ईश्वर नहीं हूँ" जीव की ऐसी प्रतीति का प्रत्यक्ष—ज्ञान उसको नहीं है। शास्त्रों में ईश्वर का सर्वज्ञत्व, अचिन्त्यशक्तित्व स्वतन्त्र, सबका नियन्ता और जगत् के जन्म आदि का कारण होना प्रतिपादित है। इन सब गुणों का अपने में असम्भव होना जान जीव अनुभव करता है कि मैं ईश्वर नहीं हूँ क्योंकि वह जानता है कि मैं अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है और मैं ईश्वर के अधीन हूँ। जीव का अपने को ऐसा जानना कि मैं ईश्वर नहीं हूँ इस प्रकार चरितार्थ होता है। ऐसा मानना भी भूल है 'कि यथार्थ में जीव और परमात्मा में भेद नहीं है। भेद अविद्या की उपाधि की अपेक्षा से है। परमात्मा का सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता अविद्या की उपाधि के कारण ही है। अविद्या हट जाने पर जीव में अल्पज्ञत्व वा परतन्त्रता आदि व्यवहार नहीं बनते हैं।' यह भूल यों है कि जब यह माना गया कि परमात्मा का

भेदशून्यत्वमेकत्वमसङ्गत्वं स्वयं प्रकाशत्वं चाभ्युपगम्य पुनस्तस्योपाधिवश्यत्वपरिच्छिन्नत्वाज्ञत्वाल्पज्ञत्वादिकल्पनस्य महद्विरुद्धत्वात्। मे माता वन्ध्येति वदतो व्याघाताच्च। प्रचण्डमार्तण्डमण्डलेऽन्धकारवत्स्वयम्प्रकाशस्वरूपेऽविद्याऽवच्छेदमनुन्मत्तः को ब्रूयात्। किञ्च अविद्यासम्बन्धः सहेतुको निर्हेतुको वा? नाद्यः, अप्रसिद्धत्वात्। अविद्याब्रह्मेतरस्य तृतीयस्य तत्कार्यत्वेन तदानीमभावात्। न द्वितीयः, निर्हेतुकाऽविद्या स्वयमेव सम्बध्यते चेत्तर्हि एकस्यैवोभाविवश्यत्वे निवर्तकचेतनान्तराभावात् कदाचि तन्निवृत्तिर्न स्यात्। अनिर्मोक्षश्च स्यात्। न च स्वसामर्थ्येनैवाविद्यां निवर्तयति नेतरापेक्षेति वाच्यम्, एवं चेत्स्वयम्प्रकाशस्य स्वतन्त्रस्य समर्थस्याविद्यासम्बन्धस्यैवानर्हत्वात्। तथाहि अविद्यायाः स्वरूपं ब्रह्म जानाति न वा? जानाति चेत् को वा सर्वज्ञः स्वतन्त्रः सन् स्वयूकरतिर्यक्कोटनारकयादियोनितज्जन्यदुःखहेतुभूताऽविद्यास्वरूपं जानन् तया युज्येत। न जानाति चेदज्ञत्वादेव ब्रह्मत्वहानिरतः सर्वथा ब्रह्मण्यविद्यायोगो वक्तुमनुपपन्नः। नन्वविद्यातत्कार्यं च मिथ्याज्ञानं न परमार्थवस्तु दूषयितुं समर्थं न ह्यपरदेशं स्नेहेन पङ्कीकर्तुं शक्नोति मरीच्युदकं, तथाऽविद्या क्षेत्रज्ञस्य न किञ्चित्कर्तुं

सजातीय विजातीय वा स्वगत भेद नहीं है; वह भेद शून्य, एक, असंग और स्वयं प्रकाशवान है तब यह कहना कि वह माया व अविद्या के वश हो परिच्छिन्न, अज्ञ और अल्पज्ञ हो जाता है बड़ी उल्टी बात है। यह तो वैसा ही हुआ कि कोई कहे कि मेरी माता बांझ है। जैसे प्रचण्ड सूर्य के सामने अन्धकार की कल्पना सिवाय पागल के कोई और नहीं कर सकता वैसे ही स्वयं प्रकाशरूप परब्रह्म में अविद्या की उपाधि लगाना और उस कारण उसका जीव होकर संसारी यातनाएँ भोगना निरा पागलपन है। अच्छा, ब्रह्म में अविद्यारूप उपाधि का सम्बन्ध किसी कारण से है वा बिना कारण? कारण से हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा कोई कारण प्रसिद्ध नहीं है। और फिर जहाँ अविद्या और ब्रह्म दो ही पदार्थ हैं वहाँ कोई तीसरा पदार्थ, जो कारण बने, हो नहीं सकता। और बिना कारण से ही ब्रह्म में अविद्या लग गई यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा होने से फिर ब्रह्म को अविद्या से छुड़ानेवाला कोई दूसरा चेतन नहीं रह जाता और इसलिये ब्रह्म का अविद्या से कभी छुटकारा नहीं होगा। इससे मोक्ष की बात जो शास्त्रों ने कही है वह झूठी पड़ जाती है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म अपनी ही सामर्थ्य से अविद्या से छूट जाता है, दूसरे छुड़ानेवालों की उसे आवश्यकता नहीं, तब ऐसे सामर्थ्ययुक्त स्वतन्त्र और स्वयंप्रकाश परब्रह्म में अविद्या का सम्बन्ध ही नहीं माना जा सकता। फिर ब्रह्म अविद्या का स्वरूप जानता है वा नहीं? यदि जानता है तो कौन ऐसा होगा जो सर्वज्ञ और स्वतन्त्र होकर भी और अविद्या का स्वरूप जानता हुआ भी सूअर, कूकर, कीट पतंगादि योनि से उत्पन्न दुःखों को सहने के लिये अविद्या से अपना संयोग करेगा? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म अविद्या के स्वरूप को नहीं जानता है तो शास्त्रप्रतिपादित सर्वज्ञ ब्रह्म अज्ञ हुआ और इससे उसके ब्रह्मत्व की हानि हुई क्योंकि ब्रह्म सर्वज्ञ है इसलिए ब्रह्म में अविद्या का संयोग किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि अविद्या और उसका कार्य मिथ्याज्ञान परमार्थ वस्तु को दूषित नहीं कर सकता जैसे मरीचि के जल से ऊषर देश में कीच नहीं बनाया जा सकता और इसलिए

शक्नोतीति चेन्न, यदि तस्या दोषकारित्वमेव नास्ति तर्हि तन्निवृत्त्यर्थमुपायस्य वैयर्थ्यात्। बन्धमोक्ष-व्यवस्थायास्तद्विषयकशास्त्रस्यानर्थक्यप्रसङ्गाच्च। एवं ब्रह्मण्यविद्यासम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात्तत्कृतं जीवेश्वरविभागं मन्यमाना भ्रान्ता जगद्व्यामोहकाः श्रेयोऽर्थिभिरुपेक्षणीयाः। नापि सर्वब्रह्माभेद-प्रतिपादकानां विरोधः शङ्कनीयः, तेषां क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिपुरुषक्षराक्षरादिशब्दाभिधेयस्य जडचेतनजातस्य ब्रह्मात्मकत्वतद्व्याप्यत्वतदधीनत्वादिहेतुभिर्ब्रह्मणः सर्वात्मत्वसर्वव्यापकत्वस्वतन्त्रत्वादिभिरभेदप्रतिपाद-नेन चरितार्थत्वात्। तथाहि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, सर्वात्मा, यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशय-स्थितः। इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च। योऽयं तवागतो देव ! समीपे देवतागणः। स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्। सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः। सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः, तथा "यदासीत्तदधीनमासीत् सर्वस्य वशे सर्वस्येशानः आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः, सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुदिष्टं

क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) का अविद्या कुछ नहीं बिगाड़ सकती; तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जब अविद्या कुछ दोष ही नहीं पैदा कर सकती तो उसकी निवृत्ति के उपाय जो शास्त्रों में बताये गये हैं सब व्यर्थ हो जाएंगे। बन्ध-मोक्ष-विषयक शास्त्रवचन अनर्थक हो जाएंगे। इसलिए ब्रह्म में अविद्या का सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता और अविद्याकृत् जीव ईश्वर का विभाग भी नहीं माना जा सकता। मोक्षार्थियों को इस भ्रान्तियुक्त और जगत् में मोह पैदा करनेवाले मत को नहीं मानना चाहिए। ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिए कि इस मत को नहीं मानने से ब्रह्म का सबसे अभेद प्रतिपादक शास्त्रवाक्यों का विरोध होगा। वे वाक्य क्षेत्र क्षेत्रज्ञ, प्रकृति पुरुष, क्षर अक्षर इत्यादि शब्दों से कहे जानेवाले जड़ और चेतन का जो ब्रह्म से घनिष्ट सम्बन्ध है उसी में चरितार्थ होंगे। ब्रह्म सबका आत्मा है और सब जड़ चेतन ब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्म व्यापक है और जड़ चेतन ब्रह्म से व्याप्य हैं। इसी प्रकार ब्रह्म स्वाधीन है और जगत् उसके अधीन है इत्यादि और भी ब्रह्म और जड़ चेतन से जो सम्बन्ध हैं वे दोनों के अभेद को प्रतिपादन करते हैं क्योंकि व्याप्य व्यापक वा स्वाधीन और तदधीन वस्तु पृथक् नहीं रह सकते। दोनों में अभेद सम्बन्ध रहता है। इन सम्बन्धों के द्वारा अभेद प्रतिपादक शास्त्रवचन चरितार्थ होते हैं। इसमें शास्त्र प्रमाण है, यथा—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां" (भीतर घुसकर) जीवों का ब्रह्म शासन करता है)। "सर्वात्मा"। "यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः"। "अहमात्मा गुडाकेशः सर्वभूताशय स्थितः" (हे अर्जुन ! मैं ही सबका आत्मा हूँ और सब भूतों के हृदय में स्थित हूँ)। "इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजोबलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च। योऽयं तवागतो देव ! समीपे देवतागणः। स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्॥" (ये जो देवतागण तुम्हारे पास आये हैं वे, हे देव ! सब तुम्हीं हो, हे जगत के पालनेवाले ! क्योंकि आप सब में विद्यमान हैं)। "सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः" (सबमें ब्रह्म विद्यमान है इसलिये मैं ब्रह्म ही हूँ। "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः"। और भी, "यदासीत्तदधीन-

तच्च कृष्णे न चापरे। अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारत!। किमनेन जगन्नाथ! सर्वं त्वद्वशगं जगदि"त्यादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिवाक्येभ्यः यद्यदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकं वस्तु तत्तदभेदव्यपदेशार्हमिति व्याप्तिमामनन्ति—छान्दोगाः प्राणेन्द्रियसम्वादे "न वै वाचो न चक्षूंषि न मन इत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षत"इति। तथा भेदव्यपदेशाच्च, क्षेत्रक्षेत्रज्ञपरमात्मनां स्वरूपस्वभावैलक्षण्यप्रतिपादनेन मुख्यार्थतयैव सूपपन्नाः। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, द्वितीयाद्वै भयं भवती"त्यादिभेदनिषेधव्यपदेशास्तु परमात्मेतरस्वतन्त्रत्वावच्छिन्नवस्तुनिषेधेन सूपपन्नाः। एवञ्च न कस्यापि वाक्यस्य विरोधशङ्कागन्धोऽपि। अत एव भेदविषयकाणामभेदविषयकाणां च वाक्यानां परस्परं बाध्यबाधकभावो वक्तुं न शक्यः, तुल्यबलत्वात्। इदमेव तात्पर्यं हृदि निधाय भगवान् सूत्रकारः परस्परविरुद्धार्थकानां भेदवाक्यानामभेदवाक्यानां चाविरोधेन समन्वयप्रकारदर्शनाय चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मणा स्वाभाविकभेदाभेदसम्बन्धस्यैव निर्दोषत्वख्यापनाय घटकसूत्राणि प्रणीतवान्। "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयते एके, उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्, प्रकाशा-

---

मासीत्" (जो कुछ है सब उसके अधीन है)। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः"। "आत्मा हि परमो-स्वतन्त्रोऽविगुणः" (आत्मा अर्थात् ब्रह्म परम स्वतन्त्र और जीव से अधिक गुणवाला है)। "जीवोऽल्प-शक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः" (जीव अल्पशक्तिवाला, आधीन और अश्रेष्ठ है)। "सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे न चापरे। अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारत!" (स्वतन्त्र होने से कृष्ण ही एक वस्तु हैं उन्हीं की एक सत्ता है और सब जगत् अस्वतन्त्र होने से वस्तु की गिनती में नहीं है। हे अर्जुन! इनको तुम वस्तु मत जानो)। "किमनेन जगन्नाथ सर्वं त्वद्वशगं जगत्" बहुत कहाँ तक कहें, हे जगन्नाथ! समूचा जगत् तुम्हारे वश में है)। इन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि वचनों से यह प्रकट होता है कि जो वस्तु जिसके आधीन स्थितिप्रवृत्तिवाला है उससे उसका अभेद है। छान्दोग्य के प्राणेन्द्रिय संवाद में भी यह व्याप्ति कही गई है, यथा, "न वै वाचो न चक्षूंषि न मन इत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते" (वाक्, आँख मन नहीं कहे जाते प्राण ही कहा जाता है) अर्थात् प्राण के ये आधीन हैं इसलिये प्राण से इनका अभेद सम्बन्ध है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का परमात्मा से स्वरूप और स्वभाव में विलक्षणता है इससे भेदप्रतिपादक वाक्य मुख्य रूप से सिद्ध हुए। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" (उसको सब धर्म छोड़ दें जो ब्रह्म से अन्यत्र सबको जाने); "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (इसलिए दूसरा द्रष्टा कोई नहीं है); "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (दूसरे से भय होता है) आदि जो भेदनिषेधक वचन हैं वे केवल परमात्मा से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु का निषेध करते हैं। इस प्रकार किसी भी वाक्य को विरोध-शंका का गन्धमात्र भी इस सिद्धान्त में नहीं है और अभेद वाक्य और भेद वाक्यों का तुल्यबल होने से उनमें एक दूसरे का बाध्यबाधक भाव भी नहीं हो सकता। इसी तात्पर्य को हृदय में रख सूत्रकार भगवान् बादरायण व्यास ने घटक सूत्रों को बनाया। इन सूत्रों में परस्पर विरोधी भेद और अभेद वाक्यों के समन्वय की रीति दिखाने के लिए बताया गया है कि चेतन और अचेतन का ब्रह्म से स्वाभाविक भेद और अभेद सम्बन्ध है और यही सम्बन्ध निर्दोष है। घटक सूत्र ये हैं—"अंशो नाना व्यपदेशः-

श्रयवद्वा तेजस्त्वादि"ति । एकः सन् बहुधा विचचार "एको देवो बहुधा बहून् प्रविष्टः, त्वमेकोऽसि बहुधा बहून्प्रविष्ट" त्वमेकोऽसि बहुधा बहून्प्रविष्ट" इत्याद्याः षटकश्रुतयश्च । तथैवोक्तार्थघटकानि स्मृति-पुराणवाक्यानि कानि चिदुदाह्रियन्ते—तथाह मनुः "एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता । अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हती"ति । "ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखमि"ति भगवद्वाक्यं, च विष्णुपुराणे प्रह्लाद आह "ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा । व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः । नित्यानित्यप्रपञ्चात्मन् ! निःप्रपञ्चामलाश्रित ! । एकानेक नमस्तुभ्यं वासुदेवादिकारण ! । यः स्थूलसूक्ष्मः प्रकटः प्रकाशो यः सर्वभूतो न च सर्वभूतः । विश्वं यतश्चैतदविश्वहेतो ! नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाये"ति । तत्रैव ध्रुवस्तुती "पृथग्भूतैकभूताय भूतभूतात्मने नमः" इति । हरिवंशे घण्टाकर्णश्च "अनेकमेकं बहुधा वदन्ति श्रुति-

---

दन्यथाचापि दासकितवादित्यमधीयत एकः"। (बहुत(नाना) कहे जाने से आत्मा अंश है। अथर्वण शाखा-वाले ब्रह्म का जीव से अभेद दिखाते हुए कहते हैं कि दास, ठग चोर आदि भी ब्रह्म ही हैं)। "उभयव्यप-देशात्त्वहि कुण्डलवत्" (साँप और उसके कुण्डल के ऐसा ब्रह्म और जीव में भेद और अभेद दोनों हैं)। "प्रकाशाश्रयद्वा तेजस्तु" (जैसे प्रकाश और प्रकाशवान में भेद अभेद दोनों हैं)। "एकः सन् बहुधा विचचार" (एक होते हुए भी बहुत प्रकार से स्थित है)। "एको देवो बहुधा बहून् प्रविष्टः" (एक देव बहुतों में बहुत प्रकार से प्रवेश कर गया)। "त्वमेकोऽसि बहुधा बहून्प्रविष्टः" (तुम एक हो और बहुतों में बहुत प्रकार से प्रविष्ट हो)।

ऊपर लिखे हुए बातों को समर्थन करनेवाले कुछ स्मृतिपुराण के वाक्य यहाँ दिये जाते हैं।

मनुजी कहते हैं—"एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता। अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वे-दितुमर्हति" (एक होने पर भी अनेक और अनेक होने पर भी एक। ब्रह्म का रूप अचिन्त्य है। कोई उसको नहीं जान सकता)। भगवान् कृष्ण कहते हैं—"ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्" ॥ विष्णु पुराण में प्रह्लाद ने कहा है—"ॐ नमो वासुदेवाय तस्मैभगवते सदा। व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः॥ नित्यानित्यप्रपञ्चात्मन् ! निःप्रपञ्चामलाश्रितः॥ एकानेक नमस्तुभ्यं वासुदेवादिकारण ! ॥ यः स्थूलसूक्ष्मः प्रकटः प्रकाशो यः सर्वभूतः न च सर्वभूतः। विश्वं यतश्चैतदविश्वहेतो ! नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ॥" (उस भगवान् वासुदेव को नमस्कार है जिनसे पृथक् कुछ नहीं है और जो अखिल ब्रह्माण्ड से पृथक् हैं। जो नित्य और अनित्य प्रपञ्चस्वरूप हैं और प्रपञ्चरूपी मल से शून्य हैं, एक हैं, अनेक हैं, जगत् के आदि कारण हैं, स्थूल हैं, सूक्ष्म हैं, प्रकट हैं, प्रकाशरूप हैं, सर्वभूत हैं और सर्वभूत नहीं भी हैं, जो विश्व के हेतु हैं और नहीं भी हैं, ऐसे पुरुषोत्तमको मैं नमस्कार करता हूँ)।

विष्णुपुराण में ही फिर ध्रुव ने स्तुति की है—"पृथग्भूतैकभूताय भूतभूतात्मने नमः" सबसे जो पृथक् है और सबसे एकभूत भी है, सब भूतों का आत्मा है उसको मेरा नमस्कार है।

स्मृतिन्यायनिविष्टचित्ताः । आहुर्यमात्मानमजं पुराणं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्म"इति । श्रीभागवते प्रथमस्कन्धे श्रीनारदो व्यासं प्रति "इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः । तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्"द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मापि नारदायाह "सोऽयं तेऽभिहितस्तात ! भगवान् हरिरीश्वरः । समासेन हरेर्नान्यिदन्यस्मात्सदसच्च यदि"ति । तस्मात्सर्व-श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिवाक्याविरुद्धो भगवत्सूत्रकारसम्मतश्चिदचितोर्ब्रह्मणा स्वाभाविकभेदाभेद एव सम्बन्धः सत्सम्प्रदायिभिरुपादेयः केवलभेदः केवलाभेदश्चोक्तशास्त्रविरुद्धत्वाद्भ्रान्तिपरिगृहीतत्वा-च्चोपेक्षणीयः । अपरे तु देवमनुष्यादिक्षेत्रेषु वेत्तृत्वैकाकारं क्षेत्रज्ञं च मां विद्धि मदात्मकं विद्धि, चापीति अपिशब्दात् क्षेत्रमपि मां विद्धीत्युक्तमवगम्यते, यथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञैकविशेषणस्वभावतया तदपृथक्-सिद्धेस्तत्सामानाधिकरण्येनैव निर्दिष्टं, तथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञश्च मद्विशेषणैकस्वभावतया मदपृथक्सिद्ध-मेत्सामानाधिकरण्येनैव निर्देश्याविति हि—वक्ष्यति क्षेत्रज्ञात् बद्धमुक्तोभयावस्थात् क्षराक्षरशब्द-

---

हरिवंश में घण्टाकर्ण ने कहा है :—"अनेकमेकं बहुधा वदन्ति श्रुतिस्मृति न्यायनिविष्टचित्ताः । आहुर्यमात्मानमजं पुराणं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्म" ॥ (श्रुति, स्मृति, न्याय के जाननेवाले जिनको एक भी कहते हैं और अनेक भी, जिनको वे आत्मा, अजन्मा और पुराण कहते हैं उस ईश को देखने के लिये हम उद्यत हैं ।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में नारद ने व्यास से कहा है—

"इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः । तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्" ॥ (यह विश्व भगवान् से पृथक् है । भगवान् से ही जगत् की स्थिति और लय सम्भव है । उनको आप स्वयं जानते हैं । मैंने संक्षेप में आपको (उनको) बताया) ।

फिर श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्मा ने भी नारद से कहा है—"सोऽयं तेऽभिहित-स्तात ! भगवानहरिरीश्वरः । समासेन हरेर्नान्यिदन्यस्मात्सदसच्चयत् ॥" मैंने उस भगवान् के विषय में संक्षेप से तुमसे कहा है । भगवान् से पृथक् कुछ नहीं है अर्थात् कार्य सत् और असत् कारण सब हरि से अलग नहीं है और कारणभूत भगवान् कार्य से भिन्न भी हैं । इसलिए चित् अचित् का ब्रह्म से स्वाभाविक भेद और अभेद सम्बन्ध सब श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि को सम्मत है और भगवान् सूत्रकार को भी मान्य है । इसलिए ऐसा ही सम्बन्ध सत्सम्प्रदायवालों को मानना चाहिए । केवल भेद वा केवल अभेद शास्त्र से विरुद्ध है और इसलिए उसको उपेक्षा करनी चाहिए ।

कोई कोई "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" का अर्थ यों लगाते हैं :—देव मनुष्यादि क्षेत्ररूप में ज्ञातारूप मुझको ही जानो अर्थात् वे सभी मदात्मक हैं । श्लोक के 'अपि' शब्द कहने से यह अर्थ निकला कि क्षेत्र भी मुझे ही जानो । जैसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विशेषण होने से उससे पृथक् नहीं है अर्थात् दोनों में समानाधिकरण है वैसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों मेरे (परमात्मा के) विशेषण हैं और इसलिए मुझसे वे अपृथक् सिद्ध हैं और दोनों का मुझ से इस प्रकार का समानाधिकरण सम्बन्ध है । फिर बद्ध और

निर्दिष्टादर्थान्तरत्वं परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्य "उत्तमः पुरुषस्त्वन्य"इति पृथिव्यादिसङ्घातरूपस्य भगवच्छरीरैकस्वभावतया भगवदात्मकत्वं श्रुतयो वदन्ति "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"इत्यारभ्य "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृत "इत्याद्याः । इदमेवान्तर्यामितया सर्वक्षेत्रज्ञानामवस्थानं भगवतस्तत्सामानाधिकरण्येन व्यपदेशहेतुरित्येवं सामानाधिकरण्यमुपपाद्य अचिद्वस्तुनः परस्य च ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेनेशितृत्वेन च स्वरूपस्वभावविवेकं (च) श्रुतिभिः प्रतिपाद्य "हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरवं तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवदि"ति स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकशब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मवाचका इति कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः

मुक्त दोनों अवस्थाओं में क्षर और अक्षर कहे जानेवाले क्षेत्रज्ञ से परब्रह्म वासुदेव विलक्षण भी हैं क्योंकि गीता ही कहती है "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" अर्थात् उत्तम पुरुष (ब्रह्म) दूसरा है क्षर और अक्षर से, अर्थात् वह उनका नियन्ता है। इस प्रकार पृथिव्यादि का संघातरूप समस्त संसार, क्षर और अक्षर, स्वभाव से भगवान् का शरीर है और इसीलिये वह उसका आत्मा है। श्रुतियाँ ऐसा कहती हैं—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य०, पृथिवीमन्तरो यमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यारभ्य "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽअन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति। (जो पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के भीतर है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वी के भीतर रहकर उसका शासन करता है वही तुम्हारी अन्तर्यामी और अमृत आत्मा है। इस श्रुति से आरम्भकर—जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा के भीतर चेतन है, जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के भीतर रह उसका शासन करता है वही तुम्हारा अन्तर्यामी और अमृत आत्मा है, इस श्रुति तक। इस प्रकार सब क्षेत्रज्ञों में भगवान् के अन्तर्यामीरूप से स्थित होने के कारण उनका भगवान् से समानाधिकरण है। इस प्रकार भगवान् से संसार का समानाधिकरण होना सिद्ध करके अचित् वस्तु अर्थात् अचेतन पदार्थ (जड़ प्रकृति) परब्रह्म का भोग्य है और परब्रह्म उसका भोक्ता और ईश है और इस प्रकार दोनों के स्वरूप और स्वभाव में पृथकता है ऐसा श्रुति से प्रतिपादन करते हैं। श्रुति—"हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासुष्टवा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" (हन्त ! मैं और पृथ्वी, जल, वायु ये तीनों देवता, इस जीव के साथ प्रवेश कर नाम रूप का भेद किया। और सृष्टि कर उसी में प्रवेश किया। प्रवेश कर मैं ही कार्य और कारण हुआ। मैं ही विज्ञान अविज्ञान सत्य और अनृत हुआ। स्वआत्मीय जीव में प्रवेशकर नाम रूप का विभाग किया। इस कारण संसार के सब वाचक

शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्। अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति विशिष्टाद्वैतमङ्गीकृत्य भोक्तृभोग्यनियन्तृभूतचिदचिद्ब्रह्मणां स्वरूपस्वभावभेदाङ्गीकारेण धर्मसाङ्कर्यमपि वारयन्ति। विशेषणस्य विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभाव-भेदेन भेदव्यवहारो मुख्य इति सर्ववाक्यानामविरोधप्रकारं च वर्णयन्ति। तत् प्रयासमात्रम्। भेदाभेद-व्यवहारयोर्मुख्यत्वाङ्गीकारेणास्मन्मतप्रवेशात्। यतोऽस्माभिर्भेदाभेदस्यैव श्रुतिस्मृतिसूत्रैर्निगदं साधि-तत्वात्। यदवशिष्टं ब्रह्मणश्चिदचिद्विशिष्टत्वं, तदसम्भवमेव, चिदचितोर्विशेषणत्वानुपपत्तेः। तथाहि इतरव्यावर्त्तकत्वं विशेषणत्वमिति सर्वशास्त्रसमानस्य विशेषणलक्षणस्य चिदचितोः समन्वयाभावात्। चिदचिद्ब्रह्मेति तत्त्वत्रयेतरवस्त्वभावादनङ्गीकाराच्च। एवञ्च यथा शृङ्गसास्नादिमत्त्वेन गोत्वलक्षणेन महिष्यादयो व्यावर्त्यन्ते तथा विशेषणत्वेनाभिमताभ्यां चिदचत्पदार्थाभ्यां किं वा वस्तु व्यावर्त्यते इति वक्तव्यं? न तावद्ब्रह्मान्तरमस्ति व्यावर्त्यम् "एकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुत्या तस्यैकत्वावधारणात्।

शब्द अचित् और जीव में विशेषण युक्त परमात्मा के ही वाचक हैं। इस प्रकार कारणावस्थास्थित परब्रह्म के वाची शब्द के साथ कार्यवाची शब्द का सामानाधिकरण सिद्ध हुआ अर्थात् दोनों में अभेद मुख्य हुआ। इससे कार्य अवस्था में स्थूल चेतन और अचेतन शरीररूप विशेषणयुक्त परम पुरुष परमात्मा ही है। चूंकि कार्य कारण का अभेद है इसलिए दोनों विशेषणयुक्त ब्रह्म एक ही हैं। पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म ही कार्य और कारण है। ऐसा होते हुए भी चेतन भोक्ता है, अचेतन भोग्य है और ब्रह्म दोनों का नियन्ता है। इस प्रकार तीनों में स्वभाव और स्वरूप का भेद होने से तीनों में धर्म की संकरता नहीं आ सकती। विशेषण का विशेष्य से एकदेशित्व है और इसलिए दोनों में अभेद व्यवहार भी है पर दोनों के स्वरूप और स्वभाव में पृथकता है इसलिए दोनों में भेद व्यवहार भी है। इस तरह वे भेद और अभेद वाक्यों का अविरोध वर्णन करते हैं।

पर यह व्याख्या प्रयासमात्र है। भेद और अभेद मुख्य रूप से इस मत में अंगीकार होता है इसलिए यह मत इस अंश में हमारे मत के समान है क्योंकि हमारे मत में भी भेद और अभेद श्रुति स्मृति वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध किया गया है। पर चित् अचित् अर्थात् प्रकृति और जीव का ब्रह्म का विशेषण होना असम्भव है क्योंकि चेतन और अचेतन में विशेषण के लक्षण नहीं घटते। इस बात को दिखाते हैं। जो एक वस्तु को दूसरी अनेक वस्तुओं से पृथक् करे वही उस वस्तु का विशेषण है। यह लक्षण सर्वशास्त्र सम्मत है। यह चित् और अचित् में नहीं घटता क्योंकि चित्, अचित् और ब्रह्म ये ही तीन तत्त्व माने गये हैं। और वादी भी इनसे पृथक् कोई चौथा तत्त्व नहीं मानता। इसलिए जैसे सींग और सास्नादि से गोवंश को भैंस वर्ग से पृथक् किया जाता है वैसे ही चित् और अचित् विशेषण से ब्रह्म को किस वस्तु से पृथकता करते हैं? इसका प्रतिवादी क्या जवाब दे सकता है क्योंकि ब्रह्म से दूसरा कोई व्यावर्त्य दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। क्योंकि श्रुति ब्रह्म के विषय में कहती है "एकमेवा-द्वितीयम्" (ब्रह्म एक अद्वितीय है, उससे दूसरा कोई नहीं)। यह कहा ही नहीं जा सकता कि चेतन

नापि चेतनचेतना येव तयोर्व्यावर्त्यत्वाङ्गीकारेण व्यावर्त्तकत्वरूपविशेषणत्वासम्भवात्। एवं तन्मते व्यावर्त्य किञ्चिन्न सिध्यति। व्यावर्त्यासिद्धौ कुतो व्यावर्त्तकता। तयोः व्यावर्त्तकत्वाभावेविशेषणत्वं न शक्यते वक्तुं विशेषणत्वासिद्धौ तद्विशिष्टत्वमनुन्मत्तः को ब्रूयात्। किञ्च चिदचितोर्ब्रह्मविशेषत्वे श्रुतेः स्मृते सूत्रस्य वा प्रमाणाभावात्तद्विशिष्टत्ववचनमप्रमाणिकमेव। तस्माद्यथा मायावादिनां शास्त्रानुभवविरुद्धोऽपि ब्रह्मण्यविद्याऽध्यासाङ्गीकारस्तथाऽनुपपन्नमपि विशिष्टाद्वैतं दुराग्रहेण सम्प्रदायस्वातन्त्र्यसिद्धयर्थमङ्गीकृतमित्यलं विस्तरेण। तस्मादुक्तार्थस्यैव शास्त्रानुभवसिद्धत्वाच्छ्रेयोऽर्थिभिरुपादेयत्वम्।

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

एवं निर्णीतस्वसम्बन्धज्ञानयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपयाथात्म्यं सङ्क्षेपेण वक्तुं प्रतिजानीते—तदिति। तत् इदं शरीरमिति। पूर्वोक्तं क्षेत्रं यच्च यद्द्रव्यं यादृक्च धर्मतो यत् प्रकारं यद्विकारि यैर्विकारैर्युक्तं यतश्च प्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भवति यत्स्वरूपं स च क्षेत्रज्ञः यो यत्स्वरूपः यत्प्रभावः ये चास्य प्रभावास्तत्समासेन सङ्क्षेपेण मे मत्तः शृणु।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

कैश्चित्तरेणोक्तं यतः सङ्क्षेपेणोच्यत इत्यपेक्षायामाह—ऋषिभिरिति। ऋषिभिः पराशर-

---

और अचेतन से ब्रह्म की पृथकता होगी क्योंकि जिससे पृथक करना है वह विशेषण नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रतिवादी के मत में व्यावर्त्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। और व्यावर्त्य ही जब सिद्ध नहीं हुआ तो व्यावर्तकता कहाँ रही? व्यावर्त्तकत्व के अभाव में विशेषणत्व भी नहीं कहा जा सकता और जब विशेषण नहीं रहा तो विशेषणयुक्त ब्रह्म है ऐसा सिद्धान्त कौन मान सकता? और भी। चित् अचित् का ब्रह्म के विशेषण होने में श्रुति, स्मृति और सूत्र के कोई वचन प्रमाण नहीं। इसलिए ब्रह्म के विशेषणयुक्त होने के वचन भी अप्रामाणिक हैं। इसलिए जो अर्थ (भिन्नाभिन्न ब्रह्म) यहाँ प्रतिपादन किया गया है वही शास्त्र और अनुभव से सिद्ध होने के कारण श्रेय है ॥२॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अपने से सम्बन्ध का ज्ञान भगवान् ने पीछे निर्णय किया। अब इस श्लोक में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप को संक्षेप से कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

पूर्व में कहा गया क्षेत्र अर्थात् शरीर जिस द्रव्य का बना हुआ है, जिन धर्मों और जिन विकारों से युक्त है, जिससे अर्थात् प्रकृति पुरुष के संयोग से होता है और जो उसका रूप है सभी मुझसे संक्षेप में सुनो। फिर क्षेत्रज्ञ जीव का जो स्वरूप है और जो उसका प्रभाव है वह भी मुझसे संक्षेप में सुनो ॥३॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का रूप विस्तार से किसने कहा है जिसको संक्षेप में आप कहेंगे? इसी का उत्तर यहाँ देते हैं।

व्यासादिभिर्बहुधा बहुप्रकारेण गीतं निरूपितं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् विविधैः छन्दोभिः ऋग्यजुःसामाथर्वभिः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं पृथग्गीतं "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नमन्नात्पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इति क्षेत्रमन्नमयपुरुषं शरीरमभिधाय तदनन्तरं प्राणमयं मनोमयं च पुरुषमभिधाय "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमये"इति क्षेत्रज्ञस्वरूपं निरूपितम्। तथा ब्रह्म सूत्रपदैः ब्रह्म सूच्यते वेष्टचतेऽल्पाक्षरैर्यैस्तानि ब्रह्मसूत्राणि तानि च तैर्ब्रह्मसूत्रपदैः वेदेषु विस्तृतं स्वरूपगुणविभूतिसहितं ब्रह्मतत्त्वं सारवद्भिरल्पाक्षरैः सङ्क्षिप्योच्यते यैस्तानि ब्रह्मसूत्राणीत्यर्थः। तान्येव पदानि तैः हेतुमद्भिः अज्ञातार्थबोधको हेतुस्तद्वद्भिः, पुनर्विनिश्चितैर्विद्वत्सम्मतैः, तथा चोक्तम् "अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुरि"ति। तथा च ब्रह्मसूत्रैः शारीरिकमीमांसासूत्रैः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यं प्रतिपादितमित्यर्थः। ननु यानि ब्रह्मप्रतिपादकानि न तैः क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रतिपादनं तेषां कथं ब्रह्मसूत्रत्वमिति चेच्छृणु ब्रह्मस्वरूपनिरूपणासाधारणहेतुनां जगज्जन्मा-

---

पराशर, व्यास आदिकों ने बहुत प्रकार से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप का निरूपण किया है। ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेदों के अनेक अनेक छन्दों द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है। यथा—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नमन्नात्पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इति क्षेत्रमन्नमयंपुरुषं शरीरमभिधाय तदनन्तरं प्राणमयं मनोमयं च पुरुषमभिधाय।" "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्माविज्ञानमय।" अर्थात् इस आत्मा (परमात्मा) से आकाश पैदा हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां और ओषधियों से अन्न, और अन्न से पुरुष (क्षेत्र) पैदा हुआ। वही पुरुष अन्नरसमय है। इस प्रकार क्षेत्र को अन्नमय पुरुष कहा। फिर प्राणमय और मनोमय पुरुष को कहा। इस मनोमय पुरुष से विलक्षण विज्ञानमय पुरुष है वही क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा है। ब्रह्मसूत्रों से अर्थात् वेद में विस्तृत स्वरूप, गुण और विभूति के सहित जो ब्रह्मतत्त्व है उसको सारयुक्त अल्पाक्षरों में कहनेवाले पदों से, जो अज्ञात अर्थ के बोध के हेतुओं के सहित और विद्वानों से सुनिश्चित हैं, जैसा कि कहा है—"अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदोविदुः॥" सूत्र के जाननेवाले सूत्र को ऐसी व्याख्या करते हैं—जो थोड़े अक्षरों में, सन्देहरहित, सारवाला, व्याप्त, स्पष्ट, और निर्दोष हो उसे सूत्र कहते हैं। अर्थात् शारीरिक मीमांसा सूत्रों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया गया है।

शङ्का-ब्रह्मसूत्रों ने ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का नहीं। ब्रह्म के प्रतिपादक सूत्र क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रतिपादक कैसे हो सकते हैं? और क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के प्रतिपादन करनेवाले सूत्र ब्रह्मसूत्र कैसे कहे जा सकते हैं?

उत्तर—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ब्रह्म के निरूपण में असाधारण कारण हैं क्योंकि ब्रह्म जगत (क्षेत्र

द्युपादानत्वतन्नियन्तृत्वतत्प्रवर्त्तकत्वस्वतन्त्रत्वव्यापकत्वानुग्राहकत्वादिधर्माणां ब्रह्मोपादेयत्वतन्नियम्यत्व-तत्प्रवर्त्यत्वतत्तन्त्रत्वतद्व्याप्यत्वतदनुग्राह्यत्वादिधर्मावच्छिन्नक्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपनिरूपणं विनाऽनुपपत्तेरत-स्तत्प्रतिपादनस्यापि ब्रह्मप्रतिपादनोपयोगित्वाद्ब्रह्मप्रतिपादनमेवेति सर्वेषां ब्रह्मसूत्रत्वमेवेत्यविरोधः। तथा च "न वियदश्रुते"रित्यादिभिः कार्यकारणभावेन क्षेत्रनिर्णय उक्तः। "नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः। ज्ञोऽत एवे"त्यादिभिः क्षेत्रज्ञनिर्णय उक्तः। एवमृष्यादिभिः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं बहुधा गीतं, मया सङ्क्षेपेण स्पष्टमुच्यमानं शृण्वित्यर्थः।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

तत्र तावत् क्षेत्रस्वरूपमाह—महाभूतानीति द्वाभ्याम्। महाभूतानि शरीरोपादानद्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपाणि, अहङ्कारस्तत्कारणं भूतादिः, बुद्धिर्महत्तत्त्वम्, अव्यक्तं गुणत्रयात्मकं प्रधानम्, इत्यष्टधा प्रकृतिः, इन्द्रियाणि दशैकं च श्रोत्रत्वक्चक्षु रसनघ्राणारूपाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि

और क्षेत्रज्ञ) के जन्म, स्थिति, लय का उपादान, उसका नियन्ता, प्रवर्त्तक, स्वतन्त्र, व्यापक, इस पर अनुग्रह करनेवाला है और ये उसके स्वाभाविक धर्म हैं और जगत उससे उत्पन्न, उससे नियन्त्रित, प्रवर्त्य, उसके अधीन, उससे व्याप्य और अनुग्रहीत धर्मवाला है। इसलिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का निरूपण किये बिना ब्रह्म का स्वरूप-निरूपण नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म के निरूपण में उपयोगी होने के कारण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का निरूपण भी ब्रह्म का ही निरूपण हुआ। इसलिए सभी सूत्र ब्रह्म प्रतिपादक ही ठहरे। फिर "नवियदश्रुतेः" (आकाश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि आकाशके पैदा होनेमें श्रुति प्रमाण नहीं है) आदि सूत्रोंसे कार्य कारण भाव द्वारा क्षेत्र का निर्णय किया गया है। अर्थात् छान्दोग्य में संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते समय आकाश की उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया गया है। परन्तु तैत्तिरीय उपनिषदमें "आत्मन आकाशः सम्भूतः" लिखा हुआ है। भाव यह है कि ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ है। इसलिए गुणोपसंहार न्याय से परमात्मा से आकाश की उत्पति सिद्ध है। इस हेतुसे परमात्मा का आकाश आदिसे कार्य कारण द्वारा क्षेत्र का निर्णय कहा। "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वा-च्च ताभ्यः"। "ज्ञोऽतएव"। (आत्मा की उत्पत्ति नहीं है क्योंकि श्रुति ने आत्मा को नित्य कहा है। आत्मा ज्ञाता है)। इत्यादि से क्षेत्रज्ञ का निर्णय किया गया है।

इस प्रकार ऋषियों ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप बहुत प्रकार से गाया है जिसको तुम हे अर्जुन! मुझसे संक्षेपतः स्पष्ट सुनो ॥४॥

अब क्षेत्रका स्वरूप दो श्लोकों से कहते हैं—शरीर के उपादान द्रव्य पांच महाभूत यथा, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन सबका कारण अहंकार, बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व, अव्यक्त अर्थात् तीन गुणवाली प्रकृति, ग्यारह इन्द्रियां यथा कान, त्वचा, आँख, रसना और नाक पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, हाथ, पांव, जननेन्द्रिय और गुदा पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवां मन, इन्द्रियों के

वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि, एक च मनः, इन्द्रियगोचराः श्रोत्रादीन्द्रियविषयाः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च इति चतुर्विंशति तत्त्वानि साङ्ख्याः कथयन्ति ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

इह तु इच्छादयो धर्मा अधिका अङ्गीकृताः । तत्र सुखहेतुतयाऽभिमतवस्त्वीप्सा इच्छा, द्वेषः प्रतिकूलवस्तुनिरासात्मिका चित्तवृत्तिः । सुखं पुण्यजन्यानुकूलविषयानुभवः । यद्यपीच्छाद्वेषसुखदुःखान्यात्मनो धर्माः "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" इति वक्ष्यमाणत्वात् । तथाऽपि तेषामात्मनः क्षेत्रसम्बन्धप्रयुक्तत्वात्तज्जन्यत्वाच्च क्षेत्राश्रितत्वमप्युच्यते । सङ्घातश्चेतनभोगायतनभूतः पञ्चमहाभूत-परिणामः, चेतना विषयानुभवयोग्यदेहेन्द्रियावैकल्यावस्था, धृतिः वैकल्यहेतौ सति देहेन्द्रियावष्टम्भको धर्मविशेषः । एतत् दृश्यमानं सर्वं प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तद्रव्यपरिणामरूपम् इन्द्रियमनइच्छादिधर्मोद्भव-हेतुभूतं चेतनसुखदुःखादिभोगागारं क्षेत्रं देहान्तरबीजभूतपुण्यपापोद्गमभूमिभूतं समासेन सङ्क्षेपेण सविकारं जन्ममरणावस्थान्तरादिपरिणामयुक्तमुदाहृतमुक्तम् ।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

पाँच विषय, यथा, कान का शब्द, त्वचा का स्पर्श, आँख का रूप, रसना का रस, और नाक का गन्ध यही चौबीस तत्त्व सांख्यवादियों ने कहे हैं ॥५॥

यहां गीता शास्त्र में भगवान् ने इच्छादि धर्म अधिक माने हैं। सुख के लिए इच्छित वस्तुकी चाह को इच्छा कहते हैं। प्रतिकूल वस्तु को हटाने वाली चित्त वृत्ति को द्वेष कहते हैं। पुण्य जनित अनुकूल विषय के अनुभव को सुख कहते हैं। यद्यपि इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि आत्मा के धर्म हैं जैसा कि भगवान् आगे कहेंगे "पुरुषः सुख-दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" (भोक्ता होनेसे सुख दुःख होने का कारण पुरुष है) तथापि उनका आत्मा में प्रयोग क्षेत्र ही के सम्बन्ध से होता है और क्षेत्र ही के सम्बन्ध से वे पैदा होते हैं इसलिए वे क्षेत्र के आश्रित हैं ऐसा कहा गया। इसी कारण उनको क्षेत्र का धर्म कहा गया। फिर क्षेत्र आत्मा के भोग का घर है और पंच महाभूतों के संघ का परिणाम है। विषय अनुभव योग्य और इन्द्रिय की अविकल अवस्था को चेतना कहते हैं। विकलता के कारण उपस्थित होने पर भी देह और इन्द्रिय में विकलता जो न होने दे उसको धृति वा धैर्य कहते हैं। दिखाई पड़ने वाला, प्रकृति से लेकर पृथिवी तक द्रव्य का परिणाम स्वरूप, इन्द्रिय, मन, इच्छा आदि के धर्मों की उत्पत्ति का कारण स्वरूप, चेतन के सुख दुःखादि भोग का स्थान, देहान्तर के कारणभूत पाप-पुण्य की उत्पत्ति भूमि, जो क्षेत्र वा शरीर है, उसको, जन्म, मरण, अवस्थान्तर आदि परिणाम के साथ मैंने कहा ॥६॥

एवं क्षेत्रं प्रतिपाद्य तद्विलक्षणं क्षेत्रज्ञस्वरूपं प्रतिपादयितुं वेत्तुस्तज्ज्ञानयोग्यताऽऽपादनाय साधनान्याह—अमानित्वमित्यादि पञ्चभिः। यत्किञ्चिद्गुणवत्तया पूज्यजनेष्वपि स्वपूज्यत्वबुद्धिर्मानिस्तद्वत्त्वं मानित्वं तद्रहितत्वममानित्वम्, अदम्भित्वं धर्मित्वख्यापनायाविधिवद्धर्मलेशानुष्ठानं दम्भस्तद्वत्त्वं दम्भित्वं तद्रहितत्वम्, अहिंसा वाङ्मनः कायैः परपीडावर्जनं, क्षान्तिः परैरपकृतेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधोपेक्षा, आर्जवं वाङ्मनः कायानां समत्वमकौटिल्यमिति यावत्, आचार्योपासनम्, आचार्यः "(श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्,) आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः। गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरि"त्यभिधीयते, इतिश्रुतिस्मृत्युक्तलक्षणो विवक्षितः, मोक्षमार्गदर्शित्वात्। तस्योपासनं निर्मायिकतया वाङ्मनः कायैः सेवनं, शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदाद्द्विविधं, बाह्यं मृज्जलादिना कायेन्द्रियशुद्धिः, आभ्यन्तरं मनोमलरागादीनां विवेकेनापनयनं, स्थैर्यं परमार्थोपाये प्रवृत्तस्य विघ्नबाहुल्ये प्राप्तेऽपि उद्वेगाभावेन तदपरित्यज्यावस्थानम्, आत्मविनिग्रहः देहेन्द्रिय-सङ्घस्य शास्त्रविरुद्धासत्प्रवृत्तेर्निवर्तनम्।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

क्षेत्र का प्रतिपादन कर उससे विलक्षण क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का प्रतिपादन करने के लिए उसके जानने की योग्यता प्राप्ति को पाँच श्लोकों में कहते हैं।

थोड़े ही गुण के बल पर पूज्य जनों के बीच अपने पूज्य होनेकी बुद्धि को मान कहते हैं और ऐसे मान से हीनता अमानिता कहलाती है। धर्मात्मा होने की ख्याति पाने के लिए विधि रहित किञ्चित धर्मानुष्ठान को दम्भ कहते हैं। उस दम्भ से रहित होना अदम्भिता है। मन, वच, कर्म से किसी को पीड़ा नहीं देना अहिंसा कहलाती है। दूसरे से अपकार किये जाने पर भी निर्विकार चित्त से अपराध की उपेक्षा करने को क्षान्ति कहते हैं। मन, वच, कर्म से सम भाव रखना आर्जव कहलाता है। आचार्य की उपासना अर्थात् निश्छल हो गुरु की मन, वचन, कर्म से सेवा करना। आचार्य के लक्षण ये हैं—"श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (वेद को जाननेवाला और ब्रह्मनिष्ठ)। फिर :—

आचार्यो वेदसम्पन्नो इत्यादि। (वेद का जानने वाला, विष्णुभक्त, मत्सरहीन, मन्त्र का जानने वाला, मन्त्र भक्त, मन्त्र का आश्रय करने वाला, पवित्र गुरुभक्ति से युक्त, पुराण का विशेष जानने वाला। इन लक्षणों से युक्त पुरुष मोक्ष का मार्ग दिखाने वाला गुरु कहलाता है।)

बाहर और भीतर की पवित्रता को शौच कहते हैं। मृत्तिका जल आदि से कर्मेन्द्रियों और शरीर को शुद्ध करना बाहर की पवित्रता है और विवेक द्वारा मन के मल स्वरूप रोगादिकों को हटाना भीतरी शुद्धता है। मोक्षके उपाय में प्रवृत्त होने पर, विघ्न बहुलता से न घबड़ा कर उसमें लगे रहने को स्थिरता कहते हैं। देह, इन्द्रियों को शास्त्र निन्दित प्रवृत्तियोंमें जाने से रोकना आत्म विनिग्रह कहलाता हैं ॥७॥

किञ्चेन्द्रियार्थेष्विति । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिविषयेषु दोषदृष्ट्युत्पादनेन रागराहित्यं वैराग्यम्, अनहङ्कारः अभिजनजातिक्रियाभिरात्मन उत्कृष्टत्वाभिमानो गर्वोऽहङ्कारस्तद्राहित्यं, जन्ममृत्युजरा-व्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् । प्राकृतशरीरवत्त्वे जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखादिरूपदोषाणामवर्जनीयत्वादनु-दर्शनं पुनः पुनरनुसन्धानं, "न ह वा शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं प्रिया-प्रिये न स्पृशत" इति श्रुतेः ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

किञ्च—असक्तिरिति । ममेदमिति प्रीत्यतिशयः सक्तिस्तद्राहित्यमसक्तिः, अनात्मनि तत्सम्बन्धिषु च आत्माभिमानोऽभिष्वङ्गस्तद्राहित्यमनभिष्वङ्गः । असक्त्यनभिष्वङ्गयोर्विषयमाह-पुत्रदारगृहादि-ष्विति । आदिना वित्तपशुभृत्यप्रभृतिसम्बन्धिग्रहणं सर्वत्र स्नेहवर्जनमित्यर्थः । इष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वं हर्षविषादाभाव इत्यर्थः ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

किञ्च—मयीति । मयि भगवति वासुदेवे सर्वेश्वरे अनन्ययोगेन न मत्तोऽन्यो देवादिरुपास्यः फलं वाऽस्तीत्यनन्यसम्बन्धेनेत्यर्थः । भक्तिः सेवनात्मिका बाह्यान्तःकरणवृत्तिः अव्यभिचारिणी केनचित् कामान्तरेण पुरुषान्तरेण वा प्रतिहर्त्तुमशक्या इष्टेत्यर्थः । तथा विविक्तो भगवदाराधनविरोधिजन-

---

और भी साधनों को बताते हैं :—इन्द्रियों के विषय शब्दादिकों में दोष दृष्टि डालकर उनसे विराग होना । निवास स्थान, जाति, कार्य, आदि से अपने को ऊंचा मानना इसी को गर्व या अहङ्कार कहते हैं और उसमें रहित होने को अनहङ्कार कहते हैं । प्राकृत शरीरमें जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग आदि दोष अनिवार्य हैं, इस बात को बार-बार विचारना । श्रुति कहती है—"न ह वा शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" (प्राकृत शरीरके रहते हुए प्रिय और अप्रिय से छुटकारा नहीं और शरीर न रहने पर अर्थात् दिव्य शरीर प्राप्त होने पर प्रिय और अप्रिय नहीं छूते) ॥८॥

लड़का, स्त्री, घर, धन, पशु, नौकर आदिकों में "ये मेरे हैं" ऐसी गाढ़ी प्रीति के अभाव को असक्ति कहते हैं । इन अनात्म वस्तुओं और उनसे सम्बन्ध रखने वालों में आत्माभिमान का न होना और इच्छित और अनिच्छित वस्तुओं में सदा समता अर्थात् हर्ष, विषाद का अभाव ॥९॥

मुझ सर्वेश्वर वासुदेव भगवान् में अनन्य रूप से अव्यभिचारिणी भक्ति करनी । "अनन्य योग से" इसका अर्थ यह निकला कि मुझसे दूसरा कोई उपास्य देव वा फल का भाव न होना, अर्थात् अनन्य सम्बन्ध । अव्यविचारिणी का अर्थ है दृढ़, अर्थात् कामान्तर वा पुरुषान्तर से रोके जाने के अयोग्य । बाहर और भीतर के कारणों द्वारा भगवान् की सेवा करने को भक्ति कहते हैं । जहाँ भगवान् की आराधना

संसर्गवर्जितो देशस्तत्सेवनशीलत्वं विविक्तदेशसेवित्वम्। जनानां भगवद्भक्तिज्ञानहीनानां विषयप्रवणानां संसदि समाजे अरतिः प्रीत्यभावः असङ्गतिरित्यर्थः। सतां सङ्गतिस्तु कर्तव्या, तथोक्तं च्यवननहुष-सम्वादे "सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत सङ्गमम्। सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्। सङ्गः सर्वात्मना हेयः स च त्यक्तुं न शक्यते। स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजमि"ति।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

किञ्च—अध्यात्मेति। आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तं ज्ञानमध्यात्मज्ञानमनात्मविविक्तात्मयाथात्म्य-ज्ञानमित्यर्थः। तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव सदा निष्ठत्वं तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं निःश्रेयसविद्यानिवृत्तिपूर्वकं निरतिशयानन्दभगवद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षस्तस्य दर्शनमालोचनम्, एतदमानित्वादिविंशकं ज्ञानं ज्ञायते तत्त्वमनेनेति ज्ञानमिति प्रोक्तम्। अतोऽन्यथा उक्तादस्माद्विपरीतं यन्मानदम्भादिमत्त्वं तदज्ञानति प्रोक्तं, ज्ञानविरोधिभूतं मुमुक्षुणा यत्नेन त्याज्यमित्यर्थः।

ज्ञेयं यत् तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

यदर्थममानित्वादिसाधनवृन्दमुक्तं तज्ज्ञेयं प्रकृतिवियुक्तं क्षेत्रज्ञस्वरूपमाह—ज्ञेयमिति। उक्तैः साधनैर्ज्ञेयं यत्प्रत्यगात्मस्वरूपं तत्प्रवक्ष्यामि। तज्ज्ञानस्य फलं नाल्पमित्याह—यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते इति।

के विरोधी जन नहीं रहते हों ऐसे देश में रहना। और भगवद्भक्ति के ज्ञान से हीन और विषय में आसक्त मनुष्यों के समाज से अप्रीति अर्थात् असंगति रखना। सदा साधुओं का संग करना चाहिए जैसा कि च्यवन-नहुष सम्वाद में कहा गया है—

"सद्भिरेव सहासीत इत्यादि। (सज्जनों के साथ रहो, उन्हीं की संगति करो। उन्हीं के साथ विवाद या मित्रता करो, असज्जनों के साथ कोई व्यवहार न करो। वैसे तो संग किसी का नहीं करना चाहिए, किन्तु सज्जनों की संगति संसार रूपी रोग की दवा है।) ॥१०॥

आत्मा के ज्ञान को आत्मज्ञान कहते हैं अर्थात् अनात्म वस्तुओं से पृथक् आत्मा का यथार्थ ज्ञान। इसी ज्ञान में सदा एक निष्ठ होकर लगा रहना। अविद्या को पूर्ण रूप से हटा अतिशय आनन्दरूप भगवद्भावापत्ति लक्षणवाले मोक्ष की आलोचना करे। ये ही अमानिता आदि बीस ज्ञान हैं। इन्हीं के द्वारा तत्त्व जाना जाता है इसी से इसको ज्ञान कहा। इनके विपरीत दम्भ, अहंकार आदि अज्ञान कहे जाते हैं और मुमुक्षुओं को इनको यत्न पूर्वक छोड़ देना चाहिए, क्योंकि ये पूर्वोक्त ज्ञान के विरोधी हैं ॥११॥

अमानिता आदि साधन समूह जिसको जानने के लिए कहे गये और जो प्रकृति वियुक्त आत्मा जानने योग्य है उसका स्वरूप अब कहते हैं।

यत् प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं ज्ञात्वा अमृतं जन्मजरामरणादिप्राकृतधर्मरहितं शुद्धमात्मस्वरूपमश्नुते प्राप्नोति। तदेवाह—अनादीति। न आदिर्जन्म यस्य तदनादि, मत्परम् अहं परो गुणशक्त्यादिभिरुत्कृष्टो यस्मात्तन्मत्परं "स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति श्रुतेः "प्रधानपुरुषकालानां कारणं परमं हि यत्। पश्यन्ति सूरयो नित्यं तद्विष्णोः परमं पदमि"ति स्मृतेश्च निवृत्ताखिलाविद्यस्य प्रत्यगात्मनः शुद्धस्वरूपं ब्रह्म। आवरणाभावात् बृहद्गुणयोगेन ब्रह्मत्वमविरुद्धम्। "बृहन्तो गुणा अस्मिन्निति ब्रह्मे"ति श्रुतेः। मुक्तस्य "परमं साम्यमुपैती"ति साम्याभिधानात् "सर्वं ह पश्यः पश्यती"ति सार्वज्ञ्ययोगाच्च ब्रह्मत्वं युक्तम्। न सत्तन्नासदुच्यते। तदात्मस्वरूपं न सत् न चासत् शास्त्र उच्यते, कार्यावस्थायां नामरूपविभागार्हं द्रव्यं सच्छब्देनोच्यते। कारणावस्थायां नामरूपविभागानर्हं द्रव्यमसच्छब्देनोच्यते। तथा च श्रुतिः "असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते"ति। तदुभयावस्थारहितत्वात्सदसच्छब्दाभ्यां नोच्यते। "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि"ति श्रुतेः।

ऊपर कहे गये साधनों से जानने योग्य जो प्रत्यागात्मा का स्वरूप है उसको मैं कहूँगा। उसको जानने का फल थोड़ा नहीं है। उस फल को कहते हैं। प्रकृति वियुक्त आत्म स्वरूप को जानकर अमृत को अर्थात् जन्म, बुढ़ापा, मरण आदि प्राकृत धर्म्मों से रहित शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त होता है। अब स्वरूप का वर्णन करते हैं।

वह प्रत्यगात्मा अनादि अर्थात् जन्मरहित है। मैं उससे गुण, शक्ति आदि से उत्कृष्ट हूँ इसीलिए वह मत्पर है, जैसा कि श्रुति का वचन है—"स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (वह शुद्ध, प्रकृतिरहित आत्मा इस जीवसमूह से श्रेष्ठ, पुरितत्ति नाड़ी में सोनेवाले पुरुष को देखता है।) स्मृति का वचन है "प्रधानपुरुषकालानां कारणं परमं हि यत्। पश्यन्ति सूरयो नित्यं तद्विष्णोः परमं पदम्" (माया, जीव, व्यक्त और काल का परम कारण, जिसको सूरि अर्थात् मुक्तजीव नित्य देखते हैं वही विष्णु का श्रेष्ठ लोक है)। सम्पूर्ण अविद्या से निवृत्त जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप को ब्रह्म कहा है क्योंकि अविद्यारूपी आवरण के हट जाने से जीवात्मा का ज्ञान व्यापक हो जाता है। इस प्रकार उसका ब्रह्मत्व सिद्ध हुआ। श्रुति कहती है—"बृहन्तोगुणा अस्मिन्निति ब्रह्म" (जिसमें बहुत गुण व्यापक हों वह ब्रह्म है)। मुक्तजीव "परमं साम्यमुपैति" (परम समता को प्राप्त करता है अर्थात् उसका ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है) और इस भाँति उसको ब्रह्म कहना युक्त हुआ। उस आत्मस्वरूप को शास्त्र न सत् कहता है न असत्। कार्यावस्था में जिसका नाम द्वारा विभाग हो सके उस द्रव्य को सत् कहते हैं। श्रुति कहती है—"असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत।" (इसके आगे असत् था, उससे सत् हुआ, यह पहले अविभाजित था। तब नाम रूप का विभाग हुआ)। आत्मा दोनों अवस्थाओं से रहित है इसलिए न वह सत् है न असत्। श्रुति कहती है—"न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (जीव न जन्म लेता है न मरता है)॥१२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

तस्य ब्रह्मत्वमुपपादयति—सर्वत इति पञ्चभिः । अयं भावः "अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । अनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वत आदत्ते" इत्यादिश्रुत्या परमात्मनो यथा पाणिपादादिसर्वेन्द्रियरहितत्वेऽपि आदानगमनादिदर्शनश्रवणादिसर्वकार्यकर्तृत्वं तादृश-शक्तियोगादेव निरूपितं, तद्वत् । तथा "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति, इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता"इतिश्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तानां तत्साम्यस्य श्रुतिपादत्वात् । तत्साम्या-पन्नानां प्रत्यगात्मनामपीन्द्रियनिरपेक्षैवादानगमनदर्शनादिक्रिया सम्भवतीत्यतः सर्वतः पाणिपादं तदित्युक्तंतत्परिशुद्धात्मस्वरूपं सर्वतः पाणिपादक्रियाकृदित्यर्थः । तथा सर्वतश्चक्षुःशिरोमुखकार्यकृत्, सर्वतः श्रुतिमत् श्रवणेन्द्रियशक्तिमत्, लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति लोके यद्वस्तु जातं तत्सर्वं स्वज्ञानेनावृत्य ज्ञानगोचरीकृत्य तिष्ठति । तदा निःशेषाविद्यानिवृत्त्या धर्मभूतज्ञानस्य व्यापकत्वात् प्रत्यगात्मनो व्यापक धर्मयोगादेव विभुत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा चाह भगवान्सूत्रकारः "तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदि"ति ।

पाँच श्लोकों से मुक्तजीव का ब्रह्मत्व सिद्ध करते हैं । भाव यह है, श्रुति परमात्मा के विषय में कहती है—'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतः आदत्ते" (परब्रह्म बिना पैर के वेग से चलता है, बिना हाथ के पकड़ता है, बिना आँख के देखता है, बिना कान के सुनता है । बिना इन्द्रियों के भी सब जगह देखता है, सब कुछ सुनता है और सब कुछ पकड़ता है) । जैसे परमात्मा बिना इन्द्रियों के ही पकड़ना, चलना, सुनना, देखना, आदि सब कामों को करता है वैसे ही प्रकृतिवियुक्त आत्मा भी सब करता है । श्रुति कहती है—"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" (तब विद्वान् पुण्य और पाप को नष्ट कर और माया के अंजन से छूट परम समता प्राप्त करता है) । स्मृति का वचन है—'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य-मागता' (इस ज्ञान को पाकर मेरे समान धर्मवाला हो जाता है) । इन श्रुति, स्मृति वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि मुक्त जीव परब्रह्म की समता को प्राप्त करता है । समता पाये हुये ऐसे मुक्त जीवों की भी चलना, फिरना, पकड़ना, देखना, सुनना आदि क्रियायें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं करतीं । इसी से वह सब जगह हाथ पैरवाला कहा गया है अर्थात् हाथ पैर की अपेक्षा नहीं रहने से शुद्ध आत्मस्वरूप सब जगह चल फिर सकता है । उसी प्रकार वह सब जगह आँख, कान, सिर और मुख का काम करनेवाला है । संसार की सब वस्तुओं को अपने धर्मभूत ज्ञान से व्याप्त कर स्थित है अर्थात् वह सब कुछ का प्रत्यक्ष ज्ञान रखता है । इस प्रकार अविद्या की बिलकुल निवृत्ति हो जाने से प्रत्यगात्मा का धर्मभूत ज्ञान व्यापक हो जाता है और इस रीति से ही जीव का कहीं-कहीं विभु होना कहा है ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

किञ्च—सर्वेन्द्रियेति । सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मात्मकानि बाह्यकरणानि, अन्तर्ज्ञानकरणे मनोबुद्धी, तेषां गुणानां शब्दादिवागादिसङ्कल्पाध्यवसायादीनामाभासः प्रकाशो येन तत्सर्वेन्द्रियगुणाभासं, न ह्यात्मानं विनेन्द्रियविषयप्रकाशः सम्भवति । स्वयं च सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, इन्द्रियवृत्तिं विनापि सर्वं जानातीत्यर्थः असक्तं देहादिसङ्गरहितम्, सर्वभृच्चैव, देवमनुष्यादिदेहभरणसमर्थम् । तदुक्तं "इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगदि"ति । तथा निर्गुणं गुणभोक्तृ च । सत्त्वादिगुणरहितं सत्त्वादिगुणभोगसमर्थं च ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

किञ्च—बहिरिति । भूतानां पृथिव्यादीनां कार्यकारणत्वाभावात्तेभ्यो बहिर्विलक्षणं तेषामन्तश्च वर्त्तते आधारत्वात्, पञ्चभूतात्मकशरीराद्विलक्षणं तदन्तर्गतं चेत्यर्थः । अचरं चरमेव च । स्वभावतोऽचरं स्थिरं देहित्वेन चरं, सूक्ष्मत्वादणुपरिमाणत्वात्तदात्मस्वरूपमविज्ञेयं देहे वर्त्तमानमपि संसारिभिर्देहात्पृथक्त्वेन नोविज्ञेयं, दूरस्थं चान्तिके च तत् । उक्तामानित्वादिहीनानामतिदूरस्थं, तद्वतां चान्तिके निकटे च वर्त्तते ।

भगवान् सूत्रकार ने कहा है—"तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" (धर्मभूत ज्ञान उसका सार होने से ब्रह्म के समान जीव भी विभु कहा जाता है ॥१३॥

आत्मा बाहर के सब ज्ञान और कर्मेन्द्रियों के और अन्तःकरण अर्थात् मन और बुद्धि के शब्दादि, वागादि और अध्यवसाय संकल्पादि गुणों का प्रकाश करनेवाला है क्योंकि आत्मा के बिना इन्द्रियों का विषयों में प्रकाश होना असम्भव है । विषय प्रकाशन में स्वयं आत्मा को इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती । बिना इन्द्रियवृत्ति के ही सब जानता है । वह असक्त अर्थात् देहादि के सङ्ग से रहित है और सर्वभृत्, अर्थात् देव, मनुष्यादि सब देहों को धारण करने में समर्थ है । गीता ही का वचन है, "इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ।" आत्मा सत्त्वादि गुणों से रहित है और उन गुणों के भोगने में समर्थ है ॥१४॥

पृथिवी आदि भूतों से कार्यकारण भाव नहीं होने से आत्मा उनसे बाहर अर्थात् विलक्षण है और उनका आधार होने से उनके भीतर है अर्थात् पंचभूत के बने शरीर से विलक्षण है और उसके भीतर भी है । स्वभाव से अचर (स्थिर) है पर देह के सम्बन्ध से चर है । सूक्ष्म अर्थात् अणु परिमाणवाला होने से वह आत्मस्वरूप जानने में नहीं आता है, अर्थात् देह में स्थित भी संसारियों से देह से पृथक् नहीं जाना जाता । अमानित्वादि गुणों से हीन लोगों के लिये वह बहुत दूर है और जो उन गुणों से युक्त हैं उनके लिये वह बहुत निकट है ॥१४॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

किञ्चाविभक्तमिति । देवमनुष्यादिभूतेषु ज्ञातृत्वेनैकरूपतया वर्त्तमानमात्मवस्तु अविभक्तं भेदेन निर्देष्टुमशक्यम् । आत्मस्वरूपयाथात्म्यविदुषां देवमनुष्याद्याकारमेव विजानतां विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तृ च । भूतानां प्राणवद्देहानां धारयितृ च तज्ज्ञेयं ततोऽर्थान्तरत्वेन ज्ञेयं, भूतभर्तृत्वाद्ग्रसिष्णु अन्नादिग्रसनशीलम्, एवम्भूतमपि मुक्तिदशायां प्रभविष्णु च प्रकर्षेण बहुधा भवनशीलं "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशधा स्मृतः, शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशती"ति श्रुतेः ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

किञ्च—ज्योतिषामिति । ज्योतिषां मणिचन्द्रसूर्यदीपादीनामपि ज्योतिः प्रकाशकं, मणिचन्द्रसूर्यदीपादयो विषयेन्द्रियसन्निकर्षविरोधितमोनिवर्त्तकाः, आत्मधर्मभूतज्ञानं तु आदित्यादिसर्वं प्राकृतं ज्योतिः प्रकाशयति । तेन विना सर्वप्रकाशानुपपत्तेः । अतस्तमसः परमुच्यते तमःशब्दवाच्या प्रकृतिस्तस्याः परं श्रेष्ठमुच्यते, अपरिणामित्वात् । प्रकृतेस्तु परिणामिस्वभावत्वात् । अतो ज्ञानं ज्ञानैकस्वरूपमिति ज्ञेयं ज्ञातव्यं ज्ञानगम्यं ज्ञानैरुक्तैरमानित्वादिभिर्ज्ञानसाधनैर्गम्यं प्राप्यं, सर्वस्य मनुष्यादेर्हृदि धिष्ठितमधिष्ठातृतयाऽवस्थितम् । विष्ठितमिति पाठे विशेषेण स्थितमित्यर्थः ।

देव मनुष्यादि शरीरों में ज्ञातृत्व रूप से एकसा वर्त्तमान रहने के कारण आत्मा का भेदनिर्देश नहीं किया जा सकता अर्थात् सब अनात्म वस्तु में आत्मा एकसा है। आत्मा का यथार्थ रूप नहीं जाननेवालों के लिए देव मनुष्यादि के रूप में वह पृथक्-पृथक् जैसा मालूम पड़ता है। प्राणयुक्त शरीरों का वह धारण करनेवाला है। शरीर से भिन्न वा पृथक् जाना जाता है। भूतों का धारण करनेवाला होने से अन्नादि का ग्रहण करनेवाला है। ऐसा होने पर भी मुक्तिदशा में बहुत होनेवाला है जैसा श्रुति कहती है—"स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशधा स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति ।" (वह मुक्त आत्मा एक प्रकार का होता है, तीन, पाँच, सात, नव, ग्यारह, सौ, हजार, बीस हजार का होता है) ॥१६॥

आत्मा मणि, सूर्य, दीपक आदिकों का भी प्रकाशक है अर्थात् मणि, सूर्य आदि विषय और इन्द्रिय के निकट होने पर विरोधी अन्धकार को वह हटाता है। आत्मधर्मभूतज्ञान आदित्यादि सभी प्राकृतिक ज्योतियों का प्रकाशक है क्योंकि आत्मा के धर्मभूत ज्ञान ही के द्वारा उनका प्रकाश ग्रहण होता है। आत्मा तम अर्थात् प्रकृति से श्रेष्ठ है क्योंकि आत्मा अपरिणामी स्वभाववाला है और प्रकृति परिणामी है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, जानने योग्य है और पूर्वोक्त अमानिता आदि ज्ञानसाधनों द्वारा प्राप्य है। सब मनुष्यादि के हृदय में अधिष्ठाता रूप से स्थित है ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिविशेषफलसहितमुपसंहरति—इति क्षेत्रमिति । इत्येवमुक्तप्रकारेण "महाभूतान्यहङ्कार"इत्यादिना "सङ्घातश्चेतना धृतिरि"त्यन्तं क्षेत्रयाथात्म्यं तथा "अमानित्वमि"त्यादि "तत्त्वज्ञानार्थदर्शनमि"त्यन्तं ज्ञेयस्य [क्षेत्रज्ञस्य] ज्ञानसाधनं ज्ञानं ज्ञेयं च "अनादिमत्परमि"त्यादिना "हृदि सर्वस्य विष्ठितमि"त्यन्तेन ज्ञेयस्य क्षेत्रज्ञस्य च तत्त्वयाथात्म्यं सङ्क्षेपेण मयोक्तम् । एतच्छास्त्राधिकारी पूर्वाध्यायोक्तो मद्भक्त एवेत्याह—मद्भक्त इति । एतत् क्षेत्रयाथात्म्यं क्षेत्रज्ञस्य प्राप्त्युपायं क्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यं च विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते । मम यो भावो जन्ममरणादिराहित्यं तत्प्राप्तये योग्यो भवतीत्यर्थः ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥

तदेवं सप्तमाध्यायोक्ते ये परापरप्रकृतिशब्दाभिहिते शक्ती ते तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दाभ्यां विवृते । इदानीं क्षेत्रक्षेत्रज्ञावेव प्रकृतिपुरुषौ तयोरनादित्वमनादिसंसर्गं प्रकृतेश्च सर्वविकारोपादानत्वं चाह—प्रकृतिमिति । त्रिगुणात्मिकाऽचेतना क्षेत्रलक्षणाऽपरा शक्तिर्या प्रागुक्ता सा प्रकृतिरुच्यते । या तु तद्विलक्षणा चेतनरूपा क्षेत्रज्ञलक्षणा परा प्रकृतिरित्युक्ता सेह पुरुष इत्युच्यते । प्रकृतिं पुरुषं च उभावपि

यहाँ क्षेत्रादि को उसके अधिकार और विशेष फल के साथ कहकर समाप्त करते हैं । "महाभूतान्यहङ्कारः" से लेकर "सङ्घातश्चेतना धृतिः" तक क्षेत्र का यथार्थरूप वर्णन किया, "अमानित्वम्" से आरम्भकर और "तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्" तक ज्ञेय जो क्षेत्रज्ञ है उसके ज्ञान के साधनों को बताया और "अनादिमत्परम्" से "हृदि सर्वस्याधिष्ठितम्" तक जानने योग्य क्षेत्रज्ञ तत्त्व का यथार्थरूप संक्षेप से बताया । इस शास्त्र के अधिकारी बारहवें अध्याय में कहे हुए मेरे भक्त ही हैं, इसको अब कहते हैं ।

मेरा भक्त क्षेत्र का यथार्थज्ञान, क्षेत्रज्ञ की प्राप्ति का उपाय और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के याथात्म्य को जानकर मेरे भाव के योग्य होता है अर्थात् जन्म-मरण आदि से रहित स्वरूप अर्थात् मोक्ष को प्राप्ति के योग्य होता है ॥१८॥

सातवें अध्याय में जिनको परा और अपरा प्रकृति कहा गया है उन्हीं दोनों भगवत् शक्तियों को यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्द से स्पष्ट करते हैं । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ही प्रकृति पुरुष हैं और दोनों का संसर्ग अनादि है और प्रकृति ही सर्व विकारों को उत्पन्न करती है, ये सब बातें इस श्लोक में कही गई हैं ।

त्रिगुणात्मक, अचेतन, क्षेत्रलक्षणयुक्त जो अपराशक्ति पहले कही गई है उसी को प्रकृति कहते हैं । उससे विलक्षण चेतन क्षेत्रज्ञ, जो परा प्रकृति कहा गया है वही यहाँ पुरुष कहा गया है । प्रकृति,

अनादी एव विद्धि, न विद्यते आदिः कारणं ययोस्तौ तथा प्रकृतेः सर्वविकारोपादनत्वात् तस्या अपि प्रकृत्यन्तराङ्गीकारेऽनवस्थापत्तेश्च । पुरुषस्यापि मदंशत्वात् "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि"त्यजत्वाभिधानाच्चानादित्वं निर्विवादम् । विकारान् जीवानां बन्धहेतुभूतानिच्छाद्वेषादीन्गुणांश्चामानित्वादिकान् ज्ञानद्वारा मोक्षहेतुभूतान् प्रकृतिसम्भवान् विद्धि । अनादिकर्मात्मिकाऽविद्यानिमित्तेन जीवसंसृष्टेयं प्रकृतिः क्षेत्रात्मना परिणता सती स्वविकारभूतैरिच्छाद्वेषादिभिः पुरुषस्य संसृतिहेतुर्भवति । सैवामानित्वादिभिः सत्त्वकार्यरूपैः स्वगुणैः पुरुषस्य मोक्षहेतुर्भवतीति भावः ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

प्रकृतिकार्यमुक्त्वा संसृष्टयोः प्रकृतिपुरुषयोः कार्यभेदमाह कार्यकारणेति । कार्यं शरीरं कारणानीन्द्रियाणि तेषां कर्तृत्वे क्रियाकारित्वे पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिर्हेतुरुच्यते । पुरुषः प्रकृतिसंसृष्टः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः, सुखदुःखानुभवाश्रय उच्यते । यावत्प्रकृतिसंसर्गस्तावत्पुरुषस्य सुखदुःखभोगोऽवर्जनीय इत्यर्थः ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

यदुक्तं पुरुषस्य सुखदुःखानां भोक्तृत्वं तत्स्वतो ज्ञानस्वरूपत्वेन सुखरूपस्य न सम्भवति ।

पुरुष, दोनों ही को अनादि जानो अर्थात् इनका आदि वा कारण नहीं है । प्रकृति सबका उपादान कारण है, इसलिये उसका भी दूसरा कारण ढूंढ़नेसे फिर उस दूसरे का कारण ढूंढ़ना पड़ेगा, और इस प्रकार अनवस्थापत्ति अर्थात् अस्थिरता का दोष लग जायगा । और पुरुष तो मेरा अंश होने से अनादि है ही इसमें कुछ विवाद नहीं । श्रुति कहती है "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" अर्थात् पुरुष अजन्मा है और इसलिये वह अनादि ठहरा । जीवों के बन्ध के कारण इच्छा, द्वेष आदि विकारों को, और ज्ञान द्वारा मोक्ष के कारण अमानिता आदि गुणों को प्रकृति से ही उत्पन्न समझो । अर्थात् अनादिकर्मात्मिका अविद्या के कारण जीव से सटी हुई प्रकृति, क्षेत्र का रूप धारण कर, अपने विकारभूत इच्छा द्वेषादि गुणों से, पुरुष की संसृति अर्थात् बन्धन का कारण होती है और वही प्रकृति, अमानिता आदि सत्त्व के कार्यरूप अपने गुणों के द्वारा, पुरुष के मोक्ष का हेतु भी होती है ॥१९॥

प्रकृति का कार्य कह कर अब एक दूसरे से सटे हुए प्रकृति पुरुष के कार्यभेद को बताते हैं । शरीर और इन्द्रियों के कार्य करने में पुरुष से अधिष्ठित प्रकृति कारण है । प्रकृति से सटा हुआ पुरुष सुख दुःखों को भोगने में कारण है, अर्थात् सुख दुःख के अनुभव का आश्रय प्रकृतिसंसृष्ट पुरुष है । जब तक प्रकृति से संसर्ग है तब तक पुरुष को दुःख सुख के भोग से छुटकारा नहीं है ॥२०॥

जो पुरुष सुख दुःख का कारण कहा गया वह ज्ञानस्वरूप होने से सुखरूप है । इसलिए वह सुख दुःख का भोक्ता कैसे हो सकता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं । स्वरूप से सुखी और निर्विकार

अतस्तद्भोगे हेतुमाह—पुरुष इति। स्वरूपेण सुखी निर्विकारोऽपि पुरुषः प्रकृतिस्थः उच्चावचदेहरूपपरिणतप्रकृतिस्थस्तत्सम्बद्धः हि एव प्रकृतिजान् गुणान् प्रकृतिसंसर्गजान्सत्त्वादिगुणकार्यभूतान्सुखदुःखादीन् भुङ्क्ते, अनुभवति। प्रकृतिस्थत्वेऽपि हेतुमाह—कारणमिति। अस्य पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मसु गुणसङ्गः कारणमित्यन्वयः। तत्र सत्त्वगुणकार्यभूताः सद्योनयो देवाः। तमोगुणकार्यभूता असद्योनयो रक्षःपिशाचपश्वादयः। रजःकार्यभूताः सदसन्मिश्रयोनयो ब्राह्मणाद्या मनुष्याः। तेषु शुभाशुभमिश्रफलभोगार्थं जन्मसु अस्य पुरुषस्य गुणसङ्गः, गुणेषु शब्दस्पर्शरूपादिष्विन्द्रियविषयेषु प्रियभोग्यत्वबुद्धया मनसोऽभिनिवेशरूपः कारणम् सत्त्वादिगुणकार्यसुखाद्यासक्तोऽयं पुरुषस्तत्साधनभूतेषु पुण्यपापकर्मसु प्रवर्तते। ततस्तत्फलानुभवाय सदसद्योनिषूत्तमाधमयोनिषु जायते, पुनस्तत्र कर्माऽरभते जायते च। एवं यावद्विषयत्यागपूर्वकं मोक्षसाधनभूतान् विशुद्धबुद्धिवैराग्यादीन्न सेवते तावत्संसरतीति भावः।

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

एवं गुणसङ्गकृतप्रकृतिसंसर्गात्पुरुषस्य संसारः, नतु स्वतः स्वरूपेणेत्युक्तम्। तत्र कीदृशं तत्स्वरूपमित्यपेक्षायां तत्स्वरूपं विवेचयति—उपद्रष्टेति। अस्मिन्देहे प्रकृतिकार्यभूते वर्त्तमानोऽपि पुरुषः परो भिन्नः न तु स्वरूपेण संसारीत्यर्थः। तत्र हेतूनाह—उपद्रष्टेति। उप समीपे देहस्यावस्थापरिणामादेः साक्षिवद्द्रष्टा। तथाऽनुमन्ता च। देहस्वभावप्रवृत्त्याद्यनुमोदिता च भवति। तथा भर्त्ता

भी पुरुष, प्रकृतिस्थ अर्थात् उच्च नीच देह रूप प्रकृति से सम्बन्धित होने के कारण, प्रकृति के संग से उत्पन्न सत्त्वादि गुणों के कार्यभूत सुख दुःख को भोगता वा अनुभव करता है। अब पुरुष के प्रकृतिस्थ होने के कारण को बताते हैं। सत्वगुण के कार्यभूत देव आदि सत् योनियाँ हैं। तमोगुण के कार्यभूत राक्षस, पिशाच, पशु आदि असत् योनियाँ हैं। रज के कार्यभूत ब्राह्मण आदि मनुष्यों की सत् असत मिश्रित योनियाँ है। शुभ, अशुभ और मिश्रित फलों के भोग के लिए इन योनियों में पुरुष का गुण संग होता है अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूपादि इन्द्रिय विषयों में प्रिय और भोग्य बुद्धि करके पुरुष उनमें अपने मन को लगाता है, यही पुरुष के प्रकृतिस्थ होने का कारण है। भाव यह कि सत्वादि गुणों के कार्य जो सुख आदि हैं उनमें आसक्त पुरुष उनकी प्राप्ति के साधनभूत पुण्य पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है। उन कर्मों के फल को भोगने के लिए सत्, असत्, उच्च, नीच योनि में पैदा होता है। फिर वहाँ कर्म करता है और फिर जन्म लेता है। इस प्रकार जब तक विषय त्याग कर मोक्ष के साधनभूत विशुद्ध बुद्धि, वैराग्य आदि का आश्रय नहीं करता तब तक वह संसार में आता जाता रहता है ॥२१॥

गुणों के संग सेकिया हुआ जो प्रकृति संग उसी से यह पुरुष (जीवात्मा) संसारी है। वह अपने स्वरूप से संसारी नहीं है। उसका अपना स्वरूप कैसा है उसकी विवेचना करते हैं। प्रकृतिकार्यभूत इस शरीर में वर्त्तमान भी पुरुष उससे भिन्न है। स्वरूप से वह संसारी नहीं है, यह भाव है। अब इसमें कारण बताते हैं :—देह में अदल बदल होने से आत्मा में अदल बदल नहीं होता है। वह केवल

धारकः । तथा महेश्वरः देहयात्रानिर्वाहकतयेश्वराणामपि देहस्य धारकपालकतया महानीश्वरो महेश्वरः। अत एव परमात्मेति चाप्युक्तः, आत्मशब्देन विवक्षितानां देहेन्द्रियमनसां परमः श्रेष्ठः, आन्तरत्वाद्विज्ञानमयत्वाच्च क्षेत्रज्ञः परमात्मेत्युक्तः "तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय"इति श्रुत्येत्यर्थः ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

उक्तपुरुषप्रकृतिविवेकज्ञानिनं स्तौति—य एवमिति । एवमुपद्रष्टृत्वादिस्वभावं पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सुखदुःखादिपरिणामैः सह यो वेत्ति स सर्वथा देवमनुष्यादिदेहे कस्मिंश्चित्सुखितया क्वचिद्वितया वा वर्त्तमानोऽपि स भूयो नाभिजायते प्रकृत्या न सम्बध्यते । प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिधर्मैकमनवच्छिन्नज्ञानमात्मानं देहान्ते प्राप्नोतीत्यर्थः।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति के चिदात्मानमात्मना ।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

एवम्भूतप्रकृतिवियुक्तात्मदर्शने साधनभेदप्रयुक्ताधिकारिभेदमाह—ध्यानेनेति द्वाभ्याम् । केचित्सदाचार्यमुखाद्विश्चितात्मयाथात्म्या निष्पन्नयोगा ध्यानेन श्रवणमननाङ्गभूतेन निदिध्यासनेन आत्मनि

देह के निकट, साक्षी जैसा देखनेवाला है । फिर देह के स्वभाव से जो प्रवृत्ति होती है वा उसको जो प्रारब्ध भोग है उसका यह (जीव) अनुमोदन कर्त्ता है । देह को धारण करने वाला है और देह सम्बन्ध से उत्पन्न दुःख सुख को भोग करता है । देह यात्रा का निर्वाहक, इन्द्रियों और देह का पालक होने से यह आत्मा महेश्वर है । आत्मा को परमात्मा भी इसलिए कहा है कि आत्मा शब्द से कहे गये देह, इन्द्रिय और मन से यह क्षेत्रज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि यह उनके भीतर है और विज्ञानमय है। श्रुति कहती है—"तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय"। (इस मनोमय पुरुष से दूसरा अन्तरात्मा विज्ञानमय है) ॥२२॥

पुरुष और प्रकृति के विवेक युक्त ज्ञानी पुरुषों की स्तुति करते हैं।

इस प्रकार उपद्रष्ट आदि स्वभाव वाले पुरुष को और सुख दुःखादि परिणामों के साथ प्रकृति को जो जानता है वह सब प्रकार से, अर्थात् देव मनुष्यादि देहों में सुख से वा दुःख से स्थित भी फिर प्रकृति से सम्बन्धित नहीं होता । भाव यह है कि देह के अन्त होने पर प्रजापति वाक्य में कहे गये अपहत्पाप्मा अविजर आदि आठ धर्म से युक्त अपने स्वरूप को पा जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥२३॥

प्रकृति से वियुक्त इस प्रकार के आत्म दर्शन में साधन भेद के द्वारा अधिकारी भेद को दो श्लोकों से दिखाते हैं ।

कोई सदाचार्य के मुख से आत्मा का यथार्थ रूप निश्चय कर और सिद्धयोग हो श्रवण, मनन युक्त ध्यान से, अपने शरीर में स्थित आत्मा को, मन से देखते हैं अर्थात् ध्यान से आत्मा का साक्षात्कार

देहेऽवस्थितमात्मानमात्मना मनसा पश्यन्ति, साक्षात्कुर्वन्ति । अन्येऽनिष्पन्नयोगाः साङ्ख्येन योगेन निदिध्यासनाङ्गभूतश्रवणमननापरपर्यायेण प्रकृतिपुरुषविवेकात्मकेन योगेनात्मानं पश्यन्ति । अपरे च ततोऽपि निकृष्टाधिकारिणो ज्ञानयोगानधिकृताः कर्मयोगेनेश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणेन फलाभिसन्धि-रहितेन स्ववर्णाश्रमोचितेन कर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिद्वारेण मनसो ध्यानयोग्यतोत्पादनेन पश्यन्तीत्यर्थः ।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

ततो मन्दाधिकारिण आह—अन्ये त्विति । अन्ये तूक्तयोगादिसाधनेष्वनधिकृता एवमुक्त-प्रकारेणात्मानमजानन्तोऽन्येभ्यस्तत्त्वदर्शिभ्यो गुरुभ्यः श्रुत्वा इत्थं तत्त्वं जानीतेत्युक्ता सन्त उपासते, श्रद्धाविश्वासेनाङ्गीकुर्वन्ति । तेऽपि श्रुतिपरायणाः श्रद्धया श्रवणपरायणाः सन्तो मृत्युं संसारं क्रमेण तरन्ति । अपिशब्दाद्ये साधनसम्पन्ना विचारसमर्थास्ते मृत्युं तरन्तीति किमु वक्तव्यमिति सूचितम् ।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥२६॥

एवं विविक्तात्मज्ञानं संसारनिवर्तनमित्युक्तमितः परं तदाढ्यर्थमेव प्रकृतिपुरुषविचारः क्रियते यावदध्यायसमाप्तिः । तत्र तावत्प्रकृतिपुरुषसंसर्ग एव सर्वप्राणिसम्भवहेतुरित्याह—यावदिति ।

करते हैं। दूसरे जिनका ध्यान योग सिद्ध नहीं है, सांख्ययोग के रास्ते ध्यान के अंगभूत श्रवण और मनन द्वारा प्रकृति और पुरुष के विवेक रूप योग से आत्मा को देखते हैं। अर्थात् ये लोग ऊपर कहे हुये जनों से निकृष्ट हैं। ये केवल प्रकृति और पुरुष का विवेक सांख्य की रीति से कर सकते हैं। तीसरी कक्षा के लोग इन दूसरों से भी निकृष्ट हैं। ये ज्ञानयोग के अधिकारी नहीं हैं। ये लोग कर्म योग से आत्मा को देखते हैं अर्थात् अपने वर्णोचित कर्मों के फल की आकांक्षा रहित हो और ईश्वरार्पण बुद्धि से करते हैं और इस प्रकार कर्म करने से उनका अंतःकरण शुद्ध होता है और मन में ध्यान की योग्यता उत्पन्न होती है ॥२४॥

सब से निम्न श्रेणी के अधिकारी को अब कहते हैं। दूसरे, जो योगादि साधन के अधिकारी नहीं हैं और उक्त रीति से आत्मा को नहीं जानते हैं, वे दूसरों से अर्थात् तत्त्वदर्शी गुरुओं से आत्म तत्त्व को सुनकर श्रद्धा विश्वास के साथ आत्मा को वैसा ही अंगीकार करते हैं। ऐसे श्रद्धा युक्त श्रवण परायण लोग भी संसार को क्रम-क्रम से पार कर जाते हैं। 'अपि' शब्द का अर्थ यह कि साधन युक्त और विचार समर्थ लोग तो संसार को पार कर ही जाएँगे इसमें पूछना क्या ? ॥२५॥

शुद्ध आत्म ज्ञान संसार से मुक्ति देता है। अब उसी को दृढ़ करने के लिए अध्याय के अन्त तक प्रकृति और पुरुष के विषय में विचार करते हैं। प्रकृति पुरुष का संसर्ग ही सर्व प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है, यही यहाँ कहते हैं।

यावत्किञ्चित्स्थावरजगमं सत्त्वं प्राणिमात्रं सञ्जायते उत्पद्यते, तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगाद्भवतीति विद्धि । हे भरतर्षभ ! न केवलायाः प्रकृतेः, पुरुषाद्वा ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

प्रकृतिपुरुषसंयोगोद्भवं संसारमुक्त्वा तन्निवृत्तये प्रकृतिवियुक्तात्मदर्शनमाह—समामिति । सर्वेषु स्थावरजङ्गमेषु भूतेषु समं देवतिर्यङ्मनुष्यादिविषमाकारवियुक्ततया ज्ञानैकस्वरूपतया च समं यथा भवति तथा तिष्ठन्तं देहेन्द्रियमनसां परमेश्वरं विषमाकारेषु देहेषु विनश्यत्सु अविनश्यन्तं विनाशायोग्यतया नित्यं यः पश्यति स यथावस्थितमात्मानं पश्यति ।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

तदेवं समत्वेन दर्शनस्य फलमाह—समामिति । सर्वत्र देवमनुष्यादिदेहे समवस्थितं देवादिविषमाकारवियुक्तं समामीश्वरं देहेन्द्रियस्वामिनं हि एव पश्यन् आत्मना स्वेनैव आत्मानं न हिनस्ति, संसारे प्रक्षिप्य न विनाशयति । किन्तु ततस्तस्मात् ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वत्र समानाकारदर्शनाभ्यासात्परां गतिं याति, प्रकृतिवियुक्तं शुद्धं भगवदात्मकमात्मानं प्राप्नोति मुच्यते इत्यर्थः । यस्तु देवमनुष्याद्याकारयुक्ततया सर्वत्र विषममात्मानं पश्यति स स्वात्मानं हिनस्ति संसारे प्रक्षिपति, तेन सर्वथा पापकारी

जितने स्थावर जङ्गम प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं वे सब प्रकृति पुरुष के संयोग से होते हैं, ऐसा तुम जानो, हे अर्जुन ! केवल पुरुष वा केवल प्रकृति से इनकी उत्पत्ति नहीं होती ॥२६॥

संसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से होता है यह कहकर अब संसार से मुक्ति के कारण प्रकृतिवियुक्त आत्मा के दर्शन को कहते हैं । सब स्थावर जङ्गम जीवों में अर्थात् देव, तिर्यक्, मनुष्यादि विषम आकार वाले शरीरों में विषमाकार वियुक्त और ज्ञान स्वरूप वाला होने से आत्मा उनमें सम भाव से स्थित है । वह देह, इन्द्रिय, मन का परमेश्वर है, विषम आकार वाले देहों के नाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता, अर्थात् वह नित्य है । आत्मा को जो ऐसा देखता है वही आत्मा का यथार्थ तत्त्व जानता है ॥२७॥

आत्मा को इस प्रकार से सम देखने के फल को कहते हैं । जो आत्मा को सब जगह अर्थात् देव मनुष्यादि देह में देव मनुष्यादि विषम आकार से वियुक्त, और देह इन्द्रिय का स्वामी देखता वा जानता है वह अपने से अपने आत्मा को नहीं मारता अर्थात् संसार में फेंक अपने आत्मा का विनाश नहीं करता, बल्कि ज्ञान स्वरूप होने के कारण विषमाकारों में आत्मा को समान देखने का अभ्यास डालने से वह प्रकृतिवियुक्त, शुद्ध, भगवदात्मक आत्मा को प्राप्त करता है । जो देव मनुष्यादि विषम आकारों से युक्त होने से आत्मा को सब जगह विषम देखता है वह अपने आत्मा को मार डालता है अर्थात् संसार में फेंकता है । वह मनुष्य सब प्रकार से पापी होता है । महाभारत में

भवति। तथा महाभारते शकुन्तलावाक्यं "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणे"ति। आत्मघ्नानां गतिः श्रुतावुक्ता "असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के आत्महनो जना"इति।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥२९॥

ननु शुभाशुभकर्मकर्तृत्वेन वैषम्ये दृश्यमाने कथमात्मनां समत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—प्रकृत्यैवेति। देहेन्द्रियाकारेण परिणतया प्रकृत्यैव सर्वाणि सर्वशः सर्वप्रकारैः क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति, तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं तस्य यावत् प्रकृतिसम्बन्धस्तावद्देहेन्द्रियाधीनकर्तृत्वादकर्तारं यः पश्यति, स यथावस्थितमात्मानं पश्यति।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥

एवमात्मनः सर्वत्र समत्वं प्रतिपाद्य पुनस्तस्य क्रियया प्राप्तं वैषम्यं शरीररूपप्रकृतिनिमित्तत्वेन परिहृतम्। इदानीं देहभेदमपि कारणैकत्वदर्शनेन निराकुर्वंस्तथाद्रष्टुर्ब्रह्मसदृशात्मप्राप्तिमाह—यदेति। यदा यस्मिन्काले भूतपृथग्भावं देवतिर्यङ्मनुष्यादिभेदभिन्नं भावं देहरूपं कार्यमेकस्थमेकस्यामेवेश्वर-

---

शकुन्तला का वचन है—"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा"। (जिसने आत्मा को जैसा वह है उससे उल्टा प्रतिपादन किया उस आत्मापहारी चोर ने कौन पाप नहीं किया?) आत्महा लोगों की गति श्रुति में इस प्रकार कही गई है—

"असूर्या नाम ते लोका इत्यादि। अर्थात्–जो पुरुष आत्मा का हनन करने वाले हैं वे मर कर उन लोकों को जाते हैं जिनको असूर्या कहते हैं और जो घोर अन्धकार से ढँके हुए हैं ॥२८॥

यहाँ यह शङ्का होती है कि आत्मा में, शुभाशुभ कर्मों का कर्ता होने से, विषमता दीखती है, तो उसको समता कैसे प्रतिपादित हुई? इस शङ्का का उत्तर यहाँ देते हैं।

देह, इन्द्रिय के रूप में बदली हुई प्रकृति ही सर्व प्रकार से किये गये कर्मों को सम्पादित करती है। आत्मा का जब तक प्रकृति से सम्बन्ध है, तब तक देह, इन्द्रिय के अधीन उसका कर्तापना है और इस कारण से यह अकर्ता है, ऐसा जो जानता या देखता है वही आत्मा के यथार्थ रूप को जानता है। भाव यह कि आत्मा में भले-बुरे कर्मों का कर्तापना जो दीखता है वह प्रकृति सम्बन्ध से है। शुद्ध आत्म स्वरूप में यह विषमता नहीं है ॥२९॥

इस प्रकार आत्मा की सब जगह समता प्रतिपादन की गई। फिर यह बताया गया कि क्रिया से प्राप्त जो विषमता आत्मा में दीखती है वह शरीर रूप प्रकृति के कारण से है। अब यहाँ पर देह जनित विषमता को भी उनके कारण की एकता बताकर हटाते हैं और ऐसे जानने वालों को ब्रह्म के समान आत्म प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं। जिस समय भूत पृथक् भाव को अर्थात् देव, तिर्यक्,

शक्तिरूपायां प्रकृतौ स्थितं स्थितिकाले अनुपश्यति सर्वदा अनुसन्धत्ते तत एव च विस्तारं प्रकृतेः सकाशादेव भूतानां विस्तारं सृष्टिसमयेऽनुपश्यति। तदा भूतानां कारणद्रव्यात्मनैकत्वमनुपश्यन् ब्रह्म सम्पद्यते, ब्रह्मवदविच्छिन्नज्ञानं सममात्मानं प्राप्नोति।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥३१॥

ननु भवत्वात्मनः प्रकृतिवैलक्षण्यं तन्निमित्तं कर्तृत्वं च न स्वत इति तथाऽपि शरीरेऽवस्थानदशायां तत्सम्बन्धनिमित्तैः कर्मभिस्तज्जन्यसुखदुःखादिभिश्च यदि लिप्येत तर्हि कथमकर्तृत्वं समत्वदर्शनं च स्यादित्याशङ्क्याह—अनादित्वादिति। आदिजन्मस्वरूपतस्तद्रहितत्वात्, निर्गुणत्वात्स्वरूपेण मायागुणसम्बन्धरहितत्वात् अयं परमात्माऽव्ययः विनाशवर्जितः देहमनोबुद्ध्योऽपि आत्मशब्दवाच्यास्तेभ्योऽपि परमत्वाच्छ्रेष्ठत्वादयं क्षेत्रज्ञः परमात्मेत्युक्तः। यदुत्पत्तिमत्प्रकृतिगुणवच्च वस्तु तस्य व्ययो नाशो भवति। अयं (तु) न तथा अतोऽव्ययस्तस्माच्छरीरस्थोऽपि शरीरे वर्त्तमानोऽपि हे कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते। देहस्वभावैः परिणामादिभिर्न युज्यते।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

मनुष्यादि के शरीर भेद रूपी कार्य को भगवान् की एक ही शक्ति रूप प्रकृति में एकत्र स्थित देखता है, भाव यह है कि वह समझता है कि स्थिति काल में यह सब देह जनित विभिन्नता प्रकृति में एकत्र थी, पृथक् नहीं मालूम होती थी और सृष्टि समय में प्रकृति से ही सब विषमाकार भूतों का विस्तार होता है उस समय कारण द्रव्य प्रकृति में सब भूतों की एकता अनुभव करता हुआ वह ब्रह्म जैसा निरावरण अनवच्छिन्न ज्ञान स्वरूप आत्म तत्त्व को प्राप्त करता है ॥३०॥

माना कि आत्मा प्रकृति से विलक्षण है और उसका कर्तापना प्रकृति सम्बन्ध से ही है स्वरूप से नहीं। पर जब यह शरीर में है तब शरीर से किये गये कर्मों के फल, सुख दुःखादि से ये लिप्त होगा ही। तब उसका अकर्तापना और स्वरूप की समता का देखना कैसे बने ? इस शंका का उत्तर इस श्लोक में देते हैं।

अनादि अर्थात् जन्म रहित और निर्गुण अर्थात् स्वरूप से माया गुण-सम्बन्ध रहित होने से यह परमात्मा (जीव) अव्यय है। इसका विनाश नहीं होता। देह, मन, बुद्धि को कहीं-कहीं आत्मा कहा है और क्षेत्रज्ञ इनसे श्रेष्ठ है इससे उसको यहाँ परमात्मा कहा। उत्पत्ति वाले और त्रिगुण युक्त वस्तुओं का नाश होता है। यह क्षेत्रज्ञ उस प्रकार का न होने से अविनाशी है। इसलिए शरीर में स्थित आत्मा भी कुछ नहीं करता है और न उन कामों के फल से लिप्त होता है। भाव यह है कि परिणाम आदि जो देह के स्वभाव के गुण हैं उनसे आत्मा का संयोग नहीं होता ॥३१॥

तथाऽपि देहसंयोगे सति तद्धर्मैः कथं न लिप्यते इति शङ्कानिरासाय दृष्टान्तमाह—यथेति। यथाऽऽकाशं सर्वगतमपि सर्वैर्वस्तुभिः संयुक्तमपि सौक्ष्म्यात् सर्ववस्तुस्वभावैर्न लिप्यते, तथा सर्वत्रोत्तमेऽधमे वा देहेऽवस्थितोऽप्यात्मा न लिप्यते, दैहिकैर्गुणदोषैर्न युज्यत इत्यर्थः।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत! ॥३३॥

स्यादेतदात्मन आकाशदृष्टान्तेन समत्वं निर्लेपत्वं च, तथाऽप्याकाशवद्विभुश्चेदात्मा तर्हि तस्य सर्वत्र व्याप्त्या सर्वान्तर्वर्त्तिसुखदुःखाद्यनुभवः समानः स्यात्तथात्वेऽहं त्वमयमित्यादिप्रत्ययानां विभागाभावश्च स्यात्। तस्य मध्यमपरिणामत्वे देहवन्नश्वरत्वापत्तेः पिपीलिकादेहे स्थितस्य तत्परिमितस्य तद्देहत्यागे कर्मवशाद्धस्त्यादिदेहगमने तत्राव्याप्यमानं स्यात्। हस्तिदेहस्थस्य तत्समस्य कर्मवशात् पिपीलिकादेहगमने सर्वप्रवेशो न स्यात्। अणुपरिमाणत्वे तु मेर्वेकाल्पदेशस्थसर्षपस्येव देहाल्पतमैकदेशस्थत्वेन सर्वविषयवृत्ति सुखदुःखाद्यनुभवः प्रकाशकत्वं च न स्यादित्याशङ्क्यायामाह—यथेति। यथैकः परिच्छिन्नश्चादित्यः स्वप्रभया कृत्स्नमिमं लोकं प्रकाशयति तथा क्षेत्री क्षेत्रज्ञः अणुपरिमाणकोऽपि

देह के संयोग होने पर आत्मा देह के धर्म से क्यों नहीं लिप्त होता? इस शंका को दृष्टान्त देकर हटाते हैं।

जैसे आकाश सब वस्तुओं से संयुक्त होने पर भी बहुत सूक्ष्म होने के कारण उन वस्तुओं के स्वभाव से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार उत्तम, मध्यम और नीच सब देहों में स्थित भी आत्मा उन-उन देहों के गुण दोषों से लिप्त नहीं होता ॥३२॥

शङ्काः—मान लिया कि यह आत्मा आकाश के समान निर्लेप और सम है। यदि यह आकाश ही के जैसा विभु भी माना जाय तो उसकी सब जगह व्याप्ति होने के कारण उसको सब अंतष्करण के सुख-दुःख का समान अनुभव होगा और ऐसा होने पर मैं, तुम, यह का भेद मिट जायगा। यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाला माना जाय, न विभु न अणु, तो देह के समान नाशवान हो जायगा। फिर देह त्याग के बाद यदि चींटी का आत्मा कर्मवश हाथी की देह में गया तो चींटी के शरीर में चींटी के परिमाण वाला आत्मा हाथी के बड़े शरीर में सब जगह नहीं व्याप्त हो सकता। उसके शरीर के किसी अंश में पड़ा रहेगा। फिर जब हाथी का आत्मा उसकी देह के समान बड़ा शरीर छूटने के बाद कर्मवश चींटी के शरीर में गया तो वह उस छोटे शरीर में अंटेगा नहीं बाहर लटका रहेगा। यदि आत्मा को अणु परिमाण वाला माना जाय तो वह मेरु पर्वत के एक भाग में स्थित सरसों के समान देह के एक छोटे-से कोने में पड़ा रहेगा। शरीर के सब सुख-दुःख का उसे अनुभव नहीं होगा, न सम्पूर्ण शरीर को वह प्रकाशित करेगा।

इन्हीं सब शङ्काओं का उत्तर यहाँ देते हैं। जैसे एक और परिच्छिन्न सूर्य अपनी प्रभा से समस्त लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही आत्मा अणु परिमाण वाला होने पर भी अपने धर्मभूत

स्वधर्मभूतज्ञानेन कृत्स्नमापादतलमस्तकं क्षेत्रं प्रकाशयति । हे भारत ! न विभुपरिमाणको वा मध्यम-परिमाणको वा उक्तदोषयोगात् अणुत्वपक्ष एव शास्त्रीयः । "यथाऽणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः, व्याप्तो वै पुरुष" इति । "अणुर्वा ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश, वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" इत्यादिश्रुतिभ्यः । "उत्क्रान्तिगत्या गतीनां, नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्, गुणाद्वाऽलोकवदि"-त्यादिसूत्रेभ्यश्च । अनुगीतायामपि "यथा दीपः स्वशरणे दीप्यमानः प्रकाशते । एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतन" इति ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

उक्तमध्यायार्थं सफलमुपसंहरति—क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । यथेह निरूपितयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमुक्त-

---

ज्ञान से नखशिख पर्यन्त शरीर को प्रकाश करता है, हे अर्जुन ! ऊपर कहे हुए दोषों के कारण आत्मा विभु वा मध्यम परिमाण वाला नहीं है । आत्मा अणु है यही शास्त्रों का मत है, यथा—श्रुति, "यथा-ऽणुनश्चक्षुषः प्रकाशोव्याप्त एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः" । "व्याप्तो वै पुरुषः" । "अणुर्वा ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यः" । "यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" । "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पि-तस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।" (जैसे अणु प्रमाण वाले चक्षु का प्रकाश फैलता है वैसा ही इस आत्मा का प्रकाश भी फैलता है । यह पुरुष अर्थात् आत्मा व्याप्त है अर्थात् इसका धर्मभूत ज्ञान व्याप्त है । यह आत्मा निश्चय ही अणु है । आत्मा बुद्धि से जानने योग्य है । जिसमें पांच प्रकार के प्राण प्रवेश कर गये । केश का अगले भाग का सौ भाग में एक भाग और फिर उस एक भाग का सौ भाग । ऐसे सौ भाग के एक भाग के बराबर वह जीव है । वह जानने योग्य है । मुक्ति अवस्था में वह आत्मा धर्मभूत ज्ञान के विकाश के कारण अनन्तता प्राप्त करता है) । फिर व्यास सूत्र में भी ऐसा ही कहा है—यथा, "उत्क्रान्तिगत्याऽऽगतीनाम्" "नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेत-राधिकारात्" "गुणाद्वाऽलोकवत्" आत्मा निकलता है, कर्मफल भोगने को लोकों में जाता है और फिर यहां कर्म करने को लौटता है । इससे अणु है क्योंकि विभु में ये आने जाने के कार्य सम्भव नहीं । जीव अणु नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्यों कि श्रुति के आत्मा के विभुत्व प्रतिपादक वाक्य परमात्मा के वाचक हैं जीव के नहीं । सूर्य और दीप के ऐसा आत्मा धर्मभूत ज्ञान से समस्त देह को प्रकाशित करता है । अनुगीता में लिखा है—"यथादीपः स्वशरणे दीप्यमानः प्रकाशते । एकमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतनः ॥" जैसे दीप घर को प्रकाश करता है वैसे ही चेतन अर्थात् जाव शरीरों को प्रकाश करता है ॥३३॥

इस अध्याय के अर्थ को भक्त के साथ कहकर अध्याय को समाप्त करते हैं ।

जैसा इस अध्याय में निरूपण किया गया वैसा क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (जीव) की परस्पर

प्रकारेणान्तरं परस्परवैलक्षण्यं परिणामित्वापरिणामित्वरूपं ज्ञानचक्षुषा शास्त्राचार्योपदेशजनितक्षेत्र-क्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यज्ञानाख्येन चक्षुषा ये विदुः, तथा या चेयमुक्ता भूतानां प्राणिनां प्रकृतिस्तस्याः सकाशान्मोक्षं मोक्षोपायं च ये विदुर्विदित्वाऽनुतिष्ठन्ति, ते निवृत्ताशेषाविद्याः परं प्रकृतिवियुक्तं शुद्धात्म-स्वरूपं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-
भट्टाचार्यविरचितायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यो वै विवेकं कृपयाऽऽदिशत् ।
सर्वज्ञस्तं हरिं नित्यं व्रजामि शरणं गुरुम् ॥

विलक्षणता को कि एक (क्षेत्र) परिणामी है और दूसरा (क्षेत्रज्ञ) अपरिणामी है, ज्ञानचक्षु से, अर्थात्, शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उत्पन्न क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप यथार्थता रूपी ज्ञान चक्षु से, जो जानता है और जो प्रकृति से प्राणियों की मुक्ति के उपायों को जानकर उनका अनुष्ठान करता है वह प्रकृति वियुक्त आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है ॥३४॥

जिसने कृपाकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक का उपदेश किया उस सर्वज्ञ, नित्य, गुरुरूप हरि की शरण में जाता हूँ ।

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्दशोऽध्यायः

★

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

त्रयोदशाध्याये "यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभे"ति प्रकृतिपुरुषसंसर्गस्य सर्वचराचरकारणत्वं "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" इति पुरुषस्य गुणमयसुखादिसङ्गो जन्मादिबन्धहेतुरिति चोक्तमिदानीं प्रकृतिस्वातन्त्र्यवादिनिरीश्वरसाङ्ख्य-मतनिरासाय गुणानां बन्धन-प्रकारदर्शनाय गुणात्ययप्रकारदर्शनाय च गुणातीतलक्षणं प्रकृतिलक्षणं च वक्तुं चतुर्दशाध्याय आरभ्यते । तत्र तावद्वक्ष्यमाणार्थं स्तुवन् श्रीभगवानुवाच—परं भूय इति द्वाभ्याम् । परं पूर्वोक्ताद्विलक्षणं प्रकृतिपुरुषसत्त्वादिगुणविषयं ज्ञानं भूयः पुनरपि प्रवक्ष्यामि । कथं भूतं तत् ? ज्ञानानां तपःकर्मादिविषयाणां मध्ये उत्तमम् । उत्तमत्वं विवृणोति—यज्ज्ञानं ज्ञात्वा मननेन स्थिरीकृत्य सर्वे मुनयस्तन्मननशीला इतः संसारात्परां प्रकृतियुक्तात्मविषयां सिद्धिं गताः प्राप्ताः ।

तेरहवें अध्याय में "यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावर-जङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥" से भगवान् ने यह कहा कि प्रकृति पुरुष का संसर्ग सब चर अचर का कारण है। फिर "कारणं-गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।" से यह बताया कि पुरुष के जन्म, मरण आदि बन्ध का कारण त्रिगुणमय सुख आदि का संग ही है। अब इस चौदहवें अध्याय में प्रकृति को स्वतन्त्र मानने वाले निरीश्वर वादियों के सांख्यमत का खंडन करेंगे और गुणों से बन्धन की रीति, गुणों से छुटकारे का प्रकार और गुणातीत पुरुषों और प्रकृति के लक्षणों को बतायेंगे।

अब जिस ज्ञान को भगवान् कहेंगे उसकी स्तुति दो श्लोकों से करते हैं।

फिर पूर्व कहे हुए ज्ञान से विलक्षण और तप कर्म आदि विषयक ज्ञानों से उत्तम, प्रकृति, पुरुष और सत्त्व रज आदि गुणों के ज्ञान को मैं कहूँगा। यह ज्ञान उत्तम इसलिए है कि इस ज्ञान को, मनन के द्वारा स्थिर कर सब मननशील मुनि लोग इस संसार से मुक्त होकर प्रकृति-विमुक्त आत्म स्वरूप विषयक परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

किञ्च—इदमिति । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम साधर्म्यमागता मत्साम्यं प्राताः सन्तः सर्गेऽपि ब्रह्मादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोत्पद्यन्ते, गर्भवासदुःखं नानुभवन्ति । तथा प्रलये न व्यथन्ति प्रलयकालिकदुःखानि नानुभवन्ति । न पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥

एवं वक्ष्यमाणार्थं स्तुत्वा सर्वभूतोत्पत्तिः प्रकृतिपुरुषसंसर्गाद्भवति, तत्संसर्गश्च न सांख्य-सिद्धान्तवत्तयोः स्वातन्त्र्येण किन्तु मयैव कृत इत्याह—ममेति । मम परमेश्वरस्य नियम्यभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः योनिः सर्वभूतोत्पत्तिस्थानं देशकालानवच्छिन्नत्वात्सर्वकार्येभ्यो महत्त्वात्सर्वस्य बृंहण-हेतुत्वाच्च महद्ब्रह्म, तस्मिन् प्रकृतिरूपे महद्ब्रह्मणि योनौ गर्भं सर्वभूतादेर्हिरण्यगर्भस्यापि जन्मनो बीजं क्षेत्रज्ञसमष्टिं दधामि योजयामि । अहं सर्वज्ञः चेतनाचेतनशक्त्यधीश्वरः "बहु स्यां प्रजायेये"ति सङ्कल्प-पूर्वकमीक्षणं करोमि । प्रलये मयि लीनमविद्याकामकर्मानुशयवन्तं क्षेत्रज्ञं पराशक्तिवाच्यं चेतनपुञ्जं कर्मफलभोगार्हमालोच्य भोग्यभूतयाऽपराशक्तिक्षेत्रशब्दवाच्यया योजयामीत्यर्थः । ततस्तस्माच्चेतना-चेतनप्रकृतिद्वयसंयोगात्मकाद्गर्भाधानात्सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां सम्भवो भवति हे भारत ! ।

इस वक्ष्यमाण ज्ञान को धारण कर मेरी साम्यता अर्थात् मेरे समान संसार बंध रहित भावको प्राप्त हो सृष्टि काल में भी, जब ब्रह्मा आदि भी पैदा होते हैं तब भी परासिद्धि को प्राप्त मुनिगण गर्भवास का दुःख नहीं अनुभव करते और प्रलयकाल के भी मरणादि दुःखों को नहीं पाते, अर्थात् वे आवागमन से छूट जाते हैं ॥२॥

वक्ष्यमाण ज्ञान की स्तुति कर प्रकृति पुरुष के संसर्ग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है और वह संसर्ग स्वतन्त्र नहीं है, जैसा सांख्य वादियों का मत है, पर मेरा किया हुआ है, इस बात को यहाँ कहते हैं। हे अर्जुन ! मुझ परमेश्वर से नियम्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति योनि है अर्थात् सब भूतों की उत्पत्ति का स्थान है। यह प्रकृति देश काल से अनवच्छिन्न है, सब कार्यों से बड़ी है और सब के बढ़ाने का कारण है। इस लिए वह महद् ब्रह्म कही जाती है। इस प्रकृति रूप महद् ब्रह्म योनि में मैं सब भूतों के और ब्रह्मा के भी जन्म के बीज को अर्थात् क्षेत्रज्ञ समूह को धारण कराता हूँ वा स्थापन करता हूँ। चेतन और अचेतन शक्ति का मालिक मैं "बहुस्यां प्रजायेयं" (बहुत होऊँ, सृष्टि करूँ) ऐसे संकल्प पूर्वक देखता हूँ। तात्पर्य कि प्रलय काल में मुझमें लीन अविद्या, काम, कर्म के संस्कारों से युक्त पराशक्ति वाच्य चेतनपुंज क्षेत्रज्ञ (जीव) को कर्मफल भोग के योग्य सोच कर भोग्यभूत अपरा-शक्ति अर्थात् क्षेत्र (शरीर) के साथ मैं संयोग कराता हूँ। इसलिए चेतन अचेतन दोनों प्रकृतियों के मेरे द्वारा किये गये संयोगरूप गर्भाधान से लेकर कीट पर्यन्त सब चर अचर का जन्म होता है ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

न केवलं प्रलयानन्तरमेव मत्कृतप्रकृतिपुरुषसंयोगाद्भूतोत्पत्तिः, किन्त्ववान्तरकार्यावस्थायामपि मदधीनत्वमित्याह सर्वयोनिष्विति । सर्वासु देवासुरगन्धर्वयक्षराक्षसपितृमनुष्यपशुमृगपक्षिसर्पादियोनिषु या मूर्त्तयस्तनवः सम्भवन्ति उत्पद्यन्ते हे कौन्तेय ! तासां मूर्त्तीनां महद्ब्रह्मयोनिर्मातृस्थानीया चित्-संयुक्ता महदादिविशेषान्ता प्रकृतिः कारणमित्यर्थः । अहं सर्वशक्तिः सर्वेश्वरो बीजप्रदः गर्भाधानस्य कर्त्ता पितृस्थानीयः । तत्र तत्र तत्तत्कर्मानुसाराच्चेतनवर्गस्य संयोजकः, ननु तस्य स्वातन्त्र्यमित्यर्थः ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

तदेवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वप्रतिपादनेन साङ्ख्यमतं निराकृत्य प्रकृतिसंसर्गेण पुरुषस्य बन्धं प्रतिपादयितुं तत्र के गुणाः कथं बध्नन्ति कथं ते ज्ञेया इति सर्वं दर्शयति सत्त्वमित्यादिचतुर्दशभिः । सत्त्वं रजस्तम इति सञ्ज्ञकास्त्रयो गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । अत्र गुणा इति न रूपरसादिवद्द्रव्याश्रिताः किन्तु प्रकृत्यवस्था विशेषा यतो गुणसाम्यं प्रकृतिरित्युच्यते । सैव कालात्मना ईश्वरेण क्षोभिता सती महदादिकार्येषु गुणात्मनाऽभिव्यज्यते । यदुक्तं विष्णुपुराणे "प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।

केवल प्रलय के बाद ही पुरुष प्रकृति संयोग से भूतोत्पत्ति मेरी की हुई है सो नहीं पर बादकी कार्यावस्था भी मेरे ही अधीन है, इसी को कहते हैं ।

देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सर्पादि सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उन मूर्तियों वा शरीरों का, हे अर्जुन ! महद् ब्रह्म योनि है अर्थात् मातृ स्थान है । भाव यह है कि चित संयुक्त महत् आदि विशेषणोंवाली प्रकृति उन शरीरों का कारण है और मैं सर्व-शक्तिमान् सर्वेश्वर बीजदाता अर्थात् गर्भाधान का कर्ता हूं । भाव यह है कि मैं पिता स्थान में हूं । तात्पर्य कि कहीं भी जीव की स्वतन्त्रता नहीं है । मैं ही उसके कर्मानुसार उसकी प्रकृति के साथ उसका संयोजक हूं ॥४॥

इस प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग को ईश्वराधीन कहकर सांख्यमत का निराकरण किया । प्रकृति संग से पुरुष का बन्धन होता है इसको प्रतिपादन करने के लिए, सत्त्वादि गुण क्या हैं, वे कैसे बाँधते हैं, वे कैसे जाने जा सकते हैं आदि को अब चौदह श्लोकों से बताते हैं ।

हे बड़े बाहुवाले अर्जुन ! सत्व, रज, तम नाम के तीन गुण प्रकृति से उत्पन्न हैं । ये गुण रूप रस आदि के समान द्रव्य के आश्रित नहीं हैं । ये प्रकृति की अवस्था विशेष हैं क्योंकि इन गुणों की समता ही को प्रकृति कहते हैं । वही प्रकृति कालात्मक ईश्वर से क्षोभित होने पर महदादि कार्यों में गुण द्वारा परिणत होती है । विष्णु पुराण में यही बात कही गई है यथा—

प्रधानं पुरुषं.....त्रिधा महानिति । अर्थात् हरि ने अपनी इच्छा से प्रधान (प्रकृति) और

क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ । स एव क्षोभको ब्रह्मन् ! क्षोभ्यश्च परमेश्वरः । स सङ्कोच-विकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः । गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ! । गुणव्यक्तिसम्भूतः सर्गकाले द्विजोत्तम ! । सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महानिति । तस्मात्प्रकृतिपरिणाम एव त्रयो गुणास्ते च स्वकार्यभूतमहदादिपृथिव्यन्तारब्धदेहसम्बन्धिनं निबध्नन्ति, स्वकार्यैः सुखदुःखादिभिः संयोजयन्ति । ननु तर्हि "देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारते"ति कथमुक्तमिति चेत्तत्राह—अव्यय-मिति । देहे वर्त्तमानमपि स्वरूपान्यथाभावरहितं देहतदनुबन्धिष्वभिनिवेशापादनेन निबध्नन्तीत्यर्थः ।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥६॥

त्रयाणां गुणानां लक्षणं बन्धकत्वप्रकारं चाह त्रिभिः । तत्र तावत्सत्त्वस्याह—तत्रेति । तत्र तेषु त्रिषु गुणेषु मध्ये सत्त्वं निर्मलत्वात्स्वच्छत्वात्स्फटिकपात्रमिवप्रकाशकं सुखज्ञानावरणस्वभावरहितम् अनामयं निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः । स सत्त्वगुणः सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति सुखेन ज्ञानेन च यः सङ्गः अहं सुखी ज्ञानी चेति ज्ञानसुखाभ्यां क्षेत्रज्ञं संयोजयति । पुनस्तत्साधने तत्फलानुभवे च प्रवर्त्तयति ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

पुरुष (जीव) में प्रवेश कर सृष्टि के समय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का क्षोभन किया । हे ब्रह्मन् ! परमेश्वर ही क्षोभक और क्षोभ्य दोनों हैं । वे संकोच और विकास रूप से प्रधान में भी स्थित हैं । हे द्विजोत्तम ! सृष्टि के पहले गुणों में समता रहती है, सृष्टि काल में क्षेत्रज्ञ से अधिष्ठित होने से सत्, रज, तम तीनों गुण प्रकृति से प्रकट होते हैं ।

इस प्रकार सत्, रज, तम ये तीनों गुण प्रकृति के ही परिणाम हैं । ये अपने कार्यभूत महत् से आरम्भ कर पृथ्वी पर्यन्त प्रारम्भित शरीर धारियों को बाँधते हैं अर्थात् सुख दुःखादि अपने कार्यों के साथ उनका संयोग करा देते हैं ।

शंका—"देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत" में भगवान् ने आत्मा (जीव) को नित्य और अवध्य कहा है, तब इसको गुण कैसे बाँधते हैं ?

उत्तर—अव्यय अर्थात् आत्म स्वरूप से अन्यथा भाव रहित होने पर भी देह में स्थित जीव देह और उसके सम्बन्धियों से आसक्ति (अपनापन) स्थापित करा कर बाँधा जाता है ॥५॥

तीनों गुणों का लक्षण और बाँधने की रीति को तीन श्लोकों में बताते हैं । हे पाप रहित अर्जुन ! तीनों गुणों में से सत्व गुण स्वच्छ होने से स्फटिक के समान प्रकाशक है, सुख और ज्ञान को आवरण करने के स्वभाव से रहित है और निरुपद्रव अर्थात् शान्त है । यह सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के संग से जीव को बाँधता है । मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, ऐसे ज्ञान के साथ जीव का सम्बन्ध कराता है और उसके साधनों और उसके फलानुभवों में उसे लगाता है ॥६॥

रजसो लक्षणं बन्धकत्वं चाह—रज इति। रागात्मकं रागो विषयेषु स्पृहा तदात्मकं चित्तस्य विषयाकारतापादकं विद्धि। तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तृष्णा प्राप्तेऽर्थेऽधिकाभिलाषः, सङ्गः प्राप्तेऽर्थे प्रीत्यतिशयेन तत्संश्लेषः, तयोः समुद्भवो यस्मात्तद्रजः, हे कौन्तेय! कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टादृष्टार्थफलेषु अभिलाषविशेषेण तत्परता सङ्गस्तेन देहिनं बध्नाति।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत! ॥८॥

तमसो लक्षणमाह—तमस्त्विति। तमस्तु अज्ञानजं ज्ञानं वस्तुयाथात्म्यबोधस्ततोऽन्यदज्ञानं वस्तुस्वरूपान्यथाज्ञानं तद्रूपायाः प्रकृतेर्जातं विद्धि। मोहनं सर्वदेहिनां मोहोऽन्तःकरणविभ्रमः, अनित्यदुःखादिषु नित्यसुखादिबुद्धिः, ततमः प्रमादालस्यनिद्राभिर्देहिनं निबध्नाति। तत्र प्रमादः कर्त्तव्यस्य कार्यस्यानवधानता। आलस्यमुपस्थितेऽपि कार्ये उद्यमराहित्यम्। अत्यायासादिहेतुना सर्वेन्द्रियवृत्तिप्रवृत्युपरतिर्निद्रा, ताभिर्जाड्यापादनेन निबध्नातीत्यर्थः।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत!।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥

पुनर्गुणानां स्वस्वकार्यकरणे सामर्थ्यं सङ्क्षेपत आह—सत्त्वमिति। सत्त्वं सुखे सञ्जयति दुःखादिहेतोर्विद्यमानत्वेऽपि अन्तःकरणस्य सुखाकारवृत्तौ देहिनं संयोजयति। एवं रजोगुणः सुखोपशान्त्यादिहेतौ सत्यपि कर्मण्येव सञ्जयति प्रवर्तयति। हे भारत! तमस्तु गुरूपदेशेनोत्पद्यमानमपि ज्ञानमावृत्याच्छाद्य उपदिश्यमानस्य श्रेयसोऽनवबाने सङ्गं जनयति।

रज के लक्षण और बाँधने की रीति बताते हैं। हे कुन्ती के पुत्र! रज को रागात्मक जानो। विषय में चाह होने से चित्त तदाकार हो जाता है। प्राप्त अर्थ में अधिक चाह को तृष्णा कहते हैं और उसमें अधिक प्रीति के कारण मन को लगाने को संग कहते हैं। कर्म के इष्ट और अदृष्ट फल में विशेष अभिलाषा और तत्परता द्वारा रजोगुण जीव को बाँधता है ॥७॥

तम का लक्षण कहते हैं :—हे अर्जुन! वस्तु के याथात्म्य बोध को ज्ञान कहते हैं और अन्यथा बोध को अज्ञान कहते हैं। तम अज्ञान रूप प्रकृति से उत्पन्न होता है और सब देहियों में मोह उत्पन्न करता है। अनित्य और दुःख पैदा करनेवाली वस्तुओं को नित्य और सुखकर समझना, ऐसा जो अंतःकरण का भ्रम है उसी को मोह कहते हैं। यह तम प्रमाद, आलस्य और निद्रा से जीवों को बाँधता है। कर्तव्य कर्म में अनवधानता को प्रमाद कहते हैं। कार्य उपस्थित होने पर भी उद्यम नहीं करना आलस्य कहलाता है। अति परिश्रम के कारण सब इन्द्रियों का काम से रुक जाना निद्रा कहलाती है। तात्पर्य कि प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा मूढ़ता उत्पन्न कर तमोगुण जीवों को बाँधता है ॥८॥

सत्त्वगुण सुख से संयोग कराता है अर्थात् दुःख के कारण उपस्थित होने पर भी देही (जीव) के अंतःकरण को सुख से संयोग कराता है। इसी प्रकार रजोगुण सुख के नाश के कारण उपस्थित रहने पर

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ! ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

ननु त्रयाणां गुणानां सर्वत्र साहचर्यात् कार्यविभागः कथमिति चेत्तत्राह—रजस्तमश्चेति । यद्यपि सत्त्वादयस्त्रयो गुणाः प्रकृतिसंसृष्टात्मनः स्वरूपानुबन्धिनः, तथाऽपि गुणवृद्धिहेतुभूतत्रिविधागमादिदशपदार्थानां प्राचीनकर्मवशात्तथातथोपजोषणात्सत्त्वादयः परस्परमुद्भवाभिभवरूपेण वर्त्तन्ते, अन्नादिना पुरुषस्यान्तःकरणं परिणमते "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः, आपो मयी वागि"ति श्रुत्या तथाविधानात् "आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च । ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारः दशैते गुणहेतव"इति भागवतोक्तेः । तथा च रजस्तमसी कदाचिदभिभूय सत्त्वमुद्भवति । तथा तमःसत्त्वेऽभिभूय रज उद्रिच्यते । कदाचिद्रजःसत्त्वेऽभिभूय तम उद्रिक्तं भवति ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सत्त्वादीनां वृद्धिं तत्कार्यद्वारेण जानीयादित्याह—सर्वद्वारेष्विति । सर्वेषु द्वारेषु ज्ञानोपलब्धि-

---

भी जीव को कर्म में लगाता है । हे भारत ! तमोगुण गुरु के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान को ढँककर उपदिष्ट कल्याण में असावधानता पैदा करता है ॥९॥

तीनों गुणों का साहचर्य होने से कार्यविभाग कैसे होता है इसको यहाँ बताते हैं ।

हे अर्जुन ! यद्यपि सत्त्वादि तीनों गुण प्रकृति से सटे हुए आत्मा के स्वरूप को बाँधनेवाले हैं तो भी गुण के बढ़ने में कारण, तीन प्रकार के (सात्त्विक, राजस, तामस) शास्त्र और दस पदार्थ, (देश, काल कर्मादि) प्राचीन कर्मवश जिस भाँति जीव द्वारा सेवित होते हैं उसी प्रकार तीनों गुण घटे वा बढ़े रूप में स्थित होते हैं । अन्न जल आदि मनुष्य के अन्तःकरण को बदलते रहते हैं । पुरुष जैसा सात्त्विक अन्नपानादि का व्यवहार करता है उसका अन्तःकरण भी वैसा ही वृत्तिवाला होता है । श्रुति कहती है—"अन्नमयं हि सौम्य ! मनः" "आपोमयीवाक्" (हे शिष्य ! मन अन्नमय है । वाक् जलमय है) । भागवत् में गुण के कारण यों गिनाये गये हैं—"आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च । ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारः दशैते गुणहेतवः ॥" (शास्त्र जल, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र, और संस्कार ये ही दश गुण के कारण हैं) । मतलब यह है कि सात्त्विक शास्त्र का पठन-पाठन, सात्त्विक देवता का ध्यान, सात्त्विक कुल में जन्म आदि से जीव में सात्त्विक गुणों की वृद्धि होती है । इसी भाँति कभी रज और तम को दबाकर सत्त्व बढ़ जाता है । कभी सत्त्व और तम को दबाकर रज बढ़ जाता है और कभी रज और सत्त्व को दबाकर तम बढ़ जाता है ॥१०॥

सत्त्वादिकों की वृद्धि उनके कार्य से जाननी चाहिये । इस शरीर में ज्ञान प्राप्ति की राह जो श्रोत्रादि इन्द्रियाँ हैं उनमें जब शब्दादि विषय का ठीक-ठीक ज्ञान होता है, तब प्रकाशरूप ज्ञान के द्वारा

स्थानेषु श्रोत्रादीन्द्रियेषु प्रकाशः शब्दादिविषयस्तस्ययथावद्ग्रहणं तदेव ज्ञानं यदा उपजायते तदा ज्ञान-प्रकाशात्मकेन लिङ्गेन विवृद्धं सत्त्वमिति विद्यात्। उत सुखसङ्गेनापि सत्त्वं विवृद्धं विद्यादित्यर्थः।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ! ॥१२॥

रजोगुणवृद्धेर्लिङ्गमाह—लोभ इति। लोभः धनागमे सत्यपि तदत्यागपूर्वकमधिकागमेऽभिलाषः, प्रवृत्तिः क्रियासामान्यचेष्टा, आरम्भः देहगेहादिकर्मणामुद्योगः, कर्मणामशमः इदं कृत्वा पुनरेतत् करिष्यामीति सदा कर्मानुपरतिः, स्पृहा सर्वसामान्यवस्तुविषया तृष्णा, रजसि विवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते। हे भरतर्षभ! लोभादिभी रजःप्रवृद्धं विद्यादित्यर्थः।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन! ॥१३॥

तमसो वृद्धेर्लिङ्गान्याह—अप्रकाश इति। अप्रकाशः ज्ञानानुदयः, अप्रवृत्तिः कर्त्तव्येऽप्यनुद्यमः, प्रमादः कर्त्तव्यार्थानवधानता, मोहो विपर्यज्ञानम्, एतानि तमसि विवृद्धे जायन्ते। एतैस्तमः प्रवृद्धं विद्यादित्यर्थः।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

इदानीं देहिनः सत्त्वादिगुणवृद्धौ मरणे गुणानुरूपलोकविशेषप्राप्तिमाह—यदेति द्वाभ्याम्। यदा सत्त्वे प्रवृद्धे सति देहभृज्जीवः प्रलयं याति मृत्युं प्राप्नोति, तदा उत्तमा देवादिहिरण्यगर्भान्तास्तद्विदां

सत्त्व को बढ़ा हुआ जानो। फिर सुखसंग से भी सत्त्व की वृद्धि जानी जाती है। तात्पर्य कि जब इन्द्रियां वस्तुविषयक यथावत् ज्ञान प्रदान करें और सुखसंग हो तब जानना चाहिये कि सत्त्व की वृद्धि हुई है ॥११॥

हे अर्जुन! रजोगुण की वृद्धि होने पर ये सब चिन्ह दीख पड़ते हैं, यथा लोभ—धन के होने पर भी उसका दान न करते हुए और धन की अभिलाषा, प्रवृत्ति अर्थात् काम करने में सामान्य चेष्टा, आरम्भ अर्थात् देह घर आदि सम्बन्धी कार्यों में उद्योग, कर्मों में सदा लगना अर्थात् इस काम को कर फिर इसे करूँगा इस प्रकार से सदा काम में लगा रहना और स्पृहा अर्थात् सब वस्तुओं की तृष्णा। मतलब यह है कि चित्त में लोभ आदि की वृत्ति होने से रजोगुण का बढ़ना जानना चाहिये ॥१२

तम की वृद्धि के चिन्ह बताते हैं। हे अर्जुन! तम की वृद्धि होने पर यह चिन्ह पाये जाते हैं, यथा, अप्रकाश अर्थात् ज्ञान का ढँक जाना, अप्रवृत्ति अर्थात् कर्त्तव्य कर्मों में भी उद्यमहीनता, प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य कर्मों में लापरवाही और मोह अर्थात् उल्टा ज्ञान। इन्हीं चिन्हों से तम की वृद्धि जाननी चाहिये ॥१३॥

सत्त्वादि गुण की वृद्धि होने पर मृत्यु होने से गुणानुरूप लोकों की प्राप्ति होती है, इसी को

तदुपासकानां लोकान्स्वर्गादिसत्यान्तान् तत्तदुचितभोगस्थानविशेषानमलान् रजस्तमोमलरहितान् प्रतिपद्यते प्राप्नोति ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजसीति । रजसि प्रवृद्धे प्रलयं मृत्युं गत्वा प्राप्य कर्मसङ्गिषु फलाभिसन्धियुक्तकर्मस्वासक्तेषु मनुष्येषु जायते तथा तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिषु पश्वादिषु जायते ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

इदानीं सत्त्वादीनां स्वानुरूपकर्मद्वारा फलभेदमाह—कर्मण इति । सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं निर्मलं प्रकाशसुखं फलमाहुः साङ्ख्याचार्या महर्षयः । रजसः राजसस्य तु कर्मणः सकामस्य पुण्यपापमिश्रस्य राजसं फलं दुःखमल्पसुखं दुःखप्रायमित्यर्थः । तमसस्तामसस्य कर्मणोऽज्ञानं मूढत्वं फलमाहुः ।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

एवम्भूतफलभेदे कारणगुणस्वभावमेव हेतुमाह—सत्त्वादिति । सत्त्वगुणात्सर्वज्ञानेन्द्रियद्वारेण प्रकाशाख्यं ज्ञानं सञ्जायते । अतः सात्त्विकस्य कर्मणः स्वानुरूपं प्रकाशसुखबहुलं फलं भवति । रजसो

दो श्लोकों से कहते हैं । जब सत्त्व के बढ़ने पर जीव मृत्यु को प्राप्त करता है तब उत्तम अर्थात् देवों से लेकर हिरण्यगर्भ तक के उपासकों के, स्वर्गादि से सत्यलोक पर्यन्त, अमल अर्थात् रज और तम से रहित लोकों को, जो उसके भोग्य के उचित स्थान हैं, प्राप्त करता है ॥१४॥

रज के बढ़ने पर मृत्यु होने से फलयुक्त कामों में आसक्त मनुष्ययोनि प्राप्त होती है । और तम के बढ़ने पर मृत्यु होने से पशु आदि की मूढ़ योनि प्राप्त होती है ॥१५॥

अब सत्त्वादि गुण अपने अनुसार कर्म द्वारा विचित्र फल के कारण हैं । इसी को कहते हैं । सात्त्विक कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल अर्थात् प्रकाशयुक्त सुखवाला होता है ऐसा कपिल आदि सांख्याचार्य महर्षि कहते हैं । सकाम और पुण्यपाप मिले हुए राजस कर्मों का फल दुःख है अर्थात् सुख कम और दुःख बहुत अधिक । और तामस कर्मों का फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता है ॥१६॥

इस प्रकार के फलभेद में गुणों का स्वभाव ही हेतु है । सत्त्वगुण से समस्त ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रकाश करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है । इसलिये सात्त्विक कर्मों का, फल उस गुण के अनुरूप ही, प्रकाश और सुख की अधिकता है । रज से लोभ अर्थात् विषय, धन आदि की प्राप्ति में अधिकतर अभिलाषा,

लोभो विषयधनादिप्राप्तावप्यधिकतरोऽभिलाषो जायते। तस्य दुःखहेतुत्वात्तत्पूर्वकस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति। एवं प्रमादमोहौ तमसः सकाशाद्भवतो जायेते, अज्ञानमेव च भवति न तु प्रकाशसुखलेश इत्यर्थः।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

इदानीं सत्त्वादिवृत्तिस्थानां प्रागुक्तान्युत्तमादिलोककलान्येवोर्ध्वं मध्याधोगतित्वेनाह—ऊर्ध्वमिति। सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्तिस्थाः सात्त्विकधर्मप्रधाना ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वोत्कर्षतारतम्याद्देवलोकात्सत्यलोकपर्यन्तं गच्छन्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। क्रमेण मुच्यन्तेऽपि। रजोगुणस्य लोभादिहेतुत्वाद्राजसा रजोवृत्तिस्थाः स्वर्गादिफलभोगसाधनभूतकाम्यकर्मनिरतास्तथाभूतकर्माण्यनुष्ठाय तत्फलमनुभूय पुनर्धूमसार्गेणावृत्य मध्ये मनुष्यलोके जनित्वा पुनस्तदर्थमेव कर्मानुतिष्ठन्ति जायन्ते म्रियन्ते च। जघन्यगुणवृत्तिस्थाः। जघन्यो द्राग्भ्यां निकृष्ट तमस्तस्य वृत्तिर्मोहालस्यनिद्राप्रमादादिस्तत्र स्थितास्तामसा अधो गच्छन्ति, तमोवृत्तितारतम्यात्तामिस्रान्धतामिस्रादिनरकान् प्राप्य तत्तत्कर्मानुरूपं दुःखं भुक्त्वा श्वशूकरादियोनिपूत्पद्यन्ते।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

पैदा होती है। यह रज दुःख का कारण है इसलिये रज से किये गये कर्मों का फल दुःख ही होता है। इसी प्रकार तम से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी। अर्थात् इस अवस्था में प्रकाश और सुख का लेश भी नहीं मिलता ॥१७॥

सत्त्वादिवृत्ति में स्थित पुरुषों को मध्यमादि लोक फलस्वरूप मिलते हैं। उन्हीं फलों को उच्च, मध्य और नीच गति के द्वारा बताते हैं। जो लोग सत्त्ववृत्ति में स्थिर रहते हैं अर्थात् सात्त्विक धर्म ही जिनमें प्रधान है वे लोग सत्त्व के उत्कर्ष की मात्रा के अनुसार देवलोक से आरम्भ कर सत्यलोक तक जाते हैं अर्थात् उन लोकों को प्राप्त करते हैं और क्रम-क्रम से मुक्ति भी पा जाते हैं। रजोवृत्ति में स्थित मनुष्य काम्य कर्मों में निरत रहते हैं क्योंकि इनसे स्वर्गादि फल मिलते हैं। इन काम्य कर्मों को कर और उनके फल-स्वर्गादि को भोग फिर धूममार्ग का अवलम्बन कर बीच के पृथ्वी लोक में आते हैं और फिर स्वर्गादि के लिये कर्म करते हैं और इस प्रकार जीते मरते रहते हैं। सत्त्व और रज से नीच, तमोगुण वृत्ति में स्थित मनुष्य अर्थात् जो मोह, आलस्य, निद्रा, प्रमाद आदि में लिप्त हैं वे नीचे लोक को जाते हैं, और तम के तारतम्य के अनुसार तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि नरकों को प्राप्त होते हैं और वहाँ कर्मों के अनुरूप दुःखों को भोग सूअर, कुत्ता आदि की योनियों में पैदा होते हैं ॥१८॥

एवमेतावता "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसि"ति पूर्वाध्यायोदितस्य क्षेत्रज्ञबन्ध[न]-हेतोर्गुणत्रयस्य लक्षणस्वभाववन्धनप्रकारा उक्ताः। इदानीमुक्तज्ञानस्य "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य-मागता" इत्युक्तस्वसाधर्म्यलक्षणपरमफलस्य प्राप्तिप्रकारमाह—नान्यमिति। अयं भावः, प्रथमं सात्त्विकाहारादिसेवया ज्ञानावरणहेतुरजस्तमोवृत्त्यभिभवेनोद्रिक्तसत्त्वनिष्ठो दृष्टा यदा गुणेभ्योऽन्यं कर्त्तारं नानुपश्यति। किन्तु गुणा एवानादिकर्मानुबन्धिनं जीवं स्वस्वकार्येषु प्रवर्त्तका इति वेत्ति, गुणेभ्यश्च परं विलक्षणमात्मानं च वेत्ति। बद्धावस्थायां गुणाधीनकर्तृत्वात्। गुणाश्च नात्मस्वरूपानु-बन्धिनः, किन्तु यावत्कर्मभाविनः सत्त्ववृद्धयाऽमलान्तःकरणे सति आत्मयाथात्म्यज्ञानोपलब्ध्योपज-मादिना सत्त्वस्यापि निवृत्त्या गुणकर्मनाशात् केवलात्माऽवतिष्ठते। अतो "गुणेभ्यश्च परं वेत्ती"त्युक्तम्। तदा स द्रष्टा मद्भावमधिगच्छति, मम यो भावो जन्मजरामरणादिविकाररहित्येन नित्यानन्दानुभव-रूपस्तं प्राप्नोति।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

तत्र प्रकारमाह—गुणानेतानिति। देही देहे वर्त्तमानोऽपि एतान् यथोक्तान्सत्त्वादीन् गुणान्देह-

---

इस प्रकार "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" से पूर्व अध्याय में कहे हुए क्षेत्रज्ञ (जीव) के बन्धन के हेतु जो तीनों गुण हैं, उनका लक्षण, स्वभाव और बाँधने की रीति को कहा। अब "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता" से जो इस ज्ञान का परम फल साधर्म्य की प्राप्ति कही गई वह प्राप्ति जिस प्रकार होती है उसको यहाँ कहते हैं।

श्लोक का भाव यह है—पहले सात्त्विक आहारादि के सेवन से ज्ञान के ढकने के कारण जो रजोगुण और तमोगुण हैं वे दबते हैं और सतोगुण की वृद्धि होती है। तब सत्त्वनिष्ठ पुरुष यह देखता है कि गुणों के अतिरिक्त और कोई दूसरा कर्त्ता नहीं है। गुण ही अनादि कर्मों के संगी जीव को अपने अपने कार्य में लगाते हैं। वह पुरुष यह जानता है कि आत्मा इन गुणों से परम विलक्षण है क्योंकि बद्धावस्था में आत्मा का कर्त्तापना गुणों के अधीन है। प्राकृतगुण आत्मस्वरूप में सदा रहनेवाले नहीं हैं किन्तु जब तक कर्म हैं तभी तक रहते हैं। सत्त्व की वृद्धि से अन्तःकरण निर्मल होने पर आत्मा के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से उपशमादि के द्वारा सतोगुण की भी निवृत्ति हो जाती है और उस अवस्था में सब गुणकर्मों की निवृत्ति हो जाने से केवल शुद्ध आत्मा ही रह जाता है। इसीलिये कहा गया है कि वह पुरुष आत्मा को गुणों से परम विलक्षण जानता है। उस अवस्था को प्राप्त होने पर वह द्रष्टा अर्थात् आत्मा के यथार्थरूप को जाननेवाला पुरुष मेरे भाव को प्राप्त करता है अर्थात् जन्म, जरा, मरण आदि विकारों से रहित जो मेरा नित्यानन्द अनुभवरूप है उसको पा जाता है ॥१९॥

भगवद्भाव की प्राप्ति के प्रकार को कहते हैं।

शरीर में स्थित भी जीव इन कहे हुए तीनों सत् रज तम गुणों को, जो देहरूप प्रकृति से उत्पन्न

समुद्भवान्देहात्मना परिणतप्रकृतिसमुद्भवान् देहोत्पत्तिबीजभूतान्वा अतीत्य तद्विलक्षणात्मज्ञानात् तद्वृत्तिभिः स्वयमनभिभूय तत्कार्यभूतजन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तो विशेषेण निःश्रेयतया मुक्तोऽमृतमश्नुते मुक्तस्वरूपं प्राप्नोति। एवं मद्भावमधिगच्छति।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो!।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥

गुणानेतानतीत्य देही अमृत(त्व)मश्नुते इति श्रुत्वा गुणातीतस्य लक्षणमाचारं गुणात्ययोपायं च जिज्ञासुरर्जुन उवाच कैर्लिङ्गैरिति। एतांस्त्रीन्गुणान्योऽतीतः स कैर्लिङ्गैर्लक्षणैर्विशिष्टो भवति, यैर्गुणातीत इति ज्ञायते तानि लिंगानि वदेत्यर्थः। हे प्रभो! तत्सन्देहनिवारणसमर्थ! किमाचारः क आचारो यस्य स कीदृशाचार इत्यर्थ। कथं च केन प्रकारेण एतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते। गुणातिक्रमोपायः क इति मे ब्रूहीत्यर्थः।

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव!।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

एवमर्जुनप्रश्नानुसारेण गुणातीतस्य लक्षणादिप्रतिवचनानि श्रीभगवानुवाच—पञ्चभिः श्लोकैः। तत्र तावत्कैर्लिङ्गैर्गुणातीतो भवतीत्यस्योत्तरम्—प्रकाशं चेति। प्रकाशं च सत्त्वकार्यं, प्रवृत्तिं च रजःकार्यं, मोहमेव च तमःकार्यम्, उपलक्षणमेतत्सर्वाण्यपि गुणकार्याणि यथायथं सम्प्रवृत्तानि संस्कारानुगुणं

हैं अथवा देह की उत्पत्ति के कारण हैं, छोड़ अर्थात् उनसे विलक्षण आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने के कारण उनकी वृत्तियों से अभिभूत न होकर, उनके कार्यभूत जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा आदि दुःखों से विशेषरूप से मुक्त हो जाता है और अमृत अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार से मेरे भाव की प्राप्ति उसको होती है ॥२०॥

गुणों से मुक्त हो जीव अमरता प्राप्त करता है ऐसा सुन अर्जुन गुणातीतों के लक्षण और आचार और गुणातीत होने के उपायों को जानने की इच्छा से बोला।

इन तीनों, सत, रज, तम गुणों को जो पार कर जाता है वह किन चिन्हों से युक्त होता है? अर्थात् जिन चिन्हों द्वारा ऐसा मनुष्य जाना जाता है उसको आप कहें। हे प्रभो, अर्थात् मेरे सन्देह को हटाने में समर्थ! उस पुरुष का कैसा आचार होता है और किस भाँति इन गुणों से उसको छुटकारा मिलता है? अर्थात् इन गुणों के अतिक्रमण करने के उपायों को आप बतावें ॥२१॥

अर्जुन के प्रश्न के अनुसार गुणातीत के लक्षण आदि को भगवान् पाँच श्लोकों से बताते हैं। गुणातीत किन लक्षणों से जाना जाता है इस प्रश्न का उत्तर यहाँ देते हैं।

प्रकाश सतोगुण का कार्य है, प्रवृत्ति रजोगुण का और मोह तम का। ये सब चिन्ह इन गुणों

प्राप्तानि प्रतिकूलबुद्धया न द्वेष्टि। तथा तदवाप्तिहेतुत्वशान्निवृत्तानि न काङ्क्षति न स्पृहयति। एवं द्वेषस्पृहाशून्यो यः गुणातीतः स उच्यते इति चतुर्थश्लोकगतेनान्वयः।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

गुणातीतस्य लक्षणमुक्त्वा किमाचार इत्यस्योत्तरमाह—उदासीनवदिति त्रिभिः। यथोदासीनो न कस्य चित् पक्षं श्रयते तथा गुणातिक्रमे प्रवृत्तो यो रागद्वेषशून्यतया क्वापि न सज्जते स्वरूपानुसन्धान एवासीनः स्थितः गुणैः सुखदुःखाद्याकारेण परिणतैः सुखदुःखबुद्धया रागद्वेषाभ्यां यो न विचाल्यते स्वरूपावस्थानान्न प्रच्याव्यते किन्तु गुणाः स्वेषु कार्येषु प्रकाशादिषु वर्तन्ते इत्येवं मत्वा नैमे मम स्वरूपानुबन्धिन इति निश्चित्यावतिष्ठति स्वरूपेऽवतिष्ठते, अत एव नेङ्गते गुणानुरूपं न चेष्टते।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

किञ्च—समदुःखसुख इति। समदुःखसुखः दुःखसुखयोः समचित्तः, यतः स्वस्थः स्वस्मिन्स्वरूपे स्थितः। अत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स तथा तत एव तुल्यप्रियाप्रियः तुल्यौ प्रियाप्रियौ विषयौ यस्य स तथा धीरः गुणकार्यप्राप्तावपि विवेकादप्रचलितः। अत एव तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः तुल्या निन्दा च आत्मसंस्तुतिश्च यस्य सः।

के कार्यों के उपलक्षण मात्र है। संस्कार के अनुसार प्राप्त हुए गुणों से गुणातीत पुरुष द्वेष नहीं करता और न किसी कारण से उनके नाश होने पर उनकी अभिलाषा ही करता है। अर्थात् गुणों से न उसे द्वेष है न स्पृहा। ऐसे पुरुष को गुणातीत कहते हैं ॥२२॥

गुणातीत का लक्षण कहकर अब उसके आचार को तीन श्लोकों से बताते हैं। जैसे उदासीन पुरुष किसी का पक्ष ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार गुणातीत पुरुष रागद्वेष से शून्य होने के कारण कहीं भी आसक्त नहीं होता। अपने आत्मस्वरूप के अनुसन्धान में स्थित वह पुरुष गुणों से अर्थात् उनके सुख दुःख आदि रूपों से विचलित नहीं होता अर्थात् अपने स्वरूपावस्था से विचलित नहीं होता, क्योंकि सुख दुःख में उसको रागद्वेष नहीं है। बल्कि यह समझ कर कि तीनों गुण अपने प्रकाशादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं वह उनको अपने स्वरूप का संगी नहीं मानता और ऐसा निश्चय कर अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहता है। वह उन गुणों के अनुरूप चेष्टा नहीं करता ॥२३॥

वह पुरुष दुःख सुख में एक समान चित्तवाला है क्योंकि वह अपने स्वस्वरूप में स्थित है। इसीलिये मृत्पिंड, पत्थर और सोना सब उसके लिए समान हैं और प्रिय और अप्रिय वस्तु भी बराबर ही हैं। वह पुरुष धीर होता है अर्थात् गुणों के कार्य के उपस्थित होने पर विवेकयुक्त हो, डिगता नहीं। इसलिये उसको अपनी निन्दा और स्तुति बराबर ही हैं ॥२४॥

मानापमानऽयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

किञ्च—मानापमानयोरिति । स्तुतिनिन्दाप्रवृत्तयोर्मानापमानयोस्तत्कल्पितयोर्मित्रारिपक्षयोरात्मनस्तत्स्पर्शाभावात्समचित्तः, सर्वानैहिकामुष्मिकार्थानारम्भान् क्रियाकलापांस्त्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी य एवम्भूतः स गुणातीत उच्यते ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

तदेवं गुणातीताचारमुक्त्वेदानीं कथं चैतान्गुणानतिवर्त्तते इति प्रश्नस्योत्तरं गुणातिक्रमणासाधारणहेतुमाह—मां चेति । न केवलं गुणात्मविवेकमात्रेण गुणातिक्रमणं सम्भवति अनादिकालप्रवृत्तस्य दृढबन्धनस्य समर्थनिवर्त्तकमन्तरेण सर्वथा निवृत्त्यसम्भवात्—किन्तु मां चेति । चकारोऽवधारणार्थः । मामेव सर्वज्ञं निरस्तासमस्तदोषगन्धं परमकारुणिकं सर्वेश्वरमाश्रिताभयप्रदं भगवन्तं वासुदेवमव्यभिचारेणैकान्त्येन भक्तियोगेन यः सेवते स एतान् दुरतिक्रमान्सत्त्वादीन् गुणान्समतीत्य सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयमपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकत्वं सार्वज्ञ्यं च तेन सर्वदाऽवस्थानं तस्मै कल्पते योग्यो भवति । अव्यभिचारेणेत्यनेन मद्भक्तस्य मदितरदेवभजनं व्यभिचारस्तेन भक्तियोगेन तु यः सेवते स पापिष्ठतया न गुणेभ्यो विमुच्यते संसारी भवतीति सूचितम् । तथा च श्रुतिः "यो वै स्वां देवतामतियजति परस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान्भवती"ति । ब्रह्माण्ड-

---

स्तुति और निन्दा का फल मान और अपमान और मान-अपमान के द्वारा मित्र शत्रु का पक्ष इन सबों में जो, यह जानकर कि आत्मा को ये नहीं छू सकते, सम भाव रखता है और इस लोक वा परलोक के फलों के लिये जो कभी काम का आरम्भ नहीं करता वही गुणातीत कहलाता है ॥२५॥

इस प्रकार गुणातीतों के आचार के विषय में कहकर अब गुणों को पार कर जाने के असाधारण कारण को बताते हैं । केवल गुण और आत्मा के विवेक से ही गुणों को पार कर जाना वा लाँघ जाना सम्भव नहीं है क्योंकि गुणों का बन्धन अनादिकाल से प्रवृत्त है और इसलिये बहुत दृढ़ हैं । जब तक बड़ा, समर्थ हटानेवाला न हो तब तक इनसे निवृत्ति बिल्कुल असम्भव है । 'च' शब्द से निश्चयता का बोध होता है । मुझ सर्वज्ञ, सर्वपापों के गन्ध से भी रहित परमकारुणिक, सर्वेश्वर, अपनी शरण में आये हुओं को अभय देनेवाले भगवान् वासुदेव की जो एकान्तिक भक्ति से सेवा करता है वह इन दुरतिक्रमणीय सत्त्वादि गुणों को अच्छी प्रकार पार कर ब्रह्मभाव के योग्य होता है अर्थात् ब्रह्म के अपहतपाप्मा, जरारहित आदि आठ गुण और सर्वज्ञता ये उसमें सदा के लिए स्थित हो जाते हैं । अव्यभिचारिणी एकान्तिक भक्ति का मतलब कि दूसरे देवताओं की भक्ति से रहित । जो मनुष्य व्यभिचारिणी भक्ति (एकान्तिक नहीं) से मेरी सेवा करता है वह पापी गुणों से छुटकारा नहीं पाता अर्थात् संसारी होता है । श्रुति कहती है—"यो वै स्वां देवतामतियजति परस्वायै देवतायै च्यवते न परां

कौर्मयोः "ये तु सामान्यभावेन मन्यन्ते पुरुषोत्तमम् । ते वै पाषण्डिनो ज्ञेया नरकार्हा नराधमाः । नारद-पञ्चरात्रे च "यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मतिः । साधारणं सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यजः ।

ब्रह्मणोऽहि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

वासुदेवानन्यभक्तिमेव ब्रह्मभावयोग्यतायां हेतुमाह—हि यस्मात् ब्रह्मणो ब्रह्मत्वस्यापहत-पाप्मत्वसार्वज्ञ्यादिगुणस्य प्रतिष्ठा अव्यभिचार्याश्रयः, तथाऽव्ययस्यामृतस्य मोक्षस्य च तथा शाश्वतस्य च धर्मस्य मोक्षसाधनस्य शमदमादेः तथैकान्तिकस्य सुखस्य परमानन्दस्य चाश्रयोऽहं यस्मादेवंविधोऽहं तस्मान्ममैकान्तभक्तस्यैव मद्गुणेन गुणात्ययस्ततो ब्रह्मभावप्राप्तिरिति भावः ।

सत्त्वादिगुणवृत्तिस्थो जीवो संसृतिमृच्छति ।
हरेरनन्यया भक्त्या मुच्यते गुणसंसृतेः ॥
कृपया भक्तहितकृदेतदर्थं स्वयं प्रभुः ।
गुणलक्षणकार्यादि अध्यायेऽस्मिन्समादिशत् ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्गिजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

प्राप्नोति पापीयान्भवति" (जो अपने देवता को छोड़ दूसरे देवता की सेवा करता है वह कल्याण को नहीं प्राप्त करता। वह संसारी होता है)। ब्रह्माण्ड और कूर्मपुराण का यह वचन है—"ये तु सामान्यभावेन मन्यन्ते पुरुषोत्तमम् । ते वै पाषण्डिनो ज्ञेया नरकार्हा नराधमाः" ॥ (जो भगवान् को सामान्यभाव से जानते हैं उनको पाखण्डी समझो, वे नरक के योग्य और नराधम हैं।) नारद पञ्चरात्र में लिखा है—"यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मतिः । साधारणं सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजो-ऽन्त्यजः" (जो मूर्ख मोह से विष्णु को एक बार भी नीचे देवताओं के समान कहता है वही अन्त्यज है, अन्त्यज अन्त्यज नहीं है) ॥२६॥

वासुदेव के अनन्य भक्त ही ब्रह्मभाव की योग्यता प्राप्त करते हैं, इसका कारण यहाँ बताते हैं।

कारण कि मैं ही ब्रह्मत्व अर्थात् अपहतपाप्मा, सर्वज्ञता आदि प्रजापति विद्या में कथित अष्ट गुणों का आश्रय हूँ और अव्यय मोक्ष की, मोक्ष के साधन शम दम आदि सनातन धर्म की और एकान्तिक सुख अर्थात् परमानन्द की भी प्रतिष्ठा मुझ में ही है। भाव यह है कि मैं ऐसा हूँ इसलिये मेरा एकान्त भक्त ही मेरे भजन के द्वारा गुणों को पार कर ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है ॥२७॥

सत्त्वादि गुणों की वृत्ति में स्थित जीव संसार की इच्छा करता है। भगवान् की अनन्य भक्ति से इस गुणसंसृति से मुक्ति मिलती है। इसलिए भक्तों के हितार्थ भगवान् ने कृपा कर इस अध्याय में गुणों के लक्षण, कार्य आदि का उपदेश किया।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चदशोऽध्यायः

★

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

पूर्वाध्याये पुरुषस्य मायागुणमयसंसारबन्धं प्रपञ्चयन्ते "मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" इत्यनेन भगवदनन्यभक्तियोगेन गुणातिक्रमपूर्वकं ब्रह्मभावयोग्यतोक्ता । इदानीं भजनीयं यद्भगवत्स्वरूपं तस्यानन्तकल्याणगुणरूपभावयोगात्स्वशक्तिभूताभ्यां क्षराक्षरपदार्थाभ्यामतिश्रैष्ठ्यात्पुरुषोत्तमतां वक्तुमस्याध्यायस्यारम्भः । तत्र तावद्ब्रह्मभावयोग्यस्याक्षरपुरुषस्य स्वांशत्वं निर्देष्टुं तस्यानाद्यचेतनप्रकृतिमयबन्धनिवृत्तिहेतुर्भगवद्भक्तिर्ज्ञानं वाऽविरक्तस्य न सम्भवतीत्यसङ्गशस्त्रेण बन्धच्छेदनाय वैराग्यार्थं छेद्यं बन्धभूतं प्रकृतिमयसंसारमश्वत्थवृक्षाकारेण निरूपयन् श्रीभगवानुवाच—ऊर्ध्वमूलमिति सार्द्धश्लोकाभ्याम् । ऊर्ध्वं भगवद्धाम

पूर्व के अध्याय में पहले यह कहा गया कि प्रकृति का गुणमय संसार ही पुरुष का बन्धन है । फिर "मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" से यह बताया गया कि भगवान् की अनन्यभक्ति से ही गुणों को लाँघकर ब्रह्मभाव की योग्यता होती है । अब इस अध्याय में भजनीय जो भगवान् हैं उनका स्वरूप बतावेंगे और यह कहेंगे कि अनन्त कल्याण गुणवाला होने से भगवान् अपनी शक्तिभूत क्षर (प्रकृति) और अक्षर (जीव) पदार्थों से श्रेष्ठ हैं और इसीलिये वे पुरुषोत्तम हैं । ब्रह्मभाव प्राप्त करने के योग्य अक्षर पुरुष को अपना अंश कहने के लिये और यह निरूपण करने के लिये कि उसके अनादि अचेतन प्रकृति बन्धन की निवृत्ति भगवत् भक्ति वा ज्ञान से होती है और अविरक्त पुरुष को वह निवृत्ति सम्भव नहीं, असंगशस्त्र से ही जो काटा जा सकता है ऐसे काटने योग्य बन्धभूत प्रकृतिमय संसार को अश्वत्थ वृक्ष के रूपक द्वारा डेढ़ श्लोक से निरूपण करते हुए भगवान् बोले ।

भगवत् धाम को जानेवाले भगवद्भक्तों के सर्वलोक के अतिक्रमण में सावरण ब्रह्माण्ड के ऊपर वर्त्तमान त्रिगुणात्मिका प्रकृति का आवरण ही इस अश्वत्थरूप संसार वृक्ष का मूल है । अर्थात् सावरण ब्रह्माण्ड के ऊपर जो प्रकृति का आवरण है, जिसके ऊपर भगवत् धाम ही है, वही प्रकृति का

गन्तुर्भगवद्भूक्तस्य सर्वलोकातिक्रमणे सावरणब्रह्माण्डोपरिवर्त्तमानं त्रिगुणात्मकप्रकृत्यावरणमेव मूलमादिर्यस्य संसारवृक्षस्येत्यूर्द्ध्वमूलम् । अधःशाखं ततोऽर्वाचीनाः सत्यलोकप्रभृतिचतुर्दशलोकाः शाखा इव फलाश्रया शाखा यस्येत्यधःशाखमश्वत्थं नश्वरं सम्यग्ज्ञानात्प्राक्प्रवाहरूपेणाव्ययं नित्यं प्राहुः श्रुतयः "ऊर्द्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन" इत्याद्याः । छन्दांसि ऋग्यजुःसामलक्षणानि पर्णानीव पर्णानि यस्य यथा पत्रैर्वृक्षो वर्द्धते जीवानां समाश्रयणीयश्च भवति, तथा "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः स्वर्गकामो यजेत" त्येवमादिवेदप्रतिपादितैः काम्यकर्मभिरयं संसारवृक्षो वर्द्धते, छायास्थानीयैः कर्मफलैः सकामानां जीवानां समाश्रयणीयश्चेत्यतः छन्दांस्येव पर्णानीत्युक्तम् । यस्तमेवं प्रतिपादितं संसारवृक्षं वेद स वेदवित् । त्रिगुणप्रकृतिमूलः संसारवृक्षः, शाखास्थानीयाः कर्मफलभोगभूमयो ब्रह्मलोकादयश्चतुर्दशलोकाः तद्वृद्धिहेतवः पर्णस्थानीया वेदास्तत्फलभोक्तारो ब्रह्मादयो जीवसमूहा इति संसारवृक्षः स्वरूपेणानित्यः प्रवाहरूपेण नित्यश्च भगवद्भूक्तिज्ञानं च तच्छेदनोपाय इत्येतावान्वेदार्थस्तं यो वेद स सर्ववेदार्थवित्त्यर्थः ।

अधश्चोर्द्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः, गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

एवं मूलशाखाऽवयवनिरूपणेन संसारवृक्षं निरूप्य पुनरवान्तरशाखानिर्देशेन निरूपयति—अधश्चेति । तस्योर्द्ध्वमूलस्याधःशाखस्य संसारवृक्षस्याऽधश्चोर्द्ध्वं च शाखाः प्रसृता विस्तारं प्राप्ताः

आवरण संसाररूपी अश्वत्थ पेड़ की जड़ है। उसके नीचे सत्यलोक प्रभृति जो चौदह लोक हैं वे ही इस वृक्ष की फलआश्रयरूपी शाखायें हैं। यह अश्वत्थ वृक्ष सम्यक् ज्ञान के द्वारा नष्ट होने के पूर्व तक प्रवाह रूप से अव्यय अर्थात् नित्य ही कहा गया है जैसा श्रुति का वचन है—"ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (यह अश्वत्थ जिसकी जड़ ऊपर है और शाखा नीचे है सनातन है)। ऋक्, यजु, साम आदि जो छन्द हैं वे ही इस वृक्ष के पत्ते हैं। जैसे पत्तों से वृक्ष बढ़ते हैं और जीवों को छायारूपी शरण भी मिलती है उसी भाँति वेदों से प्रतिपादित काम्यकर्मों के द्वारा यह संसार वृक्ष बढ़ता है और छाया के समान कर्मफल को सकामी जीवलोग चाहते हैं, इसीलिये छन्दों को पत्ते का रूपक दिया गया। श्रुति कहती है—"वायव्यं श्वेतमालभेत् भूतिकामः स्वर्गकामो यजेत्।" (विभूति की कामनावाले पुरुष वायु देवता को श्वेत पशु अर्पण करें। स्वर्ग की कामनावाले यज्ञ करें)। ऐसे इस संसारवृक्ष को जो जानता है वही वेद को जानता है। त्रिगुण प्रकृति संसार वृक्ष का मूल है, कर्मफल की भोगभूमि ब्रह्मलोक आदि चौदह भुवन उसकी शाखा हैं, वेदरूपी पत्ते उस वृक्ष की वृद्धि के कारण हैं और ब्रह्मा आदि जीवसमूह उस शाखा के फल के भोक्ता हैं। यह संसाररूपी वृक्ष स्वरूप से अनित्य है पर प्रवाहरूप से नित्य है। भगवान् की भक्ति और उनका ज्ञान इस वृक्ष के काटने के उपाय हैं। इतना ही वेद का अर्थ है। इसको जो जानता है वही वेद का जाननेवाला है ॥१॥

इस प्रकार मूल शाखा और उसके अवयव निरूपण द्वारा संसारवृक्ष का निरूपण किया। अब

न्ति। तत्र पापकर्मभिः पश्वादियोनिमारभ्य नरकान्तं प्राप्ता ये जीवास्तेऽधःशाखास्थानीया, ये सुकृतिनस्ते ऊर्ध्वं प्रसृताः प्रकर्षेण देवगन्धर्वादियोनिप्रभृतिसत्यलोकान्तं प्राप्तास्ते उपरि शाखास्थानीयाः। ताश्च शाखा गुणप्रवृद्धाः गुणैः सत्त्वादिभिर्जलसेचनैरिव प्रवृद्धाः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ताः। शब्दादयो विषया एव प्रवाला इव प्रवाला यासां ताः। उभयत्र शाखाप्रसारे हेतुमाह—अधश्च मूलान्यनुसन्ततानीति। च शब्दादूर्ध्वं च मूलानीति। ऊर्ध्वं प्रकृत्यादीनि अधो देवादिभ्योऽर्वाक्तनद्विषयभोगवासनालक्षणानि धर्माधर्मप्रवृत्तिहेतुभूतान्यनुसन्ततानि विरूढानि। कथं भूतानि—कर्मानुबन्धीनि। कर्म शुभाशुभमनुबद्धं पश्चाज्जनयितुं शीलं येषां तानि भवन्ति। क्व भवन्तीत्यत आह—मनुष्यलोके मनुष्यश्चासौ लोकश्च तस्मिन्। अनादिभोगवासनाया मनुष्ययोनिषु तत्प्राप्तिसाधनैः कर्मभिरूर्ध्वाधोलोकेषु भोगं भुञ्जतां जीवानां कर्मक्षये तत्तद्भोगवासनाभिर्मनुष्यलोकं प्राप्तानां पुनस्तत्तद्भोगसाधनेषु कर्मसु प्रवृत्तिर्भवति। तत्रैव कर्माधिकारात्। मनुष्यत्वे कृतानां कर्मणामेव सर्वलोकप्राप्तिहेतुत्वादित्यर्थः।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

एवम्भूतं संसारवृक्षं केचिदेव जानन्ति नतु सर्वे इत्याह—न रूपमिति। योऽयं संसारवृक्षो वर्णितः—अस्य रूपमिह संसारे स्थितैर्जीवैर्यथा वर्णितं तथा नोपलभ्यते। तथाऽस्य वृक्षस्यान्तो

उसके मध्य की शाखाओं को बताते हैं। इस ऊपर मूल और नीचे शाखावाले संसार वृक्ष में नीचे और ऊपर शाखायें फैली हुई हैं। पापकर्मों के कारण पशु आदि योनियों से लेकर नरक पर्यन्त पहुँचे हुए जीव उसकी नीचे की शाखायें हैं और जो सुकर्म करनेवाले देव गन्धर्वादि योनि से लेकर सत्यलोक पर्यन्त पहुँचे हुए जीव हैं वे ही उसकी ऊपर की शाखायें हैं। ये शाखायें सत्त्वादि गुणरूप जल से सींच कर खूब बढ़ाई गई हैं। शब्द, स्पर्श आदि विषय ही इन शाखाओं की प्रवाल अर्थात् कोंपल कलश हैं। अब ऊपर नीचे दोनों लोकों में शाखाओं के फैलने के कारण को कहते हैं। प्रकृति से आरम्भ कर देवलोक तक की ऊपरवाली शाखायें और देवलोक से नीचे की अधःवर्त्तिनी शाखायें विषय भोग वासना लक्षणवाले धर्म और अधर्म में प्रवृत्त होने से खूब जम गई हैं। मतलब जैसे अश्वत्थ की शाखाओं में से विरोह निकल कर पृथ्वी में घुस उन शाखाओं को दृढ़तर कर देता है वैसे ही धर्म और अधर्म की प्रवृत्तियों द्वारा ये ऊपर और नीचे की शाखायें दृढ़तर होती हैं। और फिर ये शाखायें शुभ और अशुभ कर्मों को मनुष्य रूपी लोक में पैदा करती हैं। भाव यह है कि मनुष्य लोक में प्राप्त हो जीव अनादि भोग वासना के कारण कर्मों को करता है। उन कर्मों के फल को भोगने के लिए ऊँचे और नीचे लोकों को प्राप्त करता है। फिर कर्म भोग क्षय होने पर भोग वासना के कारण मनुष्यलोक में आता है और पुनः भोग के साधन रूप कर्मों में प्रवृत्त होता है क्यों कि मनुष्य के लोक में ही कर्म करने के अधिकार हैं और मनुष्य शरीर में किये गये कर्मों से ही सब लोकों की प्राप्ति होती है ॥२॥

ऐसे संसार वृक्ष को कोई थोड़े ही व्यक्ति जानते हैं सब नहीं—यही कहते हैं :—

विनाशोऽपि गुणमयवस्तुष्वसङ्गकृत इति नोपलभ्यते। तथा गुणसङ्ग एवास्यादिरिति नोपलभ्यते। तथा प्रतिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठा अनात्मन्यात्मबुद्धिरेवास्य प्रतिष्ठा सा च नोपलभ्यते। अथवाऽन्तोऽवसानमादिरित आरभ्य प्रवृत्त इति सम्प्रतिष्ठा सम्यक् प्रतिष्ठा मध्यावस्था सम्प्रतिष्ठत्यस्मिन्निति सम्प्रतिष्ठा निवासोऽस्येति न केन चिदुपलभ्यते। एवम्भूतोऽयं संसारवृक्षो दुरुच्छेद्योऽनर्थकरश्चैनं श्रेयोऽर्थी निशितास्त्रेण छित्त्वा परमार्थं वस्त्वन्विच्छेदित्याह—अश्वत्थमेनमिति सार्द्धेन। अश्वत्थमेनं यथोक्तं सुविरूढमूलं सुष्ठु विरूढानि निरोहं प्राप्तानि दृढानि मूलानि यस्य तमेनं दुरुच्छेद्यम् असङ्गशस्त्रेण गुणमयविषयभोगस्पृहानिरासेन पुत्रवित्तलोकाद्येषणानुद्भवरूपेण भगवद्भक्तिदृढीकृतेन विवेकाभ्यासनिशितेन छित्त्वा तत्सम्बन्धं विहायेत्यर्थः।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं, यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

ततस्तदनन्तरं तत्पदं परिमार्गितव्यमन्वेषणीयं, किं तत्पदं यस्मिन्पदे गताः प्राप्ता भूयः पुनर्न निवर्त्तन्ते संसाराय नावर्त्तन्ते। ननु "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी"ति श्रुतेरनाद्यनन्तस्या भगवच्छक्तेर्दैव्या मायायाः संसारवृक्षस्य मूलभूतायाः कथं निवृत्तिरनिवृत्तेः कथमपुनरावृत्तिरित्याशङ्क्याह

जिस संसार वृक्ष का वर्णन किया गया उसका यथार्थ रूप, जैसा वर्णन किया गया है इस संसार में स्थित जीवों को प्राप्त नहीं है। फिर इस वृक्ष का नाश भी त्रिगुणमय वस्तुओं के असंग से होता है और उसका जन्म गुणों के संग से होता है। यह ज्ञान भी संसार स्थित जीवों को प्राप्त नहीं है। फिर अनात्म वस्तु में आत्म बुद्धि करना ही इस वृक्ष की प्रतिष्ठा है अर्थात् इसी में यह रहता है। यह ज्ञान भी उन लोगों को प्राप्त नहीं है। प्रतिष्ठा का अर्थ आदि और अन्त के बीच की अवस्था भी हो सकता है। मतलब कि संसारी जीवों को इस संसार वृक्ष के आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान नहीं होता। ऐसा यह संसार वृक्ष कठिनता से काटने योग्य और अनर्थकारी है। मोक्षार्थियों को इसको पैने शस्त्रों से काटकर परमार्थ वस्तु को ढूंढना चाहिए। इसी बात को आधे श्लोक से कहते हैं। यह संसार वृक्ष बहुत दृढ़ मूलवाला और कठिनता से काटने योग्य है। असङ्ग रूपी शस्त्र से अर्थात् बेटा, धन आदि की इच्छा रूपी गुणमय विषयों के भोग की अभिलाषा को दूर कर और भगवद्भक्ति में दृढ़ हो विवेक के अभ्यास रूप तीक्ष्ण शस्त्र से संसार वृक्ष को काटे अर्थात् विवेक द्वारा उससे सम्बन्ध छोड़े ॥३॥

उसके अनन्तर उस पद (स्थान) का पता लगाना चाहिये जहां पहुँच कर फिर संसार में लौट कर नहीं आना होता। जिसके विषय में श्रुति कहती है "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी" (प्रकृति का न आदि है न उसका अन्त और वह सब सृष्टि की माता है)। उस आदि अन्त रहित भगवद्शक्ति रूपिणी माया से, जो संसार वृक्ष की जड़ है, कैसे निवृत्ति हो सकती है और निवृत्ति न होने से संसार में पुनरागमन कैसे बन्द हो सकता है? इसी प्रश्न के उत्तर में प्रकृति से निवृत्ति के

तन्निवृत्त्यसाधारणमुपायं श्रुणित्याह—तमेवेति । संसारमूलानादिमायानिवृत्तयेऽपुनरावृत्तये च तमेव चाद्यं कृत्स्नस्यादिभूतं पुरुषं शरणं प्रपद्येत । कोऽसौ पुरुषस्तं लक्षयति—यतो यस्मात्पुरुषाद्गुणमय-संसारप्रवृत्तिः पुराणी पुरातनी प्रसृता विततां, यच्छक्तिगुणप्रवाहे पतितो जीवः संसरति । तत्प्रपत्तिं विना न मुच्यते तच्चोक्तं पूर्वमेव "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति तस्माद्भगवच्छरणा अपुनरावृत्तिपदं गच्छन्ति ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

पुनः कथम्भूतास्तत्पदं गच्छन्तीति तान्विशिनष्टि—निर्मानमोहा इति । मानः गर्वपर्यायो-ऽहङ्कारः, मोहोऽनात्मन्यात्माभिमानः, निर्गतौ मानमोहौ येभ्यस्ते निर्मानमोहाः । जितौ सङ्गदोषौ यैस्ते जितसङ्गदोषाः । अध्यात्मनित्याः । आत्मनि यज्ज्ञानं तदध्यात्मं तस्मिन्नित्यरताः । विनिवृत्तान्य-कामाः । सुखदुःखसञ्ज्ञैः सुखदुःखकारणत्वात्सुखदुःखनामकैः शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः । अत एवामूढा आत्मानात्माविवेकरहितास्तदव्ययं पदं गच्छन्ति । पूर्वाध्याये उक्तं ब्रह्मभावाख्यं पदं प्राप्यं निरावरण ज्ञानमात्मस्वरूपं गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

असाधारण उपाय को भगवान् बताते हैं। संसार की जड़ अनादि माया से निवृत्ति के लिये और संसार में न आने के लिये उस सब जगत् के आदि भूत पर पुरुष भगवान् की शरण में जाना चाहिये। अब उस परपुरुष का लक्षण बताते हैं। उस पुरुष से यह गुणमय संसार पुरातन से निकला हुआ है। उसी की शक्ति के गुण की धारा में पड़ जीव संसार में भ्रमता है। इसलिए उसकी शरण में गये बिना जीव का छुटकारा नहीं। पहले भी भगवान् ने कहा है—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्तेमायामेतां तरन्तिते ॥" इसलिए जो भगवान् की शरण में जाते हैं वे ही अपुनरावृत्ति (फिर लौटकर नहीं आना) पद को पाते हैं ॥४॥

उस अव्यय पद के पानेवालों के और विशेषणों को बताते हैं। मान अर्थात् गर्व और मोह अर्थात् अनात्म वस्तु में आत्माभिमान रहित होना अर्थात् इन पुरुषों से अहंकार और मोह निकल गया है, ऐसे लोग राग और द्वेष को जीत लिये हैं, सदा अध्यात्म अर्थात् आत्म ज्ञान में निरत हैं और इनकी कामनायें निवृत्त हो गई हैं। फिर सुख-दुःख के पैदा करने वाले होने से सुख-दुःख रूप गर्म ठंडा आदि द्वन्दों से ये पुरुष छूट गये हैं। इसलिये ये अमूढ़ हैं अर्थात् आत्म और अनात्म के अविवेक से रहित है। भाव यह है कि इनको आत्म और अनात्म का विवेक है। ऐसे पुरुष उस अव्यय को प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्व अध्याय में कथित आत्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं। उस अवस्था में उनका धर्म भूत ज्ञान आवरण रहित अर्थात् विभु हो जाता है और उसी को ब्रह्म भाव पद कहा गया है ॥५॥

तदेवं पदं विशिनष्टि—न तदिति। तत्पदं प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं सूर्यो न भासयते न प्रकाशयति, न शशाङ्कः, न पावकोऽग्निरपि, यथा प्राकृतं सर्वं वस्तु दिवा सूर्यो भासयति सूर्यास्तमये निशि चन्द्रः भासको भवति, उभयोरप्यभावेऽग्निरपि प्रकाशको दृष्टः तदात्मस्वरूपं न कोऽपि प्रकाशयितुं समर्थः। तत्र हेतुर्गर्भितविशेषणम्—तद्धामेति। धाम ज्योतीरूपं ज्योतीरूपत्वादित्यर्थः। सूर्योदयस्तु जडमेव प्रकाशयन्ति नतु स्वयम्प्रकाशमितिभावः। प्राकृतज्योतिर्व्यावर्त्तयति—परमिति। तमसः परमित्यर्थः "आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि"ति श्रुतेः। अत एव यद्गत्वा प्राप्य न निवर्त्तन्ते पुनः संसारिणो न भवतीत्यर्थः। एतत्परमधामपदार्थस्य परमात्मसाधारण्यात्तदैक्यभ्रान्तिः स्यात्तां वारयति—ममेति। तत्परमं धाम न परं ब्रह्म, नापि ततः स्वतन्त्रमत्यन्तभिन्नं, किन्तु मम मदीयशक्तिरूपांश इत्यर्थः।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

ननु यदि परमधामशब्दोदितोऽनवच्छिन्नज्ञानोऽसंसार्यात्मा तवांशश्चेत्तर्हि संसारे वर्त्तमानः परिच्छिन्नज्ञानो जीवाख्यः कस्यांशः, स्वतन्त्रः परतन्त्रो वेत्याशङ्क्याह—ममैवांश इति। योऽयं जीवलोके वर्त्तमानो जीवभूतः प्राणोपाधियुक्तः स ममैवांशः शक्तिरूपांश एव नतु स्वतन्त्रः। "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतामि"त्युक्तत्वात्। शक्तेः शक्तिमतः स्वरूपभेदेऽपि पृथक्-

---

उस पद का वर्णन करते हैं—

प्रकृति से वियुक्त आत्म स्वरूप को न सूर्य प्रकाश करता है न चन्द्र और न अग्नि। जैसे प्राकृत वस्तुओं को दिन में सूर्य प्रकाशित करता है और सूर्य के न रहने पर चन्द्रमा प्रकाशित करता है। और दोनों के न रहने पर अग्नि प्रकाशित करता है उस प्रकार आत्म स्वरूप को कोई भी प्रकाश नहीं कर सकता क्योंकि आत्म स्वरूप स्वयं ज्योति रूप है। भाव कि सूर्यादि जड़ वस्तु को प्रकाशित कर सकते हैं स्वयं प्रकाश वस्तु को नहीं। फिर इस आत्म स्वरूप की ज्योति प्राकृतिक नहीं है बल्कि पर है अर्थात् प्रकृति मंडल से परे है जैसा श्रुति कहती है—"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।" इसलिये इस परधाम को प्राप्त कर जीव फिर इस संसार में नहीं आता, इस परधाम पदार्थ का परब्रह्म के साथ समता होने के कारण एकता की भ्रान्ति न हो जाय इसलिये भगवान् कहते हैं कि यह परंपद परब्रह्म नहीं है, यह स्वतन्त्र भी नहीं है किन्तु मेरा शक्तिरूप अंश है ॥६॥

यदि परधाम से कथित अनवछिन्न ज्ञानयुक्त असंसारी आत्मा आपका अंश है तो संसार में स्थित परिछिन्न ज्ञानवाला जीव किस का अंश है? वह परतन्त्र है या स्वतन्त्र? इन्हीं शङ्काओं का उत्तर यहां देते हैं।

इस जीवलोक में प्राणोपाधियुक्त लिंग शरीरवाला जो संसारी जीव समूह है वह मेरी पराशक्ति रूप का ही अंश है, स्वतन्त्र नहीं है। पीछे कहा भी है "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे

स्थित्यभावाद्भेदस्यैव सम्भवात्पूर्वं सप्रमाणं निरूपितत्वाच्च। केचित्तु जीवः स्वरूपेण ब्रह्मैव, जीवत्वमस्याविद्योपाधिकृतं सूर्यस्य जले प्रतिबिम्बत्वमिव घटावच्छिन्न आकाश इव च। जलघटाद्युपाध्यपाये बिम्बरूपसूर्यमहाकाशतापत्तिमात्रत्ववत् अविद्योपाध्यपाये निरुपाधिब्रह्मस्वरूपतापत्तिमात्रमेवावशिष्यते इत्याहुः, तन्निरासयति—सनातन इति। न हि प्रतिबिम्बोऽवच्छिन्नो वा सनातनो भवति प्रमाणाभावात्। प्रतिबिम्बो नानादौ उपाधिजत्वात्, सूर्यादिप्रतिबिम्बवत्। किञ्च सावयव एव जलदर्पणाद्युपाधौ प्रतिबिम्बदर्शनान्न निरवयवे उपाधौ प्रतिबिम्बो दृष्टः श्रुतोऽनुभूयते वा। प्रकृतेऽप्यविद्यारूपस्य बुद्धिरूपस्य वोपाधेर्निरवयवत्वात् कथं तत्र प्रतिबिम्बत्वकल्पनं, बुद्धेः सावयवत्वाङ्गीकारे "अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश, उत्क्रान्तिगत्या गतीनां, नाणुरतश्चुत्तेरिति चेन्नेतराधिकारादि" त्याद्यणुत्वप्रतिपादकेषु श्रुतिसूत्रेषूपाध्यणुत्वनिरूपितजीवाणुत्वमिति प्रतिपादितसिद्धान्तभङ्गेन जीवस्य प्रतिबिम्बत्वानुपपत्तिः। सावयवत्वेऽणुत्वप्रतिपादकश्रुतिसूत्रविरोधाद्भ्रान्ति-

---

पराम् जीव भूताम्"। शक्ति का शक्तिमान् से स्वरूप भेद होने पर भी उसकी पृथक् स्थिति प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये दोनों में भेदयुक्त अभेद सम्बन्ध ही सम्भव है, यह प्रमाण के साथ पीछे कहा गया है। कोई कोई ऐसा मानते हैं कि जीव स्वरूप से ब्रह्म ही है। उसका जीवत्व अविद्यारूपी उपाधिकृत है जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है और घड़ा में जैसे आकाश अवच्छिन्न रूप से स्थित हो जाता है वैसे ही अविद्यारूपी उपाधि में परब्रह्म को जीवत्व प्राप्त हो जाता है। जैसे जल और घटरूपी उपाधि के नाश हो जाने पर बिम्बरूप सूर्य और अवच्छिन्न घटाकाश नहीं रह जाता, प्रतिबिम्ब सूर्य में घटाकाश महाकाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अविद्यारूपी उपाधि हट जाने से निरुपाधि ब्रह्म की स्वरूपता उस उपाधि युक्त जीव को प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जीवत्व नष्ट होकर उसको ब्रह्म स्वरूपता शेष रह जाती है।

इस मत को निर्मूल करने के लिए भगवान् कहते हैं कि यह जीव सनातन है। यह निश्चय है कि प्रतिबिम्ब अथवा किसी वस्तु से घिरा हुआ पदार्थ सनातन नहीं हो सकता क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। प्रतिबिम्ब अनादि नहीं है क्योंकि सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के ऐसा इसका भी होना उपाधि के वश है। फिर प्रतिबिम्ब सावयव पदार्थ में ही होता है जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल आदर्पण रूप उपाधि में होता है। निरवयव उपाधि वा पदार्थ में प्रतिबिम्ब होना न सुना गया न देखा गया न अनुभव में आता है। वास्तव में अविद्या रूप वा बुद्धिरूप उपाधि निरअवयव है इसलिये उसमें प्रतिबिम्ब की कल्पना कैसे की जा सकती है? और यदि बुद्धि को सावयव मानें तो श्रुति सूत्र के "अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यो, यस्मिनप्राणः पंचधाः संविवेश, उत्क्रान्तिगत्या गतीनां, नाणुरतश्चुत्तेरिति चेन्नेतराधि कारात्" आदि जीव के अणुत्व प्रतिपादक वाक्यों में उपाधि के अणुत्व से जीव का अणुत्व जो प्रतिवादी द्वारा प्रतिपादन किया गया है उस सिद्धान्त का भंग हो जायगा। इससे जीव का ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होना किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं होता। उपाधि के निरअवयव होने पर हो ही नहीं सकता और उपाधिके सावयव मानने पर अणुत्व प्रतिपादक श्रुतिसूत्रों का विरोध पड़ता

परिकल्पित एव जीवप्रतिबिम्बवाद इत्यलं विस्तरेण । स जीवोऽनादिकर्मवशतया विषयभोगवासनानुविद्धः प्रकृतौ प्रकृतिकार्येऽहङ्कारे लीनतया स्थितानि पुनस्तत्तत्कर्मानुरूपं कालेन प्रादुर्भावितानि मनःषष्ठं येषां तानि श्रोत्रादीन्द्रियाणि भोगसाधनार्थं कर्षति गृह्णाति । जीवभूत इत्येकवचनं जात्यभिप्रायकं, बहुत्वस्य वाक्यशतैर्निरूपितत्वात् ।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

कदा कर्षति कृत्वा च किं करोति इत्यपेक्षायामाह—शरीरमिति । यदा शरीरान्तरमवाप्नोति यस्माच्च शरीरादुत्क्रामति तदा ईश्वरो देहेन्द्रियस्वामी एतानीन्द्रियाणि गृहीत्वा संयाति सम्यगागच्छति प्राप्नोति । क इव वायुराशयात्पुष्पचन्दनकस्तूर्यादेः सकाशाद्गन्धानिव ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

तानीन्द्रियाणि यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदर्शयति—श्रोत्रमिति । श्रोत्रादिघ्राणान्तानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि चकाराभ्यां षष्ठं मनः कर्मेन्द्रियाणि प्राणं चाधिष्ठाय विषयान् शब्दादीनुपसेवते उपभुङ्क्ते ।

है । इसलिये जीव को प्रतिबिम्ब मानना बिल्कुल भ्रान्तियुक्त कपोल कल्पना है । यह जीव अनादि कर्म के वश होने से विषयभोग वासना से बंधा हुआ प्रकृति के कार्यरूप अहंकार में लीन काल पाकर कर्मों के अनुरूप आविर्भूत होनेवाली श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों को और छठा मन को खींचता अर्थात् अपने भोग के साधन के लिए ग्रहण करता है । जीव में एक वचन का प्रयोग जाति अर्थ में हुआ है । जीव के अनन्त होने में सैकड़ों श्रुतिस्मृति के वाक्य हैं जिनको पीछे निरूपण कर चुके हैं ॥७॥

जीव इन्द्रियों को कब खींचता है और खींचकर क्या करता है, इसका उत्तर देते हैं :—

जब जीव कर्मवश दूसरा शरीर प्राप्त करता है और पूर्व शरीर से निकलता है तब वह जो देह इन्द्रियों का ईश्वर है पूर्व शरीर से इन इन्द्रियों को ग्रहण कर सम्यक् रीति से दूसरे शरीर को प्राप्त करता है । मतलब कि जीव जब एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जाता है तो पहले शरीर से मन, प्राण और पंचतन्मात्रासहित इन्द्रियों को साथ ले दूसरे शरीर में उपस्थित होता है ठीक उसी तरह जिस भांति वायु, फूल, चन्दन कस्तूरी आदि गन्ध के आश्रयों से गन्ध लेकर चलता है ॥८॥

उन इन्द्रियों को जिस मतलब के लिये जीव ग्रहण करता है उसको बताते हैं :—कान, आँख, त्वचा, जीभ, घ्राण, मन, कर्मेन्द्रियां और प्राण को आश्रय करके वह विषयों को भोगता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

एवं देहे वर्त्तमानमपि सर्वविषयभोक्तारमपि जीवं केचिदेव पश्यन्ति, नतु सर्वे इत्याह—उत्क्रामन्तमिति । उत्क्रामन्तं देहाद्देहान्तरं गच्छन्तं स्थितं वाऽपि तस्मिन्नेव देहे शब्दादीन्विषयान्भुञ्जानं वा गुणान्वितं सत्त्वादिगुणपरिणामविशेषदेवमनुष्याद्याकारसंयुक्तं विमूढा आत्मानात्मविवेकानर्हा नानुपश्यन्ति देहादिविलक्षणं न विजानन्ति । देवमनुष्यादिदेहरूपमेवात्मानं जानन्ति । शास्त्राचार्योपलब्धं ज्ञानमेव चक्षुर्येषां ते ज्ञानचक्षुषस्ते तु देहेन्द्रियादिविविक्ताकारं पूर्वोक्तं ज्योतीरूपमेव पश्यन्ति ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

तस्य पुनर्दुर्दर्शतामुपपादयति—यतन्त इति । योगिनो ध्यानादिभिरुपायैर्यतन्तः यत्नं कुर्वन्तः केचिदेनमात्मानमात्मनि देहेऽवस्थितं देहाद्विविक्तरूपं पश्यन्ति । अकृतात्मानो मत्प्रपत्तिमन्तरेण स्वज्ञानाभिमानेनाशोधितान्तःकरणा अत एवाचेतसः तत्त्वावलोकनानर्हचेतस एनमात्मानं न पश्यन्ति ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

एवं मुक्तबद्धोभयविधक्षेत्रज्ञस्वरूपं मच्छक्तिरूपांशविभूतिरित्युक्तमिदानीं सर्वशक्तिमत्स्वरूपमुपदेष्टुं तावत्सर्वजगच्छ्रेयोहेतुभूतादित्यचन्द्राग्न्यादीनामपि स्वविभूतित्वमाह—यदादित्येति चतुर्भिः ।

इस प्रकार देह में वर्त्तमान और सब विषयों के भोक्ता जीव को भी कोई ही कोई देखते हैं सब नहीं । इसको कहते हैं । एक देह से दूसरी देह में जाते हुए वा उसी देह में स्थित हो शब्दादि विषयों को भोगते हुए वा सत्त्वादि गुण के परिणाम विशेष देव, मनुष्यादि आकार से युक्त इस जीव को, आत्म अनात्म के विवेक से शून्य मूढ़ लोग नहीं देखते हैं अर्थात् उसको देहादि से विलक्षण नहीं जानते बल्कि देव मनुष्य आदि की देह ही को आत्मा समझते हैं । जो शास्त्र और आचार्य द्वारा ज्ञान चक्षु पाये हुए हैं वे ही केवल देह, इन्द्रियों से पृथक् इस आत्मस्वरूप ज्योति को देखते हैं ॥१०॥

आत्मदर्शन की कठिनता फिर बताते हैं ध्यानादि उपायों से प्रयत्न करते हुए कोई योगी लोग देह में स्थित इस आत्मा को देह से पृथक् देखते हैं । जो लोग मलिन आत्मावाले हैं अर्थात् मेरी शरण से अलग हैं और अपने ज्ञान के अभिमान से मलिन अन्तःकरणवाले हैं और इसलिये तत्त्व दर्शन के अयोग्य बुद्धियुक्त हैं वे चेष्टा करने पर भी इस आत्मा का दर्शन नहीं पाते ॥११॥

मुक्त और बद्ध दोनों प्रकार के जीव का स्वरूप मेरा ही शक्ति रूप अंश है और मेरी ही विभूति है यह पीछे कहा । अब उपदेश करेंगे कि मैं ही सर्वशक्तिमान हूँ और जगत् के श्रेय के हेतु भूत, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि सब मेरी विभूति हैं ।

अखिलं जगदवभासते यदादित्यगतमादित्ये स्थितं तेजः यच्च रात्रौ चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो मामकं मदीयमेव विभूतिभूतं विद्धि । तत्तदधिकारार्थं तत्तदाराधनप्रसन्नेन मयैव दत्तमिति जानीहि ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

सर्वजगदाधारभूतायाः पृथिव्या आधारकत्वशक्तिरपि मदीयैवेत्याह—गामाविश्येति । गां पृथ्वीमाविश्य चराचराणि भूतानि ओजसा स्वाभाविकबलेनाहमेव धारयामि । तथा रसात्मकः अमृतमयः सोमो भूत्वा अहमेव सर्वा ओषधीः पुष्णामि ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

किञ्च—अहमिति । अहं सर्वेश्वरो वैश्वानरो जाठराग्निर्भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः सन् तैर्भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति चतुर्विधमन्नं पचामि । "अयमग्निर्वैश्वानरोऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" इति श्रुतेः । तत्र यद्दन्तैश्चूर्णीकृत्य भक्ष्यते पूपमोदकादि तद्भक्ष्यं, यत्तु दन्तावघातं विनैव जिह्वयाऽवलोड्य निगीर्यते यवागूसक्तुपायसादि तद्भोज्यं, यच्च केवलं जिह्वया रसास्वादेन निगीर्यते तद्द्रवीभूतं द्रव्यं गुडमध्वादि तल्लेह्यं, यत्तु दन्तैर्निष्पीड्य रसांशं निगीर्याविशिष्टं त्वगण्ट्यादि त्यज्यते तच्चोष्यं, यथाऽऽम्रेक्षुदण्डादीति ।

सूर्यगत तेज जो समूचे जगत् को प्रकाश करता है, रात में चन्द्रमा का तेज और अग्निमें स्थित तेज सबको मेरा ही अर्थात् मेरी विभूति ही जानो । उन लोगों की आराधना से प्रसन्न हो उन लोगों के अधिकार निर्वाह के लिये उनका तेज मेरा ही दिया हुआ जानो ॥१२॥

सब जगत् की आधारभूत पृथिवी की आधारकत्व शक्ति भी मेरी ही है, यह कहते हैं :—

पृथिवी में प्रवेश कर चर और अचर जीवों को अपने स्वाभाविक बल से मैं ही धारण करता हूँ और रसात्मक अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर मैं ही सब औषधियों का पोषण करता हूँ ॥१३॥

मैं सर्वेश्वर जठर की आग होकर प्राणियों की देह में स्थित और प्राण, अपान आदि वायु से युक्त हो मनुष्यों के भोजन किये हुए चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ, जैसा श्रुति कहती है—"अयमग्निर्वैश्वानरोऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते ।" (यह परमेश्वर वैश्वानर अग्नि है । यह जीव के भीतर है । इसीसे अन्न पचता है) । अन्न चार प्रकार का होता है, यथा, भक्ष्य जो दाँतसे पीसकर भोजन किया जाता है, जैसे पूआ, लड्डू आदि, भोज्य, वह जो दाँत से बिना चबाये हुए केवल जीभ से हिला डुला कर निगला जाता है जैसे सत्तु, खीर, जौकी लपसी आदि, लेह्य द्रवीभूत पदार्थ जिसका केवल जीभ द्वारा रस लिया जाय, जैसे गुड़, मधु आदि, और चोष्य, जिसको दाँत से पीसकर और रस चूसकर उसके रेशे आदि फेंक दिये जाँय जैसे ऊँख आदि ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

एवं जगद्यात्रानिर्वाहकादित्यचन्द्रादीनां स्वविभूतित्वमभिधायेदानीं सर्वचेतनाचेतनवस्तुजातस्य भगवदायत्तत्वं स्वस्य च स्वतन्त्रत्वं सर्वधीप्रवर्तकत्वं सर्ववेदवेद्यत्वमाचार्यत्वं चाह सर्वस्य चेति । सर्वस्य ब्रह्मादिप्राणिमात्रस्य हृदि सम्यगन्तर्यामिरूपेण निविष्टः, अतो मत एव हेतोः सर्वस्य पूर्वानुभूतार्थविषया स्मृतिर्भवति । ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजो यथावस्तुविषयानुभवः । अपोहनञ्च स्मृतिज्ञानयोः प्रमोषो मत एव भवति । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । इन्द्राग्निसूर्यमित्रावरुणवाय्वादिप्रतिपादकैरपि वेदैरहमेव वेद्यः मम सर्वात्मत्वात् । तथा च श्रुतयः "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तानि सर्वाणि यमाविशन्ति, सर्वे वेदा यत्रैकी"त्याद्याः । अत एवोक्तं महाभारते "एतमेके वदन्त्यग्निं मरुतोऽन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् । ज्योतींषि शुक्लानि च यानि लोके त्रयो लोका लोकपालास्त्रयो च । त्रयोऽग्नयश्चाहुतयश्च पञ्च सर्वे देवा देवकीपुत्र एव । नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठां यत्र शाश्वती, वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः । वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा । आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते" इत्यादिवाक्यान्यप्यनुसन्धेयानि । वेदान्तकृत् वेदानां नानाविधार्थप्रतिपादनपराणां परस्परं विरुद्धार्थतया संशये जाते अन्तकृत् अविरोधप्रकारेण निर्णयकर्ता सर्वगुरुर्वेदान्तसम्प्रदाय-

---

इस प्रकार जगत् यात्रा के निर्वाहक सूर्य चन्द्र आदि को अपनी विभूति कहकर अब यह कहते हैं कि सब चेतन अचेतन पदार्थ मेरे अधीन हैं, मैं स्वयं स्वतन्त्र हूँ, सबकी बुद्धि का प्रवर्तक मैं हूँ, और सब वेदों का जाननेवाला और आचार्य मैं हूँ ।

ब्रह्मा आदि प्राणिमात्र के हृदय में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हूँ । इस लिये उनको अपने पूर्व की अनुभूतियों की स्मृति मेरे ही कारण होती है । उनके विषय इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान वा अनुभव का कारण भी मैं ही हूँ और उनकी स्मृति और ज्ञान की भूलें भी मेरे ही कारण होती हैं । इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, वायु आदि के प्रतिपादक जितने वेद हैं । उन सबों से मैं ही जाना जाता हूँ क्योंकि मैं इन सब देवताओं का आत्मा हूँ । श्रुति कहती है—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तानि सर्वाणि यमाविशन्ति सर्वे वेदा यत्रैकी भवन्ति" (सब वेद जिस पद को कहते हैं, सब नाम जिसमें एक हो जाते हैं) महाभारत में भी ऐसा ही कहा गया है, यथा—

(कोइ इन भगवान् को अग्नि कहते हैं, कोई मरुत, दूसरे प्रजापति कहते हैं, कोई प्राण और कोई इनको सनातन ब्रह्म कहते हैं । लोक की चमकती हुई ज्योतियाँ, तीनों लोक, लोकपाल, तीनों वेद, तीनों अग्नियाँ, पाँचों आहुतियाँ और सब देव सभी देवकी पुत्र कृष्ण ही हैं । सब वचनों को जिनमें सनातन प्रतिष्ठा है, उनको हमलोग प्रणाम करते हैं । वेद, यज्ञ सब वासुदेव परक हैं । वेद रामायण, पुराण, महाभारत सभी के आदि मध्य और अन्त में सभी जगह हरि भगवान् ही गाये गये हैं) । नाना प्रकार के अर्थों के प्रतिपादक वेदों में परस्पर विरोध पड़ने पर उनकी शंकाओं का नाश कर अविरोध

प्रवर्त्तकोऽहमेव । "नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे" इति श्रुतेः । वेदविच्चाहमेव । सर्ववेदाविरुद्धार्थवित्त्वमेव । नतु मत्तोऽन्यः स्वतन्त्रः कश्चिज्ज्ञातुं समर्थः । मन्निर्णीतार्थं मत्प्रसादान्मदभिधायिनं वेदं यो वेद सोऽपि वेदवित् । अतोऽन्यथा वेदार्थं यो वक्ति न स वेदविदिति भावः ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अहमेव वेदवित् वेदान्तकृच्च न मत्तोऽन्यः कश्चिदतोऽहं मेव सर्ववेदान्तसारं वच्मि—द्वाविमाविति त्रिभिः । इमौ द्वौ पुरुषौ लोके जगति ज्ञेयाविति शेषः । इमौ कौ ? क्षरश्चाक्षर एव चेति । तावेवार्थतो व्याचष्टे—क्षरः सर्वाणीति । सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि जडत्वापरिणामित्वात् क्षरः पुरुषो नश्वरः । अन्नमयः पुरुषश्चेतनाधिष्ठितो देहः क्षरशब्दार्थः । एकवचनं चात्र प्राकृतत्वाविशेषाज्जात्यभिप्रायकम् । अत एव क्षरः सर्वाणि भूतानीति विवृतम् । कूटस्थः कूटे प्रकृतिकार्यभूतशरीरसमुदाये स्थितोऽपि परिणामनाशरहितो नित्यः कूटस्थः पुरुषः अक्षरशब्दवाच्य इत्यर्थः । अत्राप्येकवचनं स्वयं ज्योती रूपत्वेन सामान्याभिप्रायकमेव । "आचार्यप्रोक्ता या जातिः सा नित्या साऽजराऽमरे"ति सनत्सुजातोक्तेः ।

रूप से निर्णय कर्त्ता मैं ही हूँ : इसीलिये मैं वेदान्तकृत् हूँ । श्रुति कहती है—नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ।" (वेदान्त से जानने योग्य गुरु और बुद्धि के साक्षी को मैं नमस्कार करता हूं) । वेदवित् अर्थात् वेद को जाननेवाला भी मैं ही हूं । सब वेदों के अविरुद्ध अर्थ को मैं ही जानता हूं । मुझसे दूसरा, स्वतन्त्र कोई वेद के अर्थ के जानने में समर्थ नहीं हो सकता । मेरे द्वारा निश्चित किये हुए वेद के अर्थ को जो मेरी कृपा से जानता है वह भी वेदवित् है । भाव यह है कि मेरे निर्णीत अर्थ से अन्यथा जो वेद का अर्थ कहता है वह वेदवित् अर्थात् वेद का जाननेवाला नहीं है ॥१५॥

मैं ही वेद का जाननेवाला और उसके अर्थ का निर्णय कर्ता हूँ, मुझसे दूसरा कोई वेद का जाननेवाला नहीं है इसलिए सब वेद और वेदान्त के सार को मैं कहता हूँ ।

इस लोक में दो पुरुष जानने योग्य हैं । एक क्षर और दूसरा अक्षर । अब दोनों पुरुषों का वर्णन करते हैं । ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने शरीर हैं सबको क्षर कहते हैं । जड़ और परिणामी (जिसमें अदल बदल होता रहे) होने से यह क्षर पुरुष (पुरुष) नश्वर है । भाव यह है कि अन्नमय पुरुष अर्थात् चेतन वा जीव अधिष्ठित देह क्षर कहलाता है । जीव के आश्रित होने से और उसी के सम्बन्ध से इसकी पुरुष संज्ञा है । सब शरीर प्रकृति के कार्य होने से पांचभौतिक हैं इसलिए क्षर का एक वचन शरीर जाति के अर्थ में व्यवहार हुआ है । कूटस्थ पुरुष को अक्षर कहते हैं । कूट अर्थात् प्रकृति कार्यभूत शरीर समुदाय में स्थित होकर भी अदल-बदल और नाश से रहित है इसलिये जीव की अक्षर संज्ञा है । यहां भी जाति ही अर्थ में अक्षर शब्द एक वचन में व्यवहार हुआ है क्योंकि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये इति यः प्राक् प्रपदनीय आद्यः पुरुष उक्तः । यद्विभूतया आदित्यादि-विभूतीर्निर्दिष्टास्तमेवाह—उत्तम इति । उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्तु क्षराक्षरशब्दनिर्दिष्टाभ्यां द्वाभ्यामन्यो विलक्षणः परमात्मेत्युदाहृतः । परमात्मा भूर्भुवः स्वराख्यं जगदिति । "परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । कोऽसौ परमात्मा य आत्मतया लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति धारयति पालयति च । एवमप्यव्ययोऽविनाशी यत ईश्वरः सर्वलोकनियामकः । तस्माद्भर्तृत्वान्नियम्यत्वाच्च विलक्षणः ।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

उक्तस्य पुरुषोत्तमशब्दस्य यो लोकत्रयमिति यच्छब्देनान्यत्र भ्रान्ति वारयन्नात्मन्येव निर्वचनेन समन्वयमाह यस्मादिति । यस्मात् क्षरं पुरुषं योग्यभूतं सर्वभूतात्मकंजडमतीतोऽहम्, अक्षरात् कूटस्थाद्भोक्तृविज्ञानमयपुरुषादपि उत्तमः उत्कृष्टः, तस्यापीशनशीलत्वात् । "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च, प्रधान-क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश"इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतोऽहं लोके वेदे च पुरुषोत्तमः प्रथितः प्रख्यातोऽस्मि । अत्र लोक्यते

ज्योति वा ज्ञान रूप से सब चेतन समान हैं। सनत्सुजात का वचन है—"आचार्यप्रोक्ता या जातिः सा नित्या साऽजराऽमरा।" (जो जाति आचार्य द्वारा कही गई वह नित्य, अजर और अमर है) ॥१६॥

"तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत' से पीछे जिस आदि पुरुष की शरण में जाना कहा और सूर्य आदि जिनकी विभूति कहे गये उन्हीं को यहां कहते हैं :—

सबसे जो उत्कृष्ट है वह क्षर और अक्षर से पूर्व में कहे गये दोनों पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण है और वह परमात्मा कहा जाता है। "परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः" (श्रुति स्मृतियां कहती हैं कि परमात्मा सबका ईश्वर है)। वह परमात्माः भूः, भुवः और स्वः तीनों लोक में प्रवेश कर उनको धारण और पालन करता है। ऐसा होते हुए भी वह परमेश्वर अव्यय अर्थात् अविनाशी है क्योंकि वह ईश्वर अर्थात् सब लोकों का नियामक है। इस प्रकार क्षर और अक्षर दोनों पुरुषों का भर्ता और नियामक होने से वह उनसे विलक्षण है ॥१७॥

पुरुषोत्तम शब्द से दूसरे किसी के निर्देश का भ्रम न हो जाय इसलिये इस पुरुषोत्तम शब्द का अपने ही लिये व्यवहृत होना इस श्लोक में बताते हैं। क्योंकि भोग्य भूत जड़ और सर्व भूतात्मक क्षर पुरुष से मैं परे हूं और भोक्ता, विज्ञानमय, कूटस्थ पुरुष (चेतन) से भी उनका मालिक होने से मैं उत्कृष्ट हूं, जैसा कि श्रुति कहती है—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च, प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" (परब्रह्म प्रेरक है, जीव भोक्ता है और प्रकृति भोग्य है। मैं माया और क्षेत्रज्ञ का मालिक और गुणों का ईश्वर हूँ) इसलिये लोक और वेद में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं। लोक का अर्थ है जिससे वेद का अर्थ

इष्यते वेदार्थोज्ञेनेति लोक इतिहासपुराणादिविवक्षितः। तथा च वेदेतिहासपुराणादावित्यर्थः। "स उत्तमः पुरुषः" इति वेदे, इतिहासे च महाभारते सहस्रनामस्तोत्रे "केशवः पुरुषोत्तम" इति प्रसिद्धः। पुराणे तु "विश्वं यतश्चैतदविश्वहेतो नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाये"ति, वैष्णवे "पुराणपुरुषः प्रत्यक्चैतन्यः पुरुषोत्तम" इति। पाद्मे नारदपञ्चरात्रे च "संसारसागरनिमग्नमनन्तदीनमुद्धर्तुमर्हसि हरे! पुरुषोत्तमोऽसी"त्यादिषु प्रथितोऽस्मि।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत! ॥१९॥

एवमुक्तस्य पुरुषोत्तमत्वस्य ज्ञातुः फलमाह—यो मामेति। य एवमुक्तप्रकारेणासम्मूढः। सम्मोहो वस्तुयाथात्म्याविवेकस्तद्रहितोऽसम्मूढः पुरुषत्रयविवेकज्ञानाश्रयः मां पुरुषोत्तमं जानाति स सर्ववित् सर्वं वेद्यं साधनफलविरोध्यादि वेदेत्यर्थः। भगवन्तं वासुदेवं पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञाता सर्वज्ञो भवतीति भावः। "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं स्यात् सर्वं ह पश्यः पश्यती"त्यादिश्रुतेः। एवमेव यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" इति प्रतिज्ञायते चेतनाचेतनात्मके पराऽपरे शक्ती अभिधाय "मत्तः परतरं

जाना जाय, जैसे इतिहास पुराण आदि। भाव कि वेद, पुराण, इतिहास आदि में मैं पुरुषोत्तम कहा गया हूं। वेद कहता है—"स उत्तमः पुरुषः।" (वही परमात्मा उत्तम पुरुष है)। इतिहास, महाभारत और विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र में लिखा है—"केशवः पुरुषोत्तमः" (केशव पुरुषोत्तम है)। पुराण का वचन है—"विश्वं यतश्चैतदविश्वहेतो नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय।" जिससे यह विश्व हुआ है, जो विश्व का कारण है उस पुरुषोत्तम को मैं नमस्कार करता हूं)। विष्णु पुराण में कहा है—"पुराण पुरुषः प्रत्यक्चैतन्यः पुरुषोत्तमः।" पुराण पुरुष जीव को चेतना देनेवाला और पुरुषोत्तम है। पद्मपुराण और नारदपञ्चरात्र में लिखा है—"संसारसागरनिमग्नमनन्तदीनमुद्धर्तुमर्हसि हरे पुरुषोत्तमोसि।" (हे हरि! तुम पुरुषोत्तम हो, संसाररूपी सागर में डूबे हुए अनन्त दीनों का उद्धार करने के योग्य हो ॥१८॥

भगवान् को इस प्रकार पुरुषोत्तम जानने के फल को कहते हैं :—

हे अर्जुन! इस प्रकार से जो असम्मूढ़ पुरुष अर्थात् वह पुरुष जिसको वस्तु का यथार्थ ज्ञान है और तीनों पुरुषों क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम) का विवेकयुक्त ज्ञान है मुझ पुरुषोत्तम को जानता है वह सबका जाननेवाला है, अर्थात् वह साधन, फल और विरोधी आदि सब पदार्थों को जानता है। भाव कि भगवान् वासुदेव को जो पुरुषोत्तम करके जानता है वह सर्वज्ञ हो जाता है। श्रुति कहती है—"येनाश्रुतं श्रुतंभवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्यात् सर्वं ह पश्यः पश्यति" (जिसको देखनेवाला सर्वज्ञ हो जाता है और उसको बिना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, बिना मनन किया हुआ भी मनन किया हुआ हो जाता है, और बिना जाना हुआ भी जाना हुआ हो जाता है।) इस प्रकार जानकर कुछ जानने के लिये उसको बच नहीं जाता। ऐसे ही यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते"

नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जये"त्युक्तत्वात्। अत एव सर्वभावेन मां भजति सर्वप्रकारोदितेन मद्भजनेन वाङ्मनःकायकर्मभिर्वा सेवते हे भारत ! अन्यस्य मन्नियम्याक्षरपुरुषान्तर्गतत्वेन विद्वद्भजनीयत्वाभावात्। तथोक्तं महाभारते "रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः। ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कञ्चिदुपाश्रितः। ममाश्रयो न कञ्चित्तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम्। ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः। प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यतः परिमितं फलमि"ति।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ !।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ! ॥२०॥

एवं वेदेतिहासपुराणादिसारार्थं उक्तः। इदानीमुक्तार्थं स्तुवन्नध्यायमुपसंहरति—इतीति। इत्थनेन प्रकारेण गुह्याद्गुह्यतममतिरहस्यमिदं शास्त्रं सर्वगीतार्थसङ्ग्रहरूपं मयोक्तं, यतो हे अनघ ! त्वं निष्पापतयोपदेश्य एव। एतन्मदुक्तं सर्वशास्त्रार्थगुह्यतममन्योऽपि कश्चिद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् परमश्रेयस्कामैरुपादेया या बुद्धिः सोपात्ता स्यात्। कृतकृत्यश्च कृतं कृत्यं येन पुनः कृत्यान्तरं यस्य

(जिसको जानकर कुछ जाननेको बाकी नहीं रह जाता)। इस प्रकार प्रतिज्ञा कर भगवान् ने फिर चेतन अचेतन, अपनी परा अपरा शक्ति को कहा है कि "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय" अर्थात् हे अर्जुन ! मुझ से दूसरी कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। इसलिये मुझ को पुरुषोत्तम जाननेवाला पुरुष सब भाव से मुझ को भजता है अर्थात् शास्त्र में कहे हुए सब प्रकारों से मेरा भजन करता है अथवा वाक् मन, शरीर और कर्मों से मेरी सेवाकरता है, क्योंकि अक्षर पुरुष से कहे गये हुए जीव, मेरे नियम्य होने से विद्वानों के भजन के योग्य नहीं हैं। महाभारत में भी ऐसा ही कहा गया है—

"रुद्रं समाश्रिता देवाः रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः।
ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कञ्चिदुपाश्रितः॥
ममाश्रयो न कञ्चित्तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम्।
ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः।
प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यतः परिमितं फलम्॥"

देवलोक शिव के आश्रित हैं, शिव ब्रह्मा के आश्रित हैं और ब्रह्मा मेरे आश्रित हैं, मैं किसी के आश्रित नहीं हूँ। हे राजन् ! मैं किसी के आश्रित नहीं हूँ सब मेरे आश्रित हैं। ज्ञानीलोग ब्रह्मा, शिव या और देवताओं की सेवा नहीं करते क्योंकि वे परिमित फल के देनेवाले हैं ॥१९॥

इस प्रकार वेद इतिहास पुराणादि का सार कहा। अब कहे हुए अर्थ की स्तुति कर अध्याय समाप्त करते हैं :—इस प्रकार अति रहस्य और गोपनीयों से भी गोपनीय इस सब गीता के सार अर्थ को संक्षेप से मैंने कहा। हे पापरहित ! (अनघ कहने का भाव यह है कि पापरहित होने से तुम इस ज्ञान के उपदेश के अधिकारीहो) हे अर्जुन ! इस अतिगुह्य, सर्व शास्त्रों के अर्थ को जानकर कोई भी बुद्धिमान होगा अर्थात् परमश्रेय (मुक्ति) की हितकर बुद्धि से युक्त होगा, वह कृतकृत्य हो जायगा अर्थात् उसको

नावशिष्येत्तथा स्यादित्यर्थः। हे भारत यद्यन्योऽप्येतन्मदुक्तं सम्यग्बुद्ध्वा कृतार्थो भवति, तर्हि त्वमुत्तमकुलप्रसूतो मच्छिष्यश्चैतद्बुद्ध्वा कृतार्थो भविष्यसीति किमुत वक्तव्यमिति भावः।

य एव वेदवेद्यश्च शास्त्रतत्त्वोपदेशकः।
क्षराक्षरपदार्थाभ्यां चिदचिद्भ्यां विलक्षणः ॥१॥
सर्वगः परमात्मा च भास्करादिविभूतिमान्।
पुरुषोत्तमसञ्ज्ञो हि तं श्रीकृष्णं समाश्रये ॥२॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

कुछ भी करने को बाकी नहीं रह जायगा। भाव यह कि जब कोई भी मनुष्य इस मेरे कहे हुए को सम्यक् प्रकार से जानकर कृतार्थ हो जाता है तबतुम तो हे अर्जुन! इसको जानकर कृतार्थ होगे ही इसमें पूछना क्या है क्योंकि तुम उत्तम कुल में उत्पन्न हो और मेरे शिष्य हो ॥२०॥

स एव वेदवेद्यश्च शास्त्रतत्त्वोपदेशकः।
क्षराक्षर-पदार्थाभ्यां चिदचिद्भ्यां विलक्षणः॥
सर्वगः परमात्मा च भास्करादि विभूतिमान्।
पुरुषोत्तमसञ्ज्ञो हि तं श्रीकृष्णं समाश्रये॥

(हमलोग उस कृष्ण की शरण में जाँय जो वेद से जाने जाते हैं, शास्त्रतत्त्व के उपदेशक हैं, क्षर अक्षर पदार्थ से विलक्षण हैं, सबमें स्थित और परमात्मा हैं, भास्कर आदि जिनकी विभूति हैं और जो पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। इस अध्याय का यही सार है।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडशोऽध्यायः

★

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

तदेवं भगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षप्राप्तिसाधनभूतभगवदनन्यभक्तेरन्तरङ्गसाधनतया क्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यं तत्संसृतिहेतुः प्रकृतिगुणसंयोगश्च त्रयोदशे उक्तः । ततो गुणलक्षणबन्धनप्रकारस्तदुत्तरप्रकारेण ब्रह्मभावप्राप्तिश्चतुर्दशेऽभिहिता । पञ्चदशे च संसारस्य वृक्षस्येव वैराग्यशितेन ज्ञानशस्त्रेण छेदनपूर्वकपरमपदप्राप्तिः, प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो मुक्तस्य संसारिणश्च भगवदंशत्वं, भगवतश्चादित्यचन्द्राग्न्यादिविभूतिमत्त्वात् क्षराक्षरपुरुषद्वयवैलक्षण्येन पुरुषोत्तमत्वं, तथा पुरुषोत्तमत्वज्ञातुः सर्वज्ञत्वं भगवद्भक्तत्वं कृतकृत्यत्वं च वर्णितम् । इदानीमुक्तस्य गुह्यतमशास्त्रस्याधिकारिनिर्णयाय "अवजानन्ति मां मूढा" इत्युपक्रम्य "राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः । महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्"ति नवमाध्याय उद्दिष्टयोर्हेयोपादेययोर्दैवासुरसम्पदोर्विवरणभूतः षोडशोऽध्याय आरभ्यते । तत्र राक्षस्यासुर्योः संसरणहेतुत्वाविशेषादेकी-

---

इस प्रकार तेरहवें अध्याय में भगवद् भावप्राप्ति लक्षणवाली मुक्ति की प्राप्ति के साधन अनन्य-भक्ति के अन्तरङ्ग साधन क्षेत्रज्ञ के यथार्थ रूप को और क्षेत्रज्ञ की संसृति के कारण त्रिगुण प्रकृति के संयोग को बताया। फिर चौदहवें अध्याय में गुणों के लक्षण, उनके बाँधने की रीति और उनसे छूटने के प्रकार और ब्रह्मभाव की प्राप्ति को बताया। और पन्द्रहवें अध्याय में संसार वृक्ष का वर्णन और वैराग्य और ज्ञानरूपी तीखे अस्त्र द्वारा उसके छेदन पूर्वक परमपद की प्राप्ति, मुक्त और बद्ध वा संसारी दोनों प्रकार के जीवों का भगवत् अंश होना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि का भगवत् विभूति होना और क्षर और अक्षर पुरुष से विलक्षण होने से भगवान् का पुरुषोत्तम होना और भगवान् के पुरुषोत्तम तत्त्व को जाननेवाले का सर्वज्ञ, भगवद्भक्त और कृतकृत्य होना वर्णित हुआ, और अति गोपनीय शास्त्र के अधिकारी का निर्णय करने के लिए नवें अध्याय में जिसको संक्षेप से "अवजानन्ति मां मूढाः" से आरम्भ कर "राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः । महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः । भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वाभूतादिमव्ययम्" आदि से कहा, उसे छोड़ने और ग्रहण करने योग्य दैवी और आसुरी सम्पद् का विवरण अब इस सोलहवें अध्याय में करेंगे ।

कृत्यासुरीमेवेह परिहाराय निरूपयितुं तावन्मोक्षहेतभूतामुक्तशास्त्राधिकारोपयुक्तामुपादेयां दैवीं सम्पदं श्लोकत्रयेण प्रदर्शयन् श्रीभगवानुवाच—अभयमिति। तत्रागन्तुकदुःखस्य हेतुदर्शनजमन्तर्दुःखं भयं तद्राहित्यमभयं, सत्त्वमन्तःकरणं तस्य संशुद्धिः रागद्वेषादिशून्यता, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः आत्मज्ञानोपाये परिनिष्ठा, दानं स्वधर्मोपार्जितान्नादेः पात्रे प्रतिपादनं, दमोऽन्तःकरणस्य विषय-प्रवणतानिवर्त्तनं, यज्ञो महायज्ञादिः, ब्रह्मयज्ञो जपयज्ञो वा, स्वाध्यायः भगवत्स्वरूपगुणलीलाविभूति-प्रतिपादकरहस्यादिपाठाभ्यासः, तपः उत्तराध्याये वक्ष्यमाणं सात्त्विकं शारीरादिकम्, आर्जवं मनो-वाक्कायवृत्तीनां समत्वम्।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

किञ्च—अहिंसेति। अहिंसा प्राणिमात्रपीडावर्जनं, सत्यं यथादृष्टश्रुतार्थभाषणम्, अक्रोधः अपराधकारिणि सन्निहितेऽप्यविकृतचित्तत्वं, त्यागः अन्याभिकाङ्क्षितस्य प्रियस्यापि वस्तुनो दातृत्व-शक्तिः, शान्तिरिन्द्रियवृत्तिरोधनम्, अपैशुनं परोक्षे परदोषप्रकाशनवर्जनं, भूतेषु दया दुःखासहिष्णुता, अलोलुत्वम् अलोलुपत्वं पकारलोप आर्षः ज्ञानेन्द्रियाणां विषयेष्वचाञ्चल्यमित्यर्थः, मार्दवं कोमल-हृदयत्वं, ह्रीरकार्यकरणे लज्जा, अचापलं प्रयोजनं विनाऽपि कर्मेन्द्रियाणां प्रवर्त्तनं चापलं तदभावो-ऽचापलमित्यर्थः।

राक्षसी और आसुरी सम्पत् दोनों ही संसार में डालने के कारण हैं इसलिये दोनोंको मिलाकर यहाँ एक आसुरी ही को छोड़ने योग्य कहकर निरूपण करते हैं। अब यहाँ तीन श्लोकों से मोक्ष के कारण, पीछे कहे गये शास्त्र के अधिकारी बनाने में उपयुक्त, और इसलिये ग्रहण करने योग्य दैवी सम्पत् को दिखाते हुए भगवान् बोले। आनेवाले दुःख से जनित अन्तर के दुःख से रहित होना अभय कहलाता है। सत्त्व संशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण का रागद्वेष रहित होना, ज्ञानयोगव्यस्थिति अर्थात् आत्मज्ञान के उपाय में खूब लगना, दान अर्थात् स्वधर्म से अपने कमाये हुए अन्नादि को सत्पात्र को देना, दम अर्थात् अन्तःकरण को विषय की ओर जाने से रोकना, यज्ञ का अर्थ महायज्ञादि अथवा ब्रह्मयज्ञ वा जपरूपी यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् भगवत् स्वरूप, गुण लीला, विभूति के प्रतिपादक, रहस्य ग्रन्थों का पाठ, तप अर्थात् आगे कहे जानेवाले सात्त्विक शरीर से किये जानेवाले तप और आर्जव अर्थात् मन, वचन, कर्म की समता ॥१॥

प्राणीमात्र को पीड़ा न देना अहिंसा है। जैसा देखा वा सुना वैसा ही कहना सत्य है। अपराधी निकट में रहने पर भी चित्त में विकार न होने देना अक्रोध है। दूसरे से अभिलषित अपनी प्यारी वस्तु को भी दे डालने की शक्ति को त्याग कहते हैं। इन्द्रियों की वृत्ति को रोकना शान्ति है। पीठ पीछे दूसरे का दोष प्रगट न करने को अपिशुनता कहते हैं। जीवों का दुःख नहीं सह सकना दया कहलाती है। ज्ञानेन्द्रियों की विषयों में अचंचलता अलोलुपता है। (श्लोक में जो अलुलप्त्वं का 'प्'

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥३॥

किञ्च—तेज इति । तेजः प्रागल्भ्यं दुर्जनैरभिभवितुमशक्यत्वं, क्षमा सामर्थ्ये सत्यपि स्वापराधकारिणं क्रोधाकरणं, धृतिः आपद्यपि स्वधर्मादचलनेन कर्त्तव्यावधारणं, शौचं बाह्याभ्यन्तरशोधनम्, अद्रोहो मनोवाक्कायैः परस्यानिष्टकर्तृत्वाभावः, नातिमानिता आत्मनि पूज्यत्वातिशयाभिमानोऽतिमानिता तदभावो नातिमानिता, एते अभयादयो गुणा दैवीं सम्पदमभिजातस्य भवन्ति । देवा भगवदाज्ञानुवर्त्तिनस्तेषां सम्बन्धिनी सम्पद्दैवी भगवन्नियोगैकवृत्तिस्तामभिजातस्य तदाभिमुख्येन जातस्य तामभिलक्ष्य जातस्य भाविश्रेयस्कस्य पुंसो भवन्तीत्यर्थः ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

एवमुपादेयां सम्पदमुक्त्वा हेयामासुरीं सम्पदं सङ्क्षिप्यैकेन श्लोकेनाह—दम्भ इति । दम्भो धार्मिकत्वख्यापनाय किञ्चिद्धर्माचारः, दर्पो धनविद्यादिनिमित्तमौद्धत्यम्, अभिमानः अभिजात्यादिनिमित्त आत्मन्यतिश्रेष्ठत्वाभिनिवेशः, क्रोधः परपीडाहेतुरभिज्वलनात्मकश्चित्तविकारः, पारुष्यं रूक्षवदनेनाप्रियवाचित्वम्, अज्ञानं तत्त्वातत्त्वकृत्याकृत्यविवेकशून्यत्वं, चकारोभयसत्त्वाशुद्धचकृत्यादिदोषाणां

लुप्त है वह आर्षप्रयोग है । कोमल हृदय होना मार्दव है । बुरा काम करने में लज्जा ही ह्री कहलाती है और कर्मेन्द्रियों की बिना प्रयोजन की प्रवृत्ति को रोकना अचपलता है ॥२॥

दुर्जनों से हराया न जाना तेज है । बल रहते भी अपराधियों पर क्रोध नहीं करना क्षमा कहलाता है । आपद् में भी अपने धर्म से अविचलित हो अपने कर्त्तव्य पर डटे रहने को धृति कहते हैं । बाहर भीतर की पवित्रता शौच है । मन वचन कर्म से किसी का अनिष्ट नहीं करने को अद्रोह कहते हैं । अपने विषय में पूज्यत्व भाव रखकर अति अभिमान नहीं करना नातिमानिता कहलाती है । हे अर्जुन ! ये अभय आदि गुण दैवी सम्पद्वाले में होते हैं । भगवदाज्ञा के अनुवर्त्ती लोगों की जो सम्पत्ति होती है जो भगवान् की आज्ञा में एक वृत्तिवाले हैं, दैवी सम्पद् के सन्मुख होकर उत्पन्न हुए हैं और जिनका भविष्य अच्छा है ॥३॥

इस प्रकार ग्रहण करने योग्य दैवी सम्पद् को कह अब एक श्लोक से संक्षेप में छोड़ने योग्य आसुरी सम्पद् को कहते हैं ।

अपनी धार्मिकता प्रसिद्ध करने के लिए धर्म का दिखावटी आचरण करना दम्भ है । धन और विद्या के कारण जो घमण्ड होता है उसको दर्प कहते हैं । ऊँची जाति में जन्म आदि के कारण अपने को श्रेष्ठ मानना अभिमान कहलाता है । दूसरे को पीड़ा देने के लिए जो ज्वलनात्मक चित्त का विकार होता है उसे क्रोध कहते हैं । रूखे मुख से कठोर वचन बोलना परुषता है । तत्त्व अतत्त्व और कृत्य अकृत्य के विवेक से शून्य होने को अज्ञान कहते हैं । 'च' से और भी हेयगुणों का बोध कराया, जैसे शरीर और

समुच्चयार्थः। एते दोषा आसुरीं सम्पदमभिजातस्य भवन्ति। असुरा भगवदाज्ञाविपरीताचारशीलास्तेषां सम्बन्धिनी सम्पदासुरी तामभिलक्ष्य जातस्य तामेवाभिवर्त्तयितुं जातस्य भवन्तीत्यर्थः।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव! ॥५॥

उभयोः सम्पदोः कार्यभेदमाह—दैवी सम्पदिति। दैवी उक्तलक्षणा भगवदाज्ञानुवृत्तिरूपा सम्पद्विमोक्षाय संसाराद्विशेषेण मोक्षाय उक्ततत्त्वज्ञानद्वारेण भगवद्भावापत्तये भवति। आसुरी भगवदाज्ञाविपरीताचारवृत्तिर्निबन्धाय नितरां बन्धः संसारस्तस्मै नितरामासुरीराक्षसीयोनिषु पातायैव मता। शास्त्रज्ञैरिति शेषः। एवं श्रुत्वाऽहं कतरां सम्पदमभिजातोऽस्मीति सन्दिग्धचित्तमर्जुनमालक्ष्याश्वासयति—मा शुच इति। हिंसकधर्मक्षत्रियकुलजात आसुरीं सम्पदमभिजातः स्यामिति शङ्कया शोकं मा कृथाः। यतस्त्वं दैवीं सम्पदमभिलक्ष्य जातोऽसीति एतदेव सम्बोधनेन बोधयति—हे पाण्डवेति। धार्मिकाग्रेसराणां भरतकुरुप्रभृतीनां कुले जातस्य पाण्डोस्तनयस्त्वमपि धार्मिक एव न त्वासुरप्रकृतिरिति भावः।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ! मे शृणु ॥६॥

ननु राक्षसीं प्रकृतिमासुर्यामन्तर्भाव्य दैव्यासुरसम्पदद्वयनिरूपणेन तद्वत्तया देवा असुराश्च निर्दिष्टाः स्यादेवं "त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुरा" इति श्रुतौ मनुष्याः पृथङ्निर्दिष्टास्ते कस्याः

मन की अशुद्धि, अधीरज आदि। ये दोष हे अर्जुन! आसुरी सम्पद् में स्थित वा उत्पन्न मनुष्यों के होते हैं। भगवदाज्ञा के विपरीत चलनेवाले असुर हैं। उन्हीं की सम्पद् आसुरी सम्पद् है। इस सम्पद् से युक्त मनुष्यों में ये ऊपर कहे हुए दोष पाये जाते हैं ॥४॥

अब दैवी और आसुरी सम्पदाओं का कार्य भेद बताते हैं। भगवदाज्ञा के अनुकूल वृत्ति वाला सम्पद्, जिसके लक्षण पीछे कहे हैं, तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष अर्थात् भगवत् भाव को प्राप्ति कराता है। और भगवदाज्ञा के विरुद्ध आचरण वाला आसुरी सम्पद् सदा के लिए बन्धन में अर्थात् संसार में डालता है और आसुरी और राक्षसी योनियों में गिराता है। यह शास्त्र के जाननेवालों का मत है। ऐसा सुन अर्जुन के मन में सन्देह हुआ कि मैं कौन सम्पद्वाला हूँ। भगवान् ऐसा जान उनको आश्वासन देते हुए बोले। हे अर्जुन! तुम यह समझ कि मैं हिंसक धर्मवाले क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हूँ इसलिये आसुरी सम्पद्वाला हूँ, शोक मत करो क्योंकि तुम दैवी सम्पद् से युक्त जन्म लिये हो। इसलिए अर्जुन को पाण्डव सम्बोधन करते हैं। मतलब कि धार्मिकों में श्रेष्ठ भरत, कुरु आदि राजाओं के वंश में उत्पन्न पाण्डु के तुम पुत्र हो इससे तुम धार्मिक हो। आसुरी सम्पद्वाले तुम नहीं हो सकते ॥५॥

राक्षसी सम्पद् आसुरी के ही अन्तर्गत है इसलिए आसुरी और दैवी दो सम्पद् कही गयी और दोनों से युक्त देव असुर हुए। पर श्रुति मनुष्य जाति को देव और असुर से पृथक् कहती है, यथा—"त्रयः

कोटावन्तर्भवन्तीत्यत आह—द्वाविति। अस्मिन्लोके देवासुरत्वसाधके कर्माधिकारके मनुष्यलोके भूतसर्गौ मनुष्यसर्गौ द्वौ द्विप्रकारौ भवतः। कौ ? दैव आसुरश्च। एवकारेणान्यसर्गव्यवच्छेदः। देवा असुराश्चेति द्विविधा एव मनुष्याः राक्षसाश्चासुरान्तर्गता एवेत्यर्थः। प्राचीनशुभाशुभकर्मवशाद्भगवदाज्ञानुवर्तनाय तद्विपरीताचरणाय चोत्पत्तिकाल एव दैवासुरस्वभावा मनुष्या जायन्ते इति भावः। तत्र शुभवासनावान् जन्मसमये भगवत्कटाक्षावलोकितश्चेत् शमदमदयाऽहिंसादिसात्त्विकवृत्तिनिष्ठो दैव इति ज्ञेयः। अशुभवासनावान् जन्मसमये ब्रह्मरुद्राद्यवलोकितश्चेत् कामक्रोधलोभमोहहिंसामात्सर्यादिरजस्तमोवृत्तिस्थोऽधर्मपरायणोऽसुर इति ज्ञेयः। तथोक्तं मोक्षधर्मे "जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः। पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः। रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतमि"ति। विष्णुधर्मे शौनकेनाप्युक्तं "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैवो विपरीतस्तथाऽऽसुर"इति। तत्र दैवो दैवीसम्पदाश्रयो विस्तरशः प्रोक्तः सप्तमे नवमे द्वादशे। अमानित्वादिगुणवान् त्रयोदशे, गुणातीतलक्षणो चतुर्दशे, "निर्मानमोहा" इत्यादिना पञ्चदशे च अभयमित्यादिनाऽऽद्यापुक्तः। आसुरम् असुराणां यथाप्रवृत्तिस्वभावस्तं मनुष्यसर्गं हे पार्थ! मे मत्तः शृणु।

प्राजपत्याः देवाः मनुष्याः असुराः" (ब्रह्मा से उत्पन्न तीन हैं, देव, मनुष्य और असुर) तब मनुष्य जाति किसके अन्तर्गत है ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ देते हैं।

देवत्व और असुरत्व के साधक इस कर्म भूमि मनुष्य लोक में दो प्रकार की मनुष्य सृष्टि है, दैवी और आसुरी। 'एव' का अर्थ है कि तीसरी प्रकार की सृष्टि नहीं है। भाव कि दो ही प्रकार के मनुष्य होते हैं, देव और असुर स्वभाववाले। राक्षस मनुष्य असुर मनुष्य के अन्तर्गत हैं। प्राचीन शुभ और अशुभ कर्मों के वश से जन्मकाल ही से देव और असुर स्वभाववाले मनुष्य पैदा होते हैं। एक का स्वभाव है भगवान् की आज्ञाओं का उल्लंघन करना। इसको यों समझना चाहिये। जो शुभ वासना वाले हैं उन पर उनके जन्मकाल में भगवान् की कृपाकटाक्ष पड़ती है जिससे वे शम, दम, अहिंसा आदि सत्त्व गुणों की वृत्ति से युक्त देव स्वभाववाले होते हैं। और जो अशुभ वासनावाले हैं उन पर उनके जन्म समय में : ब्रह्मा और : शिव की दृष्टि पड़ती है इसलिये वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, मात्सर्य आदि राजसिक और तामसिक गुणों की वृत्ति से युक्त असुर स्वभाववाले होते हैं। महाभारत के मोक्ष पर्व में ऐसा कहा गया है—

अर्थात् जन्म लेते समय जिस पुरुष को मधुसूदन देखते हैं उसको मोक्ष का चिन्तन करनेवाला और सात्त्विक जानो और जन्म के समय में जिस पर ब्रह्मा वा शिव की दृष्टि पड़ती है उसका मन रजोगुण और तमोगुण से ओतप्रोत रहता है। विष्णुधर्म में शौनक ने भी कहा है—

अर्थात् इस लोक में मनुष्य की दो प्रकार की सृष्टि है, एक आसुरी और दूसरी दैवी। दैवी सम्पद्वालों का वर्णन विस्तार रूप से सातवें, नवें और बारहवें अध्याय में कहा गया है। तेरहवें

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

प्रतिज्ञातमासुरसर्गमेव विस्तरशो निरूपयति—प्रवृत्तिमित्यादिद्वादशभिः श्लोकैः । प्रवृत्तिं त्रिवर्गसाधनं प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं, चकाराभ्यामुभयविधधर्मप्रतिपादकमुभयविधं शास्त्रं च आसुरा आसुरीं सम्पदमभिजाता जना न विदुर्न जानन्ति । अत एव तेष्वासुरेषु शौचं प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मोपयोगिबाह्याभ्यन्तरं तथा आचारोऽपि येनाचारेण वैदिकेन सन्ध्यावन्दनादिना तच्छौचं जायते, स न विद्यते "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेदि"ति स्मृतेः । सत्यं च यथादृष्टश्रुतार्थभाषणं श्रुतिस्मृत्यात्मकं शास्त्ररूपं प्रमाणं वा तेषु न विद्यते । बन्धमोक्षज्ञानहीना अशौचा अनाचारा अनृतभाषिणः असुराः प्रसिद्धास्तथाविधा मनुष्या अप्यसुरा ज्ञेया इत्यर्थः ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥८॥

अत एव—असत्यमिति । तस्मात्तेषु दृष्टादृष्टसर्ववस्तुज्ञापकं श्रेयोबोधकं शास्त्रं न विद्यतेऽत एव ते असत्यमप्रतिष्ठमनीश्वरं च जगदाहुः । तत्र "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, सत्पदाच्चाचरस्य, भावे

अध्याय में भी उनके अमानिता आदि गुण, चौदहवें में उनका सत, रज तम गुणों से अतीत होना, पन्द्रहवें में मान मोह से रहित होना आदि बताया गया है। इस अध्याय में भी उनके अभय आदि गुण बताये गये हैं। हे अर्जुन ! अब तुम मुझ से आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यों की सृष्टि के विषय में सुनो ॥६॥

ऊपर श्लोक में प्रतिज्ञा की हुई असुर सृष्टि को विस्तारपूर्वक भगवान् कहते हैं :—

आसुरी सम्पद् में पैदा हुए मनुष्य त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म, काम) के साधक प्रवृत्ति धर्मों को और मोक्ष के साधक निवृत्ति धर्मों को, और दोनों प्रकार के धर्मों के प्रतिपादक शास्त्रों को नहीं जानते इसलिये ऐसे मनुष्यों में प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मोंमें उपयोगी बाहर भीतर की पवित्रता नहीं रहती, और जिस वैदिक सन्ध्या वन्दनादि आचार द्वारा पवित्रता होती है वह भी नहीं रहता क्योंकि स्मृति कहती है—"सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्" अर्थात् सन्ध्याहीन पुरुष अपवित्र और सब कर्मों के अयोग्य होता है। जो काम वह करता है उसका फल उसको नहीं मिलता। ऐसे मनुष्यों में सत्यता, (अर्थात् जैसा सुना वा देखा गया वैसा ही कहना अथवा श्रुति स्मृति रूप शास्त्र प्रमाण को मानना) नहीं रहती। असुरों के जो अवगुण प्रसिद्ध हैं यथा, बन्धमोक्ष के ज्ञान से हीनता अपवित्रता, अनाचार, झूठ बोलना आदि वे सभी दोष इन आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यों में पाये जाते हैं ॥७॥

क्योंकि आसुरी सम्पद् वाले देखी और अनदेखी वस्तुओं को बतानेवाले और श्रेय (मोक्ष) के बोधक शास्त्रों को नहीं मानते इसलिए वे जगत् को असत्य, बिना आश्रय का और कर्त्ता नियन्ताहीन कहते हैं। श्रुति कहती है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (हे शिष्य ! इसके आगे सत् ही था)। वाद-

चोपलब्धेः, ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्"त्यादिभिः सत्यत्वेनोक्तमपि असत्यं कालत्रयेऽपि सत्ताशून्यं सत्यतया भानं भ्रान्त्येत्याहुः, न चासदेवेदमग्र आसीदिति श्रुतौ असद्व्यपदेशस्यापि विद्यमानत्वात्कथं सत्यमिति चेन्न "असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषादि"ति सूत्रेण अव्याकृतत्वरूपेण वा धर्मान्तरयोगेनासच्छब्दार्थस्य सूत्रकारेणैव निरूपितत्वात्। "तत्सदासीदि"ति वाक्यशेषे सत्यत्वाभिधानात्। तथा "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या। चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगदि"त्यादिशास्त्रान्मदाधारकम्, अप्रतिष्ठं नास्ति परमात्मा ब्रह्म प्रतिष्ठा यस्य तदप्रतिष्ठ-

---

रायण ने सूत्र में लिखा है—"सत्त्वाच्चावरस्य" (सत् से कार्य की उत्पत्ति है क्योंकि कारण में कार्य था), "भावेचोपलब्धेः" (कारण में होने ही से कार्य की उत्पत्ति होती है) और भगवान् ने भी पीछे इस गीता ही में कहा है—'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' (ऊपर मूल और नीचे शाखावाला अश्वत्थ वृक्षरूप यह संसार सत् और अव्यय है)। पर आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य इन श्रुति सूत्र स्मृति के प्रमाणोंको नहीं मानते वे कहते हैं यह संसार असत्य है, तीनों काल में सत्ताशून्य है, उसका सत्य के ऐसा मालूम पड़ना केवल भ्रान्ति है। वे श्रुति का प्रमाण भी अपने मत की पुष्टि में देते हैं यथा—'असदेवेदमग्र आसीत्' इसके पहले असत् ही था) और कहते हैं कि जब श्रुति जगत् को असत् कहती है तो यह सत्य कैसे ठहरा? पर उनकी यह समझ भूल से भरी है क्योंकि सूत्रकार ही फिर कहते हैं—"असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" (जगत् को असत्य नहीं जानो। जगत् को असत्य धर्मान्तर से कहा गया है। उसी छान्दोग्य की अन्त की श्रुति से जगत् सत्य है, यह स्पष्ट है)। भाव यह है कि सूत्रकार ने जगत् की असत्यता अव्याकृत रूप से (पहले प्रकट नहीं था पीछे से सृष्टिकाल में प्रकट हुआ) वा परिणामी होने से (संसार अवस्था बदलता रहता है एक रूप में नहीं रहता) अथवा धर्मान्तर के योग से (कारणावस्था में कार्य कारण में सूक्ष्म रूप से था इसलिए न दीखने के कारण असत् कहा गया है। ऊपर में जिस वाक्य शेष का उल्लेख किया गया है वह यह है—"तत्सदासीत्" (जगत् सत्य ही था)। फिर यह बात जो आसुरी सम्पद्वाले मानते हैं कि संसार की ब्रह्म में प्रतिष्ठा नहीं है यह भी भ्रममूलक है क्योंकि जगत् सत्प्रतिष्ठ है इसमें भी शास्त्रप्रमाण है यथा 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वा प्रजा सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" (हे शिष्य! इस सब जगत् का मूल सत् है, सत् ही इसका घर है और सत् में इसकी प्रतिष्ठा है)। "बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या। चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥" (बुद्धि, मन, महत्, वायु, तेज, जल, आकाश, पृथ्वी, चारों प्रकार के अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, और उद्भिज जीव सभी श्रीकृष्ण में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् वही उन सबके आधार हैं)। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (इस समूचे जगत् में मैं अपने एक अंश से व्याप्त हूँ)। फिर जो यह कहा गया कि जगत् अनीश्वर है अर्थात् उसका कर्त्ता, शासनकर्त्ता, अन्तरात्मा और अधिष्ठाता कोई नहीं है यह भी असत्य है, क्योंकि जगत् का कारण ईश्वर है। इसके भी शास्त्र प्रमाण मौजूद

मित्याहुः। तथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, अहं सर्वस्य प्रभवो मतः सर्वं प्रवर्तते। अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा, ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्। जगद्वशे वर्त्ततेऽदः कृत्स्नस्य सचराचरम्" त्यादिशास्त्रान्मत्कार्यं मन्नियम्यं मदात्मकं मदधिष्ठितं च, अनीश्वरं न विद्यते ईश्वरः कर्त्ता शास्ताऽन्तरात्माऽधिष्ठाता वा यस्य तदनीश्वरमित्याहुः। तर्हि कुतो जगदुत्पत्तिं वदन्तीत्यत आह—अपरस्परसम्भूतमिति। अपरञ्च परश्चेत्यपरस्परं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुरुषयोः संयोगात्सम्भूतं मनुष्यपश्वादिसर्वं जातमित्यर्थः। किमन्यत्कामहैतुकं कामहेतुकमेव कामहैतुकं स्त्रीपुरुषयोः कामात् किमन्यज्जगतः कारणं? न किञ्चदपि दृष्टमित्यर्थः। दृष्टातिरिक्तमदृष्टं धर्माधर्मेश्वरादिकं कारणं न मन्यन्ते इति भावः।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

ततश्च—एतामिति। एतां तेषां नास्तिकानां दृष्टिं दर्शनमवष्टभ्याश्रित्य नष्टात्मानः नष्टो देहातिरिक्त आत्मा येषां ते तथा देहातिरिक्तात्मज्ञानाभावात्। अतोऽल्पबुद्धयः अल्पे नश्वरे प्रत्यक्षसिद्धे देहे पञ्चेन्द्रियविषये वा बुद्धिर्येषां तेऽल्पबुद्धयः, आत्मानात्मविवेकाभावाद्विपरीतज्ञाना इत्यर्थः। उग्रकर्माणः उग्रं हिंसादिबहुलं कर्म येषां ते तथा अत एवाहिता वैरिणः सन्तो जगतः क्षयाय प्रभवन्ति।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

हैं यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (जिससे सब प्राणी प्रकट हुए)। "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।" "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां।" 'सर्वात्मा' ससुरासुर गन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्। जगद्वशे वर्त्ततेऽदःकृत्स्नस्य सचराचरम्" आदि। यदि ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई तो इसकी उत्पत्ति हुई कैसे? आसुरी सम्पद्वाले इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि यह जगत् पर और अपर अर्थात् पुरुष और स्त्री के संयोग से हुआ। ऐसे ही संयोग से मनुष्य, पशु आदि सब उत्पन्न हुए हैं। स्त्री पुरुष की कामवासना को छोड़ इस जगत् का दूसरा कारण क्या हो सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं क्योंकि दूसरा कारण दीखता नहीं। भाव यह है कि ये लोग दृष्ट पदार्थ के अतिरिक्त अदृष्ट धर्म, अधर्म, ईश्वर आदि कारणों को नहीं मानते ॥८॥

नास्तिकता के दर्शन का अवलम्बन कर ये नष्टात्मा हैं, अर्थात् इनका आत्मा नष्ट हो गया है नाम देहादिक से भिन्न आत्म स्वरूप को ये भूले हुए हैं और इसलिए अल्प अर्थात् नश्वर पदार्थों में जैसे देहादिक वा इन्द्रिय विषयों में इनकी बुद्धि है अर्थात् आत्म और अनात्म का विवेक नहीं होने से इनको उल्टा ज्ञान है। और ये उग्र अर्थात् हिंसा आदि दुष्कर्मों के करने वाले हैं और वेद विरुद्ध कूट-युक्तियों से जगत् को वेद और ईश्वर से भ्रष्ट करते हैं और इसलिए जगत् के अहित वा बैरी हैं और जगत् के नाश के लिये इनका जन्म होता है ॥९॥

किञ्च—काममिति। दुःपूरं दुःखेनापि पूरयितुमशक्यं काममाश्रित्य दम्भमानमदैरन्विताः मोहादविवेकादसद्ग्राहान् अशुभनिश्चयान् गृहीत्वा उपादाय अशुचिव्रता अशुचीनि मद्यमांसादिविषयाणि व्रतानि येषां तथा भूताः क्षुद्रदेवताराधनादौ प्रवर्तन्ते।

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ॥११॥

किञ्च—तामिति। जीवनस्य श्वस्तनस्याप्यनिश्चयाच्चिन्तां तु अपरिमेयामनियत्तया मातुमशक्यां प्रलयान्तां मरणान्तामुपाश्रिताः सदा चिन्ताविष्टचित्ता इत्यर्थः। तथा कामोपभोगपरमाः। कामोपभोग एव परमः पुरुषार्थो येषां पुनरेतावदिति निश्चिताः। इतोऽधिकः पुरुषार्थो नास्तीति कृतनिश्चयाः।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥

अत—एवाशेति। आशा एव पाशास्तैर्शतैर्बद्धाः इतस्तत आकृष्यमाणाः कामक्रोधपरायणाः क्रामक्रोधमात्रपरमाश्रया आसुरा भवन्तीत्यर्थः एतावता असुराणां लक्षणमुक्तमिदानीं तत्प्रवृत्तिमाह—ईहन्त इति। कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यप्राणिवधादिनाऽर्थसञ्चयान् प्रति ईहन्ते चेष्टन्ते।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

तेषामर्थतृष्णां तन्मनोरथकथनेन विवृणोति—इदमद्येति। इदं धनक्षेत्रादिकं मया बुद्धिबल-

---

कठिनता से पूरी होनेवाली कामनाओं का आश्रय करके, दम्भ, मान और अहंकार से युक्त हो मोह से दुराग्रहों को अङ्गीकार करके ये लोग क्षुद्र देवता की आराधना आदि में प्रवृत्त होते हैं। भाव यह है कि मोह से यह समझ करके कि इस मन्त्र से इस देवता की आराधना कर यह फल पावेंगे और इस भाँति के और और दुराग्रहों को स्वीकार कर प्रवृत्त होते हैं। फिर ये अशुचि व्रतवाले होते हैं अर्थात् मांस मद्य आदि का सेवन इनका व्रत वा नियम है ॥१०॥

जीवन के एक स्वांस का भी भरोसा न रहने पर भी मरण पर्यन्त परिमाण रहित चिन्ता में तत्पर अर्थात् चिन्ता से सदा भरे हुए चित्तवाले और और काम के उपभोग को परम पुरुषार्थ समझने वाले और यह निश्चयपूर्वक जाननेवाले कि इस कामोपभोग के अतिरिक्त दूसरा श्रेष्ठ पुरुषार्थ नहीं है ॥११॥

आशारूपी पाश से सैकड़ों भाँति वा खूब कस के बँधे हुए अर्थात् आशा से इधर उधर खींचे जाते हुए और काम और क्रोध का आश्रय किये हुए आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य ऐसे ही होते हैं। अब उनकी प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं। कामभोग के लिये ये अन्याय से अर्थात् चोरी, डकैती, प्राणीवध आदि द्वारा द्रव्य बटोरने की चेष्टा करते हैं ॥१२॥

उनकी धनतृष्णा उनके मनोरथों द्वारा वर्णन करते हैं। यह धन खेतादि मैंने अपने बल पौरुष

सामर्थ्यवता स्वसामर्थ्येनैव लब्धं न दैवादिना, इदञ्च धनं मनोरथं मनोऽभिलषितं स्वपौरुषेण प्राप्स्ये। इदं धनं स्वसामर्थ्यसञ्चितं मम गृहेऽस्ति। इदमपि मदुपायसाध्यं पुनर्भविष्यति।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

किञ्च—असाविति। असौ मदीर्ष्युर्दुर्जयः शत्रुः सर्वसामर्थ्यवता मया हतः। एवमपरानपि शत्रूनहं शूरो हनिष्यामि। दुर्बला हि दैवादिकं समाश्रयन्ते नाहं तथा, यत ईश्वरोऽहम्। स्वाधीनोऽहमितरेषां नियन्ताऽस्मि। अहं भोगी स्वत एव प्राप्तसर्वभोगः। सिद्धोऽहं पुत्रमित्रभृत्यादिभिरज्ञानदुर्बलैः स्वतोऽपि बलवान् सुखी सर्वव्याधिरहितः।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

किञ्च—आढ्य इति। आढ्यो धनधान्यसम्पन्नः, अभिजनवानुत्तमकुले प्रसूतोऽहमेवास्मि। अतः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया, न कोऽपीत्यर्थः। ननु केचिद्यज्ञदानादिना कीर्तिमन्तो दृश्यन्ते श्रूयन्ते च तत्सादृश्यं स्यादत आह—यक्ष्य इति। यक्षपिशाचादीन् यक्ष्ये। दास्यामि स्तावकेभ्यो नटादिभ्यः। अतो यज्ञेन दानेनाप्यहमेव सर्वेषां कीर्तिमभिभूयोत्कृष्टो भविष्यामीत्यर्थः। तत्रञ्च मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामि सखीजनैः सह। इत्येवमाद्यज्ञानेन विमोहिता विविधं मोहं वृथा मनोरथरचनात्मकं भ्रमं प्राप्ताः पतन्ति नरकेऽशुचावित्युत्तरेणान्वयः।

से प्राप्त किया है, देवता की कृपा से नहीं। यह मनवांछित धन मैं अपने पौरुष से प्राप्त करूँगा। मेरे सामर्थ्य से अर्जित यह धन मेरे घर में है। फिर मेरे उपायों से ही यह धन भी मुझे प्राप्त होगा ॥१३॥

अपने से ईर्ष्या करनेवाले और दुर्जय शत्रु को अपने सामर्थ्य से मैंने मारा। इसी भाँति और शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। दुर्बल लोग दैव का भरोसा करते हैं। मैं वैसा नहीं हूँ क्योंकि मैं ईश्वर अर्थात् स्वाधीन और सबका नियन्ता हूँ। मैं भोगी हूँ अर्थात् मुझ को सब भोग आप से आप प्राप्त हैं। मैं सिद्ध हूँ। पुत्र, मित्र, नौकर आदि मेरी आज्ञा के अधीन हैं। मैं स्वयं बलवान और सुखी हूँ और सब व्याधियों से रहित हूँ ॥१४॥

मैं धनधान्य सम्पन्न हूँ और उत्तम कुल में उत्पन्न हूँ, इसलिये दूसरा कौन मेरे समान है, अर्थात् कोई नहीं। यदि यह कहो कि यज्ञ दानादि से दूसरे भी कीर्तिमान देखे वा सुने जाते हैं और इसलिए वे मेरे बराबर हैं तो मैं भी यक्ष पिशाचादिकों का यज्ञ करूँगा और भाट, नर्त्तक आदि को दान दूँगा। इस प्रकार मैं भी यज्ञ, दान द्वारा सब कीर्तिमानों में श्रेष्ठ बन जाऊँगा। साथियों के साथ हर्ष प्रकट करूँगा। इसी प्रकार के अज्ञानों से ये आसुरी सम्पद्वाले विमोहित रहते हैं अर्थात् वृथा मनोरथों के चक्र में पड़ अपवित्र नरकों में गिरते हैं ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

एवं ते किं फलं प्राप्नुवन्तीत्यपेक्षायामाह—अनेकेति । सर्वकर्मफलप्रदात्रीश्वरसाहाय्यमृते स्वस्यैव सामर्थ्यमवकल्प्यैतत्कुर्यामित्थं कुर्यामिदमनुभूयामित्यनेकचित्तविभ्रान्ता अनेकेषु विषयेषु चित्तं तेन विभ्रान्ता विक्षिप्ता एवं मोहरूपेण जालेन समावृताः सूत्रमयेन जालेनावृता मत्स्या इव कामभोगेषु प्रसक्ता अभिनिविष्टाः सन्तोऽशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे रौरवादौ नरके पतन्ति ।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाऽविधिपूर्वकम् ॥१७॥

यक्ष्य इत्यादिना यस्तेषां यज्ञदानाद्यभिमान उक्तः । सोऽपि केवलं धर्मध्वजित्वाय नतु शास्त्रविधिविषय इत्याह—आत्मसम्भाविता इति । आत्मनैव सम्भाविताः आत्मनैवात्मानं श्रेष्ठं मन्यमाना अत एव स्तब्धा अनम्राः । तत्र हेतुः—धनमानमदान्विताः । धनेन मानो गर्वः मदश्चोद्धर्षस्ताभ्यामन्विताः सन्तस्ते नामयज्ञैर्याज्ञिका दीक्षिता इति यष्टृत्वख्यापनाय ये यज्ञास्ते नामयज्ञाः, अथवा नामयज्ञैर्नाममात्रयज्ञैर्यज्ञाभासैर्यजन्ते । कथं ? दम्भेन, नतु सात्त्विकश्रद्धया । अविधिपूर्वकं विधिहीनं यथा भवति तथेत्यर्थः ।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अविधिपूर्वकत्वं (च) स्वभावविपरीत्यादित्याह—अहङ्कारमिति । अनात्मनि पाञ्चभौतिके

आसुरी प्रकृतिवाले जिस फल को पाते हैं उसको कहते हैं । सब फल के देनेवाले ईश्वर की सहायता के बिना ही अपने सामर्थ्य के द्वारा मैं यह करूंगा, इस भांति करूंगा और इस प्रकार से अनुभव करूंगा, इस प्रकार के अनेक विषयों में भ्रान्त चित्तवाले, सूत के जाल से घिरीहुई मछलियों के समान मोहरूपी जाल से घिरे हुए और काम भोगों में आसक्त ये आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपवित्र अर्थात् मल मूत्रादि से भरे हुए रौरव आदि नरकों में गिरते हैं ॥१६॥

ऐसे लोग धर्मध्वजी कहलाने के लिए ही यजादि करते हैं शास्त्र की विधि पालने के लिये नहीं । इसी बात को यहां कहते हैं :—

ये लोग अपने आप ही अपने को बड़ा मानते हैं इसलिये ये उद्दण्ड होते हैं । इसका कारण यह है कि ये धन और मान के गर्व से चूर रहते हैं । इसीलिये जो ये यज्ञ करते हैं वह केवल याज्ञिक वा यज्ञ-दीक्षित की ख्याति पाने के लिये । अथवा इनके यज्ञ केवल नाममात्र के हैं यथार्थ यज्ञ नहीं, क्योंकि ये दम्भ से, अर्थात् सात्त्विक श्रद्धा से नहीं और अविधि पूर्वक करते हैं ॥१७॥

अविधि पूर्वक होने में कारण, स्वभाव का विपरीत होना आदि वर्णन करते हैं :—

पांचभौतिक शरीर में आत्मा का अभिमान करना अहङ्कार है । दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की

आत्मत्वाभिमानोऽहङ्कारस्तं संश्रिताः। बलं परपीडाकरणसामर्थ्यं, दर्पं दर्पो नाम स्वस्य पूज्यत्वातिशयबुद्धयाऽन्यानादरस्तं, कामं स्त्र्यादिभोगासक्तिं, क्रोधं स्वपरसन्तापजननरूपमरतर्ज्वलननेतान् दोषान् संश्रिताः मामीश्वरमात्मपरदेहेषु तत्तद्बुद्धिसाक्षितया वर्त्तमानं प्रद्विषन्तो मच्छासनातिक्रमः प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः अभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्त्तिनां सतां गुणेषु दोषारोपकाः।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

एवमासुराणां प्रवृत्तिं स्वभावं चोक्त्वेदानीं तेषां नित्यसंसृतिरूपामधोगतिं फलमाह—तानिति द्वाभ्याम्। तान् मां साधूंश्च द्विषतः क्रूरानत्युग्रस्वभावान् संसारेषु जन्ममरणादिमार्गेषु तत्राप्यासुरीष्वेव योनिषु अजस्रं निरन्तरं क्षिपामि। तत्स्वभावानुगुणमुत्तरोत्तरं क्रूरबुद्धिमेव तेषां वर्द्धयामीत्यर्थः।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

ततस्ते—आसुरीमिति। मूढा विवेकशून्यामच्छासनविपरीताचरणाश्रयां योनिमापन्नाः जन्मनि पुनः पुनस्तमोबहुलास्वेव जायमाना मां सर्वेश्वरं सर्वकर्मफलप्रदातारमप्राप्यैव गुरुशास्त्रोपदेशाभावेन अस्ति परमेश्वरो भगवान्वासुदेवः सर्वाराध्य इति ज्ञानमप्राप्यैव ततो मद्विषयाज्ञानादधमां श्वशूकरादियोनिरूपां गतिं फलं यान्ति, प्राप्नुवन्ति।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

शक्ति को बल कहते हैं। अपने विषय में अति पूज्य बुद्धि होने से दूसरों का अनादर करने को दर्प कहते हैं। स्त्री आदि के भोग में आसक्ति को काम कहते हैं। अपने और दूसरों में भीतर का सन्ताप रूप जलन जिससे पैदा हो वह क्रोध है। इन दोषों से युक्त हो, उनके और दूसरों के देह में बुद्धि के साक्षीरूप से वर्त्तमान, मुझ ईश्वर से द्वेष करते हुए अर्थात् मेरे शासन को नहीं मानते हुए वे सन्मार्ग में चलनेवालों में दोषारोपण करते हैं ॥१८॥

असुरों की प्रवृत्ति और स्वभाव कह चुके। अब उनको स्वभाव के फलस्वरूप जो नित्य संसृतिरूप अधोगति मिलती है उसे कहते हैं। मुझ से और सत्पुरुषों से द्वेष करते हुए, उग्र स्वभाववाले उन अशुभ मनुष्यों को संसार में अर्थात् जन्म-मरणादि के मार्ग में और उसमें भी आसुरी योनि में मैं फेंक देता हूँ। भाव यह है कि उनके स्वभाव के अनुकूल उनकी क्रूरबुद्धि ही को सदा बढ़ाता हूँ ॥१९॥

विवेक शून्य, मेरे शासन के विपरीत आचरण के आश्रयवाली योनि को प्राप्त कर, जन्म-जन्म में तम की बहुलता से सब फल के देनेवाले मुझ सर्वेश्वर को नहीं जानता, अर्थात् गुरुशास्त्र के उपदेश के अभाव से "सर्वाराध्य वासुदेव भगवान् हैं"। इस बात को न जानकर, मेरे विषय में ज्ञान न होने के कारण वह अधम कुत्ता, सूअर आदि योनि रूप फल को पाता है ॥२०॥

एवमुक्तः सर्वं आसुर भावः। इदानीं सर्वानर्थस्यासुरीसम्पदश्च मूलं यत्परिहारेण सर्वानर्थः परिहृतो भवति। तत्त्रिविधं परित्यागार्थमाह—त्रिविधमिति। त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य नरकप्राप्तौ इदं द्वारमस्ति। किं भूतं ? आत्मनो नाशनं यद्द्वारं प्रविशन्नेव पुरुषो नश्यति सर्वपुरुषार्थरहितो भवति। किं तत्त्रिकं ? कामः क्रोधस्तथा लोभ इति। यस्मादात्मनो नाशनं नरकस्य द्वारं तस्मादेतत्कामादित्रयं त्यजेत्। यत्नतः परिवर्जयेत्।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

तत्त्यागमेव श्रेयोहेतुत्वेन स्तौति—एतैरिति। एतैः कामक्रोधलोभैस्तमोद्वारैस्तामिस्रान्धतामिस्रादिनरकस्य द्वारभूतैस्त्रिभिर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेयो मोक्षसाधनमाचरति मद्भक्तिज्ञानोपाये यतते। ततो ज्ञानभक्तिपरिपाकात्परां गतिं परमफलं मामेव याति।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

उक्तस्य सर्वस्यासुरभावस्य कामादेस्त्रिविधस्य नरकद्वारस्य च परिवर्जनं श्रेयआचरणं च विधिनिषेधरूपशास्त्रज्ञानाधीनमिति वक्तुं तदनादरेणाचरणं सर्वश्रेयो बाधकमित्याह—यः शास्त्रविधिमिति। यच्छब्देन शास्त्रीयकार्यानुष्ठानाधिकारी सामान्यो गृह्यते। जीवानां हितं शास्ति बोधयतीति

आसुर भाव को कह चुके। अब सब अनर्थों और आसुरी सम्पद् को जो जड़ हैं और जिनको छोड़ने से सब अनर्थ छूट जाते हैं, उनको कहते हैं। नरक प्राप्ति के तीन द्वार हैं। इन द्वारों में प्रवेश करते ही पुरुष का नाश हो जाता है अर्थात् वह सब पुरुषार्थ से हीन हो जाता है। ये तीन हैं काम, क्रोध और लोभ। चूंकि ये पुरुष के नाश के कारण और नरक के द्वार हैं इससे इनको यत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए ॥२१॥

काम, क्रोध, और लोभ का त्याग श्रेय का कारण है, इसको कहते हैं :—

काम, क्रोध और लोभ से, जो तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि नरकों के द्वार हैं, विशेष रूप से मुक्त हो मनुष्य मोक्ष के साधनों का आचरण करता है, अर्थात् मेरी भक्ति और ज्ञान के उपायों में निरत होता है। और भक्ति और ज्ञान के परिपाक होने पर परम फल को अर्थात् मुझ को पाता है ॥२२॥

असुर भाव और कामादि तीन प्रकार के नरक द्वारों को छोड़ना और श्रेय का आचरण करना विधिनिषेध रूप शास्त्रीय ज्ञान के आधीन है। इसलिये यहां यह कहते हैं कि शास्त्र का अनादर करना समस्त कल्याणों का बाधक है।

जो कोई शास्त्रीय कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी, शास्त्र की विधि-निषेध की उपेक्षा कर, अपनी इच्छा से गुणों के कार्य में प्रवृत्त होता है वह साधन सिद्धि को नहीं पाता है अर्थात् कर्मादि उपायों को करता हुआ भी सिद्धिरूप फल को नहीं पाता और सिद्धि के अभाव में इस लोक वा परलोक

शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणेतिहासादितत्सम्बन्धी विधिरित्युपलक्षणं निषेधस्य । तथा चैवं कुर्यादिदं न कुर्यादिति कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषयौ लिङ्लादिशब्दस्तमुत्सृज्योपेक्ष्य कामकारतः स्वेच्छया यो वर्त्तते गुण-कार्येषु प्रवर्त्तते स सिद्धिं साधनसिद्धिं कर्मसिद्धिमपायं कुर्वन्नपि नाप्नोति । सिद्धयभावे न सुखमैहिकामुष्मिकं किमपि प्राप्नोति, न परां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२४॥

फलितार्थमाह—तस्मादिति । यस्माच्छास्त्रानङ्गीकारिणां न किमपि फलं भवति, तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ इदमित्थं वा कार्यमिदमित्थं वा न कार्यमित्यस्यां व्यवस्थायां ते तव दैवीप्रकृतिकस्य शास्त्रं वेदस्तदुपबृंहणस्मृतिपुराणेतिहासादिकं प्रमाणं निश्चायकम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं विहितं प्रतिषिद्धं च धर्ममधर्मं च ज्ञात्वा इह कर्माधिकारे परलोके स्ववर्णाश्रमोचितमेव युद्धादिकं कर्म कर्त्तुं त्वमर्हसि ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्गिजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

आसुरी-सम्पदं हित्वा कामाद्यैः कारणैः सह ।
शास्त्रोक्तमेव कर्त्तव्यमित्यादिष्टं हि षोडशे ॥१॥

के किञ्चित् सुख को भी नहीं पाता । ऐसे मनुष्य को यदि मुक्ति नहीं मिलती तो इसमें कहना ही क्या है ? शास्त्र वह है जो विधि निषेध द्वारा मनुष्य के हित को बताता है, अर्थात् वेद और उस पर अव-लम्बित स्मृति, पुराण, इतिहास आदि जिनमें यह बताया गया है कि मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं ॥२३॥

क्योंकि शास्त्र को नहीं माननेवालों को कोई फल नहीं मिलता इसलिये करने योग्य और न करने योग्य कामों को निश्चय करने में तुम्हारा, जो दैवी प्रकृति से युक्त हो, शास्त्र ही, अर्थात् वेद और उसके अर्थबोधक स्मृति, पुराण इतिहासादि ही प्रमाण होना चाहिये । इसलिये शास्त्र से कहे गये और मना किये गये धर्म और अधर्म को जानकर, कर्म के अधिकार युक्त इस मनुष्य लोक में, अपने वर्णोचित युद्ध आदि कर्मों को तुम्हें करना चाहिये ॥२४॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तदशोऽध्यायः

★

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण ! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

पूर्वाध्याये तत्त्वज्ञानाधिकारार्थं मुमुक्षुणा सत्त्वैकनिष्ठेन भाव्यमित्येतदर्थं हेयोपादेययोर्दैवासुरसम्पदोर्विभागमुक्त्वा तयोर्हेयोपादेयज्ञानासाधारणं कारणं शास्त्रमेवोपादेयं तदुक्तमेव कार्यं तद्विरुद्धं निषिद्धं चाधमगतिदं नाचरणीयमित्यन्तेन, निर्णीतमिदानीं सात्त्विकश्रद्धयाऽनुष्ठितस्यैव श्रेयोहेतुत्वं राजसतामसश्रद्धयाऽनुष्ठितस्यासुरत्वात्संसारहेतुत्वमिति श्रद्धाऽऽहारयज्ञतपोदानादेस्त्रैविध्यदर्शनाय सप्तदशाध्याय आरभ्यते । तत्र ये शास्त्रविधिं कुतश्चित्कारणाद्विहाय शिष्टाचारमात्रेण निषिद्धत्यागपूर्वकं श्रद्धया यज्ञादिकर्मानुतिष्ठन्ति तेषु शास्त्रविध्युपेक्षालक्षणस्यासुरधर्मस्य श्रद्धापूर्वकानुष्ठानलक्षणस्य दैवधर्मस्य च दर्शनात् किं तेऽसुरेष्वन्तर्भवन्ति देवेषु वेत्येककोटिं निश्चेतुमशक्नुवंस्तन्निर्णयबुभुत्सुरर्जुन उवाच—ये

पूर्व के अध्याय में यह कहा गया कि मुमुक्षुओं को तत्त्वज्ञान के अधिकारी होने के लिए सत्व में एकनिष्ठ होना चाहिये। इसलिये वहाँ पर ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य दैवी और आसुरी सम्पद् का विभाग कहा गया। फिर यह भी बताया गया कि ग्रहण और त्याग करने योग्य वस्तुओं का असाधारण कारण शास्त्र ही है। जिस बात का शास्त्र प्रतिपादन करे वही करने योग्य है और जिसको वह हेय समझे वही छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह अधमगति का देनेवाला है। इस बात का निर्णय अध्याय के अन्त में किया गया।

अब इस सत्रहवें अध्याय में यह कहेंगे कि सात्त्विक श्रद्धा से युक्त कर्म ही श्रेय का कारण होता है और राजस और तामस श्रद्धायुक्त कर्म असुरत्व के कारण संसार का हेतु होता है। इससे श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान, आदि सत, रज और तम के अनुसार तीन-तीन तरह के होते हैं। इसीको समझाने के लिए इस अध्याय का आरम्भ करते हैं। जो लोग शास्त्र की विधि को किसी कारण से छोड़कर शिष्टाचार के अनुसार निषिद्ध वस्तु के त्याग पूर्वक श्रद्धायुक्त हो यज्ञादि कर्मों को करते हैं उनमें शास्त्र शास्त्र विधि की उपेक्षा से आसुर धर्म और श्रद्धायुक्त धर्मानुष्ठान करने से दैव धर्म दोनों ही

शास्त्रविधिमिति । ये केचिच्छास्त्रविधिमज्ञानादुत्सृज्य श्रद्धयाऽन्विताः सन्तो यजन्ते देवताराधनादौ प्रवर्त्तन्ते । अत्र ये शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यनेन ये दुःखबुद्धया आलस्याद्वा शास्त्रविधिमुत्सृज्य शास्त्रज्ञाने श्रममकृत्वा केवलं शिष्टाचारपरम्परावशेन श्रद्धयाऽन्विताः सन्तो देवताराधनादौ प्रवर्तमाना गृह्यन्ते । ननु ये शास्त्रं सम्यग् ज्ञात्वा बुद्धिपूर्वकं तमनादृत्य यथेष्टाचारेण वर्त्तमाना गृह्यन्ते । कुतः श्रद्धयाऽन्वितत्वविशेषणात् । आस्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धेत्युच्यते । सा च यथेष्टाचारिणां न सम्भवति । तस्माये शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यत्र पूर्वोक्ता ज्ञेया । तेषां का निष्ठा स्थितिः । हे कृष्णेति सामान्यतः पृष्ट्वा किंशब्देन प्रश्नस्थं विशेषं स्वयमेव व्यनक्ति—सत्त्वमाहो रजस्तम इति । उक्तप्रकारेण देवपूजादौ ये प्रवृत्तास्तेषां सत्त्वादिषु का निष्ठा आश्रयः सत्त्वं ते सत्त्वाश्रयाः आहो स्वित् रजोनिष्ठा रजसि संश्रितास्तमःसंश्रिता वा इति विवेचनीयमिति भावः ।

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

एवम्पृष्टोऽर्जुनसन्देहमपनिनीषुस्तावच्छास्त्रज्ञानवतां तदनुष्ठानाचाराणामनेकजन्मानुष्ठिताऽकाम्यकर्मणां सात्त्विकानां तु श्रद्धा मोक्षोपयोगिनी भगवदाराधनविषयकैकधैव भवति । शास्त्रज्ञानहीनानां

पाये जाते हैं । इन लोगों की गणना असुर कोटि में होनी चाहिए वा देव कोटि में यह अर्जुन निश्चय नहीं कर सके । इसलिए इस बात को जानने के लिए वे भगवान् से बोले ।

जो लोग अज्ञान के कारण शास्त्र की विधि को छोड़ श्रद्धा से युक्त हो यजन अर्थात् देवता आराधनादि करते हैं, ('शास्त्र विधि को छोड़कर' का यह अर्थ मानना चाहिए कि वह मनुष्य दुःख बुद्धि से वा आलस्य से शास्त्र की विधि को छोड़ता है । शास्त्र विधि को जानने के लिये परिश्रम नहीं करता और परम्परा से आये हुए शिष्टाचार के वश हो श्रद्धायुक्त देवाराधनादि में लगता है । शास्त्र को सम्यक् रूप से जानकर और उसका अनादर कर जो शिष्टाचार के वश हो देवाराधन करते हैं उनसे मतलब यहाँ नहीं है, क्योंकि मूल श्लोक में श्रद्धान्वित अर्थात् श्रद्धायुक्त होना लिखा है और आस्तिक बुद्धि को ही श्रद्धा कहते हैं । जिसने शास्त्र का अनादर किया वह श्रद्धायुक्त नहीं कहा जा सकता । स्वेच्छाचारियों में श्रद्धा सम्भव ही नहीं है । इसीसे शास्त्र विधि को छोड़कर पहले से पहिली ही भाँति के लोगों को जानना चाहिए । ऐसे लोगों की क्या निष्ठा वा स्थिति है ? हे कृष्ण ! यह बात सामान्य तरह से पहिली ही भाँति के लोगों को जानना चाहिए ।) ऐसे लोगों की क्या निष्ठा वा स्थिति है ? हे कृष्ण !। यह बात सामान्य तरह से पूछकर अपने प्रश्न का मतलब 'किं' शब्द से अर्जुन स्वयं ही प्रगट करते हैं । वे पूछते हैं कि ऊपर कही हुई विधि से जो लोग देव-पूजादि में प्रवृत्त हैं उनकी निष्ठा सात्विकी है वा रोजगुण आश्रयवाली वा तमोगुण आश्रयवाली इसकी विवेचना होनी चाहिए ॥१॥

इस प्रकार अर्जुन से पूछे जाने पर उनकी शंका को हटाने के हेतु भगवान् बोले कि जो लोग

मोक्षमार्गेऽनधिकृतानां सकामानां जीवानां गुणत्रयविभागेन श्रद्धात्रयविभागं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति। देहिनां परमार्थज्ञानहीनानां प्रवृत्तिमात्रनिष्ठानां मनुष्याणां सर्वेषां श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति। त्रैविध्ये हेतुः—सा स्वभावजेति। स्वभावः स्वकीयप्राचीनकर्मानुगुणो रुचिविशेषस्तस्मादुजाता स्वभावजा। जीवस्य यत्र रुचिविशेषस्तत्र श्रद्धा जायते। श्रद्धा नामायं ममेष्टं साधयेदिति विश्वासपूर्विकैव साधने प्रवृत्तिर्भवति। रुचिश्रद्धाप्रयत्नानां निमित्तभूता अन्तःकरणरञ्जकाः सत्त्वादयो गुणाः कार्यैकगम्या अतस्त्रिविधा भवति। तामिमां त्रिविधां श्रद्धां वक्ष्यमाणां शृणु।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत!।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

सत्त्वानुरूपेति। सत्त्वमन्तःकरणं तदनुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति। सत्त्वादिगुणरञ्जितान्तःकरणभेदाच्छ्रद्धाभेदः। यद्यप्यन्तःकरणस्य सात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वात्सात्त्विकत्वमेव। तथापि तदाप्यायकान्नपानादेः सात्त्विकादित्रैविध्यात्त्रिविधं भवति। तथा च प्राचीनकर्मनिमित्तत्वाज्जन्मत एव केषां चित्सत्त्वगुणप्रधानं, केषाञ्चिद्रजःप्रधानं, केषाञ्चित्तमःप्रधानं, सत्त्वमन्तःकरणं देवयक्षराक्षसां क्रमेण

शास्त्र ज्ञानवाले और शास्त्रानुकूल आचरणवाले हैं और अनेक जन्मों से निष्काम कर्म किये हैं उन सात्त्विक पुरुषों की श्रद्धा मोक्ष के उपयोगी अर्थात् भगवान् की पूजादि विषयक, सदा एक प्रकार की, अर्थात् सात्त्विकी ही होती है। पर जो लोग शास्त्र ज्ञान से हीन, मोक्ष मार्ग के अनधिकारी और सकामी जीव हैं उनकी श्रद्धा गुणों के विभागानुसार तीन प्रकार की होती है। इसीको भगवान् इस श्लोक में कहते हैं :—

देहधारियों (अर्थात् परमार्थ के ज्ञान से हीन और केवल प्रवृत्ति में निष्ठा युक्त मनुष्यों) की श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्त्विकी, राजसी और तामसी। तीन प्रकार के होने में कारण यह है कि वह स्वभाव से उत्पन्न है। स्वभाव का अर्थ है पूर्व में किये गये अपने कर्मों के अनुसार रुचि विशेष। जीव की जिस विषय में विशेष रुचि होती है उसीमें उसकी श्रद्धा होती है। मेरा इससे भलाई होगा—इस विश्वास ही को श्रद्धा कहते हैं और ऐसा होने ही पर किसी इष्ट साधन में मनुष्य प्रवृत्त होता है। रुचि, श्रद्धा, प्रयत्न आदि के कारण अन्तःकरण को (पूर्व किये कर्मों की वासनानुसार) प्रसन्न करने वाले (अर्थात् उसकी रुचि को बढ़ाने वाले) सत्त्वादि गुण ही हैं जो गुणानुसार कार्यों से जाने जाते हैं। इससे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। अब तीन प्रकार की श्रद्धा को कहता हूँ, सुनो ॥२॥

हे अर्जुन! सत्त्व अर्थात् अन्तष्करण के अनुकूल ही सबकी श्रद्धा होती है। सत्, रज, तम, गुणों से रंजित अन्तष्करण के भेद ही से श्रद्धा का भेद उत्पन्न होता है। यद्यपि अन्तष्करण सात्त्विक अहङ्कार का कार्य होने से सात्त्विक ही है तथापि इसके बढ़ानेवाले अन्नपानादि में सत्, रज, तम गुण के भेद होने से इसमें भी उन गुणों के भेद हो जाते हैं, और वह इस तरह तीन प्रकार का होता है। फिर प्राचीन कर्मों के कारण कितने ही मनुष्य जन्म से ही सत्त्वगुण प्रधान होते हैं, यक्ष रजोगुण प्रधान

भवति। मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रं, केषाञ्चिदेकैकगुणप्रधानं सत्त्वं भवति। एवञ्च सर्वस्य पुरुषस्य सत्त्वानुरूपान्तःकरणरूपा श्रद्धा भवति। हे भारत! सत्त्वप्रधानस्य सात्त्विकी, रजःप्रधानस्य राजसी, तमःप्रधानस्य तामसीति विवेकः। फलितमाह—श्रद्धामयोऽयं पुरुष इति। अयं मोक्षानधिकारी संसारी पुरुषः श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानः "प्राधान्ये मयट्" स्त्रीमय इति वत्। तस्माद्यो यच्छ्रद्धः स एव सः, यः पुरुषो याहश्या श्रद्धया युक्तः स एव सः। सात्त्विक्यादिश्रद्धयायुक्तः सात्त्विकादिरूप एव पुरुषो भवति। एवं श्रद्धयैव निष्ठाऽपि दर्शिता। एतेन "तेषां निष्ठा तु का कृष्णे"ति प्रश्नस्योत्तरमुक्तम्। सत्त्वादि-निष्ठानां फलं तु "ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः" इति चतुर्दशे उक्तम्।

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

तदेवं श्रद्धया निष्ठा ज्ञेया। श्रद्धा तु सात्त्विकादिभेदभिन्ना देवादिपूजालिङ्गेन कार्येण लक्ष्येत्याह—यजन्त इति। सात्त्विकाः सत्त्वप्रचुरा जनाः समानशीलानेव देवान् यजन्ते, तेषां देवाराधनविषया श्रद्धा सात्त्विकीति ज्ञेया। राजसा रजःप्रचुरा जनाः समानशीलानेव यक्षरक्षांसि यजन्ते, तेषां राजसी श्रद्धा भवति। अन्ये तामसा जनाः समानशीलांस्तामसानेव प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते, तेषां तामसी श्रद्धा भवतीत्यर्थः।

और राक्षस तमोगुण प्रधान। मनुष्य प्रायः मिश्र गुणवाले होते हैं। किसी-किसी का अन्तष्करण एक-एक गुण प्रधान भी होता है। इस प्रकार सब पुरुषों की श्रद्धा अन्तष्करण के अनुसार ही होती है, अर्थात् सत्त्व प्रधानवालों की सात्त्विकी, रज प्रधानवालों की राजसी और तम प्रधानवालों की तामसी श्रद्धा होती है। भावार्थ कि मोक्ष का अनधिकारी यह संसारी जीव श्रद्धा प्रधान है। इसलिए जैसी श्रद्धा से युक्त जो पुरुष है वह वही है अर्थात् सात्त्विक आदि श्रद्धा से युक्त पुरुष सात्त्विकादि रूप ही होता है। इस कथन से श्रद्धा से ही निष्ठा दिखायी और "उनकी निष्ठा कैसी होती है?" अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर दिया। सत्त्वादि निष्ठा युक्त मनुष्यों को जो फल मिलता है उसको चौदहवें अध्याय में भगवान् कह चुके हैं यथा :—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥१४/१८॥

इस प्रकार निष्ठा श्रद्धा द्वारा जानी जाती है और सात्त्विक आदि भेदवाली श्रद्धा देवादि पूजा रूप कार्यों से जानी जाती है। इसीको कहते हैं।

सत्त्वगुणवाले मनुष्य अर्थात् जिनके स्वभाव में सतोगुण की प्रचुरता है वे अपने समान गुणवाले ही देवताओं की पूजा करते हैं। इनकी देवताराधनविषयिणी श्रद्धा सात्त्विकी जाननी चाहिए। रजोगुण की अधिकतावाले मनुष्य अपने समान गुणवाले ही यक्ष और राक्षसों की पूजा करते हैं, इनकी श्रद्धा

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

ननु शास्त्रविधिमुपेक्ष्य श्रद्धया यजतां श्रद्धात्रैविध्येन सात्त्विकादित्रैविध्यमुक्तं, तथाऽपि तेषां शास्त्रोपेक्षणाद्देवत्वं न भवति "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारत" इत्यादिना सर्वपुरुषार्थ-हीनत्वकथनात्। नाप्यासुरत्वं तेषु दैवसाधर्म्यस्य तपोयज्ञादेर्दर्शनात्। तस्मात्कस्तेषां निश्चय इति चेत्तत्राह—अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम्। अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन तदनुकूलेन स्मृतिपुराणादिना च यन्न विहितमत एव घोरं प्राणिपीडाकरं तपो ये जनास्तप्यन्ते, उपलक्षणमिदं यज्ञादेस्तथाऽतिघोरं च ये कुर्वन्ति। कथं भूता दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः। दम्भो धार्मिकत्वख्यापनम्, अहङ्कार आत्मनः श्रेष्ठ्या-भिमानस्ताभ्यां संयुक्ताः कामरागबलान्विताः कामोविषयाभिलाषः, रागस्तदभिनिवेशः, बलं तत्प्राप्त्यर्थं प्रयत्नाग्रहस्तैरन्विताः सन्तः शरीरस्थमुपादानतया शरीरे स्थितं भूतग्रामं पृथिव्यादिभूतसमूहं कर्षयन्तः, वृथैवोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः अचेतसो विवेकहीना अन्तःशरीरस्थं मां च मदंशभूतं जीवं चैव कर्षयन्तोऽधमगतिप्रापणेन दुःखी कुर्वन्तस्तपोयज्ञादि कुर्वन्ति। ते आसुरनिश्चयास्तानासुरनिश्चयान् परि-हारार्थं विद्धि। असुरा हि मच्छासनमुल्लङ्घ्य यथेष्टाचारिणः मदाज्ञाविपरीताचारित्वात्तेषां सुखलव-

---

राजसी होती है। और तामसगुणवाले मनुष्य अपने समान गुणवाले ही प्रेत और भूतगणों की पूजा करते हैं। इनकी श्रद्धा तामसी होती है ॥४॥

शास्त्र विधि की उपेक्षा कर, श्रद्धा से युक्त हो पूजादि करनेवालों का श्रद्धा के सात्त्विकादि भेद से तीन भेद कहा गया। पर तो भी शास्त्र की उपेक्षा करने के कारण उनको देवभाव नहीं होता है, क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि ऐसे मनुष्य सब पुरुषार्थों से हीन होते हैं, यथाः—"यः शास्त्रविधि-मुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।" और इन मनुष्यों को असुर भाव भी नहीं होता क्योंकि देव समान यज्ञ, तप आदि कर्म उनमें देखे जाते हैं। इससे इन दोनों बातों में से कौन बात निश्चित है, इसीका उत्तर दो श्लोकों से देते हैं।

जो शास्त्र और उसके अनुकूल स्मृति पुराणादि से विहित नहीं हैं और इसलिए घोर अर्थात् प्राणियों को पीड़ा पहुँचानेवाले हैं, ऐसे तप यज्ञादि कर्मों को दम्भ से अर्थात् अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध करने के लिए, और अहङ्कार से अर्थात् अपनी श्रेष्ठता के अभिमान से और काम अर्थात् विषय की अभिलाषा, राग अर्थात् काम में आसक्ति और बल अर्थात् काम की प्राप्ति में पूरा प्रयत्न से युक्त हो, शरीर में उपादान रूप से स्थित पृथिव्यादि पञ्च भूतों को वृथा उपवासादि से कृश करते हुए, विवेक-हीन, और शरीर के भीतर में स्थित मुझ को अर्थात् मेरे अंशभूत जीव को भी अधमगति को पहुँचाकर दुःखी करते हुए, जो लोग तप यज्ञादि करते हैं, उनको निश्चय रूप से असुर समझो और उनकी संगति

सम्भावनाऽपि नास्ति, प्रत्युताऽजस्रदुःखे नरके पतन्ति। "असक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ" त्युक्तत्वात्।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

एवं परिहार्यमासुरत्वं प्रदर्श्य सात्त्विकानामुपादानार्थं राजसतामसानां परिहारार्थं यज्ञतपोदानानां गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं तावत् सात्त्विकादियज्ञादेरन्तःकरणनिमित्तत्वादन्तःकरणस्य शुद्धेस्तु "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः, आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरि"ति श्रुत्या आहारशुद्धिमूलत्वनिश्चयादाहारस्य गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—आहारस्त्वपीति। न केवलं श्रद्धैव देहिना त्रिविधा भवति। किन्तु सर्वस्य जनस्य यस्तु आहारः प्रियो भवति, सोऽपि त्रिविध एव। सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन स्वस्वप्रकृत्यनुसारात्त्रिविधेष्वेकैकतमः प्रियो, नतु चतुर्थः कश्चिदित्यर्थः। तथा यज्ञास्तथा तपो दानं च त्रिविधं भवति। तेषामाहारादीनां भेदमिमं वक्ष्यमाणं शृणु।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

न करो। असुरलोग ही मेरे शासन का उल्लंघन करके यथेच्छाचारी होते हैं। मेरी आज्ञा के विपरीत चलने से उनको लेशमात्र भी सुख नहीं होता बल्कि वे सदा दुःखपूर्ण नरक में गिरते हैं, क्योंकि पीछे कहा गया है कि—"असक्ताः काम भोगेषु पतंन्ति नरकेऽशुचौ" ॥५-६॥

इस प्रकार छोड़ने योग्य असुरत्व को दिखाकर सात्त्विक को ग्रहण करने और राजस तामस को छोड़ने के निमित्त यज्ञ, तप, दान आदि का गुण के अनुसार तीन प्रकार का होना अब बतावेंगे। सात्त्विक तप, यज्ञ आदि अन्तष्करण की शुद्धता पर निर्भर हैं और अन्तष्करण की शुद्धि का मूल आहार की शुद्धि है जैसा कि वचन है "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः। आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः" अर्थात् हे शिष्य, मन अन्नमय है और आहार की शुद्धि से अन्तष्करण की शुद्धि होती है। इसलिए आहार के गुणानुकूल तीनों भेदों को कहने के लिए इस श्लोक में प्रतिज्ञा करते हैं।

मनुष्यों की केवल श्रद्धा ही तीन प्रकार की नहीं होती बल्कि मनुष्य का आहार भी जो सबको प्रिय है, तीन प्रकार का होता है। सब कोई त्रिगुणात्मक है इसलिए अपनी प्रकृति के अनुसार तीनों प्रकार के आहारों में से सबको एक प्रिय होता है। यज्ञ, दान, तप आदि भी तीन प्रकार के होते हैं। उन आहारादिकों के भेद को तुम सुनो, मैं कहता हूँ ॥७॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

तत्र तावदाहारभेदानाह—त्रिभिः श्लोकैः आयुरिति। आयुरादिवर्द्धना आहाराः सात्त्विकानां प्रिया भवन्ति। तत्रायुश्चिरजीवनं, सत्त्वमन्तःकरणं गुणो वा तस्य कार्यं ज्ञानं सत्त्वशब्देनोच्यते "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि"ति वचनात्। बलं स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यम्, आरोग्यं रोगराहित्यं, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिरभिरुचिस्तेषां विवर्द्धना विवृद्धिकराः। ते च रस्या मधुररसोपेताः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः शरीरे रसांशेन चिरकालस्थायिनः हृद्या हृदयङ्गमाः, एवंविधा आहारा भक्ष्यभोज्यादिरूपाः सात्त्विकप्रिया भवन्ति। तथा-कट्वितिं। अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः। तथा चातिकटुर्निम्बादिः, अत्यम्लः, अतिलवणः, अत्युष्णः, अतितीक्ष्णो मरीच्यादिः,—अतिरूक्षः स्नेहवर्जितः कङ्गुकोद्रवादिः, अतिविदाहिनः कण्ठोदरदाहकराः, एवम्भूता आहारा राजसस्य इष्टाः प्रिया भवन्ति। ते च दुःखं तात्कालिकतापः, शोकः पश्चाद्धाविदौर्मनस्यम्, आमयो रोगः, एतान् प्रददतीति दुःखशोकामयप्रदाः। तथा—यातयाममिति। यातयामं बहुकालावस्थितं, गतरसं निर्गतस्वाभाविकरसं, पूति दुर्गन्धव्याप्तं, पर्युषितं राज्यन्तरितत्वेन रसान्तराविष्टम्, उच्छिष्टं गुरुतत्सदृशेभ्योऽन्येषां भुक्तावशिष्टम्, अमेध्यं यज्ञेश्वरानर्हमशुचि, एवंविधं तमोमयं भोजनं तामस्य पुरुषस्य प्रियं भवति। पुनरपि

अब आहार के भेद तीन श्लोकों से कहते हैं :—

आयु आदि के बढ़ाने वाले भोजन सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं। आयु का अर्थ चिरजीवन, सत्त्व का अर्थ अन्तष्करण वा सत्त्वगुण वा ज्ञान जो उस सतोगुण का कार्य है क्योंकि कहा है "सत्वात्सञ्जायते ज्ञानम्" अर्थात् सतोगुण के उदय होने से ज्ञान होता है। बल का अर्थ अपने धर्म के अनुष्ठान की सामर्थ्य। आरोग्य अर्थात् निरोगता, सुख अर्थात् चित्त की प्रसन्नता, प्रीति का अर्थ अभिरुचि। जो भोजन इन सबों को अच्छी रीति से बढ़ाता है वह सात्त्विक भोजन है। फिर सात्त्विक भोजन मधुर रस से युक्त, घी के समान चिकना, शरीर में रस के द्वारा बहुत काल तक ठहरनेवाला, और हृदय को प्रीतिकर होता है। ऐसे ही भक्ष्य, भोज्य आदि रूप भोजन सात्त्विकों को प्रिय होते हैं।

राजस गुणवालों को अतिकटु, जैसे निम्ब आदि, अति खट्टा, अति नमकीन, अति गर्म, अति तीता जैसे मिरचा आदि, रूखड़ा जैसे कोदो, सांवां आदि, और कण्ठ और पेट को जलानेवाले आहार प्रिय होते हैं। ये आहार दुःख अर्थात् तात्कालिक ताप, शोक, अर्थात् पीछे होनेवाली मन की दुर्बलता और आमय अर्थात् रोग के देनेवाले हैं।

बहुत काल का बनाया हुआ, स्वाभाविक रस से हीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी होने से बदले हुए रसवाला, गुरु या उसके समान मनुष्यों को छोड़ और दूसरों का जूठा, अपवित्र और भगवान् को नहीं अर्पण करने योग्य ऐसे तमोमय भोजन तामसी पुरुषों को प्रिय होते हैं और उनके तामसगुण को बढ़ानेवाले होते हैं।

तमसो विवृद्धिकरम् । तस्माच्छ्रेयस्कामै राजसं तामसं च हित्वा सत्ववृद्धये सात्त्विकाहार एव सेवनीय इति भावः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

इदानीमुक्तत्रिविधाहारसेविनां स्वभावानुगुणं सात्त्विकादिभेदेन यज्ञत्रैविध्यमाह त्रिभिः—अफलाकाङ्क्षिभिरिति । फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैर्विधिदृष्टः वेदविहितमन्त्रद्रव्यसंस्कारादिभिर्युक्तः यष्टव्यमेवेति पुरुषोत्तमाराधनप्रयोजनत्वेनावश्यमेव यष्टव्यमिति मनः समाधाय दृढीकृत्य यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विकः ।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

राजसयज्ञमाह—अभिसन्धायेति । फलमभिसन्धाय इदं मम स्यादित्युद्दिश्य तु यदिज्यते यजनं क्रियते, दम्भार्थं धार्मिकत्वख्यापनार्थमपीत्यपिशब्दाद्यशोऽर्थो यस्तं यज्ञं राजसं विद्धि ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

तामसं यज्ञमाह—विधिहीनमिति । शास्त्रोक्तद्रव्यसंस्कारहीनमसृष्टान्नं पात्रेभ्यो न प्रतिपादितमन्नं यस्मिन् साङ्गमात्रहीनमदक्षिणं यथोक्तदक्षिणाहीनं श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति ।

इसलिए श्रेय की इच्छा करनेवाले को राजसी और तामसी भोजनों को छोड़ सतोगुण को बढ़ाने के लिए सतोगुणी भोजन करना चाहिये, यह भाव निकला ॥८-९-१०॥

ऊपर कहे गये तीन प्रकार के आहार सेवियों के स्वभाव के अनुकूल सात्त्विकादि भेद से यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं, उन्हीं को तीन श्लोकों से कहते हैं । फल की आकांक्षा से रहित पुरुषों द्वारा, यह मन में निश्चय करके कि वेद विहित मन्त्र, द्रव्य, संस्कारादि से युक्त यज्ञ, भगवान् की आराधना के निमित्त, अवश्य ही करना चाहिये, जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है ॥११॥

अब राजस यज्ञ कहते हैं :—

फल की आकांक्षा करके अर्थात् मुझे यह प्राप्त हो, ऐसे उद्देश्य से और अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध करने के लिए वा यश की इच्छा से जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को, हे अर्जुन ! राजस यज्ञ जानो ॥१२॥

अब तामस यज्ञ कहते हैं :—

शास्त्र से विहित संस्कारादि से हीन, सत्पात्र को जिसमें अन्न नहीं दिया जाय अर्थात् ब्राह्मणादिकों के लिए जिसमें अन्न नहीं सिद्ध किया जाय, मन्त्र से हीन, और उचित दक्षिणा से हीन और विशेष करके श्रद्धा रहित जो यज्ञ होता है ऐसे यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं ॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

अथ तपसो गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं तस्य शरीरवाङ्मनोभिः साध्यत्वाच्छरीरादिभेदेन तावत्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—देवद्विजेति । दीव्यति विश्वसर्गादिना क्रीडति ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीन्विजिगीषते वा स्वभासा सर्वं [जगत्] प्रकाशयति वेति देवो भगवांल्लक्ष्मीपुरुषोत्तमः । गुरुस्तत्त्वोपदेशेनाज्ञाननाशकः । प्राज्ञो गुरुव्यतिरिक्तोऽन्योऽपि तत्त्वज्ञस्तेषां पूजनं । शौचं मृज्जलाभ्यां स्नानेन शरीरशोधनम् आर्जवं शरीरवाङ्मनसामकौटिल्यं, ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः । तथाऽऽहुः "स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः । अहिंसा परपीडावर्जनं, चकारादस्तेयादिसमुच्चयः एतच्छारीरं तप उच्यते ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

वाङ्मयं—तप आह—अनुद्वेगेति । परेषामुद्वेगं क्षोभं न करोतीत्यनुद्वेगकरं, सत्यं यथानुभूतार्थकथनं, प्रियं श्रोतुः प्रीतिकरं, हितं च परिणामे सुखावहं, यद्वाक्यं स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वेदवेदान्ताध्ययनाभ्यासश्च वाङ्मयं वाग्विकारं तप उच्यते विवेकिभिः ।

तप का गुणानुसार तीन भाँति का होना बताने के लिए पहले उसके साधन भेद से अर्थात् शरीर, बचन और मन के भेद से उसका तीन प्रकार का होना बताते हैं :—

देव अर्थात् विश्व की सृष्टि पालन आदि से क्रीडा करनेवाले, अथवा ब्रह्म, रुद्र, इन्द्रादि को जीतनेवाले अथवा अपने तेज से सारे जगत् को प्रकाशित करनेवाले श्रीपुरुषोत्तम भगवान्, गुरु अर्थात् तत्त्व के उपदेश द्वारा अज्ञान का नाश करनेवाले, प्राज्ञ अर्थात् गुरु को छोड़ और विवेकी और तत्त्व के जाननेवाले पुरुष । इन सबों की अर्थात् भगवान्, ब्राह्मण, गुरु, प्राज्ञ आदि की पूजन, शौच अर्थात् मिट्टी और जल से स्नान द्वारा शरीर को पवित्र करना, आर्जव अर्थात् शरीर, वचन, और मन की अकुटिलता वा समता, आठों प्रकार का ब्रह्मचर्य धारण करना अर्थात् मैथुन त्याग, और परपीड़ा न करना, इन्हीं सबको शारीरिक वा शरीर सम्बन्धी तप कहते हैं। 'च' शब्द से चोरी नहीं करना आदि भी शारीरिक तप में सम्मिलित हैं । आठ प्रकार के मैथुन यों गिनाये गये हैं :—

स्मरणं कीर्त्तनं ..... मुमुक्षुभिः ॥१४॥

अब वचन सम्बन्धी तप को कहते हैं ।

दूसरे को क्षोभ नहीं पैदा करनेवाले, सत्य अर्थात् जैसा अनुभव किये गये वैसा ही कहे गये, सुननेवाले में प्रीति उत्पन्न करनेवाले और अन्त में सुख देनेवाले बचन के व्यवहार करने को और वेदान्त के पढ़ने के अभ्यास को विवेकी लोग वाङ्मय अर्थात् बचन सम्बन्धी तप कहते हैं ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मानसं तप आह—मनःप्रसाद इति । मनःप्रसादः कामक्रोधादित्यागेन मनसः स्वच्छता, सौम्यत्वं मुखादिप्रसादहेतुरन्तस्तुष्टिः, मौनं वृथाऽऽलापवर्जनम्, आत्मविनिग्रहः मनसोऽतत्प्रवृत्तेरवष्टम्भनं भावसंशुद्धिः भावस्य हृदयस्य संशुद्धिर्विषयभोगवासनारूपमालिन्याभावः, इत्येतन्मानसं तप उच्यते ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

तदेवं शारीरादिभेदेनोक्तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन वैविध्यमाह—श्रद्धयेति । परया प्रकृष्टया श्रद्धया आस्तिक्यबुद्धया तत्प्रकृतं त्रिविधं शरीरवाङ्मनोभिरित्युक्तम् अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारहितैर्युक्तैः समाहितैर्नरैर्यत्तपस्तप्तमनुष्ठितं तत्सात्त्विकं परिचक्षते कथयन्ति ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

राजसं तप आह—सत्कारेति । सत्कारः साधुकारः साधुरयं तपस्वी श्रेष्ठ इत्यादिवाक्प्रशंसा, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिपूजाद्रव्योपायनादीत्येतदर्थं सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन च हेतुना यत्तपः क्रियते, तदिह राजसमतएव चलमप्यायि तथाऽप्यध्रुवं किञ्चित्कालस्थायि, न यावज्जीवमित्यर्थः ।

अब मानस तप कहते हैं :—

काम क्रोध आदि को छोड़ने से मन की स्वच्छता, सौम्यत्व अर्थात् मुखादि की प्रसन्नता का कारण अन्तःतुष्टि, मौन अर्थात् वृथालाप नहीं करना, मन को असत् काम में जाने से रोकना, विषय-भोग वासनारूप मलिनता का हृदय में न रहना ये ही सब मानस तप कहे जाते हैं ॥१६॥

शारीरिक, मानसिक आदि भेद से तीन प्रकार के कहे गये तपों का सात्त्विक आदि भेदों से तीन प्रकार का होना अब कहते हैं :—

फल की इच्छा रहित और एकाग्र चित्तवाले पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से युक्त हो जो उपरोक्त कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के तप किये जाते हैं, वे सात्त्विक कहलाते हैं ॥१७॥

अब राजस तप कहते हैं :—

सत्कार अर्थात् ये साधु हैं, श्रेष्ठ हैं इत्यादि वाक् प्रशंसा के लिए वा मान पूजा के लिए अर्थात् जिसमें लोग उठकर प्रणाम करें और फूल चन्दन आदि द्रव्यों से पूजा करें, वा दम्भ से जो तप किया जाता है वह राजसी तप कहलाता है । इसीलिये ऐसा तप अनिश्चित और थोड़े समय तक ठहरनेवाला होता है, जीवनभर नहीं ठहरता ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

तामसमाह—मूढग्राहेणेति । मूढा अविवेकिनस्तेषां ग्राहेण वृथाऽभिनिवेशेन आत्मनः स्वस्य पीडया यत्तपः क्रियते, परस्योत्सादनार्थमुच्छेदनार्थं वा क्रियते, तत्तामसमुदाहृतम् ।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

इदानीं प्रतिज्ञातेषु यज्ञादिष्ववशिष्टस्य दानस्य गुणतस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—दातव्यमिति । दातव्यमित्येव निश्चयेन न तु फलोद्देश्येन यद्दानं दीयते, अनुपकारिणे प्रत्युपकारानकर्त्रे अयं मम प्रत्युपकारं करिष्यतीत्युद्देश्याविषयायेत्यर्थः । देशे माथुरपुष्करकुरुक्षेत्रगङ्गादिक्षेत्रे, कालिकसङ्क्रमादौ, पात्रे च शमदमतितिक्षादियुक्ताय श्रोत्रियाय तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥

राजसदानमाह—यत्त्विति । तुशब्दः पूर्वोक्तान्निष्कृष्टत्वद्योतनार्थः । प्रत्युपकारार्थं ममायमुपकरिष्यतीत्येवमर्थं, फलमैहिकामुष्मिकं वा पुनरुद्दिश्य यद्दीयते परिक्लिष्टश्च एतावद्द्रव्यं मयाकृयं देयमिति चित्ते परिक्लेशयुक्तं यथा भवति तथा तद्दानं राजसमुदाहृतम् ।

अब तामस तप कहते हैं :—

अविवेकी लोग दुराग्रह से शरीर को पीड़ा देकर वा दूसरे के नाश के लिए जो तप करते हैं तामसी तप कहा जाता है ॥१९॥

प्रतिज्ञा किये गये यज्ञादि विषयों में से अवशिष्ट दान का, गुणों के अनुकूल, तीन प्रकार का होना अब तीन श्लोक से कहते हैं । देना ही चाहिये इस बुद्धि से और फल की आकांक्षा से नहीं, जो दान अनुपकारी पुरुषों को, अर्थात् जिनसे प्रत्युपकार की आशा न हो, दिया जाता है और मथुरा, पुष्कर, कुरुक्षेत्र गंगा आदि शुभ स्थानों में, कार्त्तिक, वैशाख, माघ, पूर्णिमा अमावस्या ग्रहण आदि शुभ समयों में शम, दम तितिक्षा आदि गुणों से युक्त श्रोत्रिय ब्राह्मणों को जो दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहलाता है ॥२०॥

अब राजस दान कहते हैं :—

'तु' शब्द का अर्थ यह है कि सात्त्विक दान से राजस दान नीचा है । प्रत्युपकार के भाव से अर्थात् जिसको मैं दान देता हूँ वह मेरी कभी भलाई करेगा वा इस लोक और परलोक में शुभ फल पाने की आकांक्षा से, चित्त में अत्यन्त दुःख पाकर जैसे इतना धन मैं कैसे दे दूं, जो दान दिया जाता है, वह राजस दान कहलाता है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

तामसदानमाह—अदेश इति । अत्रादेशकाले इत्यनेन पुण्यत्वविशिष्टदेशकालयोः पर्युदासोऽभिप्रेतो न केवलयोरसम्भवात् । तथा चादेशे म्लेच्छामेध्यादिसंसृष्टेऽशुद्धे इत्यर्थः । अकाले सङ्क्रान्तिद्वादशीदर्शव्यतीपातादिपुण्यकालरहिते, अपात्रेभ्यश्च नटनर्त्तकमूर्खकर्षकादिभ्यः, कथञ्चिद्देशकालादौ प्राप्तेऽपि असत्कृतं पादप्रक्षालनादिसत्काररहितम्, अवज्ञातं तिरस्कारवचनपूर्वकं यद्दानं दीयते तत्तामसमुदाहृतमुक्तम् ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

तदेवमाहारयज्ञादीनि मुमुक्षुभिः सात्त्विकान्युपादेयानि राजसतामसानि हेयानीत्येतदर्थं तेषां त्रैविध्यमुक्तं, तत्र सात्त्विकाहारेण शुद्धसत्त्वानां सात्त्विकयज्ञादिष्वधिकृतानामनुष्ठातृणामनुष्ठेयेषु सात्त्विकेष्वपि यज्ञतपोदानेषु देशकालद्रव्यमन्त्रक्रियादिकिञ्चिदङ्गवैगुण्येन प्रत्यवायापत्त्याऽदृष्टानुत्पत्तौ तन्नैष्फल्यं स्यादिति तद्दोषपरिहाराय परमकारुणिको भगवानङ्गपूरणत्वेन तत्सादृगुण्यकारणं परब्रह्मवाचकशब्दोच्चारणमुपदिशति—ॐ तत्सदितीति । ॐ तत्सदित्येवरूपो ब्रह्मणः परमात्मनः

अब तामस दान कहते हैं :—

अदेश काल में अर्थात् पवित्र देश और शुभ काल से केवल रहित ही में नहीं बल्कि उसके ठीक उल्टे देश और काल में, जैसे म्लेच्छ और अपवित्र वस्तुओं के संसर्ग से अपवित्र स्थान में और अकाल में अर्थात् जब संक्रान्ति, द्वादशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि पुण्य काल न हो, अपात्रों को जैसे नट, नाचनेवाले, मूर्ख, हल जोतनेवाले आदिकों को दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है । फिर कहीं थोड़ा बहुत अच्छा देशकाल मिलने पर भी जो दान असत्कार के साथ, जैसे दान पानेवाले का पैर आदि न धोना और तिरस्कार आदि वचन पूर्वक दिया जाता है वह भी तामस दान कहा जाता है ॥२२॥

मुमुक्षुओं को सात्त्विक आहार यज्ञादि ग्रहण करना चाहिए और राजसिक तामसिक आहारादिकों को छोड़ना चाहिए । इसीलिए उनके गुणानुकूल तीन प्रकार के भेदों को बताया । अब सात्त्विक आहार के व्यवहार से शुद्ध अन्तष्करण होने से सात्त्विक यज्ञादि के करने के अधिकारी मनुष्यों द्वारा किये गये सात्त्विक यज्ञ, तप, दान आदि में देश, काल, द्रव्य, मन्त्र, क्रिया आदि सम्बन्धी थोड़ी सी भी त्रुटि हो जाने से दोष उत्पन्न हो जाता है, जिससे फल (अदृष्ट) उत्पन्न नहीं होता और सब यज्ञ, तप आदि का अनुष्ठान निष्फल हो जाता है । इसी विगुणता वा दोष को हटाने के लिए, और कर्म के सर्वांश पूरकत्व और सफलता के अर्थ परम कारुणीक श्रीभगवान् परब्रह्म के वाचक शब्द को उच्चारण करने का आदेश करते हैं ।

पुरुषोत्तमस्य निर्देशः, निर्दिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकः शब्दो नामेत्यर्थः, त्रिविधस्त्रिप्रकारः स्मृतः, वेदवेदान्तविद्भिर्महर्षिभिर्ब्रह्मनामतया निर्दिष्ट इत्यर्थः। ॐमिति ब्रह्म ॐ तद्ब्रह्म ॐ सद्ब्रह्म ॐमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीते" त्यादिश्रुतिभिः "एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः। प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः॥ ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्नि"त्यादिस्मृतिभिश्च ॐकारो ब्रह्मनामतया निर्दिष्टः। "तत्त्वमसि, तदेवत्तं तदु सत्यमाहुः यदेव ब्रह्म परं कवीनामि" त्यादिश्रुतिभिः "यत्तत्पदमनुत्तमं तद्ब्रह्म परमं धामे"त्यादिस्मृतिभिश्च तच्छब्दस्य ब्रह्मनामतया निर्देशः स्मृतः। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठा"इत्यादिश्रुत्या "सदसत् क्षरमक्षरमि" त्यादिस्मृत्या च सच्छब्दो ब्रह्मनामतया निर्दिष्टः। सद्गुण्यहेतुत्वेनैनं ब्रह्मनिर्देशं स्तौति तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणा वैदिकास्त्रैवर्णिका वेदाश्च यज्ञाश्च कर्तृकरणकर्मरूपाः पुरा पूर्वं सृष्ट्यादौ

वेद वेदान्त के जाननेवाले महर्षि लोग "ॐ तत् सत्" इन तीन शब्दों को ब्रह्म अर्थात् परमात्मा पुरुषोत्तम का प्रतिपादक बताते हैं। जैसे अकार, उकार, मकार ये तीन मिलके एक प्रणव हैं वैसे ये तीन मिलके ब्रह्म के नाम हैं। इस सम्बन्ध में श्रुति कहती है :—ओमिति ब्रह्म, ओं तद्ब्रह्म, ओं सद्ब्रह्म, ओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत्" अर्थात् ओम् ब्रह्म है, ओम् तत् ब्रह्म है, ॐ सत् ब्रह्म है। ॐ इस एक अक्षर ही से परम पुरुष कहा जाता है। स्मृतियां भी यही बात कहती हैं यथाः—"एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः" "प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः।' "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्।" अर्थात् 'ॐ' यह एकाक्षर परब्रह्म है और प्राणायाम पर तप है। वेद का आदि प्रणव (ॐ) है और इसलिए वेद उसीमें स्थित है। 'ॐ' इसी एकाक्षर ब्रह्म को कहता हुआ। इन सब श्रुति स्मृतियों से यही प्रमाणित हुआ कि 'ॐ' शब्द ब्रह्म का निर्देशक है। इसी प्रकार तत् और सत् भी ब्रह्म के निर्देशक हैं। इसके प्रमाण में भी श्रुति स्मृति के वाक्य हैं यथा श्रुति—"तत्त्वमसि, तदेवत्तं तदु सत्यमाहुः, तदेव ब्रह्म परं कवीनाम्" अर्थात् तुम तत् (ब्रह्म) हो, तत् (ब्रह्म) सत्य है, तत् ब्रह्म को सत्य कहा जाता है। तत् ही सूक्ष्म दर्शियों का ब्रह्म है। स्मृतिः—"यत्तत्पदमनुत्तमं। तदु ब्रह्म परमं धाम" अर्थात् जो तत् पद है वह सर्वश्रेष्ठ है। तत् ब्रह्म और परम धाम है। इन सब श्रुति स्मृति वाक्यों से तत् शब्द ब्रह्म का वाचक ठहरा। सत् भी ब्रह्म का वाचक है, यथा श्रुतिः—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वा प्रजाः सत्प्रतिष्ठा" अर्थात् हे शिष्य, इन सब सृष्टियों का मूल सत् ही है। ये सब लोक सत् ही में प्रतिष्ठित हैं। इन श्रुतियों से और स्मृतियों के "सदसत् क्षरमक्षरम्" आदि वचनों से सत् भी ब्रह्म ही का वाचक कहा गया है। सद्गुणता के हेतु होने के कारण इन ब्रह्म के नामों की अब प्रशंसा करते हैं। ॐ, तत्, सत् इन तीन ब्रह्म के प्रतिपादक शब्दों द्वारा सदात्मक ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में वेद के अधिकारी त्रिवर्गी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, और चार वेद और सब यज्ञों को कर्त्ता, करण और कर्मरूप से निर्माण किया। भाव यह है कि विगुणता को हटाकर सद्गुणता से पूर्ण किया। अर्थात् परमात्मा के निर्देशक ये तीन ॐ, तत् और सत्

मदात्मकेन प्रजापतिना विहिताः प्रवर्त्तिताः, वैगुण्यपरिहारेण सादगुण्यपूर्णीकृता इत्यर्थः। तस्मान्महाप्रभावोऽयं परमात्मनिर्देशो यज्ञादिवैगुण्यपरिहाराय नियततया स्मर्त्तव्य इति भावः।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

एवं ब्राह्मणाद्युत्तमसृष्टौ तच्छ्रेयोहेतुतया समुदितस्य त्रिविधस्य ब्रह्मनाम्नः समन्वय उक्तः। इदानीमभीष्टसिद्धयर्थं कार्येषु त्रयाणामोङ्काराद्यवयवानां समन्वयप्रकार उच्यते। तत्रादावोंकारस्यान्वयमाह—तस्मादिति। यस्मादयं सर्ववेदादिभूतः परब्रह्मवाचकस्तस्मादोमित्युदाहृत्योच्चार्य ब्रह्मवादिनां वैदिकानामोंकारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिना दर्शिता यज्ञदानतपःक्रियाः सततं सर्वदा प्रवर्त्तन्ते प्रकर्षेण दोषाभावेन सम्पद्यन्ते।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

एवं फलानुसंहितकर्मणामोंकारोच्चारणपूर्वकं साफल्यमुक्तमिदानीं निष्कामाणां मुमुक्षूणां यज्ञादिषु तदिति शब्दान्वयमाह तदिति। पूर्वोक्तं श्रुत्यादिसिद्धं ब्रह्मणो नाम उदाहृत्येति पूर्वश्लोकादाहृत्य योजनीयं, तदुच्चार्य फलमनभिसन्धाय फलाकाङ्क्षां विहाय मोक्षकाङ्क्षिभिर्वेदान्वितैर्यज्ञदानतपःक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते, केवलं तच्छब्दनिर्दिष्टपरमात्मोद्देशेन निवर्त्त्यन्ते इत्यर्थः।

बड़े प्रभाववाले हैं और यज्ञ आदि के दोष को हटाने के लिए सदा नियत रूप से स्मरण करने के योग्य हैं ॥२३॥

इस प्रकार ब्राह्मण आदि उत्तम सृष्टि में उनके श्रेय के लिए कहे गये ब्रह्म के तीन प्रकार के नामों का समन्वय कहा। अब अभीष्ट सिद्धि के लिए ओंकारादि तीन प्रकार के अवयवों अर्थात् ॐ, तत्, सत् की उन कामों में समन्वय की रीति बताते हैं। इस श्लोक में प्रथम ॐ का समन्वय बतावेंगे। ॐ सब वेदों का आदिभूत और परब्रह्म का वाचक है, इसलिए ब्रह्मवादी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इसका उच्चारण करके वेद विधि से दिखाये गये यज्ञ, दान तप आदि क्रियाओं में सदा प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् ॐ का उच्चारण कर दोष रहित हो इन कर्मों का सम्पादन करते हैं ॥२४॥

सकाम कर्मों में कर्म की सफलता के लिए पूर्व में 'ॐ' का उच्चारण करना चाहिये यह ऊपर कह चुके। अब निष्काम कर्म करनेवाले मोक्षार्थियों के यज्ञादि में 'तत्' शब्द का अन्वय बताते हैं।

फल की आकांक्षा को छोड़ मोक्ष की इच्छा करनेवाले श्रुति आदि से सिद्ध, ब्रह्मनाम तत् को उच्चारण कर वेद से प्रतिपादित भाँति-भाँति के यज्ञ, तप, दान आदि क्रिया करते हैं। अर्थात् वे सब कर्म तत् शब्द से निर्दिष्ट परब्रह्म ही के उद्देश्य से करते हैं ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ॥२६॥

इदानीं सच्छब्दान्वयप्रकारमाह—सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे वस्तुनोऽविद्यमानताशङ्का-व्यावृत्तिः सद्भावस्तस्मिन् तथा साधुभावे च असद्वृत्तत्वशङ्कायां सद्वृत्तत्वख्यापनं साधुभावस्तस्मिन् सदित्येतत् श्रुतिस्मृतिसिद्धं ब्रह्मणो वाचकं पदं लोकवेदयोः प्रयुज्यते । शिष्टैः । तथा प्रशस्ते माङ्गलिके विवाहोत्सवादौ कर्मणि सदिदं कर्मेति सच्छब्दो हे पार्थ प्रयुज्यते इत्यर्थः ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तस्मात्—यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञकर्मणि या स्थितिः तपसि च या स्थितिर्दाने च या स्थितिर्निष्ठा सा सदित्युच्यते । सदसतोर्विनिर्णयं सङ्गृह्याह—कर्म चैवेति । यस्य चैतन्नामत्रयं स परब्रह्मभूतो भगवानेवार्थः प्रयोजनमुद्देश्यो यस्य तत् तदर्थीयं कर्म पूजोपहारजन्मोत्सवाद्यङ्गतया तुलसीपुष्पाद्यवचयतदवरोपणमन्दिरनिर्माणमार्जनोपलेपनचित्रकरणविविधभक्ष्यान्नपाककरणगीतवाद्यनृत्य-प्रदक्षिणप्रणामादिसर्वं सदित्येवाभिधीयते, सतः परमात्मनः प्राप्तिहेतुत्वात् । अत्रावधारणद्वयं तत्कर्म-योगव्यवच्छेदार्थकं द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदार्थक, तदर्थीयं कर्म सन्नेति न अपितु सदेव । तदर्थीय-

---

अब सत् शब्द की समन्वय-रीति दो श्लोकों से बताते हैं :—

सत् नाम वेद में ब्रह्म का प्रसिद्ध है इसलिए वस्तु के अभाव की शंका दूर करने में और उसकी सत्यता निश्चय करने के लिए सत् शब्द का उच्चारण करते हैं। फिर असद्वृत्ति की आशंका में सद्-वृत्ति को कहने के लिए लोक वेद में सत् शब्द का, जो श्रुति स्मृति से सिद्ध, ब्रह्म का वाचक है, शिष्ट लोग व्यवहार करते हैं। पुनः मांगलिक कर्मों में, जैसे विवाह उत्सव आदि में सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है, हे अर्जुन ! ॥२६॥

यज्ञ, कर्म, तप, और दान में जो निष्ठा होती है उसे सत् कहते हैं। सत् असत् का निर्णय इकट्ठा करके अब बताते हैं। जो काम परब्रह्मभूत भगवान् के लिए, जिनके, ॐ, तत् और सत् तीनों नाम हैं, किया जाता है उसको सत् कहते हैं, जैसे भगवान् की पूजा, उपहार, जन्मोत्सव आदि और उनके अङ्गभूत तुलसी फूल आदि का तोड़ना, उनको बगीचे में लगाना, मन्दिर बनाना, मन्दिर को धोना, लीपना, चित्रकारी करना, बहुत प्रकार के भोजन सामग्री को बनाना, गाना, बजाना, नाचना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम करना आदि। ये सब सत् इसलिये हैं कि ये सत्‌रूप परमात्मा की प्राप्ति के कारण हैं। श्लोक में अवधारण सूचक 'एव' शब्द दो बार आया है। एक से अयोग का और दूसरे से अन्य योग का वारण होता है। अर्थात् एक 'एव' का अर्थ यह है कि भगवान् के निमित्त किये गये कर्म सत् नहीं है, सो नहीं, वे सत् ही हैं। दूसरे 'एव' का अर्थ यह है कि भगवान् के लिये किये गये

व्यतिरिक्तं कर्म सन्नेत्यर्थः। "यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते इति" श्रुत्या "त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा" इत्युपक्रम्य "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्त"इत्यादिना भगवता स्वयमपि देवादिभक्तानां स्वर्गादिफलकर्मणां क्षयिष्णुत्वाभिधानात्। भगवदर्थस्य कर्मणस्तु "मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि। सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादवाप्नोपि, शाश्वतं पदमव्ययमि"त्यादिना शाश्वताव्ययफलत्वप्रतिपादनात्। तदेवं भगवदर्थीयं यज्ञदानतपआद्यन्यदपि सर्वं कर्म परमात्माभिधानत्रयप्रयोगपूर्वकं सात्त्विकश्रद्धयाऽनुष्ठितं श्रेयस्करं भवतीति सिद्धम्।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

तदेतत्सर्वं श्रद्धयैवानुष्ठेयमिति दृढयितुमश्रद्धया कृतस्य नैष्फल्यं वदन्नध्यायमुपसंहरति—अश्रद्धयेति। अश्रद्धया होमदानतपःकृतं यच्चान्यदपि लौकिकं वैदिकं कर्म कृतं तत्सर्वमसदित्युच्यते। हे पार्थ तदश्रद्धया कृतं न प्रेत्य परलोकेऽपूर्वजनकत्वात् नो इह लोके यशःसुखकरं न भवति, सद्भिर्निन्दितत्वात् "श्रद्धापूतं वदान्यस्य हुतमश्रद्धयेतरदि"ति स्मृतेः। तस्माद्राजसतामसमासुरं कर्म विहाय

कर्मों को छोड़ दूसरे कर्म सत् नहीं हैं। श्रुति भी यही बात कहती है, यथा—"यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" अर्थात् जैसे यहाँ कर्म से कमाये हुए लोक का क्षय होता है वैसे ही स्वर्ग में भी पुण्य से कमाये हुए लोक का क्षय होता है। फिर भगवान् ने स्वयं पीछे "त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा" से आरम्भ कर और "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते," तक से यह बात कही है कि देवादि के भक्तों को जो स्वर्गादि फल मिलते हैं वे नाश होनेवाले हैं। और भगवदर्थ जो कर्म किये जाते हैं वे अव्यय और शाश्वत् हैं अर्थात् अविनाशी फल के देनेवाले हैं जैसा भगवान् ने स्वयं पीछे कहा है—

"मदर्थमपिकर्माणि ····· पदमव्ययम्"—इन सबसे यह सिद्ध हुआ कि सात्त्विक श्रद्धायुक्त और ॐ, तत्, सत् इन तीन नाम के उच्चारण पूर्वक यज्ञ तप आदि जो कुछ कर्म भगवदर्थ किये जाते हैं वे श्रेयस्कर होते हैं ॥२७॥

सब कर्म श्रद्धायुक्त होकर करना चाहिए—इसी बात को दृढ़ करने के लिए अश्रद्धायुक्त कर्मों की निष्फलता बताते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं :—

जो होम, दान, तप, आदि कर्म और भी लौकिक वा वैदिक कर्म अश्रद्धा से किये जाते हैं वे सब असत् कहलाते हैं। हे अर्जुन ! इन कर्मों से परलोक नहीं होता क्योंकि ये अपूर्व फल को नहीं पैदा करते। और इस संसार में भी ये यश वा सुख नहीं देते क्योंकि सज्जन लोग इन कर्मों की निन्दा करते हैं। स्मृति भी कहती है—"श्रद्धापूतं वदान्यस्य हुतमश्रद्धयेतरत्" अर्थात् बड़े दानियों के श्रद्धा से

सात्त्विकश्रद्धयैव सर्वं कर्म भगवत्प्रीत्यर्थमनुष्ठितमन्तःकरणशोधनहेतुतया ज्ञानभक्तिद्वारेण मोक्षहेतुर्भवतीतीह दर्शितम् ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्यविरचितायां सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

किये गये कर्म पवित्र होते हैं और अश्रद्धा पूर्वक किये गये कर्म नष्ट होते हैं। इसलिए राजस, तामस और आसुर कर्मों को छोड़कर सात्त्विक श्रद्धा से सब कर्मों को भगवत् प्रीति के लिए करो। इससे अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान, भक्ति होगी और ये ही मोक्ष के कारण होंगे, इस बात को भगवान् ने दिखाया ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

विनिर्जिता येन दिशः समस्ताः, निराकृताः शास्त्रविरुद्धतर्काः ।
विद्योतयामास रमेशभक्तिं, काश्मीरिपादं तमहं प्रपद्ये ॥१॥

काश्मीरिकेशवं विद्धि केशवं तस्य कर्मतः ।
यवनेशो जितो येन मथुरायां स्वतेजसा ॥२॥

उन्हीं केशवकाश्मीरि की शरण में मैं हूं जिन्होंने समस्त देश को जीता, शास्त्र विरोधियों के तर्कों को खण्डन किया, भगवान् की भक्ति को फैलाया और मथुरा में अपने तेज द्वारा यवनेश को परास्त किया ।

॥ श्रीमते निम्बार्काय नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशोऽध्यायः

★

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्केशिनिषूदन ! ॥१॥

अथेदानीमलसानामल्पबुद्धीनां मुमुक्षूणामेकेनैवाध्यायेन सम्यग्ज्ञातेन सर्वगीताध्यायार्थावगमे सर्वगीतार्थं सङ्क्षिप्य वक्तुमयमध्याय आरभ्यते। तत्र पूर्वाध्यायान्ते "कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयत"इत्यनेन परब्रह्मार्थस्यैव कर्मणः सत्त्वमुक्तं तेन कर्मफलस्यैव त्यागो नतु कर्मण इति सूचितम्, "सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवानि"त्यनेन द्वादशेऽध्यायेऽपि कर्मफलस्यैव त्याग उक्तः। पञ्चमे तु "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी"त्यनेन कर्मसंन्यास उक्तः। एवं सर्वकर्मसंन्यासं फलमात्रत्यागेन कर्मानुष्ठानं च परस्परविरुद्धं मुमुक्षवे सर्वज्ञो भक्तवत्सलो भगवान्कथमुपदिशेत् तस्मात्संन्यासत्यागयोः स्वरूपैक्यं भेदो वेति सन्देहेन तयोस्तत्त्वबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच संन्यासस्येति। महाबाहो केशिनिषूदनेति सम्बोधनाभ्याम् शत्रुसंहारार्थं महान्तौ बाहू यस्य स तथा दुर्जयमहासुरस्य केशिनः

आलसी और अल्पबुद्धिवाले मुमुक्षुओं को एक ही अध्याय को भलीभाँति जान लेने से गीता के सब अध्यायों के अर्थ का पूरी तौर से ज्ञान हो जाय इसलिए समूची गीता का अर्थ संक्षेप में इस अठारहवें अध्याय में कहेंगे :—

पूर्व अध्याय के अन्त में "कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते' से यह बताया कि भगवान् के लिए किया हुआ कर्म सत् है। इससे यह प्रमाणित हुआ कि कर्म के फल का ही त्याग करना चाहिए कर्म का नहीं। फिर बारहवें अध्याय में भी "सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्" से केवल कर्म फल का ही त्याग कहा है। पर पंचम अध्याय में "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" से कर्म का संन्यास वा त्याग कहा है। अब सर्वज्ञ भक्तवत्सल भगवान् ने इस प्रकार दो विरोधी बातों का उपदेश, अर्थात् एक तो कर्म के फल का त्याग और दूसरा कर्ममात्र ही का त्याग, मुमुक्षुओं के लिए कैसे किया ? इसलिए संन्यास और त्याग के स्वरूप की एकता है वा विभिन्नता, इस सन्देह से युक्त अर्जुन उन दोनों के तत्त्व को जानने की इच्छा से बोले।

संहारकस्त्वं भक्तस्य ममापि शत्रूनाशयिष्यसीति सूचितम्। हे हृषीकेशेत्यनेन सर्वेन्द्रियेश ममान्तःसर्व-संशयनिवारणक्षमेदानीमिमं (मे) संशयं छिन्धीत्याह—संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य तत्त्वं स्वरूप-याथात्म्यं वेदितुमिच्छामि। त्यागस्य च तत्त्वं स्वरूपयाथात्म्यं वेदितुमिच्छामि। त्यागस्य च तत्त्वं स्वरूपयाथात्म्यं पृथग्वेदितुमिच्छामि। अत्र "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-सत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुरि"त्यादिश्रुतिषु संन्यासत्यागश्च मोक्षसाधनतया विहितः। तथा "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी, सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवानि"ति पूर्वं भवताऽपि द्वौ विहितौ। किमेतौ संन्यासत्यागशब्दौ भिन्नार्थौ? उतैकार्थौ? यदि भिन्नार्थौ तर्हि पृथक्त्वेन वक्तव्यौ। यद्येकार्थौ तर्हि तदवान्तरभेदनिमित्तं वक्तव्यं यथाऽहमसन्दिग्धं तत्स्वरूपं जानीयां तथा विविच्य ब्रूहीत्यभिप्रायः।

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यास संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

हे महाबाहो! अर्थात् शत्रुओं को मारने के लिए बड़ी बाँहवाले और केशिनिषूदन अर्थात् केशीनाम दुर्जय राक्षस को मारनेवाले! (इन दोनों सम्बोधनों से यह सूचित किया, कि मुझ भक्त के शत्रुओं का आप नाश करेंगे) हे हृषीकेश! अर्थात् सब इन्द्रियों के स्वामी! (यह कहने से यह सूचित किया कि आप मेरे सब संशयों को हटाने के योग्य हैं इसलिए मेरे सन्देह को आप हटावें)। 'संन्यास' शब्द का यथार्थ रूप मैं जानना चाहता हूँ। श्रुति ने संन्यास और त्याग दोनों को मोक्ष का साधन बताया है, यथा :—"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" अर्थात् वेदान्त में यत्नशील, सर्वकर्म फल त्याग योग से शुद्ध अन्तःकरणवाले वेदान्तजनित विज्ञान से अच्छी रीति से जान लिया है अपना और परमात्मा का स्वरूप जिन्होंने, ऐसे लोग अन्तकाल में अर्थात् अन्त के शरीर के छूटने पर परब्रह्म की उपासना करने से अविद्या से निःशेष रूप से छूट जाते हैं और उनकी स्थिति ब्रह्मलोक में होती है। (परामृतात् के स्थान में यदि श्रुति का "पराभृतात्" पाठ हो तो उसका अर्थ "ब्रह्म को प्राप्त होते हैं" करना चाहिये)। कर्म से, सन्तानोत्पत्ति से वा धन से मोक्ष नहीं मिलता, केवल एक त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। फिर आपने भी दोनों को मोक्ष का साधन बताया है—यथा—"सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु" तो क्या त्याग और संन्यास का भिन्न अर्थ है वा दोनों का एक ही अर्थ है? यदि भिन्न अर्थ हो तो दोनों का पृथक्-पृथक् अर्थ बताइये। और यदि दोनों का एक ही अर्थ है तो दोनों में भेद क्या है यह बताइये, जिसमें दोनों का असंदिग्ध रूप हम जान जावें। इस तरह पृथक्-पृथक् करके आप दोनों का यथार्थ तत्त्व मुझे बतावें ॥१॥

अथैतयोः स्वरूपैक्यं यथा स्यात्तथा वक्तुं तावदस्मिन्विषये मतान्तराणि दर्शयन् श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति। "स्वर्गकामो यजेत पुत्रकामो यजेत वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम" इत्यादिभिर्वाक्यैः सकामनधिकृत्य विहितानां पशुयागपुत्रेष्ट्यादीनां कर्मणां न्यासं त्यागमनुष्ठानं संन्यासं संन्यासशब्दार्थं कवयः केचित्पण्डिता विदुर्जानन्ति। तथाऽऽह मनुः "मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये"ति नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वेषां कर्मणां फलत्याग त्यागशब्दार्थं आहुर्विचक्षणा विवेकिनः। फलत्यागेनापि त्यागशब्दस्य मुख्यार्थत्वात्। ननु "अहरहः सन्ध्यामुपासीत, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिषु फलश्रवणाभावाच्चेषां फलमेव नास्ति कथं तत्त्यागवचनमिति चेन्न "धर्मेण पापमपनुदति कर्मणा पितृलोक" इत्यादिश्रुतिषु श्रवणात् तत्त्यागस्य सम्भवात्। किञ्च "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति श्रुतौ अविद्याशब्दनिर्दिष्टस्वधर्माश्रमोचितकर्मणो मृत्युशब्दनिर्दिष्टप्रमादतरणोपायत्वरूपफलस्यापि सत्त्वात्। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः

संन्यास और त्याग के स्वरूप की एकता बताने के लिये इस विषय के मतान्तरों को पहले बताते हैं :—

भगवान् बोले—"स्वर्गकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत, वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" अर्थात् स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे, पुत्र की इच्छा से यज्ञ करे, यज्ञ वा वैभव की कामनावाले वायु देवता को उजले पशु की बलि दें। इन श्रुतियों से कहे गये कामना सहित अनुष्ठित पशु यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ आदि कर्मों के त्याग को कोई-कोई पण्डित लोग संन्यास कहते हैं। मनु ने भी कहा है—"मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवाय-जिहासया॥" अर्थात् मोक्ष का चाहनेवाला काम्य और निषिद्ध कर्मों में न लगे। प्रत्यवाय के नाश के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करे। मनु के कहे करने योग्य नित्य नैमित्तिक कर्मों के फल के छोड़ने को विवेकी लोग त्याग कहते हैं। फलत्याग ही त्याग शब्द का मुख्य अर्थ है। अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि नित्य नैमित्तिक कार्यों के विषय में जो श्रुति स्मृतियों में वचन हैं जैसे—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" (प्रतिदिन संन्ध्या करो), "यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति" (जब तक जीवे अग्निहोत्र करे), इनमें फल का तो कहीं उल्लेख ही नहीं है तब इनके फल का त्याग कैसा? पर ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रुति ही में लिखा है—"धर्मेण पापमपनुदति" (धर्म से पाप का क्षय होता है), "कर्मणा पितृलोकः" (कर्म से पितरों का लोक मिलता है)। इन श्रुतियों में फल का होना सुना जाता है, इससे फल का त्याग सम्भव है। फिर श्रुति कहती है:—अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है)। इस श्रुति में अविद्या शब्द का अर्थ है वर्णाश्रम के उचित कर्म और उनका फल हुआ मृत्यु शब्द से निर्दिष्ट प्रमाद को पार करना अर्थात् वर्णाश्रम कर्म मृत्यु अर्थात् प्रमाद (अज्ञान) से तरने का उपाय है और इस प्रकार वह कर्म फलवाला हुआ। फिर भगवान् भी गीता में आगे कहेंगे—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" अर्थात् अपने-अपने

संसिद्धिं लभते नरः" इति भवता वक्ष्यमाणत्वाच्च । तदत्यागे दोषाभावात् । काम्यकर्मणां तु "गतागतं कामकामा लभन्ते" इति संसरणहेतुत्वाभिधानान्न मृत्युतरणोपायसिद्धिहेतुत्वसम्भावनाऽपीत्यलं विस्तरेण ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

पुनर्मतान्तरमाह—त्याज्यमिति । एके मनीषिणः साङ्ख्याचार्या दोषवत् हिंसादोषवत्त्वेन बन्धकमिति हेतोः सर्वं यज्ञादिकं कर्म मुमुक्षुणा त्याज्यमिति प्राहुः । तत्र यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे पण्डिताः कर्मनिष्ठाः प्राहुः ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥४॥

एवं मतान्तराण्युक्त्वा त्यागविषयं निर्णयमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं वादिप्रतिपन्ने त्यागे निश्चयं सर्वाविरुद्धपक्षं मे मत्तः शृणु । हे भरतसत्तम ! नहि त्यागः सर्वैरवगन्तुं शक्यः । हे पुरुषव्याघ्र ! हि यस्मात्त्यागस्त्रिविधस्तामसादिभेदेन सम्प्रकीर्तितस्तत्त्वविद्भिर्विवेकेन कथित इत्यर्थः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

कर्म में निरत मनुष्य सिद्धि को पाता है, इससे भी कर्म का फलवाला होना प्रमाणित होता है । उसको अर्थात् नित्य नैमित्तिक कर्म को न छोड़ने मे कोई दोष नहीं है । भाव यह है कि उनको करना चाहिए । और काम्य कर्म तो मरण से तरने के उपाय हो ही नहीं सकते । यह बिलकुल असम्भव है क्योंकि स्वयं भगवान् ने कहा है "गतागतं कामकामा लभन्ते" (काम्य कर्म करनेवाले संसार में आते जाते रहते हैं अर्थात् काम्यकर्म उनके संसरण के उपाय बन जाते हैं) ॥२॥

फिर मतान्तर कहते हैं :—

एक प्रकार के पंडितलोग जो सांख्य के आचार्य हैं, यह कहते हैं कि यज्ञादि कर्म मुमुक्षुओं को नहीं करना चाहिए क्योंकि वे दोषयुक्त हैं अर्थात् हिंसा दोषयुक्त होने से संसार में बाँधनेवाले हैं । दूसरे पण्डितगण जो कर्मनिष्ठ हैं कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप ये कर्म नहीं छोड़ने चाहिए ॥३॥

मतान्तरों को कहकर त्याग के विषय में अब अपना मत कहते हैं :—

हे भरतश्रेष्ठ ! त्याग के विषय में इस प्रकार वादियों में मतभेद और शंकायें हैं । इस विषय में सर्व अविरुद्ध पक्ष तुम मुझ से सुनो, क्योंकि त्याग का विषय सब कोई नहीं जान सकता । हे पुरुषों में सिंह ! विवेकियों ने तामस आदि भेद से त्याग तीन प्रकार का कहा है ॥४॥

कोऽसौ निश्चय इत्यत आह—यज्ञदानेतिद्वाभ्याम् । यज्ञदानतप इति वैदिकं कर्म मुमुक्षुणा न त्याज्यम्, अपि तु कार्यं कर्त्तव्यमेव तत् यज्ञो दानं तपश्चैव मनीषिणां मननशीलानामनभिहितफलानां पावनानि मनःशुद्धिकराणि ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

ननु "मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैरि"ति कर्मणां बन्धनत्वाभिधानात्कथमेषां पावनत्वमित्यत आह—एतानीति । यानि यज्ञादीनि कर्माणि पावनान्युक्तानि एतान्यपि सङ्गमहमेवं करिष्यामीत्यभिनिवेशं त्यक्त्वा, फलानि च ममैतत्फलसाधनानीति फलोद्देशं विहाय केवलमीश्वराज्ञापालनात्मकतया कर्त्तव्यानि । हे पार्थेति मे मम निश्चितमुत्तमं श्रेष्ठं मतम् ।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥७॥

"त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्त्तितः"इत्युक्तं त्रैविध्यमेव दर्शयति—नियतस्येति । काम्यस्य कर्मणो बन्धहेतुत्वेन दोषवत्त्वात्त्याग उपपद्यते । नियतस्य तु नित्यकर्त्तव्यतया विहितस्य महायज्ञादेस्तु कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते । अन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वेन मुमुक्षूपादेयत्वात् । एवं मोहात्

भगवान् अपने निश्चय को दो श्लोकों से कहते हैं :—

मोक्षार्थियों को यज्ञ दान तप आदि वैदिक कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, किन्तु उसको कर्त्तव्य ही समझकर करना चाहिए । फल नहीं चाहनेवाले मननशील मनुष्यों को मन इन कर्मों को करने से शुद्ध वा पवित्र होता है ॥५॥

यहाँ यह शङ्का होती है कि "मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" में भगवान् ने कर्म को बाँधनेवाला बताया है, तब कर्म पवित्र करनेवाला कैसे हो सकता है ? इसी शंका का उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं :—

जो यज्ञादि कर्म पवित्र करनेवाले कहे गए हैं, उनको भी संग छोड़कर अर्थात् "मैं इस प्रकार करूंगा" ऐसे गर्व से मुक्त होकर और फल की आशा त्याग अर्थात् इन कर्मों से मुझे यह फल प्राप्त होगा इस आशा को छोड़, केवल भगवान् की आज्ञा का पालन समझकर करना चाहिए । हे अर्जुन ! यही मेरा श्रेष्ठ मत है ॥६॥

गुणानुसार त्याग तीन प्रकार का होता है, यह ऊपर "त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्त्तितः" से कह आये हैं । अब त्याग का तीनों प्रकार वर्णन करते हैं :—

काम्यकर्म बन्धन का कारण होने से दोषयुक्त है इससे उसको छोड़ना उचित है पर नियत जो महायज्ञादि कर्म हैं, जिनको नित्य करना कर्त्तव्य है, उनको छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि वे मुमुक्षुओं के अन्तःकरण की शुद्धि के कारण होने से उपादेय हैं । मोह से अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के अज्ञान

कर्त्तव्याकर्त्तव्याविवेकात् तस्य नित्यस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः। "प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव चे"ति तमोजन्यमोहहेतुत्वेन तामसत्वमित्यर्थः।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

राजसं त्यागमाह—दुःखमिति। कर्मफले वैराग्याभावात् केवलमनुष्ठाने दुःखमिति मत्वा यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् स त्यागकर्त्ता एतादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं लभेत। यथाऽवस्थितवस्तुज्ञानं शास्त्रीयत्यागफलं न प्राप्नुयादित्यर्थः।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन!।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति। कार्यं कर्त्तव्यमेवेति बुद्धया नियतमवश्यकर्त्तव्यतया विहितं नित्यनैमित्तकं कर्म सङ्गं स्वकर्तृत्वाभिनिवेशं फलं चैव त्यक्त्वा परित्यज्यते स त्यागः सात्त्विको मतः। भगवदाराधनरूपतया सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पादक इत्यर्थः।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

तदेवं द्वेष्टीति। सत्त्वसमाविष्टो यदा सत्त्वेनात्मानात्मविवेकज्ञान हेतुना समाविष्टो भवति

से इन नित्य कर्मों का त्याग करना तामस त्याग कहाता है। "प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च" (प्रमाद, मोह और अज्ञान तम से होते हैं)। इस प्रकार तम से उत्पन्न मोह द्वारा यह त्याग पैदा होता है। इसलिए यह तामसी त्याग कहा गया ॥७॥

अब राजस त्याग कहते हैं :—

कर्म के फल में वैराग्य नहीं होने पर भी कर्म के अनुष्ठान को दुःखदायक जान और शरीर के क्लेश के भय से जो कर्म का त्याग किया जाता है वह राजस त्याग है। ऐसे राजस त्याग का करनेवाला त्याग करके भी उसका फल नहीं पाता। भाव कि वह वस्तु के यथार्थ ज्ञानयुक्त शास्त्रीय-त्याग के फल को नहीं पाता ॥८॥

अब सात्त्विक त्याग कहते हैं :—

हे अर्जुन! यह अवश्य कर्त्तव्य है ऐसा जानकर जो नियत कर्म अर्थात् शास्त्र में आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में कहा गया नित्य और नैमित्तिक कर्म, संग अर्थात् कर्त्तापन का अभिनिवेश वा आसक्ति और फल की इच्छा छोड़ किया जाता है वही त्याग सात्त्विक त्याग कहलाता है। भाव कि ऐसा कर्म भगवदाराधनरूप होने से अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञान को उपजाता है ॥९॥

सात्त्विक त्याग से उत्पन्न ज्ञानवाले मुमुक्षुओं की व्यवहारविधि कहते हैं :—

अत एव मेधावी मेधा तत्त्वावधारणलक्षणा बुद्धिस्तद्वान् तत एव छिन्नसंशयः, देहात्मयाथात्म्यनिश्चयेन छिन्नसन्देहः। एवम्भूतो यः सात्त्विकत्यागी स अकुशलं शरीरदुःखावहं शिशिरे प्रातःस्नानमेकादश्युपवासजागरणादिकं कर्म न द्वेष्टि प्रतिकूलबुद्ध्या न त्यजति। कुशले सर्वजनसामान्यप्रियत्वेनाभिमते ग्रीष्मेऽसकृत्स्नानजलक्रीडादिवास्वापारामाटनादौ नानुषज्जते, प्रीत्यतिशयं न करोति। परिणामे सुखापादकं महदपि दुःखं सहते। संसारफलकं महदपि सुखं नेच्छतीत्यर्थः।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

ननु सत्त्वसमाविष्टः कुशलाकुशलयोः कर्मणोर्यदि प्रीतिद्वेषौ न करोति, तर्हि किमर्थं तदनुष्ठानं फलाभावात्। फलाभिसन्धिनाऽनुष्ठितस्य च बन्धकत्वमसकृदुक्तमेव। तस्मान्मुमुक्षुणा सर्वमेव कर्म त्याज्यमित्याशङ्क्याह—न हीति। देहं बिभर्तीति देहभृत् तेन देहभृता उत्पन्नज्ञानेनानुत्पन्नज्ञानेन वा कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं नैव शक्यानि। देहनिर्वाहहेतूनां भोजनाच्छादनाद्यर्थकर्मणामवर्जनीयत्वात्। तस्माद्यस्तु कर्मफलत्यागी कर्मफलानपेक्षी स त्यागीत्यभिधीयते निरूप्यते।

सत्त्व से अर्थात् आत्म और अनात्म के ज्ञान द्वारा शुद्ध चित्तवृत्ति से आविष्ट, और इसलिए मेधावी अर्थात् तत्त्वावधारण लक्षणवाली बुद्धि से युक्त और इसलिए देहात्म के यथार्थ ज्ञान से दूर हो गए हैं सन्देह जिसका ऐसा सात्विक त्यागी अकुशल कार्य से जैसे शरीर को दुःख पहुँचानेवाला जाड़े का स्नान, एकादशी का उपवास, रात्रि जागरण आदि से द्वेष नहीं करता। भाव कि उनको दुःखजनक समझ प्रतिकूल बुद्धि से नहीं छोड़ता। और कुशल कर्म में अर्थात् सबको सुख देनेवाले अतएव प्रिय कामों में, जैसे गर्मी में बार-बार स्नान, जलक्रीडा, दिन का सोना, बगीचा घूमना आदि में अति प्रीति नहीं करता। भाव यह कि परिणाम में सुख देनेवाले बड़े दुःख को भी वह सहता है और संसार देनेवाले बड़े सुख की भी वह इच्छा नहीं करता ॥१०॥

यहाँ शङ्का होती है, कि यदि शुद्ध अन्तष्करण से युक्त मनुष्य को कुशल और अकुशल कर्म में प्रीति और द्वेष नहीं होता है तो वह कर्म किसलिए करता है, क्योंकि उसको फल की कामना तो है ही नहीं ? और यदि फल के लिये वह कर्म संसार में बाँधनेवाले होते हैं, यह बात बार-बार आपने कही है। इसलिए मुमुक्षुओं को कोई कर्म नहीं करना चाहिए। कर्मरूप विक्षेप के अभाव में ज्ञाननिष्ठा खूब सुख से बनेगी। इस शंका का उत्तर यहाँ देते हैं।

देहधारी मनुष्य ज्ञान से वा अज्ञान से, अर्थात् चाहे वह ज्ञानी हो वा अज्ञानी, सब कर्मों को नहीं छोड़ सकता, क्योंकि देह निर्वाह के लिए भोजन कपड़ा चाहिए ही और उसके लिए कर्म करना अनिवार्य है। इसलिए जो कर्मफल को छोड़ता है अर्थात् उसकी इच्छा नहीं करता, वही त्यागी है, यह शास्त्र का मत है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

ननु यथा देहपुष्ट्यद्देश्याभावेनापि कृतस्य दधिदुग्धमिष्टान्नादिभोजनस्य पुष्टिफलत्वदर्शनात् तथा विधिनाऽनुष्ठितकर्मणामिह फलोद्देश्याभावेऽपि प्रेत्येष्टानिष्टं फलं स्यादेवातो मोक्षविरोधित्वान्मुमुक्षुणा हेयमेव सर्वं कर्मेति चेत् तत्राह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नरकतिर्यगादिप्राप्तिफलमिष्टं दिव्यभोगप्राप्तिलक्षणं मिश्रमिष्टानिष्टं मनुष्यसम्बन्धिपुत्रपश्वन्नादीति त्रिविधं कर्मणः शुभाशुभस्य फलत्यागरहितानामेव प्रेत्य देहत्यागादूर्ध्वं देहान्तरे भवति । न तु संन्यासिनां सम्यक्त्यक्तफलानां क्वचिदपि मोक्षविरोधिफलं भवति । एवं च सात्त्विकानां पापाचारासम्भवान्नानिष्टोत्पत्तिः । सुकृतानां तु भगवत्यर्पितत्वान्न तद्भोगोत्पत्तिरत एव मिश्रमपि न भवति । तस्मान्नोक्तशङ्काऽवकाशः ।

पञ्चैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

त्रिविधं कर्मफलं सकामानामेव भवति नतु त्यागिनामित्युक्तम् । तत्र विवेकाविवेकप्रयुक्तयोः कर्मण्यहङ्कारानहङ्कारयोरेव हेतुत्वप्रदर्शनाय कर्मसामान्यम्प्रति कारणपञ्चकं प्रतिजानाति-पञ्चैतानीति ।

फिर शङ्का हो सकती है कि जैसे देह को पुष्ट का उद्देश्य नहीं रहने पर भी दूध मिष्टान्न आदि के भोजन करने का फल शरीर पर पुष्टि के रूप में देखा ही जाता है, उसी प्रकार विधि से अनुष्ठित कर्मों को फल के उद्देश्य के बिना भी यहाँ संसार में करने पर परलोक में उनका इष्ट अनिष्ट फल होगा ही। इसलिए कर्ममात्र ही, मोक्ष का विरोधी होने से, मोक्षार्थियों को छोड़ देना चाहिए। इस शङ्का का उत्तर यहाँ देते हैं :—

अनिष्ट फल जैसे नरक, नीच योनि की प्राप्ति आदि, इष्ट फल जैसे स्वर्गप्राप्ति, दिव्य भोगादि और मिश्रित फल जैसे मनुष्य सम्बन्धी पुत्र, पशु, अन्न आदि का होना। शुभाशुभ कर्म के ये तीनों इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित फल त्याग नहीं करनेवालों को ही, वर्त्तमान के बाद, देहान्तर में मिलते हैं। संन्यासियों को अर्थात् जिन्होंने पूर्णरूप से फल त्याग कर कर्म किया है उनको ये मोक्ष के विरोधी फल नहीं मिलते। कारण कि जो सात्त्विक हैं वे तो बुरे कर्म करेंगे ही नहीं और इसलिए उनको अनिष्ट फल की उत्पत्ति नहीं होगी और अपने अच्छे कामों को वे भगवान् को अर्पण कर देते हैं इसलिए सुकर्म का फलरूप इष्ट भोग भी उनको नहीं होगा, और जब इष्ट अनिष्ट नहीं रहा तो मिश्रित भी नहीं रहा। इससे ऊपर की शंका करने की जगह नहीं रही ॥१२॥

तीन प्रकार का कर्मफल कामनायुक्तों को ही होता है त्यागियों को नहीं, यह ऊपर कहा गया। अब अविवेक और विवेक से उत्पन्न कर्म में अहङ्कार और अहङ्कारशून्यता का हेतु दिखाने के लिए कर्म मात्र के पांच कारणों को बताने की प्रतिज्ञा करते हैं।

हे महाबाहो ! एतानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि कर्मनिवर्त्तकानि मे मत्तो निबोध जानीहि। कर्मण्यहङ्कारनिवृत्तये विवेकार्थं मुमुक्षुणाऽवश्यं ज्ञातव्यानीति प्रशंसति। सांख्ये सम्यक् ख्यायन्ते निरूप्यन्ते विविच्यन्ते तत्त्वान्यस्मिन्निति सांख्यं तस्मिन्। कथम्भूते कृतान्ते बन्धमोक्षहेतुतया हेयोपादेयविभागेन कृतोऽन्तः कर्माकर्मनिर्णयो यस्मिन् तत्कृतान्तं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्। यद्वा सम्यक् ख्यायन्ते निरूप्यन्ते ज्ञातव्या जीवेश्वरमायादिपदार्था यस्मिन् तत्सांख्यं, कृतोऽन्तो बन्धमोक्षसाधनादिनिर्णयो यस्मिन् तत्कृतान्तं तस्मिन् सांख्ये कृतान्ते वेदान्तशास्त्रे सर्वकर्मणां सिद्धये बन्धकत्वाभावेन यथावत्तत्त्वज्ञानोत्पत्तये प्रोक्तानि प्रकर्षेण संशयाभावेनोक्तानि।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

तान्येवाह—अधिष्ठानमित्यादिचतुर्भिः। अधिष्ठानमधिष्ठीयते भोक्तृतया पुरुषेणास्मिन्नित्यधिष्ठानं पंचमहाभूतसङ्घातरूपं शरीरं, तथा कर्त्ता जीवपुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दाभिधेय आत्मा, तस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं ज्ञातृत्वं च शास्त्रसिद्धं "मन उत्क्रामन्मीलित इवाश्नन्निवन्नास्ते" इतिश्रुतौ मनस उत्क्रान्त्यनन्तरमपि कर्तृत्वाभिधानात् "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि"ति सूत्राच्च। तथा "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि

हे महाबाहो ! (अर्जुन) कर्म के निवर्त्तक अर्थात् सिद्ध करनेवाले पाँच कारणों को, जिनको मैं कहूँगा, तुम मुझ से जानो। कर्म में अहङ्कार हटाने के लिए और विवेक पैदा करने के लिए सब मोक्षार्थियों को इनको अवश्य जानना चाहिए। ऐसा कहकर भगवान् इस कारण पंचक के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं। सांख्य में अर्थात् उस शास्त्र में जिसमें तत्त्वों की विवेचना अच्छी रीति से की गई है और बन्धमोक्ष के कारण होने से छोड़ने और संग्रह करने योग्य कर्म और अकर्मों का विभाग कर निर्णय किया गया है वा जिसमें जानने योग्य जीव, ईश्वर, मायादि पदार्थों का निरूपण किया गया है और बन्ध और मोक्ष और भगवत्प्राप्ति के साधनों को बताया गया है उस वेदान्त शास्त्र में सब कर्मों की सिद्धि के लिए अर्थात् बन्धकत्व के अभाव द्वारा ठीक तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण पंचक का संशय रहित वर्णन किया गया है ॥१३॥

चार श्लोकों से कारण पंचक को कहते हैं :—

भोक्ता रूप से पुरुष जिसमें अधिष्ठान करता है वा रहता है, वह पंच महाभूतों का संघातरूप शरीर अधिष्ठान है। यह अधिष्ठान वा शरीर कारणपंचक में पहला हुआ। दूसरा है कर्त्ता अर्थात् पुरुष, जीव क्षेत्रज्ञ आदि नामों से कहा जाननेवाला आत्मा। आत्मा का कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता होना शास्त्र से सिद्ध है। श्रुति कहती है, "मन उत्क्रामन्मीलित इवाश्नन्निवन्नास्ते" अर्थात् मन के बिगड़ जाने पर भी आत्मा मिला हुआ सा खाता पीता रहता है। इस श्रुति में मन के निकल जाने पर भी आत्मा का कर्त्ता होना कहा है। वेदान्त सूत्र में भी "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (जीव कर्त्ता है, क्योंकि

प्रकृतिस्थानि कर्षती"त्यत्रापि। तथा भोक्तृत्वमपि "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितमि" त्यादिशास्त्रसिद्धम्। अत्र केचित्कर्त्ता चिज्जडग्रन्थिरहङ्कार इति वदन्ति, तदुदाहृतशास्त्रविरोधादुपेक्षणीयम्। पृथग्विधमनेकप्रकारं करणं वाक्पाणयादिपञ्चेन्द्रियं, विविधाश्च पृथक्चेष्टाः प्राणापानादयो वायुव्यापराः, दैवं चैवात्र पञ्चममत्र कारणसमुदाये पञ्चमं दैवं देवानामप्यन्तर्यामी परमात्मा कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः। "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठती"त्युक्तवक्ष्यमाणत्वात्। "परात्तु तच्छ्रुतेरिति सूत्रकारनिर्णयाच्च।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

इमान्येव सर्वकर्महेतव इत्याह—शरीरेति। शरीरवाङ्मनोभिस्त्रिभिरेतैर्यत्कार्यं नरः प्रारभते निर्वर्त्तयतीति न्याय्यं शास्त्रविहितं धर्म्यं विपरीतं वा शास्त्रनिषिद्धं वा न्याय्यविपरीतयोर्मध्ये प्राणापानाद्यन्यत्सर्वमन्तर्भवति। तस्य सर्वविधस्य कर्मणः पञ्चैते यथोक्ता हेतवः कारणानि भवन्ति।

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

तभी विधि शास्त्र सार्थक हो सकते हैं अन्यथा नहीं।) से आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध है। "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति" (मन छठाँ इन्द्रिय है। श्रोत्रादि पाँच और छठाँ मन। जीव अनादि कर्मवश से वासना में बँधा हुआ प्रकृति के कार्य अहंकार में लीन रूप से स्थित और फिर उन उन कर्मों के अनुरूप प्रगट होनेवाली उन मन सहित छः इन्द्रियों को अपने भोग साधन के लिए ग्रहण करता है)। यहाँ पर भी आत्मा का कर्त्ता होना कहा गया है। फिर आत्मा का भोक्ता होना शास्त्र सिद्ध है, यथा:—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" (परमात्मा और जीव में से जीव पीपल के स्वादु फल को खाता है), "उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्" (अर्थ पीछे लिखा गया है)।

कोई चित् और जड़ की गाँठ जो अहंकार है उसे कर्त्ता कहते हैं, पर यह मत ऊपर उद्धरित शास्त्र वचनों का विरोधी है इसलिए उपेक्षा करने लायक है। अनेक प्रकार के कारण अर्थात् वाक्, हाथ पैर आदि पाँच इन्द्रियाँ कारण पंचक में तीसरे हैं। और विविध भाँति के प्राण, अपान आदि वायुओं के व्यापार चौथे हैं। पाँचवा है दैव, अर्थात् देवों का भी अन्तर्यामी परमात्मा। कर्म की सिद्धि में यही प्रधान कारण है, क्योंकि भगवान् स्वयं आगे कहेंगे—"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः। मैं सब भूतों के हृदय में रहता हूँ, हे अर्जुन !। सूत्रकार का भी यही निर्णय है, यथा "परात्तु तच्छ्रुतेः' अर्थात् कर्मों का फल देनेवाला परमात्मा है क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है ॥१४॥

पूर्वोक्त ये ही पाँच कारण सब कर्मों के हेतु हैं। इसीको कहते हैं—

मनुष्य शरीर, वचन और मन से जितने कर्म करता है, चाहे वे शास्त्र सम्मत, धर्म युक्त कार्य हों, अथवा शास्त्र से निषिद्ध, उन सब प्रकार के कर्मों के ये ही पाँच कारण हैं ॥१५॥

इदानीमधिष्ठानादिहेतुपञ्चकनिरूपणस्य प्रयोजनमाह—तत्रेति । तत्र एवं यथोक्ते न्याय्ये विपरीते वा कर्मणि अधिष्ठानादिहेतुके निश्चिते सति कस्मिंश्चिदपि कर्मणि कर्त्तारमात्मानं केवलमहमेव कर्त्तेति यः पश्यति जानाति, स अकृतबुद्धित्वात् अकृता शास्त्राचार्योपदेशसंस्काररहिता बुद्धिर्यस्य स तथाभूतत्वान्न पश्यति । यथाऽवस्थितात्मनः कर्तृत्वं परमेश्वरनियम्यशरीरेन्द्रियाधीनमिति न पश्यति, अतो दुर्मतिः । दुष्टाऽयथार्थग्राहिणी मतिर्यस्य स विपर्ययज्ञानात्संसारे बन्धं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

एवमविवेकिन आत्मनः स्वतन्त्रकर्तृत्वज्ञातुरज्ञत्वं दुर्मतित्वं च निरूप्य निरहङ्कारस्य सुबुद्धित्वेन कर्मलेपाभावं निरूपयति यस्येति । यस्य शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतान्तःकरणस्य पुरुषस्य अहङ्कृतो भावोऽहङ्कर्त्तेत्येवंरूपो भावोऽभिप्रायो न भवति । परमेश्वराधीनदेहेन्द्रियनिमित्तकर्तृत्वनिश्चयात् । अत एव बुद्धिर्यस्य न लिप्यते, ममेदं कर्म मदीयमिष्टं साधयेदितोष्टसाधनत्वेन तत्राभिनिवेशं न करोति । स एवम्भूतो विविक्तात्मस्वरूप इमाँल्लोकान् प्राणिनो हत्वाऽपि न हन्ति, हननक्रियाऽऽश्रयो न भवति ।

यहाँ शरीर आदि हेतु पंचक के निरूपण के प्रयोजन को बताते हैं—

यहाँ इस प्रकार शास्त्र विहित अथवा शास्त्र निषिद्ध कर्म में शरीर आदि पूर्वोक्त पाँच कारणों के निश्चित होने पर किसी काम में केवल अपने ही को जो कर्त्ता मान लेता है, वह शास्त्र और आचार्य के उपदेश के संस्कार से रहित बुद्धि होने के कारण, यथार्थ बात को नहीं देखता । वह यह नहीं समझता कि आत्मा का कर्त्तापना ईश्वर से नियम्य, शरीर और इन्द्रिय के अधीन है । इसी कारण वह दुर्मति है, अर्थात् उसकी बुद्धि यथार्थ बात को नहीं ग्रहण करती और इसलिए वह उल्टा ज्ञान के कारण संसार में बन्ध प्राप्त करता है अर्थात् वह संसार चक्र में घूमता रहता है ॥१६॥

इस प्रकार यह निरूपण कर चुके कि अविवेकी लोग जो आत्मा को स्वतन्त्र कर्त्ता जानते हैं वे अज्ञ और दुर्मति हैं । अब यहाँ यह दिखाते हैं कि अहंकार रहित मनुष्य अपनी अच्छी बुद्धि के द्वारा कर्म में लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म उसे नहीं बाँधते ।

शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जिस शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष को अहंकार का भाव, अर्थात् मैं कर्त्ता हूँ ऐसा भाव नहीं होता क्योंकि वह समझता है कि देह, इन्द्रिय के बिना कर्म नहीं हो सकता और ये सब परमेश्वर के अधीन हैं, और इसीलिए जिसकी बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होती अर्थात् मेरा यह कर्म है इससे मेरा यह इष्ट साधन होगा, इस प्रकार के कर्म में इष्ट साधन रूप से आसक्ति नहीं होती, वह देह से अलग आत्मा को जाननेवाला पुरुष इन मनुष्यों (युद्ध भूमि में आये हुए मनुष्यों) को मारकर भी उनको नहीं मारता, अर्थात् मारने की क्रिया का आश्रय नहीं बनता । इस प्रकार के मनुष्यों से तो हिंसा कर्म बनता ही नहीं और कदाचित् कुछ हिंसा हो भी गयी तो वह अपने को उस

यद्यप्येवम्भूतस्य न हिंसादिकर्म सम्भवति। तथाऽपि कथं चित्स्यात्तर्हि अहंकर्त्तेति न मन्यते इत्यर्थः। तत एव न निबध्यते तत्कर्मफलानुभवाय तत्र तत्र न जायते इत्यर्थः।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः ॥१८॥

कर्मण्यभिमानरहितः कर्मभिस्तत्फलैश्च न लिप्यते इत्युक्तं, सा निरभिमानता सत्त्वगुणवृद्धया भवत्यतः सत्त्वस्योपादानाय सत्त्वादिगुणकृतं ज्ञानादिभेदं वक्तुं तावत् कर्मविधेः कर्मणश्च त्रैविध्यमाह—ज्ञानमिति। तत्र ज्ञानं कर्मकर्तृविधिदेवताविषयं, ज्ञेयं ज्ञातव्यं साङ्गं कर्म, परिज्ञाता तस्य कर्मणो बोद्धा, एवं त्रिविधा कर्मचोदना प्रवृत्तेनोपदेशादिशब्दाभिधेयः कर्मविधिरित्यर्थः। "चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिन"इतिभट्टैरुक्तत्वात्। तत्र ज्ञेयं कर्म त्रिविधं—करणं कर्म कर्त्तेति। साधकतमं करणं वाक्पाण्यादीन्द्रियं स्रुगादि च, कर्म कर्तुरीप्सिततमं कर्तुः क्रियया प्राप्यमाणं ज्योतिष्टोमादिकं, कर्त्ता क्रियानिवर्त्तकः स्वतन्त्रः, त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः, कर्म सङ्गृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसङ्ग्रहः करणकर्मकर्त्तेति त्रिविधो ज्ञेय इत्यर्थः।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

हिंसा कर्म का कर्त्ता नहीं मानता। इस कारण ऐसे मनुष्य कर्मफलों से नहीं बंधते अर्थात् कर्मफलों के अनुभव के लिए जहाँ तहाँ नहीं जन्मते। भाव यह कि कर्मभोग के लिए नाना योनियों में जन्म ग्रहण नहीं करते ॥१७॥

कर्म में अभिमान रहित पुरुष कर्मसे और उनके फलों से लिप्त नहीं होता, यह कहा। इस प्रकार की निरभिमानता सतोगुण की वृद्धि से होती है। इसलिए सतोगुण के उपादान के लिए सत्त्वादि गुणों के भेद से किये गये ज्ञानादि के भेदों को कहेंगे। यहाँ कर्मविधि और कर्म के तीन प्रकारों को कहते हैं।

ज्ञान अर्थात् कर्म, कर्त्ता, विधि और देवता विषयक ज्ञान, ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य अंग सहित कर्म और परिज्ञाता अर्थात् उस कर्म का जाननेवाला, यह तीन प्रकार की कर्म चोदना वा कर्म की विधि है। चोदना का अर्थ है उपदेश, प्रवृत्ति, विधि आदि जैसा कि भट्टों ने कहा है—"चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः।" (चोदना, उपदेश, विधि ये एक अर्थ के वाचक हैं)। जिसमें ज्ञेय कर्म तीन प्रकार का है, करण, कर्म, और कर्त्ता। वाक्, हाथ, पैर स्रुवा आदि जो कर्म के साधन हैं वे करण कहे जाते हैं। कर्त्ता को अत्यन्त इच्छित और क्रिया द्वारा कर्त्ता को प्राप्यमाण जैसे ज्योतिष्टोम आदि कर्म कहा जाता है। और क्रिया को पूर्ण करनेवाला स्वतन्त्र कर्त्ता। अर्थात् करण, कर्म और कर्त्ता ये ही तीन प्रकार के कर्म संग्रह हैं ॥१८॥

अथोपादेयसात्त्विकज्ञानकर्मकर्तृस्वरूपज्ञापनाय तेषां सात्त्विकादिभेदं वक्तुं प्रतिजानीते—ज्ञानमिति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं सर्वकर्मविषयं, कर्म कर्त्रानुष्ठेयं, कर्त्ता तस्यानुष्ठाता, करणाद्यन्यत्कारकमत्रैवान्तर्भूतमिति सत्त्वादिगुण (भेद)तस्त्रिधैव प्रोच्यते क्व गुणसङ्ख्याने। गुणाः सत्त्वादयः सम्यक्ख्यायन्ते स्वरूपतः कार्यतश्च यस्मिन्निति गुणसङ्ख्यानं साङ्ख्यशास्त्रं तस्मिन् तान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु अवधारय।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

तत्र ज्ञानस्य सत्त्वादिगुणतस्त्रैविध्यमाह—सर्वभूतेष्विति त्रिभिः। सर्वभूतेषु देवमनुष्यपश्वादिषु जातिस्वभावतो विभक्तेषु परस्परं व्यावृत्तेषु एकं ज्ञानैकस्वरूपत्वेन विशेष्यवर्जितं भावमात्मवस्तु अविभक्तं देवमनुष्यादिवर्णाश्रमादिविभागरहितमव्ययं व्ययशीलेषु शरीरेषु व्ययरहितं परिणामशून्यं कूटस्थमित्यर्थः, अन्तर्यामिणं भगवन्तं वा कर्मानुष्ठानवेलायां येन ज्ञानेन पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

राजसं ज्ञानमाह—पृथक्त्वेनेति। तुशब्दः पूर्वोक्तान्निकृष्टत्वद्योतनार्थः। पृथक्त्वेन दृश्यमानेषु

अब उपादेय सात्त्विक ज्ञान, कर्म और कर्त्ता का स्वरूप बताने के लिए उनके सात्त्विक आदि भेदों को कहते हैं :—

ज्ञान अर्थात् जिससे कर्म जाना जाय वह सब कर्मविषयक ज्ञान। कर्म अर्थात् कर्त्ता जिसका अनुष्ठान करे। कर्त्ता अर्थात् कर्म का करनेवाला मनुष्य। करण आदि दूसरे कारक इन्हीं के अन्तर्गत हैं। ये सब सत्त्व आदि गुणों के भेद से सांख्य शास्त्र में तीन प्रकार के कहे गये हैं। गुण संख्यान का अर्थ है वह शास्त्र जिसमें सत्त्वादि गुणों के स्वरूप और कार्य का अच्छे प्रकार वर्णन हो। इन ज्ञानादि के विषय में भी मैं अब कहूँगा। तुम यथावत् सुनो अर्थात् धारण करो ॥१९॥

अब सत्त्वादि गुणों के अनुसार ज्ञान तीन प्रकार का होता है, यह बताते हैं :—

सात्त्विक ज्ञान वह है जिससे कर्मानुष्ठान के समय में जाति और स्वभाव से एक दूसरे से पृथक् देव, मनुष्य, पशु आदि सब भूतों में अविभक्त भाव अर्थात् विभिन्नता रहते हुए भी ज्ञानस्वरूप होने से विशेषता शून्य आत्म-भाव देखा जाय। अर्थात् नाश होनेवाले शरीरों में स्थित परिणाम शून्य अविनाशी आत्मा का ज्ञान जिसके द्वारा हो उसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। अथवा जिस ज्ञान के द्वारा अन्तर्यामी भगवान् सम और एक हैं ऐसा बोध हो, उसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं ॥२०॥

अब राजस ज्ञान कहते हैं। "तु" शब्द का अर्थ यह कि राजस ज्ञान पहले कहे गये सात्त्विक ज्ञान से निकृष्ट है।

ब्राह्मणादिषूत्तमाधमतया प्रतीयमानेषु भूतेषु नानाभावाज्जीवात्मनः पृथग्विधान् तत्तद्देहयोगादुत्तमाधमान् सुखिदुःखिनः यज्ज्ञानं वेत्ति येन ज्ञानेन पुरुषो जानाति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति । तुशब्दस्तस्मादप्यतिनिकृष्टं द्योतयति यज्ज्ञानमेकस्मिन्कार्ये एकस्मिन्नप्यस्मिन् क्षुद्रदेवताप्रेतभूतगणाद्याराधनरूपे कर्मणि अतितुच्छेऽपि कृत्स्नफलवत्सक्तमेतदेव मम सर्वाभीष्टप्रदमिति अहैतुकं हेतुरहितं निर्युक्तिकं यतोऽतत्त्वार्थवत् शास्त्रसिद्धतत्त्वार्थशून्यम् अत एवाल्पं च अल्पविषयत्वादल्पफलकं तज्ज्ञानं तामसमुदाहृतम् ।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

एवं कर्मानुष्ठातुर्ज्ञानांशेन गुणतस्त्रैविध्यं प्रदर्श्येदानीं कर्मण एव गुणतस्त्रैविध्यमाह—नियतमिति । नियतं नित्यकर्त्तव्यतया विहितं सङ्गरहितम्, सङ्गोऽहमस्य कर्त्ता फलभोक्तेत्यभिनिवेशस्तद्रहितम् अरागद्वेषतः कृतं रागोऽनेन लोकपूजास्तुत्यादिप्राप्त्यामीति प्रीतिविशेषः, द्वेषः शत्रुमरणाद्यनिष्टचिन्तनं, ताभ्यां न कृतमिति । अफलप्रेप्सुना स्त्रीपुत्रधनादिफलाभिलाषरहितेन कर्त्रा यत्कृतं कर्म तत्सात्त्विकमुच्यते ।

ऊँच नीच, दुःखी सुखी आदि भेदों के द्वारा पृथक् २ रखनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, पशु, पक्षी आदि भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीर के होने से वा दुःख सुख के भेद से, जीवात्मा में पृथकता जिस ज्ञान के द्वारा जानी जाती है, उसे राजस ज्ञान कहते हैं ॥२१॥

अब तामस ज्ञान कहते हैं :—

'तु' शब्द का तात्पर्य यह है कि तामस ज्ञान राजस ज्ञान से भी अति निकृष्ट है ।

जिस ज्ञान के द्वारा एक ही कार्य जैसे क्षुद्र देवता, प्रेत, भूतादि की पूजा, अति तुच्छ होने पर भी सब वांछित फलों को देनेवाली समझी जाती है उसीको तामस ज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान बिना युक्ति का है क्योंकि शास्त्र से सिद्ध तत्त्वार्थों से शून्य है और इसीलिए अल्प है अर्थात् अल्प विषयवाला होने से यह अल्प फलदाता है ॥२२॥

कर्म करनेवाले के ज्ञान को गुणों के भेद से तीन प्रकार का कहा । नित्य करने को जिन कर्मों का वेद ने विधान किया है उन कर्मों के भी गुणानुसार तीन भेद होते हैं उन तीनों भेदों को अब कहते हैं :— मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ ऐसा अभिनिवेश न हो, राग से अर्थात् लोक पूजा, स्तुति आदि पाने की प्रीति से, वा शत्रुमरण आदि अनिष्ट चिंतन से जो न किया जाय और स्त्री, पुत्र, धन आदि की प्राप्ति रूप फल संकल्पसे जो रहित हो, इस प्रकार कर्त्ता के द्वारा किये गये कर्म को सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

राजसं कर्म :—यत्त्विति । यत्तु कामेप्सुना फलकामनायुक्तेन साहङ्कारेण च । वेति चार्थे । मत्समो याज्ञिकः ज्ञाता वा कोऽन्य इति गर्वयुक्तेन कर्त्रा यत्कर्म क्रियते पुनर्बहुलायासम् उपक्रमात्समाप्ति-पर्यन्तमत्यायासावहं तद्राजसमुदाहृतं विवेचकैः ।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

तामसकर्माह—अनुबन्धमिति । कृते कर्मण्यनुपश्चाद्दह्यतेऽनिच्छयाऽपि कर्मफलभोगायापद्यते इत्यनुबन्धः दुःखविषादादिस्तं, क्षयं द्रव्यबलादिनाशः, हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषं स्वस्य कर्मनिवर्त्तन-सामर्थ्यं च अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात्सर्वकर्मसिद्धिहेतुपरमेश्वरायत्तत्वज्ञानाभावात् यत्कर्म आरभ्यते तत्तामसमुदाहृतम् ।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

ज्ञेयेषु त्रिष्ववशिष्टं कर्मकर्त्तुस्त्रैविध्यमाह—मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः । मुक्तसङ्गः फलाभिलाष-रहितः, अनहंवादी कर्त्तृत्वाभिमानरहितः, धृत्युत्साहसमन्वितः, धृतिः कर्मारम्भ यावत्समाप्तिदुःखादि-

---

अब राजस कर्म कहते हैं :—

जो कर्मफल की कामना सहित, और अहङ्कार युक्त, जैसे मेरे समान याज्ञिक वा कर्म का ज्ञाता दूसरा कौन है इत्यादि घमण्ड से युक्त होकर किये जाते हैं और फिर जिनमें आरम्भ से समाप्ति पर्यन्त बहुत क्लेश होते हैं उनको विवेकी लोग राजस कर्म कहते हैं ॥२४॥

अब तामस कर्म कहते हैं :—

जिस कर्म के करने पर दुःख, विषाद आदि फल बिना बुलाये ही आ जाँय, जिसमें द्रव्य, बल आदि का नाश हो, प्राणियों को पीड़ा हो, और कर्म करने के निज सामर्थ्य को बिना बूझे हुए और मोह से अर्थात् सब कार्यों की सिद्धि भगवान् के अधीन है इस तत्त्व ज्ञान से शून्य हो जो कर्म आरम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहलाता है ॥२५॥

ज्ञेय विषयों में ज्ञान और कर्म का गुणों के भेद से तीन प्रकार का होना ऊपर बता चुके । अब कर्त्ता को भी गुणों के भेद से तीन प्रकार का होना बताते हैं :—

फल की इच्छा से रहित, कर्त्तापने के अभिमान से शून्य, धृति अर्थात् कर्म को आरम्भ कर उसकी समाप्ति होने तक दुःखादि आने पर उद्वेग नहीं होना, और प्रारम्भ किये हुए कर्म की सिद्धि

प्राप्तावनुद्वेगः, उत्साह उद्युक्तचित्तत्वं ताभ्यां समन्वितः आरब्धस्य कर्मणः सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारोऽविकृतचित्तः। एवम्भूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

राजसकर्तारमाह—रागीति। रागोऽस्यास्तीति। रागी इन्द्रियार्थेषु प्रीतिमान्, कर्मफलप्रेप्सुः प्रकर्षेण कर्मफलाकाङ्क्षी, लुब्धः आवश्यकेऽपि द्रव्यव्ययं कर्तुमशक्तः, प्रत्युत परस्वाभिलाषी, हिंसात्मकः परवृत्तिहरणं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः, अशुचिः कर्मापेक्षितशौचवर्जितः, कर्मफलतालालाभयोर्हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

तामसं कर्तारमाह—अयुक्त इति। अयुक्तः अनवहिततया कर्मानुष्ठानायोग्यः, प्राकृतः कर्तव्यविवेकहीनः, स्तब्ध आरब्धेऽपि कार्ये शिथिलः, शठः वञ्चनपरः, नैष्कृतिकः परवृत्तिच्छेदनाभिप्रायेण धर्मादि प्रदर्श्य स्वार्थसाधकः, अलसः आवश्यकेऽपि कर्मण्यनुद्यमशीलः, दीर्घसूत्री च एकद्विदिवसेन साध्यं यत्तन्मासेनापि न साधयति। एवम्भूतो यः कर्ता स तामस उच्यते।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय! ॥२९॥

एवमनुष्ठेयस्य कर्मणो ज्ञानतः स्वरूपतः कर्तृतश्च गुणतस्त्रैविध्यमुक्तमिदानीं तद्व्यवहारा-

---

वा असिद्धि से चित्त में जिसके कुछ विकार न उत्पन्न हो ऐसे कर्म करनेवाले को सात्त्विक कर्ता कहते हैं ॥२६॥

अब राजस कर्ता को कहते हैं :—

इन्द्रिय विषय में प्रीति करनेवाला, कर्मफल की उत्कट इच्छायुक्त, लोभी, अर्थात् आवश्यक काम में भी द्रव्य खर्च करने में अशक्त और दूसरों का धन पाने को लालायित, हिंसा अर्थात् दूसरों की वृत्ति हरण करने के स्वभाववाला, कर्म के योग्य पवित्रता से हीन, और कर्मफलरूप लाभ और हानि से हर्ष और शोक से युक्त जो कर्म करनेवाला है उसे राजस कर्ता कहते हैं ॥२७॥

अब तामस कर्ता का लक्षण बताते हैं :—

असावधानता के कारण कर्मानुष्ठान के अयोग्य, कर्त्तव्य के विवेक से हीन, आरम्भ किये हुए कार्य में भी शिथिल, ठग, दूसरों की वृत्ति नाश करने के मतलब से धर्म आदि दिखाकर अपना स्वार्थ साधनेवाला, आवश्यक काम में भी उद्यम रहित, विषाद करनेवाला और एक दो दिन का काम एक महीने में भी जो नहीं कर सके, ऐसे काम करनेवाले को तामस कर्ता कहते हैं ॥२८॥

इस प्रकार अनुष्ठेय कर्म के ज्ञान, स्वरूप और कर्ता का गुण के भेद से तीन प्रकार का होना

साधारणकारणभूताया बुद्धेर्धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—बुद्धेरिति। बुद्धिरध्यवसायरूपा या तस्या धृतेश्च उद्वेगहेतौ प्राप्तावपि चित्तवृत्तेः स्थैर्यं धृतिस्तस्याश्च सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधं भेदमशेषेण निःशेषेण हे धनंजय ! पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानं यथावत्त्वं शृणु।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३०॥

तत्र त्रिविधबुद्धिमध्ये प्रथमं सात्त्विकीं बुद्धिमाह—प्रवृत्तिं चेति। प्रवृत्तिं त्रिवर्गसाधनभूतं धर्मं, निवृत्तिं मोक्षसाधनभूतं धर्ममथवा प्रवृत्तिः स्ववर्णाश्रमोचिते धर्मे, निवृत्तिः परोचिते धर्मे, कार्याकार्ये इदमस्मिन् देशे काले च कार्यं कर्त्तव्यमिदमस्मिन् देशे काले च न कर्त्तव्यमिति। भयाभये असत्कार्ये प्रवृत्तिर्भयं सत्कार्ये प्रवृत्तिरभयं, बन्धं बन्धोपायं विषयाभिमुख्यं, मोक्षं मोक्षोपायं विषयवैराग्यं, च या वेत्ति हे पार्थ ! सा बुद्धिः सात्त्विकी। बुद्धेः करणत्वेन यया वेत्तीति वक्तव्ये तस्या वेदनासाधारण-हेतुत्वात् कर्त्तृविवक्षया साध्वसिः छिनत्तीति वत् या वेत्तीत्यविरुद्धम।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥३१॥

राजसीं बुद्धिमाह—ययेति। यया पूर्वोक्तं धर्ममधर्मं च कार्यमवश्यकर्त्तव्यतयाकार्यमुपेक्षणीयं च देशकालादिषु यथावन्न जानाति हे पार्थ ! सा बुद्धिः राजसी।

बताकर अब सब व्यवहारों के असाधारण कारणभूत बुद्धि और धृति का गुण भेद से तीन प्रकार का होना बताते हैं :—

हे अर्जुन ! निश्चयकारिणी बुद्धि और धृति अर्थात् उद्वेग का कारण उपस्थित होने पर भी चित्तवृत्ति की स्थिरता, ये दोनों भी, गुणों के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं। उन सबों का पृथक् पृथक् भेद पूरी तरह से मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥२९॥

तीन प्रकार की बुद्धि में से प्रथम सात्त्विकी बुद्धि को यहाँ कहते हैं :—

हे अर्जुन ! प्रवृत्ति अर्थात् अर्थ, धर्म, काम का साधन करनेवाला धर्म, निवृत्ति अर्थात् मोक्ष का साधनभूत धर्म, अथवा अपने वर्णाश्रम के उचित धर्मों में प्रवृत्ति और दूसरे के वर्णाश्रमों के योग्य धर्मों से निवृत्ति, कार्य और अकार्य अर्थात् किस देश काल में क्या करना उचित है और क्या नहीं, भय अर्थात् असत् कार्य में प्रवृत्ति से भय और अभय अर्थात् सत् कार्य में प्रवृत्ति से अभय, बन्ध अर्थात् बन्धन का उपाय विषयासक्ति और मोक्ष अर्थात् मोक्ष का उपाय विषय से विराग, इन सबों को जो बुद्धि जानती है वह सात्त्विकी कहलाती है ॥३०॥

अब राजस बुद्धि कहते हैं :—

हे अर्जुन ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य पूर्व में कहे गये, धर्म, अधर्म, कार्य अर्थात् अवश्य करणीय, अकार्य अर्थात् नहीं करने योग्य अर्थात् किस देश कालादि में क्या करना और क्या नहीं करना

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥३२॥

तामसीं बुद्धिमाह—अधर्ममिति। या तमसाऽऽवृता तमोव्याप्ता सती अधर्मं धर्मं धर्मं चाधर्ममिति मन्यते सर्वार्थान् विपरीतांश्च मन्यते परतत्त्वमपरमपरतत्त्वं च परं, बद्धं जीवं मुक्तं, मुक्तं परमेश्वरं मायाऽवच्छिन्नं, परिच्छिन्नं प्रत्यगात्मानं विभुम्, अनन्तकल्याणगुणमीश्वरं निर्विशेषं, वेदान्तवेद्यं प्रमाणाविषयं, सत्यं विश्वमसत्यं, स्वभावतो जगद्भिन्नाभिन्नं ब्रह्म केवलभिन्नमभिन्नं चेत्येवं सर्वान्पदार्थान् विपरीतान्विपर्ययेण मन्यते सा तामसीत्यर्थः।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्य धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३३॥

इदानीं धृतेस्त्रैविध्ये प्रथमां सात्त्विकीं धृतिमाह—धृत्येति। अव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतया यया धृत्या योगेन सात्त्विकविषये चित्तैकाग्र्येण मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टाः पुमान् धारयते धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ज्ञेयेत्यर्थः।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन !।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥३४॥

चाहिए आदि को ठीक-ठीक नहीं जानता अर्थात् सन्देहयुक्त बना रहता है, वही बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अब तामसी बुद्धि का वर्णन करते हैं :—

हे अर्जुन ! तामस वा अन्धकार से ढके रहने के कारण जो बुद्धि धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानती है और सब बातों को उल्टा ही समझती है, जैसे परतत्त्व को अपरतत्त्व और अपरतत्त्व को परतत्त्व, बद्ध जीव को मुक्त और मुक्त परमेश्वर को माया से अविच्छिन्न वा युक्त, परिच्छिन्न जीवात्मा को विभु, अनन्त कल्याण गुणयुक्त ईश्वर को विशेषण रहित, वेदान्त के द्वारा जाननेयोग्य ब्रह्म को प्रमाण का अविषय, सत्य विश्व को असत्य, स्वभाव से ही जो जगत् से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है, उस ब्रह्म को केवल भिन्न वा केवल अभिन्न, इस प्रकार सब पदार्थों को उल्टा ही समझनेवाली बुद्धि तामसी कही जाती है ॥३२॥

तीन प्रकार की धृति में से सात्त्विकी धृति को अब यहाँ कहते हैं :—

हे अर्जुन ! अव्यभिचारिणी अर्थात् नित्य समाधि में स्थित वा भगवत् विषय को छोड़ अन्य विषय को नहीं धारण करनेवाली जिस धृति से योग द्वारा अर्थात् सात्त्विक विषयों में चित्त की एकाग्रता द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया अर्थात् चेष्टा को मनुष्य धारण करता है अर्थात् अपने वश में करता है, उसे सात्त्विकी धृति कहते हैं ॥३३॥

राजसीमाह—यया त्विति। फलाकाङ्क्षीः पुरुषः प्रसङ्गेनात्मनः कर्त्तृत्वाभिनिवेशेन यया धृत्या धर्मकामार्थान् धर्मं काममर्थं च धारयते प्राप्यतया धारयतेऽवधारयति न तु तद्विलक्षणं मोक्षाख्यं कदाचिदपि हे पार्थ ! सा धृती राजसी।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥३५॥

तामसीं धृतिमाह—ययेति। यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तदर्शनजं विषादं खेदं मदं विरुद्धविषयानुभवजन्यं हर्षम् एतान् दुर्मेधा दुष्टा निषिद्धार्थधारणावती मेधा बुद्धिर्यस्य स पुरुषो न विमुञ्चति सदा तत्रैव निष्ठां करोतीत्यर्थः। धृतिः सा पार्थ ! तामसी भवतीति सम्बन्धः।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ !।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

एवं ज्ञानकर्मकर्त्तृबुद्धिधृतीनां त्रैविध्यं निरूपितमिदानीं सर्वजीवाभिलषितस्य सुखस्य गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—सुखं त्वित्यर्द्धेन। पूर्वोक्तज्ञानकर्मादयो यदर्थकास्तत्सुखं तु इदानीं मे मम वचनात्त्रिविधं शृणु, हेयोपादेयज्ञानार्थमवधारय। तत्र सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन—अभ्यासादिति। यत्र यस्मिन्सुखे अभ्यासाच्चिरकालावर्त्तनाद्रमते अबाधितां रतिं प्राप्नोति दुःखान्तं च निगच्छति, दुःखस्यान्तं च नितरां गच्छति न तु विषयसुख इव दुःखोदर्कं प्राप्नोति।

अब राजसी धृति कहते हैं :—

हे अर्जुन ! फल की आकांक्षायुक्त पुरुष प्रसंग से अर्थात् मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ, मुझे इसका फल मिलेगा इस धारणा से जिस धृति द्वारा अर्थ और काम को प्राप्त करने योग्य वस्तु निश्चय करता है और इन सबसे विलक्षण और श्रेष्ठ मोक्ष को प्राप्तव्य वस्तु कभी नहीं मानता, वही राजसी धृति कहलाती है ॥३४॥

जिस धृति से दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य स्वप्न अर्थात् निद्रा, त्रास, इष्ट के वियोगनिमित्त दर्शन से उत्पन्न शोक, खेद और मद अर्थात् विरुद्ध विषय के अनुभव से उत्पन्न हर्ष आदि को नहीं छोड़ता है अर्थात् उनमें सदा निष्ठा करता है उसी को, हे पार्थ ! तामसी धृति कहते हैं ॥३५॥

इस प्रकार ज्ञान, कर्म, बुद्धि और धृति, इन सबके तीन तीन प्रकार के रूपों को निरूपण कर अब सब प्राणियों को अभिलषित सुख का गुणभेद से तीन प्रकार का होना बताने की प्रतिज्ञा करते हैं :—

पीछे कहे गये ज्ञान कर्मादि जिस सुख के लिए किये जाते हैं उसका तीन प्रकार का होना मुझसे सुनो, अर्थात् कौन ग्रहण करने योग्य और कौन छोड़ने योग्य है, इसको जानने के लिए उसके प्रकारों को मुझसे समझो।

अब आधे श्लोक से सात्त्विक सुख को कहते हैं। जिस सुख में अभ्यास से अर्थात् चिरकाल

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

तदेव विशिनष्टि—यत्तदिति । यत्तत्किमपि अग्रे वैराग्यासनयमनियमोपवासज्ञानध्यानाद्युपासनारम्भे यद्दुःखासाध्यत्वाद्विषमिवातिदुःखमिव भवति । परिणामे वैराग्यादिपूर्वकोपासनपरिपाके अमृतोपममतिप्रियं भवति । यत् आत्मबुद्धि प्रसादजम् आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो रजस्तमःकार्यकामलोभमोहत्यागेन स्वच्छतया निरतिशयानन्दरूपेऽवस्थानं ततो जातं सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं तद्विद्विद्भिः ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

राजसं सुखमाह—विषयेन्द्रियेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाद्यत्तल्लोकप्रसिद्धं स्त्रीप्रसङ्गादिजन्यं सुखमग्रेऽनुभवकाले अमृतोपममामृततुल्यं भवति । मनइन्द्रियादिसंयमक्लेशाभावात् । परिणामे विषमिव इहामुत्रापि दुःखजनकत्वात्तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

परिचय से अबाधित प्रीति प्राप्त होती है और दुःख का अन्त सदा होता जाता है अर्थात् विषय सुख के समान जो सुख दुःख के गड्ढे में नहीं डालता वही सात्त्विक सुख है ॥३६॥

सात्त्विक सुख को ही विशेष रूप से यहाँ कहते हैं। जो कुछ आगे अर्थात् वैराग्य, आसन, यम, नियम, उपवास, ज्ञान ध्यान आदि के कष्ट साध्य होने के कारण उपासना के आरम्भ में विष के समान अर्थात् अतिदुःख जैसा प्रतीत होता है और परिणाम में अर्थात् वैराग्यादि पूर्वक उपासना के परिपाक वा सिद्धिकाल में अमृत के समान अति प्रिय प्रतीत होता है, क्योंकि वह सुख आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है अर्थात् रज और तम के कार्य काम मोह लोभ के त्याग से स्वच्छता पूर्वक अत्यन्त आनन्द आत्मस्वरूप में जो स्थिति उससे उत्पन्न होता है, ऐसे सुख को विद्वान् सात्त्विक सुख कहते हैं ॥३७॥

अब राजसी सुख को कहते हैं :—

विषय और इन्द्रिय के संयोग से, जैसे संसार में प्रसिद्ध स्त्रीप्रसंगादि से उत्पन्न सुख जो अनुभव के समय में अमृत के समान प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें मन और इन्द्रिय के संयम का क्लेश नहीं है, और अन्तकाल में इस लोक में और परलोक में दुःख देनेवाला होने से विष के समान है, वही राजस सुख कहलाता है ॥३८॥

तामसं सुखमाह—यदग्र इति । यत्सुखमग्रेऽनुभवकाले अनुबन्धे परिणामे चात्मनो मोहनं सर्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानभ्रंशकं भवति तदेव दर्शयति—निद्रालस्यप्रमादोत्थम् । निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः कर्त्तव्यानवधानं तेभ्य उत्तिष्ठति उद्भवति तथाभूतं तत्तामसमुदाहृतम् ।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

इदानीमुक्तं त्रैगुण्यप्रकरणमुपसंहरन्सर्वस्य प्राकृतस्य त्रैविध्यं सङ्क्षिप्य दर्शयति—न तदस्तीति । प्रकृतिर्भगवतो मायाख्या शक्तिस्तत्सम्भवैरेभिः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं हीनं यत्सत्त्वं प्राणिजातं स्यात् तत् पृथिव्यां मनुष्यादिषु पुनर्दिवि स्वर्गे देवेषु वाऽन्येषु सुतलादिष्वपि नास्तीत्यर्थः ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ! ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

तदेवं श्रेयस्कामानां श्रेयसे ज्ञानकर्मकर्त्रादीनां सात्त्विकोपादनायेतरयोः परिहाराय सात्त्विकादिविवेकज्ञापनपूर्वकं त्रिलोकवर्त्तिप्राणिजातस्य त्रैगुण्यमेव प्रतिपादितमिदानीं सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे सति राजसतामसपरिहारेण सात्त्विकज्ञानकर्मादिनिष्ठस्यापि अनित्यापायिसातिशयं स्वर्गादिसम्बन्धिस्रक्चन्दनारामविहारदिव्यविमानसोमपानाप्सरोविहारादेव फलं स्यान्न तु नित्यानपायिनिरतिशयसुखरूपं

अब तामस सुख कहते हैं :—

जो सुख अनुभवकाल में और अनुबन्ध अर्थात् परिणामकाल में आत्मा को मोहनेवाला अर्थात् सब वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान का नाशक है, क्योंकि यह सुख नींद, आलस्य और प्रमाद अर्थात् काम में असावधानी से पैदा होता है, इसीलिए तामस सुख कहलाता है ॥३९॥

त्रैगुण्य प्रकरण को समाप्त करते हुए अब संसारी वस्तुओं का गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होना संक्षेप में वर्णन करते हैं :—

प्रकृति अर्थात् भगवान् की माया नाम की शक्ति से उत्पन्न इन सत् रज आदि तीन गुणों से रहित सत्त्व अर्थात् प्राणी पृथिवी नाम मनुष्यादि लोक में, स्वर्ग में या देवताओं में अथवा अन्य सुतल आदि लोक में नहीं है । भाव यह है कि माया से उत्पन्न सभी प्राणी समूह स्वस्वगुणों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं ॥४०॥

इस प्रकार कल्याण के चाहनेवालों के लिए ज्ञान, कर्म, कर्त्ता आदि का सात्त्विकरूप ग्रहण करने और राजसिक, तामसिक रूप को छोड़ने के लिए सात्त्विक आदि के विवेक को बतलाते हुए यह कहा कि त्रिलोक में जितने भी प्राणी हैं सब त्रिगुणात्मक हैं, अर्थात् सत्, रज, तम के भेद से तीन प्रकार के हैं । अब सबके त्रिगुणात्मक होने पर राजस, तामस छोड़ केवल सात्त्विक ज्ञान, कर्म आदि में निष्ठ पुरुष को अनित्य, नाशशील, सातिशय स्वर्गादिसम्बन्धी, माला, चन्दन, आराम विहार, दिव्य-विमान, सोमपान, अप्सराविहार आदि ही फल मिलते हैं; नित्य, (न नाश होनेवाला) निरतिशय सुख-

मोक्षाख्यं फलं, तस्मात् कथं मोक्षो भवेदित्यपेक्षायां स्वस्ववर्णाश्रमाधिकारानुसारेण वेदविहितानि सात्त्विकानि कर्माण्येव परपुरुषाज्ञापालनबुद्धया फलकर्तृत्वाभावेनानुष्ठितानि तत्प्रसादजन्यज्ञानभक्ति-द्वारेण भगवत्प्राप्तिलक्षणमोक्षफलकानि भवन्तीति प्रतिपादयितुं कर्माधिकारिणां ब्राह्मणादीनां स्वभावा-नुगुणानि सत्त्वादिगुणभिन्नानि कर्माणि वृत्तिभिः सह विवेक्तुं प्रतिजानीते—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणक्षत्रिय-विशामिति त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनयज्ञाद्यधिकारज्ञापनार्थम् । शूद्राणां चेति समासा-त्पृथक्करणमेकजातितया वेदाध्ययनाद्यधिकारबहिर्भूतत्वज्ञापनार्थम् वेदाध्ययनस्योपनयनसंस्कारतन्त्रत्वात् "तं होपनिन्ये अधीहि भगव इति होपससादे"ति श्रुतेः । शूद्रस्य तु "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कार-महर्हति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिरि"ति तन्निषेधात् । साक्षाद्वेदाध्ययननिषेधोऽपि "पद्भ्यु ह वा एतच्छ्म-शानं यच्छूद्रस्य समीपे नाध्येतव्यम्, अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाछेदः धारणे शरीरभेद" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां शूद्रस्य वेदश्रवणनिषेधादध्ययननिषेधः सुतरां सिद्धः, अध्ययनस्य श्रवणपूर्वकत्वात् । हे परन्तप ! ब्राह्मणादीनां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानि इतरेतरविभागेन

दायक मोक्षरूप फल नहीं मिलता । तब मनुष्यों को मोक्ष कैसे मिल सकता है ? इस प्रश्न की अपेक्षा में यह कहेंगे कि अपने-अपने वर्णाश्रम के अधिकार के अनुसार, वेद से कहे गये सात्त्विक कर्मों को ही, भगवान की आज्ञा पालन समझ और फल की आकांक्षा तथा कर्त्तापन के अभिमान से शून्य होकर करने से भगवान् की कृपा से उत्पन्न, ज्ञान भक्तियोग के द्वारा, भगवत्प्राप्ति लक्षणवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस बात का प्रतिपादन करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कर्माधिकारियों के स्वभाव के अनुसार सत्त्वादि गुणों से भिन्न-भिन्न कर्मों को उनकी वृत्ति के साथ कहने की प्रतिज्ञा करते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों का एक जगह समास कर यह बताया कि ये तीनों द्विज हैं और इनको वेद पढ़ने और यज्ञादि कर्म करने का अधिकार है । शूद्रों को समास से पृथक्कर उनको अलग एक जाति बताया जिनको वेदाध्ययन आदि का अधिकार नहीं है । वेदाध्ययन का अधिकार उपनयन संस्कार के अधीन है । श्रुति कहती है—

"तं होपनिन्ये, अधीहि भगव इति होपससाद" अर्थात् मैं जनेऊ धारण करूँगा । हे भगवन् मुझे पढ़ावो, ऐसा गुरु के पास में जाकर बोले । शूद्रों के विषय में कहा है—

"न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जातिः ।" अर्थात् शूद्र को कोई पातक नहीं होता, न वह कोई संस्कार के योग्य है । शूद्र चौथा वर्ण और एक जाति है । शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध भी साक्षात् रूप से कहा है, यथा—

"पद्भ्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रस्य समीपे नाध्येतव्यम्, अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्र-पुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणम् । उदाहरणे जिह्वाछेदः, धारणे शरीरभेदः" अर्थात् यह शूद्र मसानरूप है । इसलिए शूद्र के समीप वेद को नहीं पढ़ना चाहिए । शूद्र कहीं वेद को सुन ले तो उसके कान में शीशा और लस्ता भर देना चाहिए, वेद का वह उदाहरण दे तो उसकी जीभ छेद देनी चाहिए और यदि वह वेद का धारण करे तो उसका शरीर काट देना चाहिये । इन श्रुति स्मृतियों से शूद्र को वेद सुनना मना है

स्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः । तथा हि ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तमोऽभिभवेनोद्रिक्तः सत्त्वगुणः, क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवस्तमः सत्त्वाभिभवेनोद्रिक्तो रजो गुणः वैश्यस्य स्वभावप्रभवस्तमउपसर्जन उद्रिक्तो रजोगुणः, शूद्रस्य स्वभावप्रभवस्तु रज उपसर्जन उद्रिक्तस्तमोगुणः । एवमेतैः स्वभावप्रभवैर्गुणैश्चतुर्णां वर्णानां प्रविभक्तानि कर्माणि शास्त्रेषु प्रतिपादितानि मया वक्ष्यमाणानि त्वमवधारयेत्यर्थः ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥४२॥

तत्र ब्राह्मणानां स्वभावप्रभवाणि कर्माण्याह—शम इति । शमो बाह्येन्द्रियसंयमः, दमो मनोनियमनं, तपः शास्त्रीयव्रतोपवासनियमैः शरीरतापनं, शौचं शास्त्रीयकर्मयोग्यतापादनं बाह्याभ्यन्तरं, तत्र बाह्यं मृज्जलादिना, आभ्यन्तरं रागद्वेषशून्यत्वं, क्षान्तिर्बह्वपकृतस्याप्यविकृतचित्तत्वम्, आर्जवं भावकौटिल्यराहित्यं शरीरवाङ्मनोभिः समानाचरणमित्यर्थः, ज्ञानं परावरतत्त्वयाथात्म्यबोधः, विज्ञानं परस्परविरुद्धानां वाक्यानामविरोधेन महावाक्यार्थावबोधः, आस्तिक्यं वेदतदनुकूलस्मृतिपुराणेतिहासपञ्चरात्राद्युक्तार्थस्य कृत्स्नस्य सत्यतानिश्चयः, एतद्ब्राह्मणस्य स्वभावजं कर्म ।

और इससे अध्ययन का भी निषेध हुआ क्योंकि बिना सुने अध्ययन नहीं हो सकता । हे अर्जुन ! ब्राह्मण आदि के कर्म उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा पूर्णरूप से विभक्त हैं, जैसे ब्राह्मण में स्वभाव से ही रजोगुण और तमोगुण दबे हुए रहते हैं और सतोगुण बढ़ा हुआ रहता है, फिर क्षत्रिय के स्वभाव में सतोगुण और तमोगुण दबे हुए रहते हैं और रजोगुण बढ़ा हुआ रहता है, वैश्य के स्वभाव में तमोगुण दबा हुआ और रजोगुण बढ़ा हुआ रहता है और शूद्र के स्वभाव में रजोगुण गौण और तमोगुण बढ़ा हुआ रहता है । इस प्रकार स्वभावानुसार चारों वर्णों के जिन विभक्त किये हुए कर्मों को शास्त्रों ने प्रतिपादन किया है उनको मैं कहूँगा, हे अर्जुन ! तुम सावधानी से सुनो ॥४१॥

अब ब्राह्मणों के स्वभावोत्पन्न कर्मों को कहते हैं :—

शम अर्थात् बाहरी इन्द्रियों का संयम, दम अर्थात् मन को काबू में करना, तप अर्थात् शास्त्र में कहे गये व्रत, उपवास, नियम आदि से शरीर को तपाना, शौच अर्थात् शास्त्रीय कर्मों के करने के योग्य बनानेवाली बाहरी और भीतरी शुद्धता, बाहरी शुद्धता मिट्टी जल आदि से और भीतरी शुद्धता राग, द्वेष से रहित होना । क्षान्ति अर्थात् बहुत अपकार होने पर भी चित्त में विकार नहीं आने देना, आर्जव नाम भाव की कुटिलता नहीं होना अर्थात् शरीर, वचन और मन से एक समान आचरण करना, ज्ञान अर्थात् पर और अपर तत्त्व का ठीक-ठीक बोध, विज्ञान अर्थात् परस्पर विरोधी शास्त्र-वचनों का समन्वय करते हुए "तत् त्वमसि" आदि महावाक्यों के अर्थ का बोध, आस्तिक्य अर्थात् वेद और उसके अनुकूल, स्मृति, पुराण, इतिहास, पंचरात्र आदि में कहे हुए अर्थ की सत्यता में पूरा विश्वास, ये सब ब्राह्मण के स्वभावोत्पन्न कर्म हैं ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्माह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः महत्तरानपि रिपून् हन्तुं निःशङ्कतया प्रवर्त्तनस्वभावत्वमित्यर्थः, तेजः परैरनभिभवयोग्यत्वे सति पराभिभवनसामर्थ्यं, धृतिः युद्धादिकर्मण्यारब्धे आपद्यपि अवसादशून्यत्वं, दाक्ष्यं सर्वक्रियासाधनचातुर्यं, युद्धे चाप्यपलायनं मरणे ज्ञातेऽपि परेभ्योऽपराङ्मुखत्वं, दानमर्थिभ्यस्तत्तदर्थत्यागः, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमुपयोगामिनां नियमनसामर्थ्यम्, एतत् क्षात्रं क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

वैश्यशूद्रयोः कर्माह—कृषीति । कृषिरन्नोत्पादनार्थं भूमिकर्षणं, गोरक्षस्य भावो गोरक्ष्यं पशुपालनमित्यर्थः । वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयलक्षणम्, अनेन कुसीदलक्षणं च ग्राह्यम्, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । परिचर्यात्मकं पूर्वोक्तवर्णत्रयाणां शुश्रूषात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् । एतैरेव त्रयाणां वर्णानां नित्यकर्त्तव्यतया वेदविद्भिर्मन्वादिभिर्विहितानि अन्यान्यध्ययनयज्ञादीनि तान्यप्यनुष्ठेयतया गृह्यन्ते इति शेषम् । तत्राध्ययनयज्ञदानानि त्रयाणां साधारणानि, ब्राह्मणस्याध्यापनादीनि त्रीण्यधिकानीति विवेकः । तथाऽऽह मनुः "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव

शौर्य अर्थात् पराक्रम, अपने से बड़े शत्रु को भी मारने में निःशंक होकर प्रवृत्त होने का स्वभाव, तेज अर्थात् शत्रुओं से न हराये जाने की योग्यता रखते हुए उनको हराने की योग्यता रखना; धृति अर्थात् युद्धादि कर्म आरम्भ होने पर आपत्तिकाल में भी शिथिल न होना, दाक्ष्य अर्थात् सब कामों को करने में चतुरता, अपलायन अर्थात् युद्ध से नहीं भागना अर्थात् मरण निश्चय होने पर भी शत्रु को पीठ नहीं दिखाना, दान अर्थात् याचकों को मुंहमांगा दान देना, ईश्वर भाव अर्थात् प्रजा पालन के लिए कुमार्ग चलनेवालों पर हुकूमत चलाने की सामर्थ्य, ये ही क्षत्रियों के स्वभावोत्पन्न गुणानुसार कर्म हैं ॥४३॥

अब वैश्य और शूद्रों के कर्मों को कहते हैं :—

कृषि अर्थात् अन्न पैदा करने के लिए भूमि को जोतना, गोरक्ष्य अर्थात् पशुपालन आदि, वाणिज्य अर्थात् खरीद बिक्री लक्षणवाले बनिये के काम। सूद पर रुपया देना भी इनमें सम्मिलित है। ये वैश्य के स्वभावोत्पन्न कर्म हैं। और पहले कहे गये तीनों वर्णों की सेवा शूद्रों का स्वभावज कर्म है। वेद के जाननेवाले मनु आदिकों द्वारा अध्ययन यज्ञादि जो नित्य कर्म तीनों वर्णों के लिए कर्त्तव्यरूप से कहे गये गुणों से कर लेना चाहिए अर्थात् वे भी इन्हीं में सम्मिलित हैं। उनमें अध्ययन, यज्ञ, दान आदि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही के लिए हैं और अध्यापन आदि तीन कर्म ब्राह्मण के खास हैं। मनु ने ऐसा ही कहा है—

ब्राह्मणानामकल्पयत्। प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्ति च क्षत्रियस्य समादिशत्। पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च। एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयये"ति। शमदमादयस्तु यद्यपि सर्वेषां मुमुक्षूणां साधारणास्तथाऽपि ब्राह्मणस्य सत्त्वोद्रिक्तस्वभावत्वाद्विशिष्योक्ताः। कदा चिदन्यत्रापि सत्त्वोद्रेकवशात्ते भवन्तीति शास्त्रादेव ज्ञायते। तथोक्तं विष्णुस्मृतौ "क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुशरणं तथा। आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्। अनाभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते"इति।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

एवं नियतस्वस्ववर्णाश्रमादिकर्मणः पुरुषार्थोपायत्वमित्याह स्वे स्वे यथोदितवर्णाश्रमोद्देशेन विहिते कर्मणि अभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानयोग्यतां लभते। ननु तर्हि स्वकर्मनिरताः प्रायः सर्वेऽपि दृश्यन्ते सम्यग्ज्ञानिनः कथं न भवन्ति? चेत्कश्चिदपि संसारी न स्यादिति

"अध्यापनमध्ययनं·····शुश्रूषामनसूयया।" अर्थात्—ब्राह्मणों के लिए ये कर्म बनाये गये, यथा—पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ कराना, यज्ञ करना, दान देना, दान लेना। क्षत्रियों को इन कर्मों को करने की आज्ञा हुई, यथा—प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों में आसक्त नहीं होना। वैश्यों के ये कर्म हुए, यथा—पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, बनियाँ का काम करना, सूद पर रुपया लगाना और खेती करना। शूद्रों का केवल एक ही धर्म कहा गया है, यथा—तीनों वर्णों की ईर्षारहित हो सेवा करना।

यद्यपि शम, दम, आदि मोक्ष के चाहनेवाले सब वर्णों के साधारण धर्म हैं, तथापि अधिक सात्त्विक गुणों से युक्त स्वभाववाले होने के कारण ब्राह्मणों के ये विशेष गुण हैं। सत्त्वगुण की अधिकता से ये गुण कभी-कभी दूसरी जगह भी अर्थात् अन्य वर्णों में भी पाये जाते हैं, यह शास्त्र से ही ज्ञात होता है। जैसा कि विष्णु स्मृति में कहा गया है—

"क्षमा सत्यं·····सामान्य उच्यते॥" अर्थात् ये सब वर्णों के लिए समान धर्म हैं, यथा, क्षमा, सत्य, दम, पवित्रता, दान, इन्द्रियों का रोकना, अहिंसा, गुरु की सेवा, तीर्थों में वास, सरलता, लोभहीनता, देव ब्राह्मण की पूजा और किसी से ईर्षा नहीं करना ॥४४॥

अपने अपने वर्णाश्रमादि कर्म पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के उपाय हैं। इस बात को अब कहते हैं:—

अपने वर्णाश्रम के अनुकूल निश्चित किये गये कर्मों में जो मनुष्य पूरी तौर से लगा रहता है वह संसिद्धि अर्थात् सम्यक् ज्ञान की योग्यता पाता है। यहाँ यह शंका होती है कि अपने अपने वर्णाश्रम के कर्म में निरत प्रायः सभी ही मनुष्य देखे जाते हैं तो वे सम्यक् ज्ञानी क्यों नहीं होते? और यदि

चेत्तत्राह—स्वकर्मणि निरतो नितरां रतः श्रद्धयाऽनुष्ठानं कुर्वन् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति लभते तत्प्रकारं शृणु।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

तमेवाह—यत इति। यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेर्भगवतो हेतोर्भूतानां ब्रह्मादिकीटान्तानां प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्चेष्टा वा भवति येनैकेन सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तं स्वकर्मणा स्वाभाविकेन वैदिकेन लौकिकेनापि तमभ्यर्च्य फलकर्तृत्वसमर्पणेन पूजयित्वा मानवः तत्प्रसादात् सिद्धिं तत्त्वज्ञाननिष्ठा-लक्षणां विन्दति लभते।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

यतः परमेश्वराराधनलक्षणधर्मस्य तत्प्रसादात् सिद्धिहेतुत्वमतः सर्वजनस्य तथाविधः स्वधर्मः एव श्रेयस्कर इत्याह—श्रेयानिति। स्वधर्मः स्वेनोपादातुं योग्यः परमात्माराधनरूपो धर्मः विगुणः किञ्चिदङ्गविहीनोऽपि स्वनुष्ठितात्सम्यगनुष्ठितादपि परधर्मात् श्रेयान् प्रशस्यतरः। यतः स्वभावनियतं पूर्वोक्तस्वभावेन नियतं नियमेनोक्तं कर्म युद्धादिकं कुर्वन्नपि किल्बिषं न प्राप्नोति।

सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सभी सम्यक् ज्ञानवाले होते हैं तो सभी का मोक्ष हो जाना चाहिये कोई संसारी नहीं रह जाना चाहिए। इस शंका का उत्तर देते हैं कि मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों को श्रद्धायुक्त ही करता हुआ जिस प्रकार ज्ञान निष्ठा को प्राप्त करता है उसको रीति मुझ से सुनो ॥४५॥

जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सबके कारण भगवान् से ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त प्राणियों की उत्पत्ति वा चेष्टा होती है और जिस एक भगवान् से यह सारा जगत् व्याप्त है उस भगवान् को अपने स्वाभाविक वैदिक और लौकिक कर्मों द्वारा, फल की आकांक्षा और कर्त्तापने के अहंकार को समर्पण कर, जो पूजा करता है, वह मनुष्य उनके प्रसाद से तत्त्वज्ञाननिष्ठा लक्षणवाली सिद्धि को प्राप्त करता है ॥४६॥

क्योंकि ऊपर कही हुई रीति से परमेश्वराराधन लक्षण धर्म परमेश्वर के प्रसाद से सिद्धि देता है इसलिए सब मनुष्यों को उस प्रकार का स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। इसी को कहते हैं :—

स्वधर्म अर्थात् अपने करने योग्य परमात्माराधनरूप धर्म कुछ [अंग से हीन होने पर भी उचित रीति से किये गये परधर्म से कहीं अच्छा है क्योंकि पूर्वोक्त स्वभाव से निश्चित किये हुए लड़ाई आदि अपनी-अपनी जाति के स्वभावप्राप्त कर्मों को कर्ता हुआ भी व्यक्ति दोष का भागी नहीं होता ॥४७॥

ननु यदि कर्मणो ज्ञानोत्पत्तिरेवान्ततः फलं चेत्तर्हि हिंसादिदोषयुक्तं कर्म परित्यज्य ज्ञानाभ्यास एव यत्नः कर्त्तव्यः, किमनेन हेयेन कर्मणेति चेत्तत्राह—सहजमिति। हे कौन्तेय ! सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोषमपि न त्यजेत्। हि यस्मात् सर्वारम्भाः सर्वे परमेश्वराराधनव्यतिरिक्ता आरम्भाः कर्मज्ञान-योगाद्युपाया दोषेणावृत्ताः। कथं धूमेनाग्निरिव। यथा शीततमोनाशकोऽपि अग्निरार्द्रेन्धनसंयोगजन्य-धूमावृतो न सम्यग् ज्वलति प्रकाशते च, तथा कर्मानुष्ठानमन्तरेण सत्त्वशुद्ध्यभावेन यथार्थतत्त्वज्ञानं न स्यात्। असम्भावनाविपरीतभावनादोषानिवृत्तेः तस्मात्स्वभावविहितं कर्म फलकर्तृत्वत्यागेन यथाशक्ति अनुष्ठाय निर्मलेऽन्तःकरणे सति निखिलप्रमादं विहाय तत्त्वज्ञाननिष्ठा स्वयमेव सम्पद्येत। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" इति श्रुतेः। तस्मात्स्वाधिकारयोग्यकर्मणा परमात्मानमभ्यर्च्य ज्ञान-निष्ठालक्षणां सिद्धिं प्राप्नोतीति सिद्धम्।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

तदेवं स्वकर्मणाऽऽराधितपरमपुरुषस्य तत्त्वज्ञाननिष्ठालक्षणा सिद्धिरुक्ता। इदानीं तस्या अपि यत्फलं स्यात्तन्निर्दिशति—असक्तबुद्धिरिति। असक्ता सर्वत्रासक्तिशून्या बुद्धिर्यस्य सः, जितात्मा वशी-

---

यहाँ शङ्का होती है कि यदि कर्म का आखिरी फल ज्ञान को उत्पन्न करना ही है तो कर्म को छोड़ ज्ञान का ही अभ्यास क्यों न किया जाय। हेय कर्म को करने से क्या लाभ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं :—

हे अर्जुन ! स्वभाव निर्धारित कर्म को दोषयुक्त होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि परमेश्वराराधन को छोड़ सभी आरम्भ अर्थात् कर्म, ज्ञान, योग आदि उपाय दोष से उसी प्रकार ढके हुए हैं जैसे धूम से आग ढकी हुई रहती है। भाव कि जैसे शीत और अन्धकार का नाशक होने पर भी अग्नि गीली लकड़ी के संयोग से धूम से ढक जाता है और न ठीक रीति से जलता है, और न प्रकाश करता है उसी प्रकार स्वभाव से नियत कर्मानुष्ठान के बिना सत्त्वशुद्धि अर्थात् अन्तष्करण की शुद्धि नहीं होती और इसलिए यथार्थ तत्त्वज्ञान भी नहीं होता क्योंकि असम्भावना और विपरीत भावना के दोष की निवृत्ति नहीं होती। इसलिए स्वभाव निर्दिष्ट कर्म फल के कर्त्तापने को छोड़ यथाशक्ति करने से अन्तष्करण निर्मल होता है और इससे प्रमाद दूर हो तत्त्वज्ञाननिष्ठा स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। श्रुति कहती है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।" इसलिए अपने अधिकार के योग्य कर्म द्वारा परमात्मा की पूजा कर ज्ञाननिष्ठा लक्षणवाली सिद्धि को मनुष्य प्राप्त करता है यह प्रमाणित हुआ ॥४८॥

अपने स्वभावनियत कर्मों द्वारा जो परमेश्वर का पूजन करता है उसको तत्त्वज्ञाननिष्ठावाली सिद्धि प्राप्त होती है, यह पीछे कह आये हैं। अब उस सिद्धि का भी जो फल होता है उसको यहाँ दिखाते हैं :—

कृतमनाः, यतो विगतस्पृहो विशेषेण गता दूरीभूता स्पृहा फलविषया इच्छा यस्य स संन्यासेन "सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः" इत्युक्तलक्षणेन नैष्कर्म्यसिद्धिं कर्मनिवृत्तिलक्षणां परमां प्रकृष्टां पूर्वोक्तसिद्धेर्ज्ञाननिष्ठाया अपि फलभूतां सर्वोत्कृष्टां श्रीभगवत्स्वरूपमङ्गलविषयकधीगङ्गाप्रवाह-वदनवच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपां परां भक्तिमधिगच्छति प्राप्नोति।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

अधुना नैष्कर्म्यलक्षणा सिद्धिः प्रेमलक्षणा भक्तिर्भगवत्प्राप्त्यन्तरङ्गहेतुरिति वक्तुं तस्याः प्राप्ति-प्रकारमुपदिशति सिद्धिमिति। ज्ञाननिष्ठाफलरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिमनवरतध्याननिष्ठालक्षणां परां भक्तिं यथा येन प्रकारेण प्राप्तस्त्वन् ब्रह्म प्राप्नोति तथा समासेन सङ्क्षेपेण वक्ष्यमाणं प्रकारं मे मदुक्तान्निबोध निश्चयेन जानीहि। यथा सिद्धिं प्राप्तो ब्रह्म प्राप्नोतीति प्रतिज्ञातां ब्रह्मप्राप्त्यसाधारणोपायभूतां पराभक्तिं विशिनष्टि—निष्ठा ज्ञानस्य या परेति। या ज्ञानोत्तरभाविनी पराभक्तिः सा ज्ञानस्य परा निष्ठा उत्तमावस्थितिः फलमिति यावत् स्वरूपतो विषयतश्च निरतिशयत्वात् ज्ञान्यग्रेसराणां सनकादि-प्रह्लादादीनाम्। तथोक्तं श्रीभागवते भगवता स्वयमेव। "एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनका-

---

आसक्तिशून्य बुद्धियुक्त पुरुष जो मन को वश में किये हुए है और स्पृहा अर्थात् फल की इच्छा से रहित है "संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः" ऐसे लक्षणवाला सात्त्विक संन्यास द्वारा कर्म निवृत्ति लक्षणवाली परम उत्कृष्ट सिद्धि को पाता है। यह सिद्धि पहले कही गई ज्ञाननिष्ठावाली सिद्धि का फलस्वरूप और भगवान् के स्वरूप और मंगल विग्रह में गंगाप्रवाह के समान अनवच्छिन्न अर्थात् कभी नहीं टूटनेवाला अखण्ड ध्यान पैदा करनेवाली है। अर्थात् इस सिद्धि से मनुष्य पराभक्ति को पाता है, जिसमें भगवान् के स्वरूप और दिव्य विग्रह का सदा ध्यान बना रहता है ॥४६॥

नैष्कर्म्य लक्षणवाली सिद्धि भगवान् की प्रेम लक्षणवाली भक्ति की प्राप्ति का अन्तरंग कारण है, इस बात को बताने के लिए उसके पाने की रीति का अब उपदेश करते हैं :—

हे अर्जुन! ज्ञाननिष्ठा का फलस्वरूप नैष्कर्म्य लक्षणवाली सिद्धि और निरन्तर ध्यान लक्षण-वाली पराभक्ति को जिस प्रकार से प्राप्तकर मनुष्य ब्रह्म को लाभ करता है, वह संक्षेप में मुझसे समझो। पूर्वोक्त सिद्धि को प्राप्त कर जैसे ब्रह्म को प्राप्त करता है उसको बताने के लिए ब्रह्मप्राप्ति के असाधारण उपायभूत पराभक्ति का वर्णन करते हैं। जो ज्ञान के पश्चात् होती है वह परा भक्ति ज्ञान की परानिष्ठा है, अर्थात् उत्तमस्थिति वा फल है। इस निष्ठा का स्वरूप और विषय सर्वश्रेष्ठ है और यह सनक, सनन्दन, प्रह्लाद आदि ज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त थी। श्रीभागवत में स्वयं भगवान् ने कहा है—

"एतावान्योग..... .....मय्यद्धावेक्षते यथा ॥" अर्थात् यह योग मेरे शिष्य सनकादिकों ने कहा है।

दिभिः। सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यये"ति। "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु" इति वैष्णवे प्रह्लादोक्तेश्च।

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

प्रतिज्ञातं प्राप्तिप्रकारमेवाह—बुद्धयेत्यादिपञ्चभिः। विशुद्धया यथाऽवस्थितपरावरतत्त्वविषया-सात्त्विक्या बुद्धया युक्तो धृत्या सात्त्विक्या आत्मानं मनो नियम्य अनात्मनः प्रत्याहारेणात्मप्रवणीकृत्य च शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वाऽसत्संसर्गं विहाय तद्विषयौ रागद्वेषौ च व्युदस्य तत्रेष्टानिष्टबुद्धिम-कृत्वेत्यर्थः। इत्यादीनां "ब्रह्मभूयाय कल्पते" इति तृतीय श्लोकेनान्वयः।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

विविक्तसेवी एकान्तदेशसेवनशीलः लघ्वाशी शुद्धमितभोजी, यतवाक्कायमानसः वशीकृत-शरीरेन्द्रियमनाः, ध्यानयोगपरोनित्यम्, अहरहः प्रतिक्षणं ध्याननिरतः, तद्विरोधिपरिहाराय वैराग्यं समुपाश्रितः सम्यगुपाश्रितः सन्।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

अहङ्कारमिति। अहङ्कारमनात्मन्यात्माभिमानं, बलमनात्मवस्तुविषयं देहेन्द्रियसामर्थ्यं, तन्निमित्तं दर्पं गर्वं, कामं प्रारब्धवशात्तदृच्छाप्राप्तेष्वपि विषयेषु स्वीकारेच्छा तत्प्रतिबन्धके क्रोधं, परिग्रहं

मन को सब वस्तुओं से खींचकर मेरे में जैसे लगाया जाता है। फिर विष्णुपुराण में प्रह्लाद ने कहा है—"या प्रीतिरविवेकानां ·····हृदयान्नापसर्पतु॥" अर्थात् अविवेकियों को जैसी प्रगाढ़ प्रीति विषयों में रहती है वैसी ही प्रीति आपको स्मरण करनेवाले मेरे हृदय में आपके प्रति सदा बनी रहे ॥५०॥

ब्रह्मप्राप्ति के प्रकार को पाँच श्लोकों से कहते हैं :—

विशुद्ध अर्थात् यथार्थ पर और अपर तत्त्वविषयक सात्त्विक बुद्धि से युक्त सात्त्विक धृति द्वारा मन को नियमन कर अर्थात् अनात्म वस्तु से हटाकर आत्मा की ओर लगा, शब्दादि विषयों की संगति को छोड़ और विषय सम्बन्धी रागद्वेष से मुक्त होकर अर्थात् विषयों में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि को नहीं रखकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। (यह अन्वय ५३वें श्लोक में है) ॥५१॥

एकान्त में रहनेवाला, शुद्ध और थोड़ा भोजन करनेवाला, वचन, शरीर, इन्द्रिय और मन को वश में रखनेवाला, तथा ध्यान में निरत और ध्यान के विरोधी विषयों को हटाने के लिए वैराग्य का पूर्ण रीति से आश्रय करनेवाला (ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है) ॥५२॥

अहंकार अर्थात् अनात्म वस्तुओं में आत्मा का अभिमान करना, बल अर्थात् अनात्मवस्तु विषयक देह इन्द्रिय सामर्थ्य, दर्प अर्थात् देह आदि सामर्थ्य सम्बन्धी गर्व, काम अर्थात् प्रारब्ध से

वस्त्रान्नादेः सङ्ग्रहं विमुच्य विशेषेण त्यक्त्वा निर्ममः देहसम्बन्धिषु ममताशून्यः। अत एव शान्तः सर्वविक्षेपवर्जितः। एवम्भूतो ध्याननिष्ठो ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं तस्मै ब्रह्मभूयाय ब्रह्मवदोपास्पृष्टस्वभावतयाऽवस्थानाय कल्पते योग्यो भवति।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

इदानीं यस्य ब्रह्मभावयोग्यतोक्ता तस्य ब्रह्मभावप्राप्तस्य लक्षणं तत्फलं चाह—ब्रह्मभूत इति। आविर्भूतानवच्छिन्नज्ञानधर्मात्मस्वरूपानुभूतिस्तत एव प्रसन्नात्मा बाह्यविषयनिरपेक्षप्रसादयुक्त आत्मा चित्तं यस्य स तथा तत्र लिङ्गं—न शोचति किञ्चिन्नष्टं वस्तु न शोचति। न वा अप्राप्तं किञ्चित् काङ्क्षति, आत्मानुभवसन्तुष्टतया समलोष्टाश्मकाञ्चनदृष्टिरित्यर्थः। अत एव सर्वेषु भूतेषु समः, स्वस्य स्तुतिपूजाकर्तृषु निन्दापकारकर्तृषु च मित्रारिभाववर्जितः। एवं ज्ञानसिद्धि प्राप्तो मद्भक्तिं लभते परां मद्विषयां निरतिशयप्रीतिलक्षणां परामव्यभिचारिणीं मत्साक्षात्कारासाधारणभूतां भक्तिं लभते। पराभक्तिलाभ एव ज्ञानस्य परा निष्ठा फलमित्यर्थः। तथोक्तं श्रीभागवते। "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः। सनन्दनादयो ये च ब्रह्मभावनया युता" इति विष्णुपुराणोक्तब्रह्मभावनावता सनन्दनादीनामपि "हरिः शरणमित्येव नित्यं तेषां मुखे वचः" इति

स्वतः प्राप्त विषय में स्वीकार की इच्छा, क्रोध अर्थात् उसमें रुकावट डालनेवालों पर कोप, परिग्रह अर्थात् वस्त्र, अन्न आदि का संग्रह, इन सबों को विशेषरूप से छोड़, और देह सम्बन्धी ममता से शून्य, इसलिए शान्त अर्थात् सर्व विक्षेप से रहित हो ध्याननिष्ठ मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है ॥५३॥

ऊपर जिस पुरुष के ब्रह्मभाव की योग्यता वर्णित हुई है उस ही ब्रह्मभाव प्राप्त पुरुष का लक्षण और ब्रह्मभाव प्राप्ति का फल अब बताते हैं :—

ब्रह्मभाव को प्राप्त पुरुष को अनवच्छिन्न ज्ञानधर्मवाले आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त हो गया है इससे वह प्रसन्नात्मा होता है अर्थात् उसके चित्त की प्रसन्नता बाहरी संसारी वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखती। ऐसे मनुष्य की पहचान यह है कि न वह किसी नष्ट वस्तु के लिए चिन्ता वा सोच करता है, न किसी अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा ही करता है। भाव यह है कि ऐसा पुरुष अपने आत्मानुभव से सन्तुष्ट रहता है और इसलिए मिट्टी और सोना उसकी दृष्टि में बराबर ही हैं। इसी कारण वह सब जीवों पर सम दृष्टि रखता है और उसकी प्रशंसा करनेवालों से न उसे मित्रभाव है, न निन्दा करनेवालों से शत्रुता। ऐसा ज्ञानसिद्धि प्राप्त पुरुष निरतिशय प्रीति लक्षणवाली मेरी अव्यभिचारिणी (एकान्तिक और अनन्य) पराभक्ति को पाता है, जो मेरे साक्षात्कार का असाधारण कारण है। भाव यह है कि पराभक्ति की प्राप्ति ही ज्ञान का अन्तिम फल है। श्रीभागवत् में लिखा है—

"आत्मारामाश्च·····ब्रह्मभावनया युता ॥" अर्थात् आत्मानुभववाले, सनन्दनादि मुनि जो बन्धन से हीन और ब्रह्मभावना से युक्त हैं वे भी श्रीविष्णु भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि

भागवतमाहात्म्ये अहर्निशभगवत्स्मरणस्य पराभक्तिलक्षणस्य प्रतिपादनात्। एवं विशुद्धबुद्ध्यादियोग-पूर्वकप्रशान्तस्य ब्रह्मभूतस्यापि पराभक्तिलाभकथनेनोक्तसाधनप्रक्रियां विना सर्वभूतसमत्वलक्षणब्रह्म-भावयोग्यता न भवति। उक्तब्रह्मभावं विना पराभक्तिर्न लभ्यते, तस्मात् पराभक्तेः क्षेत्रज्ञस्वरूप-याथात्म्यज्ञानोत्तरभावित्वं निश्चीयते।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

ततश्च "भक्तिरेवैनं वर्द्धयति भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी"ति श्रुत्युक्तं भक्तेर्भगवद्दर्शनासाधारणकारणत्वं तद्वशीकरणत्वं चाह—भक्त्येति। ततस्तया भक्त्या यावान् यादृग्-गुणशक्तिविभूतिमानहं यश्च सच्चिदानन्दविग्रहः सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वान्तर्यामी देशकालवस्तुपरिच्छेद-शून्यः सर्वव्यापकोऽपि सर्वदोषास्पृष्टः सकलचेतनाचेतनभिन्नाभिन्नस्वभावस्तं मां तत्त्वतः संशयविपर्यय-राहित्येनाभिजानाति, साक्षादनुभवति। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं मयि विशते निरति-शयानन्दं मामनुभवन्निरतिशयानुरागेण सर्वदा मां परिचरन्नभिनिविष्टो मयि वर्त्तते, कदाचिन्मद्-

---

हरि ऐसे ही गुणवाले हैं और "हरि ही मेरे शरण हैं" यह वाक्य सदा उनके मुख पर रहता है। भागवत् माहात्म्य में अहर्निश भगवान् का स्मरण करना ही पराभक्ति का लक्षण कहा है। इस प्रकार विशुद्ध बुद्धियोग से युक्त प्रशान्तचित्त, ब्रह्मभाव को प्राप्त पुरुष को पराभक्ति प्राप्त होती है। इसके कहने से यह मालूम हुआ कि ऊपर कही हुई साधन प्रक्रिया के बिना सर्वभूतों में समता लक्षणवाली ब्रह्मभाव की योग्यता नहीं प्राप्त होती। और इस ब्रह्मभाव के बिना पराभक्ति नहीं मिलती। इसलिए यह निश्चय हुआ कि क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान के बाद ही पराभक्ति होती है ॥५४॥

श्रुति कहती है—"भक्तिरेवैनं वर्द्धयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" अर्थात् भक्ति इसको बढ़ाती है, भक्ति ही इसको दिखाती, पुरुष (परमात्मा) भक्ति के वश में है, अतः भक्ति ही श्रेष्ठ है। श्रुति से वर्णित भगवान् का भक्ति के वश होना और भक्ति का उनके दर्शन का असाधारण कारण होना इस श्लोक में कहेंगे :—

जैसा मैं हूँ अर्थात् जैसे गुण, शक्ति, विभूति से युक्त मैं हूँ और जो मैं हूँ यथा सत्, चित, आनन्द विग्रहवाला, सर्वज्ञ, सबका कारण, सबका अन्तर्यामी, देश काल और वस्तु तीनों प्रकार के परिच्छेद से रहित, सर्वव्यापक होने पर भी सब दोषों से शून्य और सकल चेतन और अचेतन से भिन्न होते हुए भी अभिन्न स्वभाववाला, उसका यथार्थ (संशयविपर्यय से हीन) ज्ञान भक्ति द्वारा होता है अर्थात् भक्ति द्वारा पुरुष, मेरा साक्षात् अनुभव करता है। तब वह मुझे यथार्थरूप से जानकर मुझ में प्रवेश करता है। भाव यह है कि निरतिशय आनन्दस्वरूप मेरा अनुभव करता है और सदा निरतिशय अनुरागपूर्वक मेरी सेवा करता हुआ मुझ में रहता है, कभी भी मेरी दृष्टि से अगोचर नहीं होता।

दृष्टचगोचरो न भवति। तद्भक्त्या वशीभूतोऽहमपि कदा चित्तद्दृष्टचगोचरो न भवामीत्यर्थः। "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यती"त्युक्तरीत्या सर्वदा मद्दर्शनपरिचर्यया मदविनाभावेन मय्येव वर्त्तते। न च मत्तः कदाचिद्वियुज्यते इति भावः।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

एवं वर्णाश्रमोचितनियतकर्मणां फलकर्त्तृत्वाभिसन्धानरहितानां नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिद्वारेण भगवत्प्राप्तिफलकत्वमुक्तमिदानीं नैष्कर्म्यसिद्धयभावे कर्मकर्तुः किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—सर्वकर्माणीति। सर्वकर्माणि वैदिकलौकिकानि विधिहीनान्यपि सदा कुर्वाणोऽनुतिष्ठन् मद्व्यपाश्रयः अहं सर्वेश्वर एव व्यपाश्रयः समाश्रयणीयो न त्वन्यो देवः फलं वा यस्य स, मत्प्रसादात् शाश्वतमनादिमव्ययं परिणामशून्यं नित्यं पदं मद्धाम प्राप्नोति।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

तस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण वैराग्यादि कर्त्तुं न शक्नोषि चेत्त्वमप्येवं कुर्वित्याह—चेतसेति। चेतसा मत्तन्त्रकर्तृत्वविचारेण सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि स्वभावप्राप्तानि च फलकर्तृत्वोद्देश्यदेवतासहितानि मयि संन्यस्य सम्यगर्प्य मत्परः अहमेव परः प्राप्यः प्रापकश्च यस्य सः, बुद्धियोगं व्यव-

---

भाव यह है कि उसकी भक्ति के वशीभूत हो मैं कभी उसको आँख से ओझल नहीं होता, जैसा कि पीछे कहा गया है—

"यो मां पश्यति.....न प्रणश्यति ॥" इस रीति से सदा मेरा दर्शन और सेवा करता हुआ ऐसा पुरुष मुझ में ही रहता है, उसका मुझ से वियोग कभी नहीं होता ॥५५॥

अपने वर्णाश्रमोचित नियत कर्मों को, उनके फल और कर्त्तापने के अभिमान को छोड़कर करने का फल नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्ति द्वारा भगवत् प्राप्ति है, यह कहा। अब जिनको नैष्कर्म्य सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई है ऐसे कर्म करनेवालों का क्या फल होता है उसको यहाँ बताते हैं :—

सब कर्मों अर्थात् वैदिक, लौकिक और विधिहीन कर्मों को भी हमेशा करता हुआ पुरुष मेरे आश्रय में होकर, अर्थात् यह जानकर कि सर्वेश्वर भगवान् ही आश्रयणीय हैं, दूसरे देवता वा फल नहीं, मेरे प्रसाद से अनादि, परिणाम शून्य और नित्य पद को अर्थात् मेरे धाम (विष्णुपद) को पाता है ॥५६॥

यदि तुम पूर्वोक्त रीति से वैराग्यादि नहीं कर सकते हो तो तुम भी इस प्रकार करो। अब रीति को कहते हैं :—

सब कर्तृत्व मेरे (भगवान् के) अधीन है, इस विचार द्वारा सब लौकिक वैदिक और स्वभावप्राप्त कर्मों को, उनके फल, कर्त्तापना, उद्देश्य और देवता के सहित मुझ में सम्पूर्णरूप से अर्पण कर

सायात्मिकबुद्धया सर्वसम्बन्धमुपाश्रित्य सर्वात्मना मामेव सर्वश्रेयोहेतुं श्रेयोरूपं च निश्चित्य सततं मच्चित्तो भव इत्येवमनुसन्धानं कुरुष्वेत्यर्थः ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

एवं मदुक्तार्थे विश्वस्तो यत् प्राप्स्यसि तच्छृणु—मच्चित्त इति । उक्तप्रकारेण मच्चित्तः सन् सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि सर्वाणि दुर्गाणि दुस्तराणि सांसारिकाणि दुःखानि मत्प्रसादादेव तरिष्यसि । विपक्षे दोषमाह—अथ चेदिति । यदि पुनस्त्वमहङ्कारादहमेव कर्त्तव्याकर्त्तव्यं सर्वं जानामीत्यभिमानान्मदुक्तमेव तन्न श्रोष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रक्ष्यसे । यतः सर्वस्य हिताहितज्ञाता प्रशास्ता च मदन्यः कश्चिन्न विद्यते ।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

किञ्चाहं स्वतन्त्रो बन्धुवधार्थं त्वन्नियोगं कथं करिष्यामीति त्वया न मन्तव्यमित्याह—यदिति । यद्यदहङ्कारमात्मनि स्वातन्त्र्याभिमानमाश्रित्य मदुक्तमनादृत्य न योत्स्ये युद्धं न करियामीति मन्यसे व्यवस्यसे तर्ह्येष ते व्यवसायो मिथ्यैव स्यात् । यतः प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति प्रकृतिस्त्रिगुणमयी मन्नियम्या रजोगुणरूपेण परिणता सती रजःप्रधानक्षत्रियजातायुद्भूतं त्वां युद्धे प्रवर्त्तयिष्यत्येवेत्यर्थः ।

मुझको ही प्राप्य और प्राप्त करानेवाला समझो। व्यवसायात्मिक (निश्चित) बुद्धि द्वारा मेरे में सर्व सम्बन्धों का आश्रय कर अर्थात् सब तरह से मुझे ही सब कल्याण का कारण और श्रेय का रूप निश्चय कर सर्वदा मुझ में चित्त को लगाओ अर्थात् मेरा इसी भाँति सर्वसम्बन्ध पूर्वक अनुसन्धान करो ॥५७॥

मेरे कहे हुए पर विश्वास करने से जो प्राप्त करोगे उसे सुनो। उक्त प्रकार से मुझ में चित्त को लगा कर सब कर्मों को करते हुए भी मेरे प्रसाद से सब दुस्तर सांसारिक दुःखों को पार कर जाओगे। इस प्रकार मेरा कहा नहीं करने से जो दोष होगा उसे अब कहते हैं—यदि तुम अहङ्कार से अर्थात् यह समझ कर कि मैं स्वयं ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को जानता हूँ, मेरे कहे को नहीं सुनोगे तो नाश को प्राप्त होओगे अर्थात् पुरुषार्थ (अपने कल्याण के मार्ग) से भ्रष्ट होओगे, क्योंकि सबके हित और अहित का जाननेवाला और सबका शासन करनेवाला मुझ से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है ॥५८॥

और भी, तुमको ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मैं स्वतन्त्र हूँ बन्धुवधार्थ आपकी आज्ञा कैसे पालन करूँगा। इसी को कहते हैं—जिस अहङ्कार अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता के अभिमान का आश्रय कर मेरे कहे हुए का अनादर कर "मैं युद्ध नहीं करूँगा" ऐसा यदि निश्चय करते हो तो यह तुम्हारा व्यवसाय अर्थात् विचार झूठा ही होगा, क्योंकि मेरे से नियम्य त्रिगुणमयी माया रजोगुणरूप में परिणत हो रजः प्रधाना क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुये तुमको युद्ध में प्रवृत्त करेगी ही ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

तदेवोपपादयति—स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! यत्स्वधर्मभूतं युद्धाख्यं निश्चितं कर्म मोहात्कर्तुं नेच्छसि—तत्स्वभावजेन स्वभावः पूर्वकर्मनिबन्धनसत्त्वादिगुणवृत्तिरूपस्तस्माज्जातेन राजसेन क्षत्रियत्व-प्रयोजकेन पूर्वोक्तेन शौर्यरूपेण स्वेन कर्मणा निबद्धो यन्त्रितः अवशोऽपि शत्रूणामवाच्यवादानसहमानस्त्वं स्वयमेव करिष्यसि ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

तदेवं साङ्ख्यमतानुकूलं प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावाधीनं च कर्मकर्त्तृत्वमुक्तमिदानीम् "अन्तः-प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिश्रुतिनिर्णीतं सर्वस्य प्राणिनः परमेश्वराधीनत्वमाह—ईश्वर इति । ईश्वरः सर्वचेतनाचेतन-नियमनशीलो भगवान्वासुदेवः सर्वभूतानां हृद्देशे हे अर्जुन ! तिष्ठति । किं कुर्वन् ? सर्वभूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तत्तदनादिबीजभूतकर्मानुसारेण शुभाशुभकर्मसु प्रवर्त्तयन् । कथं भूतानि यन्त्रा-रूढानि प्रकृतिपरिणामदेहेन्द्रियरूपं यन्त्रमारूढान्यारोपितानि यथा दारुमययन्त्रमारूढानि कृत्रिमाणि पक्षिमृगादिभूतानि सूत्रबद्धानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वदित्यर्थः ।

जो ऊपर कह आये हैं उसी का समर्थन करते हैं । हे अर्जुन ! जिस स्वधर्मभूत युद्धरूप अपने निश्चित कर्म को तुम मोह से नहीं करना चाहते, उसको पूर्व के कर्मानुसार सत्त्वादिगुण वृत्तिरूप स्वभाव से उत्पन्न राजस, क्षत्रियत्व का प्रयोजक, पूर्व में कहे हुए शौर्यरूप अपने कर्म से बंध कर विवश हो अर्थात् शत्रुओं की गाली सहने में अयोग्य होकर, स्वयं ही करोगे ॥६०॥

कर्म का कर्त्तापना प्रकृति के परतन्त्र होने से स्वभाव के अधीन होना सांख्य मत की रीति से बताकर श्रुति निर्णीत सब प्राणियों का परमेश्वर के अधीन होना अब बताते हैं । जो श्रुतियाँ जीव को सदा परमेश्वराधीन बताती हैं उनमें से कुछ ये हैं, यथा—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, सर्वात्मा च, आत्मनितिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति, यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" । (इन सबों का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है) ।

हे अर्जुन ! सब चेतन और अचेतन के नियमन करनेवाले भगवान् वासुदेव सब भूतों के हृदय में रहते हैं । हृदय में रहते हुए क्या करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि सब जीवों को अपनी माया अर्थात् शक्ति से घुमाते हुए अर्थात् उन उन जीवों के अनादि बीजरूप कर्म के अनुसार शुभ और अशुभ कर्मों को उनसे कराते हुए उनके हृदय में वे स्थिर रहते हैं । किस प्रकार जीवों को

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

नन्वेवं चेत्तर्हि मायायास्तत्प्रयोजकस्य च नित्यत्वात्कस्यापि कदाऽपि संसारनिवृत्तिर्न स्यात्कथं मोक्षाशेति चेत्तत्राह तमेवेति । सर्वभूतानां भ्रामको मायाया अपि नियन्ता वात्सल्यकारुण्यसौहार्दादि-गुणपारवश्येन त्वत्सारथ्यमङ्गीकृत्य स्वद्धितं चिकीर्षुस्त्वत्प्रशास्ता तमेव सर्वभावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ, तदुक्तं सर्वं निर्मायिकत्वेन कुरुष्व । हे भारतेति सम्बोधनेन भरतवंश्येन त्वया सर्वशत्रुनिग्रहेण स्वकीर्तिस्थापनमुचितमिति सूचितम् । तस्मान्मदुक्तप्रकारेण युद्धाख्यं स्वधर्मं कुर्वन् तत्प्रसादात्तस्य ममानुग्रहात् परां शान्तिं निःशेषाऽविद्यानिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दरूपां भगवद्भावापत्तिं शाश्वतं प्रकृति-कालकर्मसम्बन्धशून्यं नित्यैकरसं स्थानं परमपदविष्णुपदादिशब्दाभिधेयं धाम प्राप्स्यसि ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इदानीं प्रसादं दर्शयितुमुपदेशमुपसंहरन्नुपदिष्टार्थं स्तौति इतीति । इत्येवमुक्तप्रकारेण ते तुभ्यं

घुमाते हैं ? जैसे, बाजीगर काठ के बने यन्त्र पर चढ़ा के डोरे में बँधे हुए नकली पक्षी, मृग आदि जीवों को मनुष्य के सामने नचाता है उसी प्रकार प्रकृति के परिणामस्वरूप देह इन्द्रियरूप यन्त्र पर चढ़ा के भगवान् वासुदेव चर-अचर जीवों को घुमाते हैं ॥६१॥

यदि यह बात है कि माया और उसके प्रेरक भगवान् नित्य हैं तो किसी की कभी भी संसार से निवृत्ति नहीं हो सकती इससे मोक्ष की आशा कोई नहीं कर सकता । इस शंका का उत्तर इस श्लोक में देते हैं । सब जीवों को नचानेवाले और माया का भी नियमन करनेवाले हम (भगवान् वासुदेव) अपने वत्सलता, करुणा, सौहार्द्र आदि गुणों के वश में हो तुम्हारा सारथीपना अंगीकार कर तुम्हारे हित की इच्छा से तुम्हारा प्रशासन कर रहे हैं तुम सब तरह से अर्थात् सब भाव से मेरी शरण में आओ जो मैं कहता हूँ उसको बिना मीनमेष लगाये मायारहित होकर करो, हे भारत ! अर्जुन को 'भारत' सम्बोधन करके यह सूचित किया कि तुम भरत के वंशज हो और इसलिए सब शत्रुओं को हराकर अपनी कीर्त्ति स्थापन करना तुम्हारे लिए उचित है ।

इस प्रकार कही गई रीति से युद्धरूप अपने धर्म को करते हुए भी मेरी कृपा से श्रेष्ठ शान्ति को अर्थात् समस्त अविद्यानिवृत्ति पूर्वक परमानन्दरूप मेरे (भगवत्) भाव को प्राप्ति* और शाश्वत् अर्थात् प्रकृति, काल और कर्म के सम्बन्ध से शून्य, नित्य एकरस स्थान जिसको परमपद विष्णुधाम आदि नाम से पुकारते हैं, प्राप्त करोगे ॥६२॥

अब अपनी प्रसन्नता दिखाने के लिए उपदेश का उपसंहार करते हुए उपदेश में कही गई बातों की स्तुति करते हैं :—

---

* छान्दोग्य की प्रजापति विद्या में कहे गये "यः आत्मा अपहतपाप्मा" आदि गुणाष्टक का आविर्भाव होना ।

हितैषिणा परमकारुणिकेन मया मुमुक्षूपादेयं ज्ञानमाख्यातमुपदिष्टम्। कथम्भूतं? गुह्याद्गुह्यतरं कर्मज्ञानभक्तियोगविषयमतिरहस्यमेतन्मदुपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण विमृश्य पर्यालोच्य तदनन्तरं स्वाधिकारानुरूपं यथेच्छसि तथा कुरु। कर्मज्ञानभक्तिषु यदेकं हिततरं मन्यसे तदेवानुतिष्ठेत्यर्थः।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषेण विमर्शनक्लेशपरिहाराय स्वयमेव कृपया तत्सारं सङ्गृह्य ग्राहयितुं दृढीकरोति—सर्वगुह्यतममिति। पूर्वं गुह्यतरमुक्तमिदानीं तस्मादन्येभ्योऽपि गुह्यतरेभ्यो गुह्यतममतिरहस्यं परमं प्रकृष्टं मे वचः भूयस्तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु। नन्वतिरहस्यं कुतः कथयसि। तत्राह—यतस्त्वं मे ममेष्टः प्रियोऽसि दृढमतिर्विश्वासयुक्तस्ततस्ते हितं वक्ष्यामि।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

तदेवाह—मन्मना भवेति। मयि भगवति पुरुषोत्तमे चेतसः शुभाश्रये मनो यस्य स मन्मनास्तथा भव, पराभक्तिलक्षणं सर्वदा मद्ध्यानं कुर्वित्यर्थः। तत्साधनमाह—मद्भक्तो भवेति। मद्भक्तिं कुर्वित्यर्थः। सा च भगवदर्था क्रियैव। "सुरर्षे! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया। सैव भक्तिरिति प्रोक्ता

इस प्रकार तुम्हारा हितैषी, परम कारुणिक मैंने मुमुक्षुओं के ग्रहण करने योग्य ज्ञान का उपदेश तुम्हारे लिये किया। कर्म ज्ञान और भक्ति विषयक यह उपदिष्ट ज्ञान गोपनीय वस्तुओं में भी गोपनीय अर्थात् बहुत गोपनीय है। इस समग्र गीता शास्त्र को अच्छी तरह विचार करके अपने अधिकार के अनुसार तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो। भाव यह है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति में जिसको सबसे अधिक हितकर समझो उसी का अनुष्ठान करो॥६३॥

अति गम्भीर गीताशास्त्र की पूरी आलोचना करने के क्लेश से मुक्त करने के अर्थ भगवान् स्वयं ही कृपाकर गीता के सार को इकट्ठा कर अर्जुन को उसके ग्रहण कराने के लिए दृढ़ करते हैं।

पूर्व कहे हुए सब गोपनीय विषयों में भी अति रहस्य मेरे प्रकृष्ट वचन को फिर से सुनो। अर्थात् यह बात पहले कही जा चुकी है पर फिर भी तुम पर कृपा कर मैं उसको दोहराता हूँ। इतने गोपनीय रहस्य को आप क्यों प्रकट करते हैं? भगवान् उत्तर देते हैं—कि तुम मेरे प्रिय हो और तुम्हारी मति दृढ़ है अर्थात् तुम मेरे में दृढ़ विश्वास रखते हो इसलिए तुम्हारे हित की बातों को मैं कहूँगा॥६४॥

ऊपर प्रतिज्ञात हितकारी बातों को कहते हैं। स्वभाव से ही शुभ के आश्रय मुझ (पुरुषोत्तम भगवान्) में मन को लगाओ अर्थात् मेरा सदा ध्यान करो, जो पराभक्ति का लक्षण है। अब ध्यान के साधक को बताते हैं कि मेरा भक्त हो अर्थात् मेरी भक्ति करो। भगवान् के लिए जो क्रिया की जाती है वही भक्ति है। नारद पंचरात्र का वचन है :—

यया भक्तिः परा भवेदि"ति वचनात्। तामेवोपदिशति—मद्याजीति। द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा इत्यादिनोक्तैः पञ्चयज्ञैः अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैः पञ्चकालोक्तमद्भजनैर्वा मत्पूजनशीलो भवेत्यर्थः। तत्र द्रव्ययज्ञो विभवे सति सर्वसमृद्धिमदुपचारैर्मदाराधनं, निष्किञ्चनानां यथाशक्ति पत्रपुष्पफलादिभिर्यथोपलब्धैरतिप्रीत्या भगवदाराधनं, तपोयज्ञश्च स्वधर्मक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिसहनं, योगयज्ञश्च यमनियमासनादिनियमपूर्वकसगर्भप्राणायामैश्चेतसो जयाभ्यासः, स्वाध्याययज्ञश्च यथाधिकारमुपनिषद्गीतासहस्रनामादिस्तवपाठरूपः, ज्ञानयज्ञश्चश्रुताधीतोपनिषद्गीताद्यर्थस्य मननकथनरूपः। अथ कृतस्य यजनस्य वैगुण्यपरिहारार्थमाह—मां नमस्कुरु। मां सर्वेश्वरं सर्वशक्तिं वात्सल्यकारुण्यादिगुणार्णवं नियमेन नित्यमष्टाङ्गैः प्रणमेत्यर्थः। एतत्साधनभक्तेः फलमुक्तं विष्णुधर्मे "अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत्। नासौ तत्फलमाप्नोति मद्भक्त्या यदवाप्नुयादि"ति। एवं पञ्चविधमदाराधनेन निरन्तरध्याननिष्ठो भूत्वा मत्साक्षात्कारेण ब्रह्मरुद्रादिभिर्दुराराध्यं परमप्राप्यं परमानन्दघनं मामेवैष्यसि

"सुरर्षे! विहिता·····परा भवेत्॥" अर्थात् हे नारद! हरि के अर्थ जिस क्रिया का करना शास्त्रों में कहा गया है, वही भक्ति कही जाती है। उसी को करने से पराभक्ति होती है।

अब उसी भक्ति का उपदेश करते हैं। मेरा यजन वा पूजा करो। "द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा" इत्यादि द्वारा कहे हुए पंच यज्ञों से अथवा नारदपंचरात्रोक्त वैष्णवविधि अनुसार अभिगमन (मन्दिर में वा आचार्य के पास जाना), उपादान, (पूजा की सामग्री इकट्ठी करनी), इज्या (पूजा करना), स्वाध्याय (वेदान्त आदि को गुरुमुख से पढ़ना सुनना) और योग (चित्तवृति निरोधपूर्वक भगवान् के दिव्य विग्रह का ध्यान करना), इन पंचकालोक्त मेरे भजन द्वारा मेरी पूजा करो। इनमें द्रव्य यज्ञ अर्थात् सर्व समृद्धि से युक्त बहुमूल्य उपचारों द्वारा मेरी पूजा धनवालों के लिए है। गरीब मनुष्य यथा शक्ति प्राप्त फूल, पान, फल आदि से ही बड़ी प्रीति के साथ मेरी पूजा करे। अपने धर्म के अनुसार भूख, प्यास, जाड़ा, गर्मी आदि का सहना तप यज्ञ कहलाता है। योगयज्ञ वह है जिसमें यम, नियम, आसन आदि नियमपूर्वक सांगोपांग प्राणायाम द्वारा मन इन्द्रिय आदिकों पर जय पाने का अभ्यास किया जाता है। अपने अधिकार के अनुसार उपनिषद्, गीता, सहस्रनाम आदि का पाठ करना स्वाध्याय यज्ञ कहलाता है, उसे सुने हुए और पढ़े हुए उपनिषद्, गीता आदि के अर्थ को मनन करके दूसरों को सुनाने को ज्ञान यज्ञ कहते हैं।

अब किये गये यज्ञादिकों के अंगहीनता आदि दोष को हटाने के लिए भगवान् कहते हैं कि मुझ सर्वेश्वर, सर्वशक्ति, वत्सलता करुणादि गुणों के समुद्र को नियम से नित्य साष्टांग प्रणाम करो इस साधनभक्ति का फल विष्णुपुराण में इस प्रकार कहा गया है :—

"अश्वमेधसहस्राणां·····यदवाप्नुयात्॥" अर्थात् लाखों अश्वमेध यज्ञ करके वह फल नहीं मिलता जो मेरी भक्ति से मिलता है।

इस प्रकार पाँच प्रकार की मेरी पूजा द्वारा ध्याननिष्ठ हो, मेरे साक्षात्कार को प्राप्त कर,

प्राप्स्यसि, एतत्सत्यं न प्रलम्भनमिति ते तुभ्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि। यतस्त्वं मे प्रियोऽसि प्रियस्य प्रलम्भनमनुचितमिति भावः। अत एव महाभारते ध्यानस्यैव परमश्रेयोहेतुत्वं श्रीव्यासेन निर्णीतम् "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे"ति। मोक्षधर्मे मेधाविनाऽपि तथैव निश्चितं "सोऽहं त्वहिंस्रः सत्यात्मा कामक्रोधविवर्जितः। जितेन्द्रियः शमी भूत्वा मृत्युं जेष्याम्यमर्त्यवत्। अन्तर्बहिश्च यत् किञ्चिन्मनोव्यासङ्गकारणम्। तत्सर्वं सम्परित्यज्य ध्यानेऽभ्यस्येन्मनः सदा। मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः। तावत्स्थास्यामि नियतो यावत्सङ्क्षयमागतम्। विमुक्तविषयासङ्गं सन्निरुध्य मनो हृदि। यदा यात्युन्मनीभावं तदा निर्वाणमृच्छति। कामक्रोधभयेनेह तमसाऽऽवृतचेतसः। पिशुनाश्च कृतघ्नाश्च नास्तिका भिन्नवृत्तयः। एतन्मूढा न पश्यन्ति मोक्षद्वारमपावृतम्। अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च। ध्यानयोगस्य माहात्म्यं कलां नार्हन्ति षोडशीमि"ति। अत एवमुक्ते सर्वगुह्यतमे स्वद्धिते परमे मद्वचसि त्वं सर्वात्मना श्रद्दधानो यथोक्तमनुतिष्ठेति भावः।

ब्रह्मा, शिव आदि को भी दुराराध्य परमानन्दघन परमप्राप्य मुझको तुम पाओगे। यह बात सत्य है, मैं ठगता नहीं हूँ। मैं तुमसे ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो और प्रिय को ठगना बिलकुल अनुचित है।

ध्यान ही परम कल्याण का कारण है यह बात वेदव्यासजी ने महाभारत में कही है, यथा :—

"आलोड्य सर्वशास्त्राणि ·····नारायणः सदा॥" अर्थात् सब शास्त्रों को मथ कर बार-बार विचार करने पर यही निश्चय निकलता है कि भगवान् का सदा ध्यान करना चाहिए। महाभारत के मोक्षधर्म में मेधावी ऋषि का भी यही निश्चय है। यथा :—

"सोऽहं त्वहिंस्रः····नार्हन्ति षोड़शीम्॥" अर्थात् वह मैं, हिंसारहित, सत्य आत्मा काम क्रोध को छोड़, जितेन्द्रिय तथा शमयुक्त हो देवताओं के समान मृत्यु को जीतूंगा। भीतर बाहर में जो कुछ भी मन को संसारी प्रलोभन में फंसाने के कारण हैं, उनको बिलकुल छोड़ मन को सदा ध्यान में लगाये। समाधि द्वारा मन और इन्द्रियों को एकाग्र कर मैं तब तक सावधानरूप से स्थित रहूँगा जब तक मेरी मृत्यु न हो जाय। विषयों का संग छोड़ और मन को हृदय में रोक जब उन्मनीभाव हो जायगा तब निर्वाण प्राप्त होगा। काम, क्रोध और भय से आक्रान्त और अन्धकार से जिनका हृदय ढँका हुआ है ऐसे चुगलखोर, कृतघ्न, नास्तिक, भिन्नवृत्तिवाले मूढ़ खुले हुए मोक्ष द्वार को नहीं देखते। सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ का फल ध्यानयोग के महात्म्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हो सकता।

इसलिए हे अर्जुन! सबसे गोपनीय तुम्हारे हित के लिए कहे गये मेरे श्रेष्ठ वचनों में पूरी तरह से श्रद्धा रखते हुए जैसा मैंने कहा है वैसा करो॥६५॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

एवं भगवदुपदिष्टे सर्वशास्त्रगुह्यतमसिद्धान्ते सर्वात्मना स्वानन्यभजने श्रद्दधानमपि धर्मवित्मन्वादिमहर्षिविहितयज्ञदानतपःस्वाध्यायाग्निहोत्रमहायज्ञाद्यनुष्ठाने कर्तव्ये यथोक्तं केवलभगवद्भजनं नोपपद्येत तत्परित्यागे च विहितधर्मत्यागजन्यपापापत्तिप्रसङ्गेन भजनभङ्गः स्यात् । किञ्च "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् । पुनः "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"इत्येवमादिवचनैस्तेषामवश्यकर्तव्यताया भगवता स्वयमपीह विहितत्वात् कथं तत्त्यागो युज्येत अत्यागे च भगवति मनोनिवेशनपूर्वकं तदैकान्त्यभजनं न स्यादन्यकर्मादौ प्रवृत्तत्वात् । एवं च किं हेयं किमुपादेयमित्यनिश्चयात् सन्देहव्याकुलचित्तमर्जुनमालोच्य श्रीभगवान्वासुदेवस्तत्सन्देहमपाकुर्वन् स्वस्य निरङ्कुशेश्वरत्वं च ख्यापयन् स्वशरणागतस्य सर्वपापक्षयकर्तृत्वेन स्वप्रपत्तिमेव दृढयति—सर्वधर्मानिति । सर्वान् धर्मान्यज्ञदानतपोऽग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादीन्नित्यनैमित्तिकान्साधनाङ्गफलसहितान्परित्यज्य एतैरेव मे श्रेयो भविष्यतीति तेष्वादरं विहाय तदनुष्ठानं कुर्वन्नकुर्वन्वा तत्करणाकरणयोर्गुणदोषबुद्धिमकृत्वेश्वरार्थः मामेकं

इस प्रकार भगवान् के द्वारा उपदेश किये गये और सब शास्त्रों से अधिक गोपनीय सिद्धान्त में और भगवान् के अनन्य भजन में सब प्रकार से श्रद्धा रखते हुए भी, धर्म के जाननेवाले मनु आदि महर्षियों द्वारा कहे गये यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, अग्निहोत्र महायज्ञादि के अनुष्ठान करने में लग जाने पर केवल भगवत् भजन नहीं हो सकता । और मन्वादि ऋषिप्रोक्त इन कर्मों को यदि छोड़ दें या न करें तो विहित धर्म छोड़ने का पाप लगेगा जिससे भजन में भंग होगा । इतना ही नहीं आपने स्वयं इसी गीता में पीछे कहा भी है कि—

"यज्ञोदानं तपश्चैव ·····निश्चितं मतमुत्तमम् ॥" भाव यह है कि यज्ञादि पवित्र करनेवाले हैं, इन्हें आसक्ति और फल को छोड़ सभी को करना चाहिये, यह मेरा श्रेष्ठ मत है । फिर "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिः लभते नरः" आदि वचनों से आपने यह कहा है कि इन यज्ञादि कर्मों को अवश्य करना चाहिए । तो इन सबका त्याग कैसे उचित है ? और नहीं त्यागने से भगवान् में मन लगाकर एकान्त भजन नहीं बनता क्योंकि दूसरे कर्मादि में प्रवृत्ति रहती है । किस को ग्रहण किया जाय और किसको छोड़ा जाय इस अनिश्चय से सन्देहयुक्त व्याकुलचित अर्जुन को जान श्रीभगवान् वासुदेव उसके सन्देह को हटाते हुए अपनी निरंकुश ईश्वरता को प्रगट करने के लिये इस श्लोक में अपनी शरणागति को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि मेरी शरणागति सब पापों का क्षय करनेवाली है ।

सब धर्मों को जैसे यज्ञ, दान, तप, अग्निहोत्र, अमावस्या, पूर्णमासी आदि के नित्य नैमित्तिक कर्मों को, उनके अङ्ग और फल के साथ छोड़, अर्थात् इनसे मेरा कल्याण होगा इस प्रकार का उनको आदर नहीं देते हुए और उनका अनुष्ठान करते वा न करते हुए, अर्थात् उनके करने वा न करने के

शरणं व्रज, मां निखिलहेयगन्धशून्यं भगवन्तं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यवात्सल्यकारुण्यदयाक्षमाद्यनन्तकल्याणगुणार्णवं सर्वनियन्तारं सर्वफलप्रदातारं सच्चिदानन्दमूर्तिमेकमतिशयसाम्यशून्यं ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिवन्द्यं सर्वमुमुक्षूपास्यं शरणं शरण्यं प्राप्यं रक्षकं च विज्ञाय मदानुकूल्यसङ्कल्पाद्याचरणाध्यवसायेन कर्मदेवादिनिरपेक्षाद्भगवदनुग्रहादेवाहं कृतार्थो भविष्यामीति विश्वासपूर्वकं स्वस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वाभिमानं विहाय स्वहिताहितं सर्वं मदधीनं निश्चित्य प्रेमप्रकर्षेण गङ्गाप्रवाहवदनवच्छिन्नचिन्तनेन प्रपन्नस्वेत्यर्थः। न चैवं सर्वधर्मानादरेण मम पापसम्भवः स्यादिति शङ्कनीयमित्याह—अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामीति। अहं स्वतन्त्रः सर्वेश्वरः स्वभक्तिमार्गसंरक्षणाय स्वीयाराधनधर्मप्रवर्तनाय स्वेच्छयैव भक्तानुग्रहाय यदुकुलेऽवतीर्णः मयि भक्त्यतिशयाभिव्यक्तैनैमित्तिककर्मानादरकारिणं मदेकशरणं त्वां सर्वपापेभ्योऽनेकजन्मस्वकृत्यकरणकृत्याकरणजनितानि बहुपापानि इह च प्रायश्चित्ताद्यकरणात्स्ववर्णाश्रमोचितधर्मानादरणाच्च बन्धुवधादिनिमित्ताच्च जायमानानि प्राक्तनभविष्यद्वर्तमानानि पापानि तेभ्यः सर्वेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वसामर्थ्यादेव, अतो मा शुचः प्रायश्चित्ताकरणात्स्ववर्णानादराद्बन्धुवधाच्च यानि मे पापानि तानि कथं तरिष्यामीति शोकं मा कृथाः। नन्वेवं "नकर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं

गुण दोष पर ध्यान नहीं रख कर, मेरी शरण में आओ। मैं समस्त हेय (त्याज्य) गुणों के गन्ध से शून्य, भगवान्, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, वत्सलता, करुणा, दया, क्षमा आदि अनन्त कल्याण गुणों का समुद्र हूँ। मैं सबका नियन्ता, सब कर्मों के फल का देनेवाला, सत्, चित्, आनन्दमूर्ति, बड़े और बराबरी करनेवाले से शून्य अर्थात् मुझ से बड़ा या मेरे बराबरी करनेवाला कोई नहीं है, ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि का एक वन्द्य, सब मोक्षार्थियों का उपास्य, शरण, शरण रखने को योग्यतायुक्त, प्राप्त करने योग्य और रक्षक हूँ। मुझे ऐसा जान मेरी अनुकूल संकल्पादि आचरणों में निश्चय रखता हुआ, कर्म, देवादि की अपेक्षा न कर यह विश्वास करता हुआ कि भगवान् ही की कृपा से मैं कृतार्थ होऊँगा, अपने स्वतन्त्र कर्तापने के घमण्ड को छोड़ और अपना सब हित अहित मेरे अधीन जान कर, प्रेम की अधिकता से गंगाप्रवाहवत् मेरा अनवरत चिन्तन करता हुआ मेरी शरण में आओ। ऐसी शंका मत करो कि सब धर्मों का अनादर करने से मुझको पाप होगा क्योंकि मैं स्वतन्त्र और सर्वेश्वर हूँ। अपनी भक्तिमार्ग के रक्षार्थ और भगवद्भक्ति धर्म के प्रचार के लिये अपनी इच्छा से ही भक्तों पर कृपा दिखाने के कारण यदुकुल में मैंने अवतार लिया है। ऐसे मुझ भगवान् में अतिभक्ति करने के कारण नित्य नैमित्तिक कार्यों को अनादर करनेवाले और केवल मेरे ही शरण का भरोसा करनेवाले तुमको मैं सब पापों से अर्थात् अनेक जन्मों में किये जानेवाले कर्मों के नहीं करने से और नहीं करने योग्य कामों को करने से जो पाप हैं और इस संसार में उनके प्रायश्चित्त नहीं करने से तथा अपने वर्णाश्रम धर्म के अनादर और बन्धु-बान्धवों के मारने से जो पाप हैं वे सब और पूर्व के तथा वर्त्तमान और भविष्यत् पाप हैं उन सबों से मैं अपनी सामर्थ्य द्वारा तुम्हें छुड़ा दूँगा। इसलिए सोच मत करो अर्थात् इसकी चिन्ता और शोक न करो कि पापों का प्रायश्चित्त नहीं करने से, अपने वर्णाश्रम धर्म के अनादर से और बन्धुवर्गों के मारने

पुरुषोऽश्नुते। नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः" इत्यादिस्वधर्माचरणावश्यकत्वप्रतिपादकस्ववचन-विरोध इति वाच्यं, यथोक्तभक्तिहीनानां तदधिकार-योग्यतापादनाय तेषां नियतत्वेनाङ्गीकार्यत्वात्। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति श्रुत्या तेषां विविदिषायामेवोपयोगस्य निर्णीतत्वात्। जिज्ञासोत्पादनेन तेषामुपक्षीणत्वात्। तथोक्तं श्रीभागवतैकादशे "निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्। जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नादियेत् कर्मचोदनाम्। तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते" इति। अन्यथा "न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न तपोभिरुग्रैः। एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर! नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप। मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवे"ति पारमेश्वररूपदर्शनं प्रति यज्ञदानादीनामकिञ्चित्करत्वमभिधायानन्यभक्तेरेव तद्धेतुत्वकथनपूर्वकं स्वकर्म-

---

से जो पाप होंगे उनसे मैं कैसे तरूंगा। यदि तुम यह कहो कि आपने स्वयं इसी अध्याय में—"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं ·····परिकीर्तितः॥" आदि द्वारा यह बताया है कि स्वधर्म का आचरण आवश्यक है तो तुम्हारा यह सोचना ठीक नहीं क्योंकि मेरी यथोक्त भक्ति से हीन पुरुषों के अर्थ उनको भक्ति के अधिकार की योग्यता प्राप्त कराने के लिये नियतरूप से कर्म का अंगीकार करने को कहा गया है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है, यथा—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" अर्थात् वेदों के अनुवचन, यज्ञ, दान, तप और उपवास द्वारा ब्राह्मण उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। इस प्रकार श्रुतियाँ यज्ञ, दान आदि की उपयोगिता केवल यही बताती हैं कि उनको करने से ब्रह्मज्ञान की इच्छा जगती है। यह इच्छा जग जाने पर उनकी कुछ आवश्यकता नहीं रह जाती। भागवत् के एकादश स्कन्ध में भी यही बात कही गई है, यथा—

"निवृत्तं कर्म·····यावन्न जायते॥" अर्थात् मेरे में संलग्नचित्त मनुष्य निवृत्तिवाले कर्मों को करे और प्रवृत्तिवाले कर्मों को छोड़े। जब ब्रह्म को जानने की इच्छा जग जाय तो कर्म प्रेरणा का आदर न करे। तब तक कर्मों को करे जब तक या तो वैराग्य प्राप्त न हो या मेरी कथा सुनने अथवा मेरे कीर्त्तनादिक में श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय।

फिर यदि तुम्हारा सोचना ठीक हो तो इसी गीता में कहे हुए मेरे और वचनसमूह के साथ विरोध पड़ जायगा, जिनमें यह बताया गया है कि परमेश्वर के रूप के दर्शन में यज्ञ, दान, बिलकुल अकिञ्चित्कर अर्थात् सामर्थ्यहीन हैं। अनन्य भक्ति ही उस रूप का दर्शन करा सकती है। हमारे अनुकूल कर्मों को करता हुआ बैर से हीन, मेरा भक्त ही मुझको पा सकता है। ये सब वचन एकादश आदि अध्यायों में हैं यथा—

"न वेदयज्ञाध्ययनैर्न·····समामेति पाण्डव!॥" फिर उपनिषदों में कहा गया है—

कर्तुर्निर्वैरस्य स्वभक्तस्यैव स्वप्राप्त्यभिधायकवाक्यवृन्दविरोधः कथं न शंक्यते बुधैः। किञ्च "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं निगच्छति"त्यन्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां निःशेषदुःखकर्मसंशयनिवृत्तिहेतुत्वेन परमात्मज्ञानस्यैव हेतुत्वाभिधानात्तस्य न पूर्वोक्तानन्यभक्तेरेव हेतुत्वात्। "श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां, न स शक्यः सुरैर्द्रष्टुं न चान्यैरपि सत्तम!। यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति"ति श्रुतिस्मृतिभ्यां भगवत्प्रसादस्यैव तद्दर्शनहेतुत्वात्। प्रसादविषयोऽपि तदनन्यभक्त एव। "नास्यभक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते। अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज!। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः। नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रिय-

---

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते ..... दुःखस्यान्तं निगच्छति॥" अर्थात् परनाम मनुष्यों से श्रेष्ठ ब्रह्मरुद्रादि देव जिससे अवर नाम अश्रेष्ठ हैं, उस भगवान् के दर्शन से हृदय की मायाकृत सभी गाँठें आप से आप नाश हो जाती हैं, और गाँठों के नाश हो जाने से फिर आत्म परमात्म सम्बन्धी कोई संशय नहीं रह जाता और जीव के सब प्रकार के कर्म (संचित, प्रारब्ध क्रियमाणादि) नाश हो जाते हैं। यदि मनुष्य आकाश को चमड़े की तरह लपेट सके, जो बात बिलकुल असम्भव है, तभी वह बिना परमेश्वर को जाने दुःख के अन्त को पा सकता है अर्थात् संसार के त्रिविध दुःख से छूट सकता है।

इन उपनिषद् वाक्यों में अन्वय व्यतिरेक द्वारा यह दिखाया गया है कि दुःख, कर्म और संशय की पूर्ण निवृत्ति में परमात्मज्ञान ही एकमात्र कारण हो सकता है और परमात्मज्ञान बिना भगवान् की अनन्यभक्ति के नहीं हो सकता। फिर श्रुति कहती है—"श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः॥ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्"। अर्थात् सुनकर के भी जिस परब्रह्म को बहुत लोग नहीं जानते। यह आत्मा (परमात्मा) न वेदार्थ के जानने से, न बुद्धि से, और न बहुत सुनने से प्राप्त हो सकता है किन्तु जिसको वह वरण करता है उसी को वह प्राप्त है उसी के आत्मा को वह अपना शरीर करके स्वीकार करता है। स्मृति भी यही बात कहती है यथा—

"न स शक्यः ..... तं द्रष्टुमर्हति॥" अर्थात् परमात्मा को देवता तथा दूसरे भी नहीं देख सकते। जिस पर वह कृपा करता है वही उसको देखने के योग्य होता है। ऊपर लिखित श्रुति स्मृति वाक्यों से यह प्रमाणित हुआ कि भगवत् की कृपा ही उनके दर्शन होने में एकमात्र कारण है और उनकी कृपा के पात्र उनके अनन्य भक्त ही हैं। भगवान ने स्वयं महाभारत, भागवत और रेवाखण्ड में कहा है कि—

"नास्यभक्तात्प्रियतरो ..... पूज्यो यथाह्यहम्॥" अर्थात् हे ब्राह्मण, इस संसार में मुझको अपने भक्त से अधिक प्रिय दूसरा कोई नहीं है। हम अस्वतन्त्र वा मातहत के समान भक्त के अधीन हैं। भक्त

मात्यन्तिकी ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा। न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः। तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहमि"ति महाभारतश्रीभागवतरेवाखण्डादिपूक्तभगवद्भक्तेभ्यः। तथा धर्मविद्भ्यश्चरेण याज्ञवल्क्येनाप्युक्तम् "इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणादिवाक्यैर्भगवदनन्यभक्तिरेव परमो धर्म इति सिद्धम्। तस्माद्यथोक्तभक्तिहीनो मत्प्रवृत्तिशून्यः यथेष्टाचारेण स्ववर्णाश्रमोचितधर्मत्यागो मदाज्ञाविरुद्धाचरणात् पतितः स्यात्। ननु मदनन्यशरणो मद्भक्तत्वावेशाद्यज्ञादिकर्म कुर्वन्नुपेक्षको वा कदाचित् (न) कथमपि पुरुषार्थाद्भ्रश्यते मदनुग्रहात्। तथा मोक्षधर्मे नारायणीयाख्याने भगवदनन्यशरणस्य प्रवृत्तैव सर्वपापक्षयपूर्वकं सर्वपुरुषार्थावाप्तिरभिहिता। तथाहि "अनेनैव प्रपन्नस्य भगवन्तं सनातनम्। तस्यानुबन्धाः पाप्मानः सर्वे नश्यन्ति तत्क्षणात्। कृतान्यनेन सर्वाणि तपांसि तपतां वर। सर्वतीर्थाः सर्वयज्ञाः सर्वदानानि तत्क्षणात्। कृतान्यनेन मोक्षश्च तस्य हस्ते न संशयः। यत्नेन कामकामेन संसाध्यं साधनान्तरैः। मुमुक्षुणा यत्नाद्भक्त्या योगेनापि च भक्तिनः। प्राप्यते परमं धाम तयोर्नास्त्येव यतिः।

साधु मेरे हृदय पर अधिकार कर लेते हैं। मैं भक्तों को प्रिय हूँ और वे मेरे प्रिय हैं। भक्त साधुओं के बिना जिनकी मैं ही गति हूँ मैं अपने को भी नहीं चाहता और अत्यन्त प्रिय लक्ष्मी को भी नहीं चाहता। हमको चारों वेद का ज्ञाता परन्तु जो अभक्त हो वह ब्राह्मण भी प्रिय नहीं है और भक्त श्वपच भी मुझे प्रिय है। उसी को देना चाहिये, उसी से लेना चाहिये, वह मेरे ही समान पूजने के योग्य है। धर्म के जाननेवालों में श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य ने भी यही कहा है, यथा—

"इज्याचारदमाहिंसा……योगेनात्मदर्शनम्॥" अर्थात् यज्ञ, आचार इन्द्रियदमन, अहिंसा, दान वेदपाठ आदि सब कर्मों से भी योग द्वारा आत्मदर्शन करना परम श्रेष्ठ धर्म है। इन सब श्रुति, स्मृति, पुराण इत्यादि के वचनों से यह सिद्ध हुआ कि भगवान् की अनन्यभक्ति ही जीव का परम धर्म है। इसलिए जो पुरुष मेरी यथोक्त भक्ति से शून्य है वह यदि अपने वर्णाश्रम के उचित धर्म को अथेष्टाचार से छोड़ दे तो वह श्रुति स्मृति में उक्त मेरी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने के कारण पतित हो सकता है। पर वह पुरुष जो मेरे अनन्यशरण में है मेरी भक्ति की प्रबलता के बल यज्ञादि कर्मों को करता हुआ वा न करता हुआ मेरी कृपा के कारण पुरुषार्थ से कभी भी या किसी प्रकार भी भ्रष्ट नहीं होता। महाभारत के मोक्षधर्म के नारायणीय आख्यान में यह कहा गया है कि भगवान् के अनन्यशरण पुरुष शरणागति से ही सब पापों से छूट सब पुरुषार्थ अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को पाता है। यथा—

"अनेनैव प्रपन्नस्य……हरौ नारायणाश्रयः॥" अर्थात् जो पुरुष सनातन भगवान् की शरण हो जाता है उसके सब पाप के बन्धन उसी क्षण में नाश हो जाते हैं। हे तपस्वियों में श्रेष्ठ! ऐसे पुरुष ने उसी क्षण में सब तपों, तीर्थों, यज्ञों और दानों को कर डाला और मोक्ष भी उसके हाथ में है, इसमें कुछ संशय नहीं। जिस परधाम को काम-कामी अन्य साधनों द्वारा और मुमुक्षु सांख्य, योग वा भक्ति

तेन तेनाप्यते तत्तन्न्यासेनैव महामुने ! । परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तमः । या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय" इति पुण्डरीकाख्याने च "अश्वमेधशतैरिष्ट्वा वाजपेयशतैरपि । नाप्नुवन्ति च सुगतिं नारायणपराङ्मुखाः । ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचार-रतास्तथा । तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपदाश्रया" इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां भगवदनन्यशरणानामेव परमपदप्राप्त्यभिधानं, नतु केवलयज्ञादिकर्मिष्ठानामिति निर्णीतम् । तत्र नृशंसत्वादिविशेषणानि प्रपत्तिपूर्वकालानीति बोध्यम् । तथोक्तं सात्वततन्त्रे "दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा । समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः । निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः" इति । अपिशब्देन यद्येवंविधा दुराचारिणोऽपि भगवन्तं प्रपद्य सर्वदोषनिरासेन परं धाम प्राप्नुवन्ति चेत्तर्हि सदाचारनिष्ठा ज्ञानवैराग्ययुक्ता भगवदनन्यशरणास्तदाराधनेतरकर्मोपेक्षकास्तत्पदं प्राप्नुयुरिति किमु वक्तव्यमिति कैमुत्यं दर्शितमित्यलं विस्तरेण ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदा चन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

से प्राप्त करता है उसको यह पुरुष आत्मसमर्पण (प्रपत्ति) से ही प्राप्त कर लेता है। नारायण का आश्रय करनेवाला पुरुष अर्थ, धर्म काम और मोक्ष को साधन की सामग्री के बिना भी प्राप्त कर लेता है। फिर पुण्डरीकाख्यान में लिखा है :—

"अश्वमेधशतैरिष्ट्वा·····नारायणपदाश्रयाः ॥" अर्थात् जो मनुष्य नारायण से विमुख होते हैं वे सैकड़ों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ करके भी सुगति नहीं पाते और क्रूरहृदय, दुरात्मा, पापाचारी मनुष्य भी नारायण के चरणों का आश्रय लेकर परधाम को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ पर अन्वय व्यतिरेक द्वारा शास्त्रीय वाक्यों से भगवान् की अनन्य शरण द्वारा ही परमपद की प्राप्ति निश्चित की गई, केवल यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान द्वारा नहीं। प्रपन्नों में क्रूर हृदयता आदि विशेषण का लागू होना शरणागत होने के पहले समझना चाहिये, शरणागत होने के बाद नहीं, जैसा कि सात्वततन्त्र में कहा है—

"दुराचारोऽपि सर्वाशी·····प्रभावात्परमात्मनः ॥" अर्थात् जो पुरुष पूर्व में दुराचारी, सर्वभक्षी, कृतघ्न और नास्तिक भी रहता है वह जब आदिदेव भगवान् की शरण में श्रद्धापूर्वक आ जाता है उसको परमेश्वर के प्रभाव से निर्दोष समझो। 'अपि' (भी) शब्द का मतलब यह है कि इस प्रकार के दुराचारी भी भगवान् की शरण लेकर सब दोषों से छूट परधाम को प्राप्त करते हैं, तो जो लोग सदाचार निष्ठायुक्त, ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न और भगवत् के अनन्य शरणागत होने के कारण उनकी पूजा को छोड़ अन्य कर्मों की उपेक्षा करते हैं वे यदि परमधाम को प्राप्त कर लेवें तो उसमें पूछना ही क्या है ? यह कैमुत्य न्याय दिखाया ॥६६॥

एवं सर्वशास्त्रस्य सारभूतं गीताशास्त्रमुपदिश्येदानीमस्य शास्त्रस्योपदेशाधिकारिनियममाह—इदमिति। इदं कर्मज्ञानभक्तिविषयं गुह्यतमं शास्त्रं तुभ्यं मया कृपयोपदिष्टं, ते त्वया अतपस्काय वाङ्मयमानसशरीरेति त्रिविधतपोरहिताय, तपः स्वधर्मवर्तित्वं तद्रहितायेति वा न वाच्यं नोपदेष्टव्यं, तपोयुक्ताय अभक्ताय गुरावीश्वरे च भक्तिशून्याय कदा चन न वाच्यं, न चाशुश्रूषवे वाच्यं, भक्तायापि अशुश्रूषवे परिचर्यामकुर्वते न च वाच्यं, न च मां योऽभ्यसूयति, मां भगवन्तं वासुदेवं दोषारोपेण यः पश्यति दोषगन्धास्पृष्टस्वरूपे दिव्याप्राकृतानन्तगुणे ब्रह्माद्यचिन्त्यनित्यैश्वर्येऽपि दोषमारोपयतीत्यर्थः, तस्मै तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि कदाचन न वाच्यं, तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽनसूयवे श्रीकृष्णेऽनुरागयुक्ताय वाच्यमित्यर्थः।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

एवमुक्तदोषरहितेभ्यो भगवद्भक्तेभ्यो यो ददाति तस्य फलमाह—य इदमिति। यः कश्चिद्गीतासम्प्रदायप्रवर्त्तक इदं मदुक्तं परमं गुह्यमतिरहस्यस्थानसर्वत्र प्रकाशनानर्हत्वतो मद्भक्तेषु मयि भगवति वासुदेवे भक्तियुक्तेषु योऽभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापयिष्यति पूर्वश्लोकेऽभक्तस्य निषेधेन भक्तस्यैवार्थतो ग्रहणेऽपि पुनर्भक्तग्रहणात् तपआद्यभावेऽपि मद्भक्तिमात्रेणाप्यस्य शास्त्रस्य सम्प्रदान-

---

इस प्रकार सब शास्त्रों के सारभूत गीता शास्त्र का उपदेश कर अब इस शास्त्र के अधिकारी के नियम का वर्णन करते हैं। कर्म ज्ञान भक्ति विषयक परम गोपनीय इस गीता शास्त्र का उपदेश मैंने तुम पर कृपा कर तुमको किया। जो पुरुष कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के तप से शून्य है या अपने धर्म से रहित है उसको इसका उपदेश नहीं करना। फिर तपयुक्त भी मनुष्य यदि ईश्वर और गुरु में भक्ति नहीं करता हो तो उससे भी इस शास्त्र को कभी नहीं कहना। गुरु और ईश्वर का भक्त भी यदि उनकी सेवा नहीं करता हो तो उससे भी इसको नहीं कहना। और जो पुरुष दोषों के गन्ध से अस्पृष्ट, दिव्य अप्राकृत गुणों के समूह, ब्रह्मादिकों द्वारा नहीं चिन्तन करने योग्य और नित्य ऐश्वर्यवाले मुझ भगवान् वासुदेव में दोषारोपण करता है उससे भी इस गीता शास्त्र को कभी नहीं कहना चाहिए, यद्यपि वह तपस्वी, भक्त और सेवा करनेवाला भी हो मतलब कि इस गीता शास्त्र का वही अधिकारी है जो तपस्वी, भक्त, गुरु ईश्वर का सेवक, भगवान् में दोषारोपण नहीं करनेवाला और कृष्णानुराग से युक्त है अर्थात् ऐसे ही पुरुष को इस गीता शास्त्र को सुनाना चाहिए ॥६७॥

उक्त दोषों से रहित भगवद्भक्तों को जो गीता का उपदेश देता है उसका फल कहते हैं—

जो कोई इस गीता शास्त्र के सम्प्रदाय का प्रचारक मेरे इस कहे हुए परम गोपनीय अर्थात् सब जगह नहीं प्रकट करने योग्य रहस्य को मुझ वासुदेव भगवान् के भक्त के लिए ग्रन्थ से वा अर्थ से स्थापित करेगा अर्थात् केवल पाठ अथवा अर्थ सहित पाठ का उपदेश देगा, यह सोच कि गीता के कर्ता भगवान् की प्रीति अर्थ मैं भक्तों को गीता का उपदेश देता हूँ और किसी उपाधि आदि के लालच से

पात्रता भवति, भक्तेरेव तदधिकारापादनत्वमिति सूचितम्। कथमभिधास्यति तत्राह भक्तिं मयि परां कृत्वेति। गीताकर्त्तुर्भगवतो गरीयसः परमप्रीत्यर्थं मया भक्तेभ्यो दीयते। ननु केन चिदुपाधिनेति निश्चित्य यो वक्ष्यति स मामेवैष्यत्येव संशयो न कर्त्तव्यः। अथवा यो मद्भक्तेभ्योऽभिधास्यति स मयि परां प्रेमलक्षणां भक्तिं कृत्वा तया मामाराध्य मामेवैष्यति। अवधारणेनोक्तार्थसिद्धौ सत्यां पुनरसंशय-वचनं यया यज्ञादिकर्मनिष्ठो भक्तिहीनज्ञाननिष्ठो वाऽन्यदेवान्तवत्फलं प्राप्नोति न तथा मद्भक्त इति दार्ढ्यायेति भावः।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

मामेवैष्यतीत्युक्तं तत्र हेतुमाह—न चेति। मद्भक्तेषु यो गीताशास्त्राभिधायकस्तस्मादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिन्मे मम प्रियकृत्तमः अतिशयेन प्रियकृन्नास्ति वर्त्तमानकाले न च मे तस्मादन्यः कश्चित्प्रियतरो भुवि अस्मिल्लोके भविता भविष्यति।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

एवमध्यापकस्य फलमुक्त्वा अध्येतुः फलमाह—अध्येष्यत इति। आवयोर्वासुदेवार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयं यश्चाध्येष्यते यथोक्तार्थविशिष्टं सद्गुरोः सम्यगवधार्यार्थानु-

---

नहीं, तो वह मुझे अवश्य ही पावेगा इसमें सन्देह नहीं। अथवा जो मेरे भक्तों को गीता का उपदेश करेगा वह मुझ में परा प्रेमलक्षणा भक्ति को कर और उसके द्वारा मेरा पूजन कर मुझको पावेगा।

पूर्व श्लोक में अभक्त को गीता उपदेश का निषेध कर भक्त ही को उपदेश करना बताया। फिर इस श्लोक में भी 'भक्त' शब्द का व्यवहार यह सूचित करने के लिए किया कि तप आदि के अभाव होने पर भी मेरे भक्त को इसके उपदेश ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है। 'एव' शब्द को, जो निश्चय वाचक शब्द है व्यवहार कर फिर 'असंशय' शब्द का व्यवहार किया। इसका यह भाव है कि जैसे यज्ञादि कर्मों में अथवा ज्ञान में या अन्य देवताओं में निष्ठा रखनेवाला भक्तिशून्य पुरुष विनाशी अल्प फल को पाता है मेरा भक्त वैसा नहीं पाता। वह मुझको ही पाता है। इसी को दृढ़ करने के लिए 'असंशय' शब्द व्यवहार किया ॥६८॥

ऐसा पुरुष मुझको पावेगा, यह ऊपर कहा अब इसका कारण बताते हैं—

जो मेरे भक्तों को गीता का उपदेश देता है उससे बढ़कर मनुष्यों में मेरा प्रिय करनेवाला और कोई नहीं है और न इस संसार में उससे बढ़कर मेरा प्रिय कोई होगा ॥६९॥

अध्यापक का फल कहकर अब पढ़नेवालों को क्या फल होता है इसको कहते हैं—

वासुदेव और अर्जुन के इस धर्मयुक्त सर्वशास्त्र निर्णय को जो पढ़ता है अर्थात् यथोक्त अर्थ के साथ गुरु से पढ़ सम्यक् धारण कर, अर्थ का अनुसन्धान का विचार करता हुआ नित्य नियम से पढ़ता

सन्धानसहितं नियमेन पठिष्यति, तेन पुंसा ज्ञानयज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तपर्वयज्ञेषु "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते । श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ परन्तपे"ति विशिष्टतयोक्तेन अहमिष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः । यद्यपि ज्ञानयज्ञस्त्वर्थविचारेणैव भवति तथाऽपि यो मद्भक्तः केवलपाठमात्रेणापि मां स्तौति सोऽपि स्वमाहात्म्यं शृण्वतो मम प्रियो भवति । यथा लोके कश्चिदल्पबुद्धिरपि कस्य चिन्महाजनस्य यथाबुद्धि माहात्म्यं वाङ्मात्रेणापि ब्रूयादयमिति स तस्य प्रियो भवति, तथा गीतापाठमात्रकृदपि ममैश्वर्यगुणसूचकोऽयमिति मे प्रियो भवतीत्यर्थः ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

इदानीमन्यस्य पठतो योऽन्यः शृणोति तस्य फलमाह श्रद्धावानिति । यः कश्चिन्नरः अन्यस्य विदुषो वोच्चैः पठतः सकाशात् केवलं शृणुयादपि कथम्भूतः श्रद्धावान् साक्षाद्भगवद्गीतत्वान्महाफलमिति विश्वासवान् पुनरनसूयश्च सम्यग्न पठति, अयं पठितुमनर्ह इति दोषारोपमकुर्वन् यः शृणुयात्सोऽपि पापैर्मुक्तः पुण्यकर्मणामश्वमेधादिपुण्यकर्मकृतां शुभाँल्लोकान् पुण्यफलभोगभोग्यान्प्राप्नुयात् ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ! ॥७२॥

एतद्गीताशास्त्रस्य वक्तुरध्येतुः श्रोतुश्च फलमुक्तमिदानीं यावच्छिष्यस्याज्ञानं न नश्येत्ता-

---

है उस पुरुष ने चतुर्थ अध्याय में कहे गये सब यज्ञों में श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ द्वारा मेरी पूजा की यह मेरा निश्चय मत है । "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते । श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ! ॥" यद्यपि ज्ञानयज्ञ अर्थ विचार से ही होता है तथापि जो भक्त केवल गीतापाठ से मेरी स्तुति करता है वह भी मेरा प्रिय होता है क्योंकि वह मेरा माहात्म्य मुझे सुनाता है । जैसे संसार में कोई अल्प बुद्धिवाला मनुष्य भी किसी श्रेष्ठ पुरुष की अपनी अल्पबुद्धि अनुसार वचन से ही बड़ाई करता है तो उस बड़े आदमी का वह प्रिय होता है, उसी प्रकार गीता का केवल पाठ करनेवाला भी मेरा प्रिय होता है क्योंकि गीता मेरे ऐश्वर्य और दिव्यगुणों की सूचक है ॥७०॥

दूसरे के पाठ करने को जो सुनता है उसका फल कहते हैं—

अन्य विद्वान् द्वारा उच्च स्वर से पढ़े जाते हुए गीताशास्त्र को गीता के महाफल में विश्वास करता हुआ और पाठ करनेवाले में यह पढ़ने के अयोग्य है ऐसा दोष नहीं निकालता हुआ जो कोई मनुष्य केवल सुनता है वह भी पापों से छूटकर अश्वमेधादि पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त होने योग्य पुण्यफल के भोगने के शुभ स्थानों को अर्थात् स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करता है ॥७१॥

इस गीताशास्त्र के उपदेश देनेवाले, पढ़नेवाले और सुननेवाले के फल को कहा । जब तक

वद् गुरुणा शिष्यः पुनरुपदेष्टव्य इति गुरुधर्मं शिक्षयन्सर्वज्ञोऽपि भगवानर्जुनं मोहनिवृत्तिं पृच्छति—कच्चिदिति प्रश्ने। एतन्मयोक्तं गुह्यतममज्ञाननाशनं गीताशास्त्रं हे पार्थ! त्वयैकाग्रेणाविक्षिप्तेन चेतसा श्रुतं किं सद्युक्तिभिरवधारितं! तेन तवाज्ञानसंमोहः अज्ञानहेतुको विपर्ययः प्रणष्टः कच्चित् हे धनञ्जय! येन सम्मूढः सन्न योत्स्यामीत्युक्तवान्स यदि न नष्टः स्यात्तर्हि पुनरुपदेक्ष्यामीति भावः।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत!।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

एवम्पृष्टः स्वकृतार्थतामर्जुन उवाच—नष्ट इति। य आत्मविषयो मोहोऽन्यथाज्ञानजो विपर्ययोऽभूत्स नष्टः। तत्र हेतुमाह—त्वत्प्रसादादिति। मोहनाशे गमकमाह—स्मृतिर्लब्धेति। यथाऽवस्थिततत्त्वज्ञानमवाप्तं, तच्च पूर्वजन्मन्यासीन्नररूपनारायणसखित्वात्। पूर्वसिद्धमेवेह जन्मनि विनष्टं पुनर्भगवत्कृपया लब्धमतः स्मृतिर्लब्धेत्युक्तं, मम ज्ञानं च्युतं त्वं तु सदैकरसज्ञान इत्यभिप्रायेण सम्बोधयति—हे अच्युतेति। एतेन त्वत्प्रसादात्सत्यज्ञानानन्दस्वरूपमजहद्गुणशक्तिकं सर्वनियन्तारं सर्वस्य भवाभवहेतुं परमात्मानं साक्षाद्भगवन्तं वासुदेवं त्वां जानामीति सूचितम्। स्मृतिलाभस्य "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां

शिष्य के अज्ञान का नाश न हो तब तक गुरु फिर फिर उपदेश दे, इस गुरुधर्म की शिक्षा देने के लिये सर्वज्ञ भी भगवान् अर्जुन की मोहनिवृत्ति के विषय में अब उनसे पूछते हैं—हे अर्जुन! मुझ से कहे गये अज्ञान का नाशक और अति गोपनीय इस गीताशास्त्र को क्या तुमने एकाग्र मन से सुना अर्थात् सद्युक्तियों के साथ क्या यह तुम्हारे मन में बैठा? क्या इससे तुम्हारे अज्ञान के कारण मोह अर्थात् उल्टा ज्ञान का नाश हुआ जिससे मोहित होकर तुम कहते थे कि मैं नहीं लड़ूंगा? भाव कि न नष्ट हुआ हो तो मैं फिर उपदेश करूँ ॥७२॥

ऐसे पूछे जानेपर अर्जुन अपनी कृतार्थता कहते हैं :—

जो आत्मा के सम्बन्ध में मुझे मोह अर्थात् अन्यथा ज्ञान से उत्पन्न उल्टा ज्ञान हुआ था वह नष्ट हो गया। कैसे? आपके प्रसाद वा कृपा से। इसका प्रमाण वा चिन्ह क्या है? चिन्ह यही है कि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। पूर्व जन्म में मुझे तत्त्व का यथार्थ ज्ञान था क्योंकि मैं नारायण का सखा नररूप से था पर इस जन्म में वह ज्ञान मेरा नष्ट हो गया था। उसको फिर आपकी कृपा से प्राप्त किया, इसीलिए 'स्मृतिः लब्धा' कहा अर्थात् भूली हुई बात का आपकी कृपा से मुझे स्मरण हो आया। मेरा ज्ञान च्युत वा नाशवान् है और आपका ज्ञान सदा एकरस रहता है इसीलिए भगवान् को यहां अच्युत सम्बोधन किया है। इस सम्बोधन से यह भी सूचित किया कि आपकी कृपा से मैंने आपको सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप, सम्पूर्णगुण शक्तियुक्त, सबके नियन्ता, सबके संसार और मोक्ष के कारण, परमात्मा साक्षात् भगवान् वासुदेव जाना। श्रुति कहती है कि "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्र मोक्ष" अर्थात् स्मृति प्राप्त होने पर सब ग्रन्थियों का पूर्ण-

विप्र मोक्ष" इति श्रुत्युक्तं सन्देहनिवृत्तिरूपं फलमाह—स्थितोऽस्मि, गता मृताः सन्देहाः संशया आत्म-परमात्मस्वरूपगुणसम्बन्धमोक्षप्राप्तिसाधनविषया यस्य सोऽयं। स्थितोऽस्मि निश्चितत्वदुक्तशास्त्रार्थो निःसंशयोऽस्मीत्यर्थः। तथा हि "न त्वेवाहम्"त्यादिनाऽऽत्मनित्यत्वनानात्वाविनाशित्वनिश्चयादनित्य-त्वैकत्वविनाशित्वसंशयो नष्टः। तत "एषातेऽभिहिता साङ्ख्ये" इत्यारभ्य यावदध्यायसमाप्ति पूर्वोक्तात्मज्ञानप्राप्तिसाधनतया कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगाः सङ्क्षिप्य दर्शिता ज्ञाताः। तत्र कर्म-ज्ञानाधिकारिविशेषानिश्चयजातसंसन्देहनिरासपूर्वकासङ्गकर्मानुष्ठानतन्माहात्म्यकर्माकर्मादिज्ञानं तदसा-क्षत्त्या नैष्कर्म्यकर्मणि ब्रह्मदृष्टिर्यज्ञभेदस्तज्ज्ञानमाहात्म्यमात्मनोऽकर्तृत्वानुसन्धानेन कर्मानुष्ठान-संन्यासयोरैक्यं देहेन्द्रियमनोनियमनेन ध्यानयोगनिष्पत्त्या सर्वत्र समात्मस्वरूपानुसन्धानाभ्यासवैराग्य-भगवद्भक्तियोगनिष्ठेति तृतीयादिषष्ठाध्यायान्तेन साधनसंशयो गतः। ततो भजनीयभगवत्पदार्थतद्भक्ति-निरूपणोपयुक्तचिदचिल्लक्षणपरापरप्रकृतिद्वयविभागः स्वस्य तत्स्वामित्वसर्वात्मत्वसर्वकारणत्वसर्व-परमत्वं गुणमायया जगन्मोहकत्वं स्वाश्रितानां ततो मोचकत्वं भक्ताभक्तादिभेदतत्फलकथनेनात्मनः

रूप से नाश हो जाता है। इसलिए अर्जुन को स्मृति पाने पर फल यह हुआ कि उनके सन्देह छूट गये, इसी को स्पष्ट करते हैं। आत्मा और परमात्मा का स्वरूप, गुण और उनके सम्बन्ध विषयक तथा मोक्ष और उसकी प्राप्ति के साधन के विषय में जो मेरे सन्देह थे वे छूट गये और मैं अब स्थित हूँ अर्थात् आपके कहे हुए शास्त्रार्थ में निश्चित बुद्धियुक्त और निःसंशय हूँ। अब इसके प्रमाण दिये जाते हैं।

पूर्व में आपके कहे हुए "न त्वेवाहं" आदि से मुझे यह निश्चय ज्ञान हो गया कि आत्मा नित्य, अनेक और अविनाशी है, और जो यह सन्देह था कि आत्मा अनित्य, एक और विनाशी है, वह छूट गया। फिर "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" से आरम्भकर दूसरे अध्याय की समाप्ति तक आपने जो आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के साधनस्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का संक्षेप में उपदेश किया, उसको मैंने समझा। कर्म और ज्ञान के अधिकारी कौन कौन हैं इस विषय में अनिश्चय से उत्पन्न जो मेरा सन्देह था वह दूर हुआ। असंग होकर कर्मों को करना, ऐसे कर्म का माहात्म्य, कर्म अकर्म आदि का ज्ञान, कर्मों में अनासक्ति, निष्काम कर्म में ब्रह्मदृष्टि, यज्ञों के भेद, और उसके जानने का माहात्म्य, भगवान् के अधीन सब जीवों की स्थिति प्रवृत्ति होने के कारण कर्म में आत्मा के अकर्त्तापने का अनु-सन्धान वा विचार द्वारा कर्म के अनुष्ठान और संन्यास की एकता, देह, इन्द्रिय, मन के नियम द्वारा ध्यानयोग की सिद्धि से सब जगह सम आत्मस्वरूप का अनुसन्धान और उसके लिये अभ्यास, वैराग्य और भगवत् भक्तियोग में निष्ठा, इस प्रकार इन सब साधनों के विषय में जो संशय था, वह तीसरे अध्याय से लेकर छठें अध्याय तक के उपदेश द्वारा नष्ट हुआ। उसके बाद भजन करने योग्य जो भगवत् पदार्थ और उनकी भक्तिनिरूपण के उपयोगी चेतन अचेतन प्रकृतिपुरुष का विभाग और अपना प्रकृति-पुरुष के साथ स्वामीत्व, सर्वात्मत्व सर्व कारणत्व और सर्वश्रेष्ठत्व का सम्बन्ध एवं माया के गुणों द्वारा

सर्वमुमुक्षूपास्यत्वं परमफलरूपत्वं भक्तिमाहात्म्यानन्तविभूत्यैश्वर्यं ब्रह्मेशानदेवर्ष्यादिसुरासुरनरदुर्दर्श-दिव्याप्राकृताद्भुतैश्वररूपदर्शनं भक्त्यैकलभ्यं भक्तसुलभत्वं भक्तसंसारोद्धारकत्वं भक्तप्रियमिति सप्तमा-दिद्वादशाध्यायान्तेन निश्चयाद्भगवद्विभूतिगुणैश्वर्यभक्तलक्षणभक्तिप्राप्तिविषयकसंशयो गतः। ततः परापरप्रकृती एव क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्ये तयोर्भगवच्छक्तित्वेन स्वरूपेण भिन्नत्वेऽपि पृथक्स्थितिप्रवृत्य-नर्हतया तत्तादात्म्यं क्षेत्रस्वरूपकथनपूर्वकं क्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञानोपायममानित्वादिविंशकं ज्ञानशब्दवाच्ये तत्स्वरूपं तु सदसद्विलक्षणं स्वयं प्रकाशं नित्यमेव। तथाविधस्य सदसद्योनिजन्मसु प्रकृत्युद्भवसत्त्वादि-गुणसङ्गः कारणं तस्याणुपरिमाणकत्वेन देहाद्यावरणे धर्मभूतज्ञानेन सर्वक्षेत्रप्रकाशकत्वं तद्बन्धकगुणा-नामुत्पत्तौ स्वस्य हेतुत्वं तल्लक्षणबन्धकत्वप्रकारतत्कार्यभेदगुणातीतलक्षणगुणातिक्रमणप्रकारो गुणा-तीतस्य ब्रह्मभावप्राप्तिरिति त्रयोदशचतुर्दशाध्यायाभ्यां निश्चयात्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मना केवलभेदो वैक्यं वेति सम्बन्धविषयः, पुरुषस्य पारमार्थिकं स्वरूपं कीदृशं ? कथं संसारः ?

जगत को मोह कराना और अपने आश्रित भक्तों को माया के गुणों से मुक्त करना, तथा भक्त और अभक्त के भेद और उनके फल कह कर अपने को सब मुमुक्षुओं के उपासनीय और परम फलस्वरूप होना, भक्ति का माहात्म्य, अनन्त विभूति ऐश्वर्य, ब्रह्मा, शिव, देव, ऋषि, सुर, असुर, नर द्वारा कठिनता से देखे जाने योग्य, दिव्य, अप्राकृत, अद्भुत ऐश्वर्यरूप, जिसका दर्शन केवल भक्ति ही से हो सकता है, अपने भक्तों को सुलभ होना, उनका संसार से उद्धार करना और भक्त का प्रिय होना ये सब बातें सातवें से लेकर बारहवें अध्याय तक से निश्चय की गई, जिससे भगवद्विभूति, गुण और ऐश्वर्य, भक्तों के लक्षण, और भक्ति की प्राप्ति सम्बन्धी मेरे सब संशय नष्ट हो गये। उसके बाद यह बताया कि परा और अपरा प्रकृति ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्द से कही जाती है। ये दोनों भगवान की शक्ति होने से स्वरूप से भिन्न होने पर भी पृथक् स्थिति प्रवृत्ति के अयोग्य होने के कारण उनका भगवान् के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। इस प्रकार क्षेत्र का स्वरूप कहकर क्षेत्रज्ञ के स्वरूप ज्ञान होने के लिये अमानिता आदि बीस उपायों को कहा। ज्ञान शब्द से वाच्य क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को, सत् अर्थात् कार्यावस्था में नाम रूप विभाग के योग्य द्रव्य और असत् अर्थात् कारणावस्था में नाम रूप विभाग के अयोग्य द्रव्य, दोनों से विलक्षण, स्वयंप्रकाश और नित्य कहा। फिर यह बताया कि आत्मा के उत्तम और अधम योनि में जन्म का कारण प्रकृति से उत्पन्न सत्त्वादिगुणों का संग ही है। आत्मा अणु परिणामवाला है, देहादि के आवरण होने पर भी उसका ज्ञानरूप धर्म व्यापक होने से सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् शरीर का वह प्रकाशक है। फिर उस आत्मा के बन्धन करनेवाले गुणों का कारण अपने को बताया। बन्धनों के लक्षण उनका प्रकार और उनके कार्यों के भेद और गुणातीत पुरुषों के लक्षण, गुणों को अतिक्रमण करने की रीति और गुणातीतों को ब्रह्मभाव की प्राप्ति इन सब बातों को तेरहवें और चौदहवें अध्याय में निश्चय रूप से बताकर मेरे निम्नलिखित आत्मस्वरूप विषयक संशयों को आपने दूर किया, यथा—क्षेत्र क्षेत्रज्ञ जो प्रकृतिपुरुष उनका परमात्मा के साथ केवल भेद है वा अभेद

कथं वा मोक्षः ? कीदृशो मोक्षः ? इति स्वरूपविषयश्च संशयो गतः । ततो ब्रह्मभावप्राप्त्यर्हस्य पुरुषस्य बन्धनिरासहेतुवैराग्यार्थं संसारस्याश्वत्थरूपकेण ज्ञानासिना छेदनपूर्वकपरमपुरुषप्रपत्त्या मानमोहादित्यागेन परमपदप्राप्तिः । प्रपद्यस्य प्राप्यभूतस्य परमात्मनः सर्वचेतनाचेतनात्मत्वसर्वप्रकाशकत्वसर्वजीवनहेतुत्ववेदवेद्यत्ववेदान्ताचार्यत्वसर्ववेदार्थवेतृत्वक्षराक्षरपुरुषद्वयातीतत्वेन पुरुषोत्तमत्वं तथा ज्ञातुः सर्वज्ञत्वं कृतकृत्यत्वमिति पञ्चदशेन निश्चयादनादिसंसारस्य कथं केन साधनेन वा निवृत्तिः स्यात्, परमात्मा किं स्वरूपः कीदृशगुणशक्तैश्वर्यवानिति संशयो गतः । तत उक्ततत्त्वाधिकार्यनधिकारिनिर्णयाय हेयोपादेयदैवासुरसम्पद्द्वयविभागनिरूपणं दैव्याः सम्पदो मोक्षहेतुत्वमासुर्याः कामक्रोधलोभमूलकत्वेन नित्यासुरभाववृद्ध्या अधमगतिनारकत्वादियोनिप्राप्तिफलं ततो हेयोपादेयप्रदर्शनार्थं सत्त्वादिगुणत्रयविभागेन श्रद्धाऽऽहारयज्ञतपोदानविभाग इति षोडशाध्यायद्वयेन निश्चयस्तेन तत्त्वज्ञानस्य कोऽधिकारी को वाऽनधिकारी किं हेयं किमुपादेयमिति सन्देहो नष्टः । ततोऽस्मिन्नध्याये सर्वाध्यायोक्तार्थं सङ्गृह्य ग्राहयितुं तावत्पराभक्त्यनधिकारिणामविशुद्धबुद्धियुक्तानां यज्ञदानतपआदिकर्म-

---

सम्बन्ध है और उसका विषय क्या है ? पुरुष का वास्तव में स्वरूप कैसा है ? उसको संसार (जन्म मरण) किस प्रकार होता है ? और वह मोक्ष कैसे पाता है और मोक्ष का स्वरूप कैसा है ? उसके बाद ब्रह्मभाव की प्राप्तियोग्य पुरुष के बन्धन हटाने के लिए वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त संसार को पीपल का वृक्ष निरूपण कर ज्ञानरूप तलवार से उसको छेदन करना बताया । फिर परमपुरुष की शरणागति ग्रहण करने से मान मोहादि त्यागपूर्वक परमपद की प्राप्ति बताई । उसके बाद शरण्य और प्राप्त होने योग्य परमात्मा को सब चेतनाचेतन का आत्मा, सबका प्रकाशक, सब जीवन का हेतु, वेद से जानने योग्य, वेदान्त के आचार्य, सब वेदों के अर्थ का ज्ञाता और प्रकृति पुरुष दोनों से न्यारा पुरुषोत्तम को बताया । फिर भगवान् को जो इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ और कृतकृत्य है, यह कहा । इस प्रकार इन सब बातों को पन्द्रहवें अध्याय में निश्चय करा मेरे इन सन्देहों को दूर किया कि किन उपायों द्वारा और कैसे इस अनादि संसार की निवृत्ति होती है ? परमात्मा का रूप कैसा है ? उनके गुण, शक्ति और ऐश्वर्य कैसे हैं ? उसके बाद पूर्व में कहे तत्त्व के अधिकारी और अनधिकारियों का निर्णय करने के लिए ग्रहण करने और छोड़ने योग्य दैव और असुर सम्पद् का विभाग दिखाकर यह बताया कि दैवी सम्पद् मोक्ष का कारण और आसुरी सम्पद् काम क्रोध लोभमूलक होने से नित्य असुरभाव की वृद्धि द्वारा अधमगति नरक आदि फल का देनेवाला है । दैवी सम्पद् ग्रहण करने योग्य और आसुरी सम्पद् छोड़ने योग्य है इसको दिखाने के लिए सत्त्वादि तीन गुणों का विभाग करके श्रद्धा, आहार, तप, यज्ञ और दान का गुणानुसार विभाग कहा । इन बातों को सोलहवें और सत्रहवें अध्याय में बताकर, तत्वज्ञान का अधिकारी कौन है और अनधिकारी कौन, और त्याग और ग्रहण करने योग्य क्या हैं, इन विषयों के मेरे संशयों को आपने दूर किया । उसके बाद इस अठारहवें अध्याय में सब अध्यायों में कही गई बातों को इकट्ठी कर उनको ग्रहण कराने के लिए यह बताया कि पराभक्ति के

निष्ठयैव श्रेयो नान्यथा, विशुद्धबुद्ध्यादियुक्तस्य विगतकामक्रोधरागद्वेषस्य ब्रह्मभूतस्य परामक्तिलाभस्तयैव त्वत्स्वरूपगुणैश्वर्ययाथात्म्यज्ञानेन त्वत्प्राप्तिः, सर्वजीवानां त्वत्स्वरूपगुणैश्वर्ययाथात्म्यज्ञानेन त्वत्प्राप्तिः, सर्वजीवानां त्वन्नियम्यत्वं तव स्वतन्त्रत्वं निरङ्कुशैश्वर्यवत्त्वमतस्त्वदाज्ञानुवर्तिनोऽनन्यशरणस्य निरतिशयप्रेम्णा त्वां भजतो निष्कामस्य स्वेच्छया किञ्चित् कर्म कुर्वतोऽकुर्वतो वा न किञ्चित् पापस्पर्शस्त्वत्प्राप्तिसन्देहश्चेति त्वद्वचनान्निश्चिततत्त्वो निर्गतसन्देहो निर्भयोऽस्मि। अतस्त्वच्छासने यावज्जीवं स्थितोऽस्मि युद्धादिविषयं सर्वं त्वद्वचनं करिष्ये, परमगुरोर्भगवतस्तवाज्ञापालनमेव करिष्ये इत्यर्थः। अत्र मामेकं शरणं व्रजेति शरणागतावेव शास्त्र(स्य)समापनात् "शिष्यस्तेऽहं साधि मां त्वां प्रपन्नम्"इत्युपक्रमेऽपि प्रपन्नशब्देन शरणागतस्यैवोपदेश्यत्वज्ञापनात् "निवासः शरणं सुहृदि"ति मध्येऽपि उपास्यस्य सर्वशरणत्वाभिधानाच्छरणागतिपरमेवेदं गीताशास्त्रमित्यवगम्यते। सा च षड्विधा "आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिरि"ति नारदपञ्चरात्रवचनात्। तत्रानुकूल्यादिपञ्चाङ्गानि आत्मनिक्षेपोऽङ्गी, तथा च "सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित"इत्यादिनाऽऽनुकूल्यसङ्कल्पाख्यः प्रथमोऽङ्गो दर्शितः। हेयतया आसुरीसम्पत्प्रतिपादनमन्यत्रापि निर्वैरत्वादिप्रतिपादनं प्रातिकूल्यवर्जनाख्यो द्वितीयोऽङ्गो दर्शितः।

अनधिकारियों के लिए, जिनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं है, यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों में निष्ठा ही श्रेयस्कर है। जिन लोगों की बुद्धि विशुद्ध है और काम, क्रोध राग द्वेष से शून्य हैं ऐसे ब्रह्मभूत ज्ञानियों को पराभक्ति मिलती है। और उस भक्ति के द्वारा आपके स्वरूप, गुण और ऐश्वर्य का यथार्थ ज्ञान लाभ कर वे आपको प्राप्त कर लेते हैं। सब जीवों के नियन्ता, स्वतन्त्र और निरंकुश ऐश्वर्यवाले आपकी आज्ञा में रहनेवाला, अनन्य शरणागत निरतिशय प्रेम द्वारा आपका भजन करनेवाला निष्कामी भक्त चाहे अपनी इच्छा से कुछ भी कर्म करे वा न करे, उसको कोई भी पाप नहीं छू सकता और आपकी प्राप्ति में कुछ सन्देह नहीं रह जाता। आपके वचन से मैं निश्चित और सन्देह रहित होकर निर्भय हो गया हूँ। इसलिये जब तक जीऊँ आपके शासन में स्थित हूँ। युद्धादि के विषय में जो आप कहेंगे वही मैं करूँगा। भाव यह है कि आपको परमगुरु और भगवान् जानकर आपकी ही आज्ञा का पालन करूँगा, यही मेरा धर्म है, यह मुझे निश्चय हो गया।

इस गीता शास्त्र की समाप्ति "मामेकं शरणं व्रज" कह कर शरणागति में ही की गई है। गीता के आरम्भ में भी "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं" से "प्रपन्न" अर्थात् शरणागत जन ही उपदेश देने के योग्य हैं यह कहा और इस शास्त्र के बीच में भी यह कहकर कि "निवासः शरणं सुहृद्" यह दिखाया गया कि उपास्य जो भगवान् वे ही सब जीवों के शरण्य हैं अर्थात् वे ही सबको शरण में रखने में समर्थ अर्थात् रक्षक हैं। इसलिए यह प्रमाणित हुआ कि गीता शास्त्र शरणागति परक है। यह शरणागति छः प्रकार की है जैसा कि नारदपञ्चरात्र में कहा गया है, यथा—

"आनुकूल्यस्य संकल्प·····षड्विधा शरणागतिः॥" अर्थात् (१) भगवान् की आज्ञा के अनुकूल

योगक्षेमं वहाम्यहमि"ति विश्वासाख्यस्तृतीयोऽङ्गोदर्शितः। "पिताऽसि लोकस्य चराचरस्ये"त्यादिना "प्रसीद देवेश ! जगन्निवास" इत्यन्तेन गोप्तृत्ववरणाख्यश्चतुर्थोऽङ्गो दर्शितः। "दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास !। नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिमि"ति कार्पण्यरूपः पञ्चमोऽङ्गो दर्शितः। आत्मात्मीयस्य सर्वस्य विधिश्रद्धया भगवत्यर्पणमात्मनिक्षेपः, स च "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये, मामेकं शरणं व्रजे"ति षष्ठोऽङ्गो दर्शितः। अवशिष्टो ज्ञानकर्मभक्तिप्रतिपादको ग्रन्थः। प्रपत्तृप्रपदनवपत्तव्य-स्वरूपगुणाङ्गैश्वर्यप्रतिपादनेन तत्रैव परम्परया सम्बध्यते इति विवेकः। अथवोपास्यस्वरूपमुपासक-स्वरूपं तदुपासनस्वरूपं तदुपासनफलं तद्विरोधिस्वरूपमित्यर्थपञ्चकं निरूपितम्। तत्र सप्तमाध्यायादिषु तत्र तत्र सर्वज्ञसर्वकारणसर्वनियन्तृभक्तवात्सल्यादिगुणार्णवं भगवत्तत्त्वमुपास्यस्वरूपमुक्तम् ।१। तत्प्राप्तृ-तया तत्र तत्र जीवक्षेत्रज्ञाक्षरपुरुषादिशब्दवाच्यं ज्ञानं ज्ञातृप्रतिशरीरभिन्नमसङ्ख्यकं भगवदधीनं बन्ध-मोक्षार्हं नित्यमित्युपासकस्य स्वरूपं निर्णीतम् ।२। तत्प्राप्तिसाधनं कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृत्तिभेदात् पञ्चविधं पदुपासनं तत्र तत्र निर्दिष्टम् ।३। निःशेषाविद्यानिवृत्त्या परमानन्दस्वरूपतत्साधर्म्यभावङ्गावा-

---

कामों का संकल्प, (२) और उनके प्रतिकूल कामों को छोड़ना, (३) भगवान् रक्षा करेंगे ही ऐसा विश्वास, (४) उनको अपना रक्षक वरण करना और उसके लिये भगवान् से प्रार्थना करना, (५) अपने को उनके चरणों में अर्पण कर देना और (६) दीनता ये ही शरणागति के छः प्रकार हैं। इनमें अनुकूलता आदि पाँच अंग हैं और आत्मनिक्षेप अंगी है। इस गीता शास्त्र में "सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्व-मास्थितः" से अनुकूलता का संकल्परूप शरणागति का पहला अङ्ग दिखाया। छोड़ने योग्य प्रतिपादन-पूर्वक आसुरी सम्पद् का एवं निर्वैर आदि गुणों का प्रतिपादन कर प्रतिकूलता का वर्जनरूप दूसरा अङ्ग दर्शाया। "योगक्षेमंवहाम्यहं" से विश्वास नाम का तीसरा अङ्ग दिखाया। "पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य" से आरम्भ कर "प्रसीद देवेश जगन्निवास" तक से गोप्तृत्ववरणरूप चौथा अङ्ग प्रकट किया। "दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास"। "नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्" से कृपणतारूप पाँचवाँ अङ्ग दिखाया। आत्मा और आत्मीय सब पदार्थों का, विधि और श्रद्धापूर्वक, एक भगवान् के निमित्त अर्पण करने को आत्मनिक्षेप कहते हैं। 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'। 'मामेकं शरणं व्रज' से आत्मनिक्षेपरूप छठा अङ्ग दिखाया। शेष ग्रन्थ ज्ञान, कर्म और भक्ति का प्रतिपादक है। शरणागत होने वाले, शरणागति, शरणागति करने योग्य भगवान् के स्वरूप, गुण और ऐश्वर्यादि को जो गीता में प्रति-पादन किये हैं वे सब परम्परया शरणागति से सम्बन्धित हैं। अथवा गीता शास्त्र में उपास्य (भगवान्), उपासक (जीव), उपासना का स्वरूप तथा फल और फल और उपासना के विरोधियों का स्वरूप इन्हीं पाँचों (अर्थपञ्चक) का निरूपण किया है। भगवान् सर्वज्ञ, सबका कारण और नियन्ता और भक्तवत्सलता आदि गुणों के समुद्र हैं। और (२) भगवान् को प्राप्त करने योग्य जीव, क्षेत्रज्ञ, अक्षरपुरुष आदि शब्दों का वाच्य, ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, प्रत्येक स्वरूप में भिन्न, असंख्य, भगवदधीन, बन्ध और मोक्ष को प्राप्त करने की योग्यतायुक्त और नित्य ऐसा उपासक का स्वरूप बताया। और (३) परमात्मा की प्राप्ति के साधन,

दिशब्दाभिधेयं मोक्षाख्यं तदुपासनजं तत्कृपाफलम् ।४। एतच्चतुष्टयस्य प्रतिबन्धकं कामक्रोधराग-द्वेषादिकमासुरीसम्पच्च विरोधिस्वरूपमित्यर्थपञ्चकमेव गीतायां श्रीभगवतोपदिष्टमिति बोध्यम् ।५। तदुक्तं भगवता आद्याचार्येण श्रीनिम्बादित्येन "उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् । विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभि"रिति ।

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

तदेवं सर्वं श्रीकृष्णार्जुनसंवादं धृतराष्ट्रायावेद्य स्वयमनुसन्दधानः सञ्जय उवाच—इतीति । इत्येवमुक्तप्रकारेण वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मन इत्युभयोर्विशेषणम् अद्भुतमाश्चर्यरूपमत एव रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादं यथोक्तमहमश्रौषं श्रुतवानस्मि ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात्साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥

असन्निकृष्टस्य व्यवहितस्य संवादस्यात्मनः श्रवणयोग्यतायां हेतुमाह—व्यासप्रसादादिति । दिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपाद्व्यासप्रसादादेतद्गुह्यं गोप्यं परं सर्वोत्कृष्टं परमपुरुषार्थोपायं योगेश्वरात् कृष्णात्स्वयमेवेश्वररूपेण कथयतः साक्षादहं श्रुतवानस्मि, ननु परम्परया । अहो मे भाग्यमित्यभिप्रायः ।

कर्म, ज्ञान, भक्ति, शरणागति और सर्वथा गुरु आज्ञा का पालन, ऐसे पाँच प्रकार की उपासना का निरूपण किया । (४) अविद्या की अशेष निवृत्ति से परमानन्दस्वरूप भगवान् के समान धर्म की प्राप्ति, उनके भाव की प्राप्ति आदि मोक्ष को उनकी उपासना से जनित उनकी कृपा का फल बताया । (५) इन चारों के प्रतिबन्धक काम, क्रोध, राग द्वेष आदि आसुरी सम्पद् को विरोधी का स्वरूप बताया । इस अर्थ पञ्चक का उपदेश भगवान् ने गीता में किया है यह जानना । इस अर्थपञ्चक को प्रथम आचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्क ने दशश्लोकी में कहा है, यथा—

"उपास्यरूपं ·····पञ्च साधुभिः ॥" अर्थात् भगवान् का स्वरूप, जीव का स्वरूप, भगवत् कृपा का फल, भक्ति में आनन्द आना, विरोधी का रूप, ये पाँच बात अर्थात् अर्थपञ्चक वैष्णवों को जरूर जानना चाहिये* ॥७३॥

इस प्रकार सम्पूर्ण कृष्णार्जुन सम्वाद धृतराष्ट्र को कह कर सञ्जय स्वयं अनुभव करते हुए बोले—महान् आत्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस आश्चर्यरूप इसलिये रोमाञ्चकारी सम्वाद को जैसा कि मैंने आपसे वर्णन किया है, मैंने सुना ॥७४॥

दूर में भये हुए सम्वाद को सुनने की योग्यता प्राप्त होने के कारण को सञ्जय कहते हैं—

व्यासजी की कृपा से दिव्य आँख, कान पाने के कारण इस गोपनीय सर्वोत्कृष्ट योग अर्थात् मोक्ष

---

* इस अर्थपञ्चक की विस्तृत व्याख्या वेदान्तरत्न मंजूषा के चतुर्थ कोष्ठक में देखना चाहिये ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

तदेव विशदयति—राजन्निति। केशवार्जुनयोरिमं पुण्यं श्रवणमात्रेण पापहरं पुण्योत्पादनमद्भुतं संवादं संस्मृत्य मुहुर्मुहुर्वारं वारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

अथार्जुनाय दर्शितं विश्वरूपमनुसन्दधान आह—तच्चेति। यदर्जुनाय प्रकाशितमत्यद्भुतमैश्वर्यं हरे रूपं मया साक्षात्कृतं तच्च संस्मृत्य हे राजन् ! संस्मरतो मे महान् विस्मयो जायते, पुनः पुनश्च हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

एवं चेश्वरेश्वरकृष्णपराङ्मुखस्वपुत्रसैन्यविजयादिदुराशा ते वृथेत्याह—यत्रेति। यत्र यस्मिन् पक्षे योगेश्वरः योगोऽघटितघटनापटीयस्त्वसामर्थ्यं राज्यैश्वर्यादिप्राप्त्युपायो वा योगस्तस्येश्वरो निर्वर्त्तको नियामको वा सर्वकर्मसिद्धीनामपीश्वरः सर्वकर्मफलप्रभुः सर्वज्ञोऽचिन्त्यशक्तिर्भगवान् कृष्णः स्वाश्रित दुःखकर्षकस्तिष्ठति यत्र पार्थस्तत्पितृस्वस्त्रीयो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वार्जुनो वर्त्तते तत्रोभयाधिष्ठिते

के उपाय को योगेश्वर कृष्ण से, जो स्वयं ईश्वर रूप से कथन किये हैं, मैंने साक्षात् सुना है, परम्परा द्वारा नहीं। भाव यह है कि धन्य है मेरा भाग्य ! ॥७५॥

हे राजन् ! कृष्ण और अर्जुन के इस आश्चर्यमय और श्रवणमात्र से पाप के नाशक अर्थात् पुण्योत्पादक सम्वाद को बार-बार संस्मरण कर करके मैं हर्ष को प्राप्त होता हूँ ॥७६॥

अर्जुन को दिखाये गये विश्वरूप को अनुभव करते हुए सञ्जय बोले—हे राजन् ! जिस अपने रूप को भगवान् ने अर्जुन को दिखाया उस अद्भुत रूप का मैंने भी साक्षात्कार किया और उसको बार-बार संस्मरण करके मुझे बड़ा विस्मय होता है और मैं पुनः पुनः हर्षयुक्त होता हूँ ॥७७॥

इस प्रकार भगवान् कृष्ण और अर्जुन के विरोधी अपने पुत्रों की सेना के विजयलाभ की तुम्हारी आशा वृथा है, इसी को कहते हैं—

जिस पक्ष में योग अर्थात् अघटित घटना घटाने की सामर्थ्य अथवा राज ऐश्वर्य प्राप्ति के उपाय के ईश्वर अर्थात् निर्वर्त्तक और नियामक, सब कामों की सिद्धि के मालिक, सब कामों के फल के प्रभु, सर्वज्ञ और अचिन्त्य शक्तिवाले भगवान् कृष्ण जो अपने आश्रितों के दुःख को हरनेवाले हैं, स्थित हैं और जहाँ गाण्डीव धनुष को धारण करनेवाले अर्जुन वर्त्तमान हैं अर्थात् धर्मराज युधिष्ठिर के पक्ष में

धर्मराजपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयः शत्रुविनाशः, भूतिः सर्वसम्पत् ऐश्वर्यं वा नीतिर्न्यायोऽपि तत्रैव, ध्रुवा निश्चितेति सर्वत्रान्वेतव्यम् इति मे मम मतिर्निश्चयबुद्धिः तस्मात्स्वपुत्रविजयाशां त्यक्त्वा श्रेयस्कामनया श्रीभगवदाश्रितैर्लक्ष्मीविजयाद्यर्हैः पाण्डवैः सह राज्याद्यर्पणेन सन्धिं विधाय स्वीयानां संरक्षणं कुर्वितिभावः ।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि-
भट्टाचार्यविरचितायां अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

●

स्वतन्त्रः सर्वफलदः सर्वोपास्यो हि यो हरिः ।
कर्तृत्वं सर्वजीवानां तत्तन्त्रमिति निश्चयात् ॥१॥
श्रेयस्कामो मुमुक्षुर्वा तमेव शरणं व्रजेत् ।
स्वाभिमानं परित्यज्य ह्येतदन्ते दृढीकृतम् ॥२॥
संसाराम्बुधिमग्नानां स्वभक्तकृपया हरिः ।
चकार गीतानावं तं वन्दे सर्वगरीयसम् ॥३॥
हंसस्वरूपं सनकादिकेभ्यस्तत्त्वोपदेशाय विधाय शुद्धम् ।
तत्त्वं परं भागवतञ्च धर्मं सत्सम्प्रदायार्थमुपादिशत्तः ॥४॥

इन दोनों के रहने पर राज्यलक्ष्मी, विजय अर्थात् शत्रुविनाश, सर्वसम्पत् वा ऐश्वर्य और न्याय सभी उसी पक्ष में रहेंगे, यह ही निश्चित है, यह मेरा मत वा निश्चय बुद्धि है । भाव यह है कि इस कारण से अपने पुत्रों की विजय की आशा को छोड़ अपनी भलाई के लिये श्रीभगवान् के आश्रित और लक्ष्मी और विजय को योग्यतायुक्त पाण्डवों के साथ, उनको राज्य आदि देकर सन्धि करलो और इस प्रकार अपनी एवं पुत्रादिकों की रक्षा करो ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां भाषाटीकायां अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

●

"स्वतन्त्रः सर्वफलदः ..... चैतद्विवृतं सुबोधम् ॥" अर्थात् जो हरि स्वतन्त्र और सब फल के देनेवाले हैं उनके ही अधीन सब जीवों का कर्त्तापना है । इसलिये श्रेय की कामनावाले या मुमुक्षुजनों को अपना अभिमान छोड़ उन्हीं की शरण में जाना चाहिये । यह बात गीता के अन्त में दृढ़ की गई है । जिनने अपने भक्तों पर कृपा कर संसार समुद्र में डूबे हुए भक्तों के लिये गीतारूपी नाव बनायी उन सर्वश्रेष्ठ हरि को मैं नमस्कार करता हूँ । सनकादिकों को तत्त्व का उपदेश करने के लिये शुद्ध

श्रीवासुदेवो भगवान्स एव भक्ताय पार्थाय तु भारते वै।
मोहापहं शास्त्रमुवाच गीतां सर्वेश्वरं तं शरणं प्रपद्ये ॥५॥
व्याख्यातमादौ तददभ्रबोधादाचार्यवर्येण हरिप्रियेण।
निम्बार्कनाम्नाऽतिगभीरबोधं श्रीनारदानुग्रहभाजनेन ॥६॥
तत्पादचिन्ताप्रतिबुद्धबुद्धिना भट्टेन श्रीकेशवसञ्ज्ञकेन।
तदर्थबोधाय तदाश्रितानां सङ्क्षिप्य चैतद्विवृतं सुबोधम्॥७॥

हंस के स्वरूप को धारण कर जिसने सत्सम्प्रदायार्थ परतत्त्व और भागवत धर्म का उपदेश किया उस भगवान् वासुदेव ने महाभारत के युद्ध क्षेत्र में मोह के नाशक गीताशास्त्र को भक्त अर्जुन से कहा। ऐसे श्रीवासुदेव की शरण में हम हैं। इस अति गम्भीर गीता शास्त्र की व्याख्या श्रीनारद के कृपापात्र निम्बार्क नामवाले आचार्य श्रेष्ठ श्रीहरिप्रिय ने आदि में किया। उन्हीं निम्बार्क आचार्य के चरणों के चिन्तवन से तेज बुद्धिवाले केशवकाश्मिरी भट्ट ने उस व्याख्या के अर्थबोध के लिये उनके आश्रितों के हितार्थ संक्षेप से यह सुबोध तत्त्वप्रकाशिका नाम की टीका की।

भगवान् प्रसन्न होने पर क्या देते हैं

वेद पुराण आदि शास्त्रों में सर्वत्र भगवान् ही भगवान् की चर्चा है। उनकी जन्म (अवतार) कर्म-लीलाओं में दुष्टों के दमन और सत्पुरुषों के संरक्षण का विशद वर्णन है। वे समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित रहकर सभी को प्रेरित करते रहते हैं। जो व्यक्ति उनकी मन वचन कर्म से आराधना करता है, उस पर सन्तुष्ट होकर उसकी सभी मनः कामनाओं को पूर्ण करते हैं। इसीलिये उन पर जिन्हें दृढ़ विश्वास हो गया है वे निरन्तर उन्हीं के भजन साधन में लगे रहते हैं। अपनी आत्मा आत्मीय सब कुछ प्रभु के ही अर्पण कर देते हैं, किन्तु जिन्हें प्रभु पर पूर्ण विश्वास नहीं होता वे अपने बल और बुद्धि के अनुसार प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रयत्न कभी देवयोग से सफल भी हो जाते हैं, अधिकतर ऐसे व्यक्तियों के प्रयत्न पूर्ण सफल नहीं हो पाते, क्योंकि उन्हें सफलता का मार्ग नहीं मिलता, मार्ग दर्शक मिलते भी हैं तो ऐसे मिलते हैं जो स्वयं पथभ्रष्ट हो रहे हों, वे किसी को क्या सन्मार्ग दिखायेंगे।

भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे प्राणीमात्र के जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों को जानते हैं, उन्हें उन कर्मों का कब क्या फल मिलेगा, उस भविष्य को भी वे जानते हैं। यदि भगवान् जिस किसी पर अनुकूल हों तो उन्हें ऐसी प्रेरणा कर देते हैं कि वह उसी मार्ग को पकड़ लेता है जिस मार्ग से चलने पर उसका अभीष्ट सिद्ध हो सकता हो। भगवान् ने यह प्रतिज्ञापूर्वक कहा है :—जिनका चित्त मुझ में ही लगा हुआ रहता है, जिनकी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियां मेरी परिचर्या में लगी रहती हैं। दूसरों को भी मेरे विषय में समझाते हैं, मेरी चर्चा करते हैं, सुनते सुनाते हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग (यथार्थ ज्ञान) देता हूं, जिससे उनका अज्ञानान्धकार निवृत्त होते ही वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थं महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

(गीता० १०।१०-११)